अनुवादक—
मदनगोपाल गाड़ोदिया

प्रकाशक—
श्रीअरविन्द आश्रम
पांडीचेरी

२१ फरवरी १९४९

द्वितीय संशोधित संस्करण
१२००

मूल्य २॥)

प्रकाशकका वक्तव्य

श्रीअरविंददेवने समय-समयपर अपने शिष्योंको, उनके प्रश्नोंके उत्तरमें, जो पत्र लिखे उनमेंसे कुछका सग्रह अंग्रेजीमें "वेसेज आफ योग" (Bases of Yoga) के नामसे प्रकाशित हुआ है। उसी पुस्तकका हिंदी अनुवाद आज हम हिंदी-ससारके सामने रख रहे हैं। यह पुस्तक इस ढगसे तैयार की गयी है कि श्रीअरविंद-योग और उसके साधनके विषयमें जिज्ञासा रखनेवाले सज्जनोंको इससे पर्याप्त लाभ हो सके। इस योगके साधकोंके लिये तो यह पुस्तक पथ-प्रदर्शकका काम करती ही है, अन्य योगोंके साधकों और जिज्ञासुओंको भी इससे बहुत कुछ सहायता मिलेगी ऐसा हमारा विश्वास है।

इस पुस्तकके इस दूसरे सस्करणमें फिरसे काफी सशोधन और परिवर्तन किया गया है, जिससे यह सरल, सुबोध और उपयोगी साबित हो।

विषय-सूची

योगके आधार

स्थिरता–शांति–समता

अगर मन चचल हो तो योगकी नीव डालना कभी सभव नही। सबसे पहले यह आवश्यक है कि मन अचचल हो। और व्यक्तिगत चेतनाका लय कर देना भी इस योगका प्रथम उद्देश्य नही है, बल्कि प्रथम उद्देश्य है व्यक्तिगत चेतनाको एक उच्चतर आध्यात्मिक चेतनाकी ओर मोड़ना और इसके लिये भी जिस बातकी सबसे पहले आवश्यकता है वह है मनकी अचचलता।

***

सबसे पहली बात जो साधनामें करनी है वह है मनमें एक सुप्रतिष्ठित शाति और निश्चल-नीरवताको प्राप्त करना। अन्यथा तुम्हे अनुभूतिया तो हो सकती है, पर कुछ भी स्थायी नही होगा। एकमात्र निश्चल-नीरव मनमे ही सत्य-चेतनाका निर्माण किया जा सकता है।

***

अचचल मनका अर्थ यह नही है कि उसमें कोई विचार या मनोमय गतिया एकदम होगी ही नही, बल्कि यह अर्थ है कि ये

सब केवल ऊपर-ही-ऊपर होंगी और तुम अपने अंदर अपनी सत्य सत्ताको अनुभव करोगे जो इन सबसे अलग है जो इन सबको देखती है पर इनके प्रवाहमें बह नहीं जाती जो यह योग्यता रखती है कि इन सबका निरीक्षण करे और निर्णय करे तथा जिन चीजों का त्याग करना है उन सबका त्याग करे एवं जो कुछ सत्य चेतना और सत्य अनुभूति है उन सबको ग्रहण और धारण करे।

मनका निष्क्रिय होना अच्छा है पर इस विषयमें सावधान रहो कि तुम केवल सत्यके सामने तथा भागवत शक्तिके संस्पर्शके सामने ही निष्क्रिय भाव रखते हो। अगर तुम निम्न प्रकृतिकी सुझायी हुई बातों और उसके प्रभावके प्रति वैसा निश्चेष्ट भाव बनाये रहोगे तो तुम अपनी साधनामें अग्रसर नहीं हो सकोगे अथवा तुम ऐसी विरोधिनी शक्तियोंके पंजेमें पड़ जाओगे जो तुम्हें योगके सच्चे मार्गसे बहुत दूर ले जा सकती हैं।

श्रीमाके सामने यह अभीप्सा करो कि तुम्हारे मनमें यह अचंचलता और शांति सुप्रतिष्ठित हो और तुम्हें बाह्य प्रकृतिके पीछे वर्तमान तथा ज्योति और सत्यकी ओर उन्मुख इस आंतर सत्ताका बोध निरंतर बना रहे।

जो शक्तियां साधनाके मार्गमें बाधा पहुंचाती हैं वे निम्नतर मनोमय प्राणमय और भौतिक प्रकृतिकी शक्तियां हैं। उनके पीछे मनोमय प्राणमय और सूक्ष्म भौतिक जगत्‌की विरोधी शक्तियां हैं। इन सबका मुकाबला तभी किया जा सकता है जब मन और हृदय एकमात्र भगवान्‌की ही अभीप्सामें एकाग्र और केंद्रित हो चुके हों।

*

निश्चल-नीरवता सदा ही अच्छी है, पर मनकी अचचलतासे मेरा मतलब यह नहीं है कि मन बिलकुल ही निश्चल-नीरव हो जाय। मेरा मतलब यह है कि मन सब प्रकारकी हलचल और बेचैनीसे मुक्त हो, धीर-स्थिर, शात और प्रसन्न हो जिसमे वह अपने-आपको उस शक्तिकी ओर खोल सके जो प्रकृतिका रूपातर करेगी। प्रधान बात यह है कि बेचैन करनेवाले विचारो, विकृत अनुभवो, भावनाओकी उलझनो तथा दु खदायी वृत्तियोके मनपर निरतर आक्रमण करते रहनेकी जो आदत पड जाती है उससे छुटकारा पाया जाय। ये सब चीजे प्रकृतिमें विक्षोभ उत्पन्न करती है, उसे आच्छादित करती है और दिव्य शक्तिके लिये कार्य करना कठिन बना देती है। जब मन अचचल और शात होता है तब दिव्य शक्ति अधिक आसानीसे अपना काम कर सकती है। तुम्हारे लिये यह सभव होना चाहिये कि तुम अपने अदरकी उन सब चीजोको बिना घबडाये हुए या अवसन्न हुए देख सको जिनका परिवर्तन करना आवश्यक है और तब परिवर्तन और भी अधिक आसानीसे हो सकता है।

शून्य मन और स्थिर मनमें भेद यह है कि जब मन शून्य हो जाता है तब उसमे कोई विचार नही रहता, कोई धारणा नही रहती, किसी प्रकारकी कोई मानसिक क्रिया नही होती, केवल वस्तुओकी एक मूलगत प्रतीति होती है, उनके विषयमें कोई बधी-बधाई भावना नही होती। किंतु स्थिर मनमे मनोमय सत्ताका सार तत्त्व ही शात हो जाता है, ऐसा शात हो जाता है कि

कोई भी चीज उसे विचलित नहीं कर पाती। यदि विचार आते या क्रियाएं होती हैं तो वे मनमेंसे बिलकुल ही नहीं उठतीं बल्कि वे बाहरसे आती हैं और ठीक वैसे ही मनमेंसे होकर गुजर जाती हैं जैसे पक्षियोंका दल निर्वात आकाशमेंसे होकर गुजर जाता है—वह गुजर जाता है कहीं कोई हलचल नहीं मचाता कहीं कोई चिह्न नहीं छोड़ जाता। यदि हजारों आकृतियां या अत्यंत प्रचंड घटनाएं भी मनके भीतरसे होकर गुजरें तो भी उसकी शांत अचंचलता बनी रहती है मानो उस मनकी रचना ही एक शाश्वत और अविनाशी शांतिके तत्त्वसे हुई हो। जिस मनने इस स्थिरताको प्राप्त कर लिया है वह कार्य करना आरंभ कर सकता है *यहांतक कि तीव्रता और शक्तिशालिताके साथ कार्य कर सकता* है पर फिर भी वह अपनी मूलगत निश्चलताको बनाये रखेगा—वह अपने भीतरसे कुछ भी नहीं उत्पन्न करेगा बल्कि ऊपरसे जो कुछ आयेगा उसे वह ग्रहण करेगा और उसे एक मानसिक रूप प्रदान करेगा उसमें अपनी ओरसे कुछ भी नहीं मिलायेगा और यह सब वह धीर-स्थिर और अनासक्त होकर करेगा यद्यपि करेगा सत्यके आनंदके साथ तथा सत्यके आत्मप्राकट्यकी सुखदायी शक्ति और ज्योतिके साथ।

निश्चल-नीरव हो जाना विचारोंसे मुक्त तथा निस्पंद हो जाना मनके लिये कोई बुरी बात नहीं है—कारण प्रायः ही जब मन निश्चल-नीरव हो जाता है तब ऊपरसे एक सुविशाल शांतिका पूर्ण अवतरण होता है और उस विशाल शांतावस्थामें उस शांत

आत्माका साक्षात्कार होना है जो मनसे ऊपर अपनी बृहत् सत्ता-को सर्वत्र फैलाये हुए है। परतु इस अवस्थामे कठिनाई यह होती है कि जब यह शाति और मनकी निश्चल-नीरवता प्राप्त हो जाती है तब प्राणमय मन तेजीसे भीतर घुस आने और उस स्थानको अधिकृत करनेकी चेष्टा करता है अथवा उसी उद्देश्यसे यत्रवत्-चालित मन अपने तुच्छ अभ्यासगत विचारोकी परपराको जारी करनेकी कोशिश करता है। इस अवस्थामे साधकको चाहिये कि वह सावधानीके साथ इन नव आगतुकोको दूर हटा दे अथवा इन्हे एकदम शात कर दे जिससे कम-से-कम ध्यानके समय मन और प्राणकी शाति और स्थिरता पूरी मात्रामे बनी रहे। अगर तुम दृढ और शात सकल्प बनाये रखो तो तुम इस कार्यको सबसे उत्तम रूपसे कर सकते हो। इस तरहका सकल्प उस पुरुषका सकल्प होता है जो मनके पीछे रहता है, जब मन शान्त हो जाता है, जब वह निश्चल-नीरव हो जाता है तब हम उस पुरुषको जान सकते है जो पुरुष भी निश्चल-नीरव है और प्रकृतिकी क्रियासे अलग भी।

शात, धीर-स्थिर, आत्मप्रतिष्ठित होनेमें मनकी यह अचचलता, बाह्य प्रकृतिसे आतर पुरुषकी यह पृथकता बहुत सहायक होती है, प्राय अनिवार्य होती है। जबतक हमारी सत्ता विचारोके भवरमे फसी रहती है अथवा प्राणमय गतियोके विक्षोभसे प्रभा-वित होती है तबतक हम इस तरह शात तथा आत्मप्रतिष्ठ नही हो सकते। इन सबसे अपने-आपको अलग करना, इनसे हटकर पीछे खडा होना, इन्हे अपने-आपसे पृथक् अनुभव करना अत्यत आवश्यक है।

अपने वास्तविक व्यक्तित्वको खोज निकालनेके लिये तथा अपनी प्रकृतिमें उसे मूर्तिमान करनेके लिये दो चीजोंकी आवश्यकता है—पहली चीज है हृदयके पीछे रहनेवाले अपने अन्तरात्माके विषयमें सचेतन होना तथा दूसरी है प्रकृतिसे पुरुषकी यह पृथक्ता। क्योंकि हमारा सच्चा व्यक्तित्व पीछे है और बाह्य प्रकृतिकी क्रियाओंके द्वारा ढका हुआ है।

•

शान्तिकी एक महान् लहर (अथवा समुद्र) और एक सुविशाल ज्योतिर्मय सद्वस्तुका निरन्तर बोध—ये दोनों बातें स्पष्ट रूपसे परम सत्यकी उस मूलगत उपलब्धिको सूचित करनेवाली हैं जो मन और अंतरात्मापर उस परम सत्यका प्रथम संस्पर्श होनेपर प्राप्त होती है। इससे अधिक अच्छे प्रारम्भ या स्थापनाकी कामना नहीं की जा सकती—यह उस चट्टानके समान है जिसके आधारपर बाकी सब कुछ निर्मित किया जा सकता है। निश्चय ही इसका अर्थ "कोई एक उपस्थिति" नहीं है बल्कि इसका अर्थ है 'वही एक मात्र (भागवत) उपस्थिति'—और अगर इस अनुभूतिको किसी तरह अस्वीकार करके या इसके स्वरूपके विषयमें संदेह करके इसे दुर्बल बना दिया जाय तो यह एक बड़ी भारी भूल होगी।

इसकी कोई परिभाषा करनेकी कोई आवश्यकता नहीं और न किसीको इसे किसी एक रूपमें परिसीमित करनेकी चेष्टा ही करनी चाहिये। क्योंकि यह उपस्थिति अपने स्वभावमें अनन्त है। अगर यह साधककी ओरसे निरन्तर स्वीकृत होती रहे तो इसे

अपना या अपने अंदरसे जो कुछ अभिव्यक्त करना है उसे यह अनिवार्य रूपसे और स्वयं अपनी ही शक्तिसे करेगी।

यह बिलकुल ठीक है कि यह भगवान्‌के यहांसे आयी हुई करुणा है और ऐसी करुणाका एकमात्र प्रतिदान है उसे स्वीकार करना, कृतज्ञ बने रहना और जिस शक्तिने चेतनाको स्पर्श किया है उसके प्रति अपने-आपको खोले रखना और इस तरह उसे सत्ता-के अंदर जो कुछ विकसित करना है उसे विकसित करने देना। प्रकृतिका सर्वांगीण रूपांतर एक क्षणमें नहीं किया जा सकता, इसमें दीर्घ समय लगेगा ही और यह विभिन्न स्तरोंको पार करता हुआ ही आगे बढ़ेगा, अभी जो अनुभूति तुम्हें हुई है वह केवल आरंभ है, दीक्षामात्र है, जिस नवीन चेतनामें उस रूपांतरका होना संभव होगा उसका आधारमात्र है। इस अनुभूतिका अनायास अपने-आप होना ही इस बातको प्रकट करता है कि यह मनके, संकल्पके या भावावेगके द्वारा रचित कोई चीज नहीं है, यह एक ऐसे सत्यसे आयी है जो इन सबसे परे है।

संदेहोंको दूर करनेका अर्थ है अपने विचारोंको संयमित करना—यह बात बिलकुल ठीक है। अपने विचारोंको संयमित करना उतना ही आवश्यक है जितना कि प्राणगत कामनाओं और आवेगों-को संयमित करना अथवा अपने शरीरकी गतिविधिको संयमित करना—योगके लिये तो यह आवश्यक है ही, पर एकमात्र योगके लिये ही यह आवश्यक नहीं है (अर्थात् योग न करनेपर भी इस-की आवश्यकता होती है)। यदि कोई अपने विचारोंको वशमें

न कर ले यदि उनका साक्षी अनुमन्ता और ईश्वर—मनोमय पुरुष—न बन जाय तो वह एक पूर्ण-विकसित मनोमय जीव भी नहीं हो सकता। जिस तरह मनोमय जीवके लिये अपनी वासनाओं और आवेगोंके तूफानमें बेपतवार जहाज होना अथवा शरीरकी जड़ता या प्रवृत्तिका दास होना उचित नहीं है उसी तरह उसके लिये अपने निरंकुश और असंयत विचारोंकी कठपुतली बनना भी उचित नहीं। मैं जानता हूं कि यह बड़ा कठिन कार्य है क्योंकि मनुष्य प्रधानतः मनोमय प्रकृतिका एक जीव होनेके कारण वह अपने मन की वृत्तियोंके साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है, हठात् उनसे अपने-आपको अलग नहीं कर सकता तथा मानस-भंवरके चक्करों और झपेटोंसे मुक्त होकर खड़ा नहीं हो सकता।

अपने शरीरको कम-से-कम शरीरकी क्रियाओंके कुछ भागको संयमित करना उसके लिये अपेक्षाकृत अधिक आसान है अपने प्राणोंके आवेगों तथा वासनाओंके ऊपर एक मानसिक संयम स्थापित करना उतना आसान तो नहीं पर फिर भी कुछ संघर्षके बाद उसके लिये संभव हो जाता है पर जिस तरह एक तांत्रिक योगी नदीके ऊपर बैठ जाता है उसी तरह अपने विचारोंके भंवर के ऊपर बैठ जाना उसके लिये थोड़ा कठिन है। फिर भी यह किया जा सकता है। उन सभी मनुष्योंको जिनका मानसिक विकास हो चुका है जो साधारण मनुष्योंसे ऊपर उठ चुके हैं किसी-न-किसी मार्ग अथवा कम-से-कम किसी विशेष समयपर और किसी विशेष प्रयोजनके लिये अपने मनके दो भागोंको अलग-अलग करना पड़ता ही है—एक भाग है सक्रिय जो विचारोंका कारखाना है और दूसरा है प्रशान्त और प्रभुत्वपूर्ण जो एक साथ ही साक्षी

भी है और सकल्पशक्ति भी, जो विचारोको देखता है, उनका निर्णय करता है, वर्जन करता है, बहिष्कार करता है, स्वीकार करता है, सशोधन और परिवर्तनकी आज्ञा देता है, मनोमय गृह-का स्वामी है, आत्मप्रभुत्वका—साम्राज्यका—अधिकारी है।

योगी इससे भी आगे जाता है, वह केवल मनके अदर ही स्वामी नही होता, बल्कि एक प्रकारसे मनमें रहते हुए भी वह मानो उससे बाहर चला जाता है और उससे ऊपर या एकदम उसके पीछे अवस्थित होता है तथा उससे मुक्त रहता है। उस-के विषयमें अब 'विचारोंके कारखाने' की उपमा उतनी लागू नही होती, क्योकि वह देखता कि सभी विचार बाहरसे, विश्वमानस या विश्वप्रकृतिसे आते है, कभी-कभी तो उनका निर्दिष्ट और स्पष्ट रूप होता है और कभी-कभी कोई रूप नही होता और जब उन-का कोई रूप नही होता तब उन्हें कही हमारे अदर रूप प्राप्त होता है। हमारे मनका प्रधान कार्य यह है कि वह इन विचार-तरगोको (साथ-ही-साथ प्राणकी लहरो तथा सूक्ष्म भौतिक शक्ति-की लहरोको भी) या तो स्वीकार करे या त्याग दे अथवा पारि-पार्श्विक प्रकृति-शक्तिसे आनेवाली विचार-सामग्रीको (अथवा प्राण-की गतियोको) इस प्रकार व्यक्तिगत मनोमय आकार प्रदान करे।

मनोमय पुरुषके अदर जो सभावनाए निहित हैं उनकी सीमा नही बाधी जा सकती, वह मुक्त साक्षी तथा अपने गृहका स्वामी हो सकता है। एक प्रकारकी क्रमवर्धमान स्वतन्त्रता प्राप्त करना तथा अपने मनपर प्रभुत्व स्थापित करना किसी भी साधकके लिये बिलकुल सभव है, यदि उसमें श्रद्धा तथा ऐसा करनेका दृढ सकल्प मौजूद हो।

***

पहली सीढ़ी है अचंचल मन—निश्चल-नीरवता है उसके बाद की सीढ़ी फिर भी अचंचलता बहुत अवश्य रहनी चाहिये और अचंचल मनसे मेरा मतलब यह है कि भीतर एक ऐसी मनोमय चेतना होनी चाहिये जो यह देखती है कि विचार उसके पास आ रहे हैं और इधर-उधर मंडरा रहे हैं पर वह स्वयं यह नहीं अनुभव करती कि वह विचार कर रही है या उन विचारोंके साथ तादात्म्य स्थापित कर रही है या उन्हें अपना समझ रही है। विचार, मानसिक गतियां उसके भीतरसे होकर ठीक उसी तरह गुजर सकती हैं जिस तरह पथिक कहीं बाहरसे एक शांत प्रदेश में आते हैं और उसमेंसे होकर चले जाते हैं—अचंचल मन उन्हें देखता है अथवा उन्हें देखनेकी परवा भी नहीं करता परन्तु, उन दोनों ही अवस्थाओंमें वह न तो क्रियाशील होता है न अपनी अचंचलताको ही खोता है। निश्चल-नीरवता अचंचलतासे कुछ अधिक चीज है इसे प्राप्त करनेका उपाय है आभ्यन्तरीण मनसे विचारोंको सर्वथा बाहर निकाल देना और मनको एकदम निःशब्द बना देना या उसे हटाकर एकदम विचारोंसे बाहर रखना। परन्तु इससे भी अधिक आसानीसे इसकी स्थापना होती है ऊपरसे इसका अवतरण होनेपर—साधक उसे नीचे उतरती हुई, व्यक्तिगत चेतनामें प्रवेश करती हुई और उसे अधिकृत करती हुई या उसे चारों ओरसे घेरती हुई अनुभव करता है और तब उसकी व्यक्तिगत चेतना विशाल नैर्व्यक्तिक निश्चल-नीरवतामें अपने-आपको विलीन करनेमें प्रवृत्त होती है।

शाति (Peace), स्थिरता (Calm), अचचलता (Quiet) और निश्चल-नीरवता (Silence)–इनमेंसे प्रत्येक शब्दके अर्थकी अपनी-अपनी एक अलग छाया है, परतु उनकी ठीक-ठीक परिभाषा देना आसान नही है।

अचचलता एक ऐसी अवस्था है जिसमे तनिक भी चाचल्य या विक्षोभ नही होता।

स्थिरता और भी अधिक अटल अवस्था है जिसपर किसी प्रकारके विक्षोभका असर नही हो सकता–यह अचचलतासे कम अभावात्मक अवस्था है।

शाति और भी अधिक भावात्मक अवस्था है, इसमें एक सुप्रतिष्ठित और सामजस्यपूर्ण विश्राति और मुक्तिका बोध निहित होता है।

निश्चल-नीरवता एक ऐसी अवस्था है जिसमे मन या प्राणकी या तो कोई क्रिया ही नही होती या वहा एक ऐसी महान् निस्तब्धता छायी रहती है जिसे कोई भी ऊपरी क्रिया न तो भेद सकती है न बदल सकती है।

***

मनकी अचचलताको बनाये रखो और अगर वह अचचलता कुछ समयतक सूनी भी मालूम हो तो उसकी भी कोई परवा मत करो, हमारी चेतना बहुत बार एक पात्रकी तरह होती है जिसमेंसे मिश्रित तथा अवाछनीय वस्तुओको निकाल देना पडता है और उसे कुछ समयतक खाली रखना पडता है, जबतक कि वह नवीन और यथार्थ, उचित और विशुद्ध वस्तुसे नही भर दी जाती। परतु उस समय एक बातसे बचना चाहिये और वह यह है कि कही

उन्हीं पुरानी गंदी चीजोंसे वह पात्र फिर न भर जाय। इसके लिये प्रतीक्षा करो ऊपरकी ओर अपने-आपको खोले रखो बड़ी धीरता और स्थिरताके साथ अत्यधिक बेचैनी और व्यग्रताके साथ नहीं शान्तिका आवाहन करो जिसमें उस निश्चल-नीरवतामें वह उतर आये और जब वहां शान्ति स्थापित हो जाय तब आनन्द और भागवत उपस्थितिका आवाहन करो।

*

यद्यपि आरम्भमें स्थिरता एक अभावात्मक वस्तु ही मालूम होती है फिर भी उसे प्राप्त करना इतना कठिन है कि यदि उस की भी प्राप्ति हो जाय तो यह मानना पड़ेगा कि साधनामें बहुत कुछ उन्नति हो गयी है।

वास्तवमें स्थिरता कोई अभावात्मक वस्तु नहीं है यह तो सत्-पुरुषका अपना स्वरूप है और भागवत चेतनाका भावात्मक आधार है। अन्य चाहे जिस वस्तुकी अभीप्सा की जाय चाहे कोई वस्तु प्राप्त की जाय पर इसे अवश्य बनाये रखना चाहिये यहांतक कि ज्ञान शक्ति और आनन्द अगर आते हैं और उन्हें यह आधार नहीं मिलता तो वे ठहर नहीं पाते और उन्हें तबतक के लिये वापस लौट जाना पड़ता है जबतक कि सत्पुरुषकी दिव्य पवित्रता और शान्ति वहां स्थायी रूपसे नहीं स्थापित हो जाती।

भागवत चेतनाकी जो और दूसरी-दूसरी चीजें हैं उनके लिये अभीप्सा करो परन्तु यह अभीप्सा स्थिर और गंभीर होनी चाहिये। यह स्थिर होती हुई भी तीव्र हो सकती है पर यह अधीर, अशान्त या राजसिक उत्सुकतासे भरी हुई नहीं होनी चाहिये।

केवल अचचल मन और अचचल सत्ताके अदर ही अतिमानस-सत्य अपनी सच्ची सृष्टिकी रचना कर सकता है।

***

साधनामें मानसिक स्तरसे ही अनुभूतिका आरभ होता है–आवश्यक बात बस यही है कि अनुभूति शुद्ध हो, यथार्थ हो। मन-के अदर बुद्धि और सकल्पशक्तिका दबाव तथा हृदयके अदर भग-वान्‌के प्रति भावावेग–ये दोनो योगसाधनाके सबसे पहले सहायक है, और वास्तवमे जिस आधारको सबसे पहले स्थापित करना है वह है शाति, शुद्धि और स्थिरता (साथ ही निम्न प्रकृतिकी बे-चैनीका एकदम शात हो जाना), और आरभमें इन्हे प्राप्त करना अतिभौतिक जगतोकी झाकी पाने अथवा सूक्ष्म दृश्योको देखने, सूक्ष्म वाणियोको सुनने और विशेष शक्तियोको प्राप्त करनेसे भी कही अधिक आवश्यक है। शुद्धि और स्थिरता योगकी सबसे पहली आवश्यकताए है। किसी-किसीको इनके विना भी उप-र्युक्त अनुभूतिया (सूक्ष्म जगत्, सूक्ष्म दृश्य, सूक्ष्म वाणी इत्यादि) प्रचुर मात्रामे प्राप्त हो सकती है, परतु अशुद्ध और अशात चेतना-मे जब ये अनुभूतिया होती है तब वे प्राय विश्रृखल और विमिश्र होती हैं।

आरभमे शाति और स्थिरता निरतर नही बनी रहती, वे आती है और फिर चली जाती हैं, और प्रकृतिमें स्थायी रूपसे जम जानेमें उन्हें सामान्यतया एक लबा समय लग जाता है। इस-लिये यह अच्छा है कि अधीरतासे अलग रहा जाय और जो कुछ कार्य किया जा रहा है उसीको लगातार जारी रखा जाय।

अगर तुम शांति और स्थिरताके अतिरिक्त भी और कोई चीज प्राप्त करना चाहो तो वह चीज होनी चाहिये तुम्हारी अंतःसत्ता का पूर्ण उन्मीलन और तुम्हारे अंदर भागवत शक्ति जो कर्म कर रही है उसके विषयमें सचेतनता। इन दोनोंके लिये सच्चाईके साथ और अत्यंत तीव्रताके साथ पर बिना अधीर हुए, अभीप्सा करो और वे तुम्हें प्राप्त हो जायगी।

∴

आखिरकार साधनाका सच्चा आधार तुम्हें मिल गया। यह स्थिरता शांति और समर्पण ही वह समुचित वातावरण है जिस म बाकी सभी चीज—ज्ञान शक्ति और आनंद—आती हैं। इस स्थिति को पूर्ण होने दो।

काममें लगे रहनेपर जो यह स्थिति नहीं बनी रहती इसका कारण यह है कि यह अभी ठीक मनके क्षेत्रमें ही आबद्ध है और मनने भी उस स्थिरता-नीरवताको अभी हालमें ही प्राप्त किया है। जब यह नयी चेतना पूर्ण रूपसे गठित हो जायगी और प्राणमय प्रकृति तथा भौतिक सत्तापर अपना पूर्ण अधिकार जमा लेगी (अभीतक स्थिरता-नीरवताने प्राणका स्पर्शमात्र किया है अथवा उसपर अपना एक प्रभावभर फैलाया है उसे अभीतक अधिकृत नहीं किया है) तब यह दोष दूर हो जायगा।

तुमने अपने मनमें जो अभी आन्तरिक अचंचल चेतना प्राप्त की है उसे केवल स्थिर ही नहीं होना होगा बल्कि उसे विशाल भी होना होगा। तुम्हें उसे सर्वत्र अनुभव करना होगा यह अनुभव करना होगा कि तुम स्वयं उसमें हो और सब कुछ उसमें है।

'यह अनुभव भी कर्मके अदर स्थिरताको आधार वनानेमें सहायता करेगा।

तुम्हारी चेतना जितनी ही अधिक व्यापक होगी उतना ही अधिक तुम ऊपरसे आनेवाली चीजोको ग्रहण करनेमें समर्थ होगे। उस समय ऊपरसे भागवत शक्ति अवतरित हो सकेगी और तुम्हारे आधारमे शातिके साथ-साथ शक्ति और ज्योतिको ले आ सकेगी। अपने अदर जिस चीजको तुम सकीर्ण और सीमित अनुभव कर रहे हो वह तुम्हारा भौतिक (स्थूल) मन है, यह तभी विशाल बन सकता है जब कि विशालतर चेतना और ज्योति नीचे उतर आयेंगी और तुम्हारी प्रकृतिको अधिकृत कर लेंगी।

जिस भौतिक तामसिकतासे तुम दु ख पा रहे हो वह केवल तभी कम हो सकती और दूर हो सकती है जव आधारमें ऊपरसे शक्तिका अवतरण हो।

अचचल बने रहो, अपने-आपको खोले रखो और भागवत शक्तिका आवाहन करो जिसमे वह स्थिरता और शातिको स्थापित करे, चेतनाको प्रसारित करे और अभी उसमें जितनी ज्योति और शक्ति ग्रहण करने और धारण करनेकी क्षमता हो उतनी उसके अदर ले आयें।

इस विषयमे सावधान रहो कि कही अत्यधिक उत्सुकता न हो जाय, अन्यथा उससे, जितनी अचचलता और समतुलता प्राण-प्रकृतिमें अवतक प्रतिष्ठित हो चुकी है, वह फिरसे भग हो सकती है।

अतिम परिणाममें विश्वास बनाये रखो और दिव्य शक्तिको अपना काम करनेके लिये समय दो।

*
* *

अभीप्सा करो उचित मनोभावके साथ एकाग्र होओ और फिर चाहे जो कठिनाइयां हो तुमने अपने सामने जिस उद्देश्यको रखा है उसे तुम अवश्य प्राप्त करोगे।

पीछे जो शान्ति है और तुम्हारे अन्दर जो "अचिन्त्य सत्य कोई वस्तु" है उसीमें निवास करना तुम्हें सीखना होगा और यह अनुभव करना होगा कि वही वस्तु तुम स्वयं हो। और इसके अतिरिक्त और जो कुछ है उसे तुम्हें अपना वास्तविक स्वरूप नहीं समझना होगा बल्कि उसे बाहरी तलपर होनेवाली उन गतियोंका प्रवाह समझना होगा जो बराबर परिवर्तित होती रहती हैं या बार-बार वर्तित होती रहती हैं और जो वास्तविक स्वरूपके प्रकट होते ही निश्चित रूपसे बन्द हो जाती हैं।

इसका सच्चा प्रतिकार है शान्ति। कठिन कार्यमें लगकर मन को दूसरी ओर फेर लेनेसे केवल अस्थायी रूपमें ही कुछ चैन मिल सकता है—यद्यपि आधारके विभिन्न भागोंमें समुचित सामञ्जस्य बनाये रखनेके लिये कुछ कार्य करना आवश्यक है। अपने सिरके ऊपर और उसके इर्दगिर्द शान्तिका अनुभव करना पहली सीढ़ी है तुम्हें उस शान्तिके साथ सचेतन सम्बन्ध स्थापित करना होगा और उसे तुम्हारे अन्दर अवतरित होकर तुम्हारे मन प्राण और शरीर में भर जाना होगा तथा तुम्हें इस प्रकार घेर लेना होगा कि तुम उसीमें निवास करने लगो—क्योंकि तुम्हारे साथ भगवानकी उपस्थितिके सम्बन्धमें एकमात्र चिह्न यही शान्ति है और अगर एक बार तुम इसे पा लो तो बाकी चीजें अपने-आप आना आरम्भ कर देंगी।

मानसिक तपस्या और विचारमय तपस्या बहुत ही महत्त्वपूर्ण

स्थिरता–शाति–समता

जितना ही अधिक तुम यह अनुभव करोगे कि मिथ्यात्व तुम्हारा अपना अश नही है, वह वाहरसे तुम्हारे अदर आता है, उतना ही अधिक उसका त्याग करना और उसे अस्वीकार करना तुम्हारे लिये आसान हो जायगा।

अपना प्रयास जारी रखो–जो कुछ अभी वक्र है वह सरल हो जायगा तथा भगवान्‌की उपस्थितिके सत्यको तुम निरतर जानने और अनुभव करने लगोगे और प्रत्यक्ष अनुभूतिके द्वारा तुम्हारी श्रद्धाकी सत्यता प्रमाणित हो जायगी।

सवसे पहले यह अभीप्सा करो और श्रीमासे यह प्रार्थना करो कि तुम्हारे मनमें अचचलता स्थापित हो, तुममें शुद्धता, स्थिरता और शातिका निवास हो, तुम्हे प्रवुद्ध चेतना, प्रगाढ भक्ति, तथा समस्त आतर और वाह्य कठिनाइयोका सामना करनेके लिये और योगसाधनामें अततक पहुचनेके लिये वल और आध्यात्मिक सामर्थ्य प्राप्त हो। अगर चेतना जागृत हो जाय और वहा भक्ति तथा अभीप्साकी तीव्रता हो तो मनके लिये क्रमश ज्ञानसमृद्ध होना सभव हो जायगा, अवश्य ही अगर वह अचचल और शात होना सीख ले।

* * *

इसका कारण है शारीर सत्ता, विशेषकर शरीरगत प्राण-सत्ताकी अत्यधिक सचेतनता और तीव्र सवेदनशीलता।

शरीरके लिये यह अच्छा है कि वह अधिकाधिक सचेतन होता जाय, पर उसे इन सव साधारण मानवोचित प्रतिक्रियाओसे, जिन-

के प्रति वह सजग होता है अभिभूत अथवा बुरी तरह प्रभावित या विपर्यस्त नहीं होना चाहिये। मनकी तरह ही स्नायुओं तथा शरीरमें भी एक प्रकारकी सुदृढ़ समता प्रभुता और अनासक्तिका भाव आना चाहिये जिससे शरीर सत्ता इन सब चीजोंसे जरा भी विचलित हुए बिना इन्हें जानने और इनसे संबंध स्थापित करनेमें समर्थ हो सके। पारिपार्श्विक वातावरणमें विभिन्न क्रियाओंका जो दबाव पड़ता है उन्हें इसे (शरीरको) जानना चाहिये उनके विषयमें सचेतन होना चाहिये उनका त्याग करना चाहिये और उन्हें दूर फेंक देना चाहिये न कि केवल उनका अनुभव करना और उनसे दुःखी होना चाहिये।

*

अपनी कमजोरियों और कुप्रवृत्तियोंको पहचानना और उनसे अपने-आपको अलग कर लेना—यही मुक्तिकी ओर ले जानेवाला मार्ग है।

जबतक कोई स्थिर मन और स्थिर प्राणके साथ वस्तुओंको न देख सके तबतक अपने सिवा किसी दूसरेके विषयमें कोई विचार निश्चित नहीं करना चाहिये—यह बहुत अच्छा नियम है। साथ ही किसी बाह्य रूपको देखते ही उसीके आधारपर तुम अपने मनको कोई धारणा मत बनाने दो और न प्राणको ही उस धारणा के आधारपर कोई कार्य करने दो।

आन्तर सत्तामें एक ऐसा स्थान है जहां सर्वदा शांत-स्थिर रहा जा सकता है और वहांसे बाह्य चेतनाकी हलचलोंको समताके साथ और विचारपूर्वक देखा जा सकता है तथा उन्हें परिवर्तित

करनेके लिये उनके ऊपर कार्य किया जा सकता है। अगर तुम आतर सत्ताकी उस स्थिरतामें निवास करना सीख जाओ तो तुम्हे अपनी सावनाका स्थायी आवार प्राप्त हो जायगा।

***

इन सव वातोंमे अपने-आपको विचलित या विक्षुब्ध मत होने दो। एक वात जो सदा करनी है वह है—भगवान्‌के प्रति अपनी अभीप्सामें अटल वने रहना और सभी कठिनाइयो तथा विरोवो-का समता और अनासक्तिके साथ सामना करना। जो लोग आध्यात्मिक जीवन यापन करना चाहें उनकी दृष्टिमें भगवान्‌का स्थान सदा सवसे पहले आना चाहिये, अन्य सभी चीजें गौण होनी चाहियें।

अपने-आपको अनासक्त रखो और इन सव चीजोकी ओर उस मनुष्यकी धीर-स्थिर आतर दृष्टिसे देखो जो भीतर-ही-भीतर अपने-आपको भगवान्‌के चरणोमे समर्पित कर चुका है।

अभी तुम्हारी अनुभूतिया मनकी भूमिकामें हो रही है, परतु यही ठीक क्रिया है। वहुतसे साधक इसी कारण अग्रसर होने-में असमर्थ हो जाते है कि वे मन और अतरात्माके तैयार होनेसे पहले ही अपने प्राणमय स्तरको खोल देते है। मानस-स्तरमें कुछ सच्ची आध्यात्मिक अनुभूतियोंके आरभ होनेके वाद ही प्राणमय स्तरमें एक असामयिक अवतरण होता है और उसके फल-स्वरूप वहुत अधिक गडवडी और हलचल मच जाती है। इस-

से अपने-आपको बचाना होगा। और इससे भी बुरा तब होता है जब कि प्राणमय वासना-पुरुष मनमें आध्यात्मिक वस्तुओंका स्पर्श होनेसे पहले ही अनुभूतियोंकी ओर झुक जाता है।

सर्वदा यह अभीप्सा करते रहो कि तुम्हारा मन और हृत्पुरुष सच्ची चेतना और अनुभूतिसे भर जाय और तैयार हो जायं। तुम्हें विशेष रूपसे अचंचलता शांति स्थिर श्रद्धा क्रमवर्धमान अविचल प्रसारताके लिये अधिकाधिक ज्ञानके लिये तथा गंभीर और तीव्र पर चांचल्यहीन भक्तिके लिये अभीप्सा करनी चाहिये।

अपनी पारिपार्श्विक अवस्थाओं तथा उनके विरोधोंसे विचलित मत होओ। ये अवस्थाएं प्रायः आरंभमें अग्नि-परीक्षाके रूपमें साधकके सामने उपस्थित की जाती हैं। अगर तुम शांत और अविचल बने रहो और इन परिस्थितियोंमें भी अपने भीतर बिना घबड़ाये हुए अपनी साधनाको जारी रखो तो इससे तुम्हें एक बहुत आवश्यक शक्ति प्राप्त करनेमें सहायता मिलेगी। योग मार्ग सदा ही आंतर और बाह्य कठिनाइयोंसे भरा रहता है और इनका सामना करनेके लिये साधकको अपने अंदर एक अचंचल सुदृढ़ और ठोस शक्तिका विकास करना ही चाहिये।

∴

हमारी आंतरिक आध्यात्मिक उन्नति उतनी बाहरी अवस्थाओंपर निर्भर नहीं करती जितनी इस बातपर निर्भर करती है कि हम अपने भीतर उन अवस्थाओंके प्रति किस प्रकारसे प्रतिक्रिया करते हैं–यही तो आध्यात्मिक अनुभूतिका सदा चरम सिद्धांत रहा

है। यही कारण है कि हम लोग इस बातपर जोर देते हैं कि साधक उचित भाव ग्रहण करे और उसे बराबर बनाये रखे, एक ऐसी आंतरिक स्थिति प्राप्त करे जो बाह्य परिस्थितियोंपर निर्भर न करती हो, जो एकदम आरंभमें ही यदि आंतरिक प्रसन्नताकी स्थिति न हो सकती हो तो भी वह समता और स्थिरताकी एक अवस्था अवश्य हो, और वह जीवनके धक्कों और थपेड़ोंके वशमें रहनेवाले ऊपरी मनमें निवास करनेके बदले अधिकाधिक अपने भीतर प्रवेश करे और भीतरसे ही बाहरकी ओर देखे। केवल इसी आंतरिक स्थितिमें प्रतिष्ठित होनेपर साधक जीवन तथा जीवनमें बाधा पहुचानेवाली शक्तियोंसे कहीं अधिक बलवान् बन सकता है और उनपर विजय पानेकी आशा कर सकता है।

भीतर अचंचल बने रहना, बाधा-विपत्ति या उत्थान-पतनसे विचलित या निरुत्साह न हो पथपर चलनेके अपने संकल्पमें दृढ़ बने रहना—यही वह पहली बात है जिसे इस योगमार्गमें सीखना पड़ता है। अन्यथा चेतनाको अस्थिर होनेका अवसर मिल जाता है और अनुभूतिको बनाये रखनेमें कठिनाई होती है जैसी कि तुमने शिकायत की है। यदि तुम अंदरसे स्थिर और अचंचल बने रहो तो ही अनुभूतिकी धाराएं एक हदतक अबाध गतिसे प्रवाहित हो सकती है—यद्यपि ऐसा कभी नहीं होता कि बीच-बीचमें व्याघात और उत्थान-पतनके काल बिलकुल न आते हों, पर इनका भी यदि ठीक तरहसे उपयोग किया जाय तो ये काल साधनामें व्यर्थ नष्ट हुए कालकी जगह अनुभूतिको पचाने और कठिनाइयोंको नष्ट करनेके काल बन सकते हैं।

बाह्य परिस्थितियोंकी अपेक्षा आध्यात्मिक वातावरण कहीं

अधिक महत्त्वपूर्ण है। यदि कोई साधक इसे प्राप्त कर सके और साथ ही अपने स्वास लेनेके लिये और उसीमें रहनेके लिये अपना निजी आध्यात्मिक वायुमंडल उत्पन्न कर सके तो यही उसकी उन्नति के लिये समुचित अवस्था होगी।

*

यदि तुम भागवत शक्तिको ग्रहण करनेकी योग्यता प्राप्त करना चाहो और बाह्य जीवनकी सभी बातोंमें अपने द्वारा उसे कार्य करने देना चाहो तो उसके लिये पहले तीन चीजोंको प्राप्त करना आवश्यक है —

(१) अचंचलता समता—कोई भी घटना क्यों न घटित हो उससे विचलित नहीं होना चाहिये मनको स्थिर और दृढ़ रखना चाहिये मन विभिन्न शक्तियोंके खेलको भी देखेगा पर स्वयं प्रशांत बना रहेगा।

(२) पूर्ण श्रद्धा-विश्वास—ऐसा विश्वास होना चाहिये कि जो कुछ हमारे लिये सर्वोत्तम है वही होगा पर साथ ही यह आस्था भी होनी चाहिये कि अगर हम सच्चे यंत्र बन जायं तो इसके फलस्वरूप जिस कर्मको भागवत ज्योतिसे परिचालित हमारा संकल्प अथवा कर्तव्य समझता है वही कर्म संपादित होगा।

(३) ग्रहणशीलता—भागवत शक्तिको ग्रहण करनेका तथा उसकी उपस्थिति और उसके अंदर श्रीमाकी उपस्थितिको अनुभव करनेका सामर्थ्य होना चाहिये और उस शक्तिको कार्य करने देना चाहिये जिसमें वह हमारी दृष्टि संकल्प और कार्यका परि

चालन कर सके। अगर इस शक्ति और इसकी उपस्थितिको अनुभव किया जाय और इस नमनीयताको कर्मगत चेतनाका स्वभाव बना लिया जाय—किंतु यह नमनीयता केवल भागवत शक्तिके लिये ही हो, इसमें कोई विजातीय वस्तु आकर न मिल जाय—तो अंतिम परिणाम सुनिश्चित है।

***

समता इस योगका एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण अंग है, यह आवश्यक है कि दुःख और कष्टमें भी समताको बनाये रखा जाय—और इसका अर्थ है दृढता और स्थिरताके साथ सहन करते रहना, बेचैन या विचलित अथवा अवसन्न या हताश न होना और भगवान्‌की इच्छापर अटल विश्वास रखकर अग्रसर होते रहना। परंतु समताके अंदर तामसिक स्वीकृतिका कोई स्थान नहीं। उदाहरणार्थ, अगर साधना करते समय किसी प्रयासमें सामयिक विफलता हो तो समता अवश्य बनाये रखनी चाहिये, उससे विचलित या हताश नहीं होना चाहिये, पर साथ ही विफलताको भागवत इच्छाका संकेत भी नहीं समझना चाहिये और न अपना प्रयास ही छोडना चाहिये। बल्कि इसके बदले तुम्हें उस विफलताका कारण और तात्पर्य खोज निकालना चाहिये और विश्वासके साथ विजयकी ओर आगे बढना चाहिये। यही बात रोगके विषयमें भी कही जा सकती है—तुम्हें उससे दुःखित, विचलित या बेचैन नहीं होना चाहिये, पर साथ ही रोगको भगवदिच्छा समझकर स्वीकार भी नहीं करना चाहिये, बल्कि तुम्हें यह समझना चाहिये कि यह शरीरकी एक अपूर्णता है और जैसे तुम अपने प्राणकी अपूर्णताओं

या मनकी भूलोंको दूर करनेकी चेष्टा करते हो वैसे ही तुम्हें इस शरीरकी अपूर्णताको भी दूर करना है।

*

समताके बिना साधनामें सुदृढ़ प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। परिस्थितियां चाहे जितनी भी अप्रिय हों दूसरोंका व्यवहार चाहे जितना भी नापसंद हो तुम्हें पूर्ण स्थिरताके साथ तथा किसी प्रकार की क्षोभ उत्पन्न करनेवाली प्रतिक्रियाके बिना उन्हें ग्रहण करना सीखना चाहिये। इन्हीं चीजोंसे समताकी परीक्षा होती है। जब सब कुछ अच्छी तरहसे चलता रहता है और सभी मनुष्य तथा परिस्थितियां अनुकूल होती हैं तब तो स्थिर और सम बने रहना सहज ही है परंतु जब ये सब विपरीत हो जाते हैं तभी स्थिरता शांति और समताकी पूर्णताकी जांच की जा सकती है तभी उन्हें दृढ़तर और पूर्णतर बनाया जा सकता है।

*

तुम्हें जो कुछ अनुभूति हुई उससे यह पता चलता है कि किन-किन शर्तोंके पूरा होनेपर वह स्थिति आती है जिसमें भागवत शक्ति अहंकारका स्थान ग्रहण करती है और मन प्राण और शरीरको अपना यंत्र बनाकर सारे कर्मोंका संचालन करती है। मनमें ग्रहण-समर्थ नीरवताका होना मानसिक अहंकारका विलुप्त हो जाना तथा मानस-सत्ताका एकमात्र साक्षीकी अवस्थामें आ जाना भागवत शक्तिके साथ घनिष्ठ संबंध स्थापित करना तथा अपनी सत्ताको अन्य प्रभावोंसे अलग रखकर एकमात्र

उसी भागवत प्रभावके प्रति उन्मुक्त करना—ये ही भगवान्-द्वारा और एकमात्र भगवान्‌द्वारा परिचालित भागवत यत्र बनने-की शर्त्तें हैं।

मनकी निश्चल-नीरवता स्वय अपने-आप अतिमानस-चेतनाको नही ले आती, मानव मन और अतिमानसके बीच चेतनाकी बहुतसी अवस्थाए, अनेक लोक या स्तर हैं। निश्चल-नीरवता मन और सत्ताके अन्यान्य सभी अगोको महत्तर वस्तुओकी ओर खोल देती है, कभी तो विश्वगत चेतनाकी ओर, कभी शात आत्माकी उपलब्धिकी ओर, कभी भगवान्‌की सत्ता या शक्तिकी ओर, कभी मनुष्यकी मानस-चेतनासे उच्चतर किसी चेतनाकी ओर खोल देती है, इनमेंसे किसी भी अनुभूतिको प्राप्त करनेके लिये मनकी नीरव-ता सबसे अधिक अनुकूल अवस्था है। इस योगमें भी यही सबसे अधिक अनुकूल अवस्था है (अवश्य ही एकमात्र अनुकूल अवस्था नही है), जिसमें भागवत शक्ति पहले व्यक्तिगत चेतनाके ऊपर और फिर उस चेतनाके अदर अवतरित होती है और वहा उस चेतनाको रूपातरित करनेका अपना कार्य करती है, उसे आवश्यक अनुभूतिया प्रदान करती है, उसके सभी दृष्टिकोणो और गतियोको परिवर्तित करती है, उसे धीरे-धीरे एक स्तरसे दूसरे स्तरमें परि-चालित करती हुई अतिम (अतिमानसिक) रूपातरके लिये तैयार करती है।

***

'ठोस पत्थर' की तरह अपने-आपको बोध करनेका यह अनु-भव इस बातको सूचित करता है कि तुम्हारी बाह्य सत्तामें—परतु

मुख्यतः प्राणमय भौतिक सत्तामें—एक प्रकारके ठोस सामर्थ्य और शांतिका अवतरण हुआ है। सर्वदा ही यही वह चीज होती है जो आधारकी पक्की नींवका काम करती है और इसीमें अन्य सब चीजें (आनंद ज्योति ज्ञान भक्ति) भविष्यमें अवतरित हो सकती हैं इसीके ऊपर निरापद रूपमें स्थित हो सकती हैं या क्रिया कर सकती हैं। दूसरी अनुभूतिमें सुन्न पड़ जानेकी जो बात तुमने लिखी है उसका कारण यह है कि यहांपर गति अंदर की ओर थी परंतु यहांपर योगशक्ति बाहरकी ओर पूर्ण जाग्रत बाह्य प्रकृतिके अंदर आ रही है जिसमें कि वह वहां योगको तथा योगके अनुभवको स्थापित करना आरंभ करे। अतएव यहांपर वह सुन्न पड़नेकी बात नहीं है जो कि सत्ताके बाहरी अंगोंमें चेतना के पीछे हट जानेका चिह्न है।

*

पहले इस बातको स्मरण रखो कि साधनाको निर्विघ्न बनाने के लिये चंचल मन और प्राणकी शुद्धिसे उत्पन्न एक आंतरिक अचंचलताकी सबसे पहले आवश्यकता है। उसके बाद यह याद रखो कि बाहरी कर्म करते समय श्रीमाकी उपस्थितिका अनुभव करना ही है साधनामें बहुत कुछ अग्रसर होना और यह पर्याप्त आंतरिक उन्नति हुए बिना नहीं प्राप्त किया जा सकता। समय त जिस बातको तुम इतना अधिक आवश्यक अनुभव करते हो पर जिसका ठीक-ठीक वर्णन नहीं कर पाते वह है इस बातका सतत और स्पष्ट अनुभव होना कि श्रीमाकी शक्ति तुम्हारे अंदर कार्य कर रही है ऊपरसे अवतरित हो रही है और तुम्हारी सत्ता

के विभिन्न स्तरोको अधिकृत कर रही है। यह अनुभव प्राय ही आरोहण और अवरोहणकी द्विविध गति आरभ होनेके पहले हुआ करता है, समय आनेपर यह अनुभव तुम्हे भी अवश्य होगा। इन वातोंके प्रत्यक्ष रूपमें आरभ होनेमें बहुत लवा समय लग सकता है, विशेषकर उस अवस्थामें जव कि मनको बहुत अधिक क्रिया-शील होनेका अभ्यास हो और निश्चल-नीरव होनेकी आदत उसमे बिलकुल न हो। यह (मनकी) सक्रियता एक तरहका पर्दा डाल देती है और जबतक यह रहती है तवतक मनकी चचल यवनिका-के पीछे वहुतसा कार्य करना पडता है और साधक यह समझता है कि कुछ भी नही हो रहा है जब कि उसे तैयार करनेके लिये वहुतसा आरभिक कार्य होता रहता है। अगर तुम बहुत शीघ्र और प्रत्यक्ष उन्नति करना चाहो तो यह केवल तभी हो सकता है जब तुम निरतर आत्मनिवेदनके द्वारा अपने हृत्पुरुषको सामने ले आओ। इसके लिये तीव्र अभीप्सा करो, पर अधीरताको मत आने दो।

***

साधनाके लिये वलवान् मन, शरीर और प्राणशक्तिकी आव-श्यकता होती है। इस बातके लिये विशेष रूपसे प्रयास करना चाहिये कि तमस् बाहर निकाल दिया जाय और प्रकृतिके इस ढाचेमें वल और शक्तिका सचार हो।

योगका मार्ग सजीव होना चाहिये, यह कोई ऐसा मानसिक सिद्धात या कठोरतापूर्वक निर्द्धारित पद्धति नही होना चाहिये जिस-

से आवश्यक परिवर्तनोंको अस्वीकार करते हुए चिपका रहा जाय।

***

किसी प्रकार विचलित न होना, शान्त बने रहना और पूर्ण विश्वास बनाये रखना ही साधकके लिये समुचित मनोभाव है पर यह भी आवश्यक है कि श्रीमाकी सहायताको ग्रहण किया जाय और किसी भी कारणसे उनकी करुणासे पीछे न हटा जाय। साधकको कभी ऐसी भावनाओंको प्रश्रय नहीं देना चाहिये कि मैं अयोग्य हूं, ग्रहण करनेमें असमर्थ हूं, कभी अपने दोषों और विफलताओंके विषयमें बहुत अधिक सोच-विचार नहीं करना चाहिये और न उनके कारण अपने मनको दुःखित और लज्जित होने देना चाहिये, क्योंकि ये सब विचार और भाव अंतमें मनमें दुर्बलता ले आते हैं। अगर कठिनाइयां आवें, ठोकरें लगती पड़ें या वि- फलताएं हों तो साधकको उन्हें धीरतापूर्वक देखना चाहिये और उन्हें दूर करनेके लिये शांतिपूर्वक निरंतर भगवान्‌की सहायताका आवाहन करना चाहिये पर कभी अपनेको विपर्यस्त या व्यथित या निरुत्साहित नहीं होने देना चाहिये। योगका मार्ग कोई सहज मार्ग नहीं है और प्रकृतिका सर्वांगीण परिवर्तन एक दिनमें नहीं किया जा सकता।

**

तुम्हारे अंदर जो अवसाद आया है और तुम्हारे प्राणके अंदर संघर्ष उत्पन्न हुआ है, इसका कारण निश्चय ही यह होगा कि

तुम्हारे पहलेके प्रयासमे फलकी प्राप्तिके लिये अत्यधिक उत्सुक होने तथा अतिरिक्त परिश्रम करनेका दोष आ गया होगा–इस दोषके कारण जब तुम्हारी चेतना नीचे उतर आयी तब तुम्हारा दु खित, हताश और उद्भ्रान्त प्राण ऊपरी सतहपर आ गया और उसने प्रकृतिकी प्रतिकूल दिशासे आनेवाले सशय, निराशा और जड-ताके सुझावोंके प्रवेश करनेके लिये पूरी तरहसे दरवाजा खोल दिया। ठीक मानसिक चेतनाकी तरह ही तुम्हे अपने प्राण और शरीरकी चेतनामें भी स्थिरता और समताका सुदृढ आधार स्थापित करनेके लिये प्रयास करना होगा। शक्ति और आनदका एक पूर्ण प्रवाह उतर आये, पर आये एक सुदृढ आधारमें जो उसे धारण करनेमें समर्थ हो–एकमात्र पूर्ण समता ही वैसा सामर्थ्य और दृढ़ता प्रदान कर सकती है।

विशालता और स्थिरता यौगिक चेतनाकी नीव है और आत-रिक उन्नति और अनुभूतिके लिये सबसे उत्तम अवस्था है। अगर भौतिक चेतनामें एक ऐसी विशाल स्थिरता स्थापित की जाय जो शरीर और उसके समस्त अणु-परमाणुतकको अधिकृत कर ले और भर दे तो वह उसके रूपातरका आधार बन सकती है। वास्तवमे इस विशालता और स्थिरताके बिना रूपातरका होना असभवसा ही है।

साधनाका यह उद्देश्य ही है कि चेतना शरीरसे बाहर निकल-

कर ऊपर उठे और ऊपर ही अपना आसन ग्रहण करे—सर्वत्र अपने आपको फैला दे शरीरमें ही आबद्ध न रहे। इस तरह मुक्त होकर, इस स्थितिसे ऊपर, साधारण मनसे ऊपर जो कुछ है उसकी ओर साधक अपने-आपको खोलता है जो कुछ ऊर्ध्व लोकोंसे वहाँ उतरता है उसे ग्रहण करता है और जो कुछ उस स्थानसे नीचे है उसका वहींसे निरीक्षण करता है। इसी तरह पूर्ण मुक्त होकर साक्षीके रूपमें नीचेकी सभी वस्तुओंको देखना और उनका नियंत्रण करना और जो कुछ ऊँचेसे अवतरित होता है और शरीरमें प्रवेश करना चाहता है—जिस शरीरको वह एक महत्तर अभिव्यक्तिका यंत्र बननेके लिये उच्चतर चेतना और प्रकृतिके अंदर पुनः गठित करके तैयार करेगा—उसके लिये एक पात्र या प्रणाली बनना संभव होता है।

तुम्हारे अंदर जो कुछ हो रहा है वह यह है कि तुम्हारी चेतना इसी मुक्तावस्थामें अपने-आपको प्रतिष्ठित करनेकी चेष्टा कर रही है। जब साधक इस ऊर्ध्वतर स्थितिमें पहुँच जाता है तब उसे आत्माकी स्वतंत्रता विशाल निश्चल-नीरवता और अविचल स्थिरता प्राप्त हो जाती है। परंतु इस स्थिरताको शरीरके अंदर, सभी निम्न स्तरोंके अंदर भी उतार लाना होगा और वहाँ इसे इस प्रकार प्रतिष्ठित रहना होगा मानो कोई वस्तु पीछे विद्यमान रहती हुई सभी गतियोंको धारण किये हुए हो।

*

अगर तुम्हारी चेतना सिरसे ऊपर उठती है तो इसका मतलब यह है कि वह साधारण मनको अतिक्रम कर ऊपरके उस

केंद्रमें जाती है जो उच्चतर चेतनाको ग्रहण करता है, अथवा वह स्वयं उच्चतर चेतनाके क्रमोन्नत स्तरोंकी ओर जाती है। इसका प्रथम परिणाम है आत्माकी निश्चल-नीरवता और शांति जो उच्च-तर चेतनाका आधार है। यह निश्चल-नीरवता और शांति पीछे निम्नतर स्तरोंमें, यहांतक कि शरीरमें भी अवतरित हो सकती है। इसके बाद ज्योति भी उतर सकती है और शक्ति भी। नाभी-चक्र और उसके नीचेके जो चक्र हैं वे सब प्राण और शरीर-चेतनाके चक्र हैं, उनमें भी संभवतः उच्चतर शक्तिकी कोई चीज अवतरित हुई होगी।

श्रद्धा—अभीप्सा—आत्मसमर्पण

इस योगकी मांग यह है कि भागवत सत्यका आविष्कार करने और उसे मूर्तिमान करनेकी अभीप्सामें ही अपने जीवनको पूर्ण रूपसे उत्सर्ग कर दिया जाय अन्य किसी भी चीजके लिये नहीं। अपने जीवनको भगवान् तथा किसी ऐसे बाह्य लक्ष्य और कर्मके बीच जिसके साथ सत्यानुसंधानका कोई संबंध नहीं बांट देना इस योगमें नहीं चल सकता। इस तरहकी एक मामूलीसी बात भी योगमें सफलता प्राप्त करना असंभव बना देगी।

तुम्हें अपने अंदर प्रवेश करना होगा और आध्यात्मिक जीवन के प्रति पूर्ण आत्मोत्सर्ग करना होगा। अगर तुम योगमें सफलता प्राप्त करना चाहो तो तुम्हें अपनी मानसिक अभिरुचियोंको पकड़े रखनेकी वृत्तिको दूर हटाना होगा अपने प्राणके लक्ष्यों स्वार्थों और आसक्तियोंके प्रति किसी प्रकारका हठ नहीं रखना होगा अपने परिवार, मित्रमंडली और देशादिके प्रति अहंकारपूर्ण मोह-ममताका त्याग करना होगा। जो कुछ बहिर्मुखी शक्ति या क्रियाके रूपमें प्रकट होनेवाला होगा वह एकमात्र उस सत्यसे ही आयेगा जो एक बार प्राप्त हो चुका है न कि निम्नतर मानसिक

या प्राणिक प्रेरणाओंसे, एकमात्र भागवत सकल्प-शक्तिसे आयेगा न कि व्यक्तिगत पसद या अहकारकी अभिरुचियोंसे।

मानसिक सिद्धातोका कोई वास्तविक मूल्य नही, क्योंकि हमारी सत्ताका झुकाव जिस ओर होता है उसीका पोषण करनेवाले सिद्धातोको हमारा मन या तो वना लेता या स्वीकार कर लेता है। वास्तवमें सबसे प्रधान वात है भगवान्‌की ओर तुम्हारा झुकाव और तुम्हारे अदरकी पुकार।

इस वातका ज्ञान होना कि एक परम सत्ता, चैतन्य और आनद (सत्-चित्-आनद) है जो केवल अभावात्मक निर्वाण या अचल-अटल और निराकार कैवल्य ही नही है, वल्कि गतिशील भी है, और यह वोध उत्पन्न होना कि यह भागवत चेतना केवल विश्वके परे जाकर ही नही वरन् यहा भी उपलब्ध की जा सकती है, तथा इसके फलस्वरूप भागवत जीवनको योगके उद्देश्यके रूपमें स्वीकार करना—ये सब वाते मनकी नही हैं या कोई मानसिक सिद्धातका प्रश्न ही नही है—यद्यपि मनके द्वारा इस दृष्टिकोणका भी समर्थन अधिक अच्छे रूपमें न भी सही, कम-से-कम उतने अच्छे रूपमें तो किया ही जा सकता है जितने अच्छे रूपमें अन्य किसी दृष्टिकोणका किया जा सकता है—वल्कि यहा प्रश्न अनुभवका है और जवतक अनुभव नही प्राप्त होता तवतक अतरात्माकी उस श्रद्धाका है जो अपने साथ मन और प्राणकी अनुरक्तिको भी ले आती है। जो साधक उच्चतर ज्योतिके साथ युक्त हो गया है और जिसे अनुभव प्राप्त हो गया है वह इस पथका अनु-

धारण कर सकता है फिर उसके आधारके निम्नतर अंगोंके लिये इस पथपर चलना चाहे कितना भी कठिन क्यों न हो। जिसे इस ज्योतिका स्पर्श मिल गया है, पर अभी अनुभव नहीं प्राप्त हुआ है वह भी यदि उसके हृदयमें पुकार उठी हो उसे पूर्ण निश्चय हो गया हो उसके अन्तरात्माकी लगनने उसे विवश कर दिया हो तो इस पथका अनुसरण कर सकता है।

∴

भगवान्‌की शैली मानव-मनकी गढ़ी-गढ़ी नहीं होती और न वह हमारी परिकल्पनाओंकी अनुगामिनी ही होती है। भगवान्‌की शैलीका विचार करना अथवा उनके विषयमें यह निश्चित करना असम्भव है कि उन्हें क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये क्योंकि हम जितना जान सकते हैं उससे कहीं अधिक भगवान् जानते हैं। अगर हम भगवान्‌को स्वीकार करते हों तो मुझे ऐसा मालूम होता है कि यथार्थ युक्ति और भक्ति दोनों ही एक समान यह दावा करती हैं कि हमें बिना किसी हिचकिचाहटके उनके प्रति श्रद्धा और आत्मसमर्पणका भाव रखना चाहिये।

*

साधनाका सच्चा भाव यही है कि भगवान्‌के ऊपर अपने मनकी और प्राणकी इच्छाओंको न लादा जाय बल्कि भगवान्‌की इच्छाको ही ग्रहण किया जाय और उसका अनुसरण किया जाय। यह नहीं कहना चाहिये कि "यही मेरा अधिकार है चाह

है, दावा है, आवश्यकता है, प्रयोजन है, मुझे यह क्यो नहीं मिलता ?" वल्कि अपने-आपको दे देना चाहिये, आत्मसमर्पण कर देना चाहिये और जो कुछ भगवान् दें उसे प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण करना चाहिये, जरा भी दुःख नही करना चाहिये और न विद्रोह करना चाहिये—वस, यही उत्तम मार्ग है। उस समय जो कुछ भी तुम ग्रहण करोगे वही तुम्हारे लिये उचित वस्तु होगी।

श्रद्धा, भगवान्‌के ऊपर निर्भरता, भागवत शक्तिके प्रति आत्मसमर्पण और आत्मदान—ये सब आवश्यक और अपरिहार्य है। परतु भगवान्‌के ऊपर निर्भर करनेके वहाने आलस्य और दुर्वलताको नही आने देना चाहिये और न निम्न प्रकृतिके आवेगोको आत्मसमर्पण ही करना चाहिये, इस निर्भरताके साथ-साथ अथक अभीप्सा वनी रहनी चाहिये तथा जो चीजे भगवान्‌के मार्गमे वाधक होती है उनका निरतर त्याग होता रहना चाहिये। भगवान्‌के प्रति आत्मसमर्पण करनेको, अपनी ही वासनाओ और निम्नतर प्रवृत्तियोके प्रति या अपने अहकार या अज्ञान और अधकारकी किसी शक्तिके प्रति, जो कि भगवान्‌का मिथ्या रूप धारण करके आती है, आत्मसमर्पण करनेका एक वहाना, एक आवरण या एक अवसर नही वना देना चाहिये।

तुम्हें केवल अभीप्सा करनी चाहिये, अपने-आपको श्रीमाकी ओर खोले रखना चाहिये, जो कुछ उनकी इच्छाके विरुद्ध हो उसका

त्याग करना चाहिये और उन्हें अपने अंदर कार्य करने देना चाहिये— इसके साथ-साथ तुम्हें अपना सारा कार्य केवल उन्हींके लिये करना चाहिये और इस विश्वासके साथ करना चाहिये कि तुम उन्हींकी शक्तिसे वह कार्य कर सकते हो। इस तरह यदि तुम अपने-आपको खोले रखो तो यथासमय तुम्हें ज्ञान और सिद्धिकी प्राप्ति अवश्य हो जायगी।

∴

इस योगमें सब कुछ इस बातपर निर्भर करता है कि साधक भागवत प्रभावकी ओर अपने-आपको उन्मुक्त कर पाता है या नहीं। अगर अभीप्सा सच्ची हो और सभी बाधाओंके रहते हुए भी उच्चतर चेतनामें उठ जानेका धीर-स्थिर संकल्प हो तो किसी-न-किसी रूपमें यह उन्मुक्ति (आत्मोद्घाटन) साधकमें अवश्य आती है। पर मन हृदय और शरीरके तैयार होने या न होनेकी अवस्थाके अनुसार इसके आनेमें कम या अधिक समय लग सकता है अतएव साधकमें यदि पर्याप्त धैर्य न हो तो आरंभमें आनेवाली कठिनाइयोंके कारण वह अपना प्रयास छोड़ सकता है। इस योगमें इसके अतिरिक्त और कोई पद्धति नहीं है कि साधक अपनी चेतनाको एकाग्र करे, विशेषकर हृदयमें एकाग्र करे और श्रीमाँकी उपस्थिति और शक्तिका आवाहन इसलिये करे कि वह उसकी सत्ताको अपने हाथमें ले ले और अपनी शक्तिकी क्रियाओंके द्वारा उसकी चेतनाको रूपांतरित करे। कोई चाहे तो अपने मस्तकमें या भ्रूमध्य बीच भी चेतनाको एकाग्र कर सकता है परंतु अधिकांश लोगोंके लिये इस तरह आत्मोद्घाटन करना अत्यंत कठिन

होता है। जब मन शांत-स्थिर हो जाता है और एकाग्रता दृढ़ तथा अभीप्सा तीव्र हो जाती है तब अनुभूतिका होना आरंभ हो जाता है। श्रद्धा-विश्वास जितना ही अधिक होता है उतनी ही शीघ्रतासे परिणाम भी प्राप्त होनेकी संभावना होती है और अंतिम बात यह है कि साधकको केवल अपने ही प्रयासपर नहीं निर्भर करना चाहिये, बल्कि भगवान्‌के साथ एक संयोग स्थापित करने तथा श्रीमाकी शक्ति और उपस्थितिको ग्रहण करनेकी शक्ति प्राप्त करनेमें सफल होना चाहिये।

इस बातसे कुछ भी आता-जाता नहीं कि तुम्हारी प्रकृतिमें क्या-क्या दोष भरे है। सबसे प्रधान बात है भागवत शक्तिकी ओर अपने-आपको खोले रखना। कोई भी साधक बिना किसी सहायताके केवल अपने प्रयाससे अपना रूपांतर नहीं कर सकता, एकमात्र भागवत शक्ति ही साधकको रूपांतरित कर सकती है। अगर तुम अपने-आपको खोले रखो तो बाकी सब कुछ तुम्हारे लिये कर दिया जायगा।

शायद ही कोई इतना बलवान् होता है कि वह बिना किसी सहायताके, केवल अपनी ही अभीप्सा और संकल्पशक्तिके बलपर निम्नतर प्रकृतिकी शक्तियोंपर विजय प्राप्त कर सके, और वे लोग भी जो ऐसा करते हैं, केवल एक प्रकारका संयम ही प्राप्त करते हैं, पूर्ण प्रभुत्व नहीं। भागवत शक्तिकी सहायताको नीचे

उतार लाने तथा निम्नतर शक्तियोंके ऊपर जब वह क्रिया करती है तब उसके पक्षमें अपनी सत्ताको बनाये रखनेके लिये संकल्प और अभीप्साकी आवश्यकता होती है। पर एकमात्र भागवत शक्ति ही हमारे आध्यात्मिक संकल्प और हृदयस्थित अंतःपुरुषकी अभीप्साको सार्थक करती हुई यह विजय ले आ सकती है।

❖

मानव-प्रकृति या व्यक्तिगत प्रकृतिकी प्रवृत्तिके विरुद्ध जब कुछ करनेका प्रयत्न किया जाता है तब उसे केवल मानसिक संयम के द्वारा करना सर्वदा ही कठिन होता है। अगर धैर्य और अध्यवसायके साथ अपने सुदृढ़ संकल्पको लक्ष्यकी ओर लगाये रखा जाय तो उससे एक प्रकारका परिवर्तन साधित हो सकता है, पर साधारणतया इसमें बहुत दीर्घ समय लग जाता है और सफलता भी आरंभमें केवल आंशिक तथा अनेक विफलताओंसे मिली-जुली हो सकती है।

केवल अपने विचारोंको संयमित कर कोई साधक अपने सारे कर्मोंको स्वभावतः पूजाके रूपमें नहीं परिणत कर सकता। इसके लिये साधकके हृदयमें एक ऐसी प्रबल अभीप्सा होनी चाहिये जो एकमेवाद्वितीयकी उपस्थितिकी कुछ उपलब्धि या अनुभूति ले आ सके जिसे वह पूजा अर्पित की जाती है। भक्त एकमात्र अपने ही प्रयत्नपर निर्भर नहीं करता बल्कि वह जिस भगवान्‌की आराधना करता है उसकी कृपा और शक्तिके ऊपर निर्भर करता है।

*

श्रद्धा–अभीप्सा–आत्मसमर्पण

तुम सदासे ही अपने मन और सकल्प-शक्तिकी क्रियाके ऊपर अत्यधिक भरोसा रखते आ रहे हो–यही कारण है कि तुम अग्र-सर नही हो पाते। यदि तुम माकी शक्तिपर चुपचाप भरोसा बनाये रखनेकी आदत एक बार डाल सको–केवल अपने ही प्रयासको सहारा देनेके लिये उनकी शक्तिका आवाहन न करो–तो तुम्हारी बाधा कम हो जायगी और अतमें एकदम दूर हो जायगी।

सभी सच्ची अभीप्साए सफल होती हैं, अगर तुम अपनी अभीप्सामें सच्चे हो तो तुम अवश्य ही धीरे-धीरे दिव्य जीवन प्राप्त करोगे।

पूर्ण रूपसे सच्चे होनेका अर्थ है एकमात्र भागवत शक्तिकी इच्छा करना, मा भगवतीको अधिकाधिक आत्मसमर्पण करते रहना, इस एक अभीप्साके अतिरिक्त अन्य सभी व्यक्तिगत मागो और कामनाओका त्याग करना, जीवनके प्रत्येक कर्मको भगवान्के चरणोमें अर्पित करना, प्रत्येक कर्मको भगवत्प्रदत्त समझकर करना और उसमें भी कही अहकारको न आने देना। यही दिव्य जीवन-का आधार है।

परतु एकबारगी ही कोई साधक पूरा-पूरा ऐसा नही हो सकता; किंतु कोई साधक यदि निरतर अभीप्सा करता रहे और सच्चे हृदय तथा सरल सकल्पके साथ सर्वदा भागवत शक्तिकी सहायताको पुकारता रहे तो वह अधिकाधिक इस चेतनाको प्राप्त करता जायगा।

***

इतने थोड़े समयमें पूर्ण समर्पण करना संभव नहीं—क्योंकि पूर्ण समर्पणका अर्थ है अपनी सत्ताके प्रत्येक भागमेंसे अहंकी ग्रंथि को काट डालना और उसे मुक्त कर पूर्णरूपेण भगवान्‌को समर्पित कर देना। मन प्राण और भौतिक चेतनाको (यहांतक कि इनके प्रत्येक भागको और प्रत्येक भागके समस्त क्रियाकलापको) एकके बाद एक अलग-अलग अपने-आपको समर्पित करना होगा उन्हें अपने तरीकेको छोड़ना होगा तथा भगवान्‌के तरीकेको स्वीकार करना होगा। परंतु साधक जो कुछ कर सकता है वह यह है कि वह आरंभसे ही अपनी केंद्रीय चेतनामें एक संकल्प और आत्मनिवेदनका भाव उत्पन्न करे और आत्मदानको पूर्ण बनानेका जो कोई अवसर उपस्थित हो उससे काम उठाते हुए, पग-पगपर जो कोई मार्ग सामने खुला मिले उसके द्वारा उस मूल भावको परिपूर्ण बनाये। जब एक दिशामें समर्पण हो जाता है तब वह अन्य दिशाओंमें समर्पणको अधिक आसान और अधिक अनिवार्य बना देता है परंतु यह स्वयं अन्य ग्रंथियोंको न तो काटता ही है न ढीला ही करता है और विशेषकर जो ग्रंथियां हमारे वर्तमान व्यक्तित्व और उसके अत्यंत प्रिय रचनाओंके साथ घनिष्ठ रूपमें आबद्ध होती हैं वे केंद्रीय संकल्पके स्थापित हो जाने तथा उस संकल्पके कार्यमें परिणत हो जानेकी पहली मुहर-छाप लग जानेपर भी बहुत बार महान् कठिनाइयां उपस्थित कर सकती हैं।

तुमने पूछा है कि उस भूलको तुम कैसे सुधार सकते हो जिसे तुम समझते हो कि तुमने किया है। यदि मान भी लिया जाय

कि तुम जो कुछ कहते हो वह ठीक वैसा ही है तो भी मुझे यही मालूम होता है कि उसका प्रतिकार वस इसीमें है कि तुम अपने-आपको भागवत सत्य और भागवत प्रेमका एक पात्र वना लो। और ऐसा करनेके लिये सवसे पहला उपाय है पूर्ण आत्मोत्सर्ग और आत्मशुद्धि, भगवान्‌के प्रति अपने-आपको पूर्ण रूपसे खोले रखना, अपने अदर जो भी चीजें सिद्धिके मार्गमें वाधा पहुचानेवाली हो उन सवका त्याग करना। आध्यात्मिक जीवनमें किसी भूलके लिये कोई दूसरा प्रतिकार नही है, कोई ऐसा प्रतिकार नही है जो पूरा-पूरा फलोत्पादक हो। आरभमें साधकको इस आतरिक उन्नति और परिवर्तनके अतिरिक्त अन्य किसी फल या परिणामकी माग नही करनी चाहिये—क्योकि ऐसा करनेसे उसे भयकर निराशाओका शिकार होना पडता है। जव कोई स्वय मुक्त हो जाता है तभी वह दूसरोको मुक्त कर सकता है, और योगमें तो आतर विजयमेंसे ही वाह्य विजय प्रस्फुटित हो उठती है।

*
**

यह सभव नही कि साधक एकाएक व्यक्तिगत प्रयासके ऊपर जोर देना छोड दे—और न यह सर्वथा वाछनीय ही है, क्योकि तामसिक जडतासे व्यक्तिगत प्रयास कही अच्छा है।

व्यक्तिगत प्रयासको उत्तरोत्तर भागवत शक्तिकी क्रियाके रूपमें रूपातरित करना होगा। अगर तुम्हें भागवत शक्तिकी उपस्थितिका अनुभव होता हो तो तुम उसका अपने अदर अधिकाधिक आवाहन करो जिसमें वह तुम्हारे प्रयासको नियत्रित करे,

उसे अपने हाथमें ले ले और उसे एक ऐसी चीजमें रूपांतरित कर दे जो तुम्हारी न हो बल्कि श्रीमाकी हो। इस तरह व्यक्तिगत आधारमें कार्य करनेवाली शक्तियां भागवत शक्तिके हाथमें चली जायंगी—अवश्य ही उनका इस प्रकार चला जाना हठात् नहीं बल्कि धीरे-धीरे पूरा होगा।

परन्तु अंतःपुरुषकी स्थितिको प्राप्त करना आवश्यक है। उस विवेकका विकास अवश्य होना चाहिये जो यह ठीक-ठीक देख सके कि भागवत शक्ति क्या है, व्यक्तिगत प्रयास क्या है और निम्न स्तर विश्वशक्तियोंसे आकर क्या-क्या चीजें इन दोनोंके साथ मिल गयी हैं। और जबतक भागवत शक्तिके हाथमें आधारकी सारी शक्तियां नहीं चली जातीं—जिसमें बराबर ही कुछ समय लग जाता है—तबतक सर्वदा ही व्यक्तिगत प्रयास जारी रहना चाहिये, सत्य शक्तिको निरन्तर स्वीकृति देते रहना चाहिये और प्रत्येक निम्न स्तर मिश्रणका निरन्तर त्याग करते रहना चाहिये।

अभी तुम्हें व्यक्तिगत प्रयास छोड़ देनेकी आवश्यकता नहीं है बल्कि इस बातकी आवश्यकता है कि तुम अपने अंदर अधिकाधिक भागवत शक्तिका आवाहन करो और उसीके द्वारा अपने व्यक्तिगत प्रयासको नियन्त्रित और परिचालित करो।

साधनाकी प्रारम्भिक अवस्थामें सब कुछ भगवान्‌के ऊपर छोड़ देना अथवा अपने व्यक्तिगत प्रयासकी आवश्यकता न समझ सब कुछ भगवान्‌से ही आशा करना युक्तिसंगत नहीं। ऐसा करना तभी संभव होता है जब हृत्पुरुष सामने हो और समस्त क्रियाके

ऊपर अपना प्रभाव डालता हो (और तब भी सतर्क रहने और निरतर अनुमति देते रहनेकी आवश्यकता है), अथवा आगे चल-कर, योगकी अतिम अवस्थाओमे ऐसा करना सभव होता है जब कि साक्षात् रूपमें या लगभग साक्षात् रूपमें अतिमानस-शक्ति साधककी चेतनाको अपने हाथमे ले लेती है, परतु यह अवस्था अभी बहुत दूर है। इनके अतिरिक्त अन्य सभी अवस्थाओमें ऐसा मनोभाव रखनेसे प्राय साधक निश्चलता और जडताको प्राप्त होता है।

सत्ताके जो भाग बहुत कुछ यत्रवत् कार्य करते है वे ही वास्तवमे ऐसा कह सकते है कि हम निरुपाय है, विशेषत शारीर (स्थूल-भौतिक) चेतना स्वभावत ही जड है और वह या तो मन और प्राणकी शक्तियोद्वारा या उच्चतर शक्तियोद्वारा परिचालित होती है। परतु सभी साधकोमे सर्वदा ही इतनी सामर्थ्य रहती है कि वे अपने मनके सकल्प और प्राणके प्रवेगको भगवान्की सेवा-मे नियुक्त करे। अवश्य ही यह निश्चित रूपसे नही कहा जा सकता कि इसका फल तुरत ही दिखायी देगा, क्योकि निम्न प्रकृतिकी बाधा या विरोधी शक्तियोका आक्रमण कुछ समयतक, यहातक कि एक दीर्घकालतक, आवश्यक परिवर्तनको रोक रखने-में सफलता प्राप्त कर सकता है। ऐसी अवस्थामे साधकको तब-तक अपने प्रयासमे लगे रहना चाहिये, अपने सकल्पको बराबर भगवान्के पक्षमे नियुक्त करते रहना चाहिये, त्याग करने योग्य वस्तुओंका त्याग करते रहना चाहिये, सत्य ज्योति और सत्य शक्तिकी ओर अपने-आपको खोले रखना चाहिये और उनका स्थिरता और दृढताके साथ, बिना थकावटके, बिना अवसाद या

अधीरताके आवाहन करते रहना चाहिये जबतक यह अनुभव न होने लगे कि भागवत शक्ति कार्य करने लगी है और बाधाएं दूर होने लगी हैं।

तुम कहते हो कि तुम अपने अज्ञान और अंधकारके विषयमें सचेतन हो। पर, यदि यह केवल साधारण सचेतनता हो तो यह पर्याप्त नहीं है। अगर तुम पूरे ब्यौरेके साथ उनकी वास्तविक क्रियाओंमें उनके विषयमें सचेतन होओ तो फिर आरंभके लिये यह काफी है। तुम जिन भ्रांत क्रियाओंके विषयमें सचेतन हो चुके हो उनका तुम्हें दृढ़ताके साथ त्याग करना होगा और अपने मन और प्राणको भागवत शक्तिकी क्रियाके लिये एक शांत और स्वच्छ क्षेत्र बनाना होगा।

***

जो वृत्तियां यंत्रवत् चलती रहती हैं उनको मानसिक संकल्पके द्वारा बंद करना बराबर ही अधिक कठिन होता है, क्योंकि वे किसी युक्ति-तर्क या मानसिक समर्थनके ऊपर बिलकुल ही निर्भर नहीं करतीं बल्कि वे पारस्परिक संयोग या केवल यंत्रवत् क्रिया करनेवाली स्मृति या अभ्यासके ऊपर अवलंबित होती हैं।

त्याग करनेकी साधना अंतमें विजयी होती है पर केवल व्यक्तिगत प्रयासके बलपर इसे करनेसे इसमें एक लंबा समय लग सकता है। अगर तुम यह अनुभव कर सको कि भागवत शक्ति तुम्हारे अंदर कार्य कर रही है तो फिर यह कार्य अधिक आसान हो जायगा।

श्रद्धा–अभीप्सा–आत्मसमर्पण

पथप्रदर्शिका दिव्य शक्तिको आत्मदान करनेमे तुम्हारे किसी भागको जडता या तामसिकता नही दिखानी चाहिये और न तुम्हारे प्राणके किसी भागको निम्नतर आवेग और वासनाके सुझावोका त्याग न करनेके लिये इस आत्मदानकी आड लेनी चाहिये।

योगाभ्यास करनेके सदा ही दो पथ होते हैं–एक है सजग मन और प्राणकी क्रियाके द्वारा साधना करना, जिसमें मन और प्राणकी सहायतासे साधक देखता है, निरीक्षण करता है, विचार करता है और निश्चित करता है कि क्या करना चाहिये या क्या नही करना चाहिये। अवश्य ही इस क्रियाके पीछे भी भागवत शक्ति विद्यमान रहती है और उस शक्तिका आवाहन कर उसे अपने अदर ले आया जाता है–क्योकि, अगर ऐसा न किया जाय तो फिर कुछ भी विशेष कार्य नही हो सकता। फिर भी इस पथमें व्यक्तिगत प्रयास ही प्रधान होता है और वही साधनाके अधिकाश भारको वहन करता है।

दूसरा पथ है हृत्पुरुषका–इस पथमे चेतना भगवान्‌की ओर उन्मुक्त रहती है, वह केवल हृत्पुरुषको ही नही उन्मुक्त करती और सामने ले आती, बल्कि वह मन, प्राण और शरीरको भी उन्मुक्त करती है, ज्योतिको ग्रहण करती है, इस बातका ज्ञान प्राप्त करती है कि क्या करना होगा, यह अनुभव करती और देखती है कि स्वय भागवत शक्ति ही उसे कर रही है तथा भागवत क्रियाको स्वय भी अपनी सजग और सचेतन सम्मति देकर एव उसका आवाहन कर निरतर सहायता करती रहती है।

परतु जबतक चेतना पूर्णरूपेण उन्मुक्त होनेके लिये तैयार नही हो जाती, जबतक वह इस प्रकार पूर्णत भगवान्‌के अधीन नही

हो जाती कि उसके सारे कर्मोंका प्रारंभ भगवान्‌के द्वारा ही होने लगे तबतक बहुधा साधनामें इन दोनों मार्गोंका मिला-जुला रहना अवश्यंभावी होता है। किंतु जब ऐसा हो जाता है तब साधक का सारा उत्तरदायित्व चला जाता है और उसके कंधोंपर कोई व्यक्तिगत भार नहीं रह जाता।

*

चाहे तपस्यासे हो या आत्मसमर्पणसे—इससे कुछ भी नहीं बनता-जाता प्रधान बात बस यही है कि साधक लक्ष्यकी ओर अपनी दृष्टि जमाये रखनेमें दृढ़ रहे। एक बार जब उसने अपने पैर इस मार्गपर रख दिये तब फिर भला किसी तुच्छ वस्तुके लिये वह कैसे इससे पीछे हट सकता है? यदि साधक दृढ़ बना रहे तो फिर पतनोंसे कुछ भी नहीं बनता-जाता वह फिरसे उठता और आगे बढ़ता है। अगर वह अपने लक्ष्यपर दृढ़ बना रहे तो भगवान्‌की प्राप्तिके मार्गका अंत विफलतामें नहीं हो सकता। और अगर तुम्हारे अंदर कोई चीज ऐसी हो जो तुम्हें बराबर आगे चलनेके लिये प्रेरित करती हो—वैसी चीज अवश्य ही तुममें है—तो फिर पदस्खलन या पतन या श्रद्धा-विश्वासका भंग हो जाने से अंतिम परिणाममें कोई अंतर नहीं पड़ सकता। जबतक संघर्ष समाप्त नहीं हो जाता और हमारे सामने सीधा उन्मुक्त और निष्कंटक मार्ग नहीं दिखायी देता तबतक हमें अपने प्रयासमें निरंतर लगे रहना होगा।

श्रद्धा—अभीप्सा—आत्मसमर्पण

यह अग्नि अभीप्सा और आंतर तपस्याकी दिव्य अग्नि है। जब यह अग्नि मानवी अज्ञानके अंधकारमें अपनी क्रमवर्धमान शक्ति और विपुलताके साथ बार-बार अवतरण करती है तब आरंभमें ऐसा प्रतीत होता है कि मानो यह अंधकार इसे निगलता जाता है और अपने अंदर विलीन करता जाता है, परंतु जब यह अवतरण अधिकाधिक होता रहता है तब यह अंधकारको ज्योतिमें, मानव-मनके अज्ञान और अचेतनाको आध्यात्मिक चेतनामें परिणत कर देता है।

***

योगसाधना करनेका यह अर्थ ही है कि मनुष्य सब प्रकारकी आसक्तियोंपर विजय पाता तथा एकमात्र भगवान्‌के अभिमुख होनेका संकल्प रखता है। योगमें सबसे प्रधान बात यही है कि प्रत्येक पगपर भागवत कृपापर विश्वास रखते हुए, अपने विचारोंको निरंतर भगवान्‌की ओर परिचालित करते हुए तबतक अपने-आपको समर्पित किया जाय जबतक कि हमारी सत्ताका उद्‌घाटन न हो जाय और हम यह न अनुभव करने लगें कि हमारे आधारमें माकी शक्ति कार्य कर रही है।

***

इस योगका मूल तत्त्व ही है भागवत प्रभावकी ओर अपने-आपको उद्‌घाटित करना। यह प्रभाव तुम्हारे सिरके ऊपर ही वर्तमान है, यदि तुम एक बार इसके विषयमें सचेतन हो सको तो फिर तुम्हें इसका आवाहन कर अपने अंदर इसे उतारना होगा

यह मनके अंदर तथा शरीरके अंदर प्रकाशित होता है शक्तिके रूपमें ज्योतिके रूपमें कार्य करनेवाली एक शक्तिके रूपमें मग वान्‌की साकार या निराकार उपस्थितिके रूपमें आनंदके रूपमें। जबतक यह चेतना नहीं प्राप्त होती तबतक साधकको श्रद्धा-विश्वास रखना होगा और आत्मोद्घाटनके लिये अभीप्सा करनी होगी। अभीप्सा आवाहन और प्रार्थना एक ही चीजके भिन्न भिन्न रूप हैं और ये सभी फलोत्पादक हैं इनमेंसे जो भी रूप तुम्हारे पास आये या तुम्हारे लिये सबसे अधिक आसान हो उसी-को तुम अपना सकते हो। दूसरा मार्ग है एकाग्रताका तुम अपनी चेतनाको हृदयमें एकाग्र करो (कोई-कोई सिरमें या सिर के ऊपर करते हैं) और हृदयमें श्रीमाँका ध्यान करो और वहां उनका आवाहन करो। इनमेंसे किसी एक मार्गका अथवा भिन्न-भिन्न समयोंपर दोनों मार्गोंका अनुसरण किया जा सकता है—जिस समय जो मार्ग स्वभावत: तुम्हारे सामने आ जाय अथवा जिसकी ओर तुम्हारी प्रवृत्ति हो जाय। पर, विशेषकर आरम्भमें सबसे अधिक आवश्यक बात यह है कि अपने मनको अचंचल बनाया जाय ध्यानके समय उन सभी विचारों और वृत्तियोंका त्याग किया जाय जो साधनाके लिये विजातीय हों। अचंचल मनमें ही अनु-भूतिके आनेके लिये क्रमश: तैयारी होती जायगी। परंतु सब कुछ यदि एक साथ ही न हो तो तुम्हें अधीर नहीं होना चाहिये मनके अंदर पूर्ण अचंचलता स्थापित करनेमें समय लगता ही है जबतक चेतना तैयार न हो जाय तबतक तुम्हें अपने प्रयासमें लगे रहना चाहिये।

तुम्हें अपने लक्ष्यकी प्राप्ति तभी हो सकती है जब तुम अपनी सत्ताको श्रीमाकी शक्तिकी ओर खोल रखो और अपने समस्त अहंकारका, सभी मांगों और वासनाओंका, एकमात्र भागवत सत्य-को पानेकी अभीप्साके अतिरिक्त अन्य सभी प्रवृत्तियोंका लगातार त्याग करते रहो। अगर तुम ऐसा ठीक-ठीक कर लो तो भाग-वत शक्ति और ज्योति कार्य करना आरंभ कर देगी और तुम्हारे अंदर शांति और समता, आंतरिक बल, विशुद्ध भक्ति, क्रमवर्ध-मान चेतना और आत्मज्ञान ला देगी जो कि योगसिद्धिके लिये आवश्यक आधार हैं।

***

तुम्हारे लिये एकमात्र सत्य है अपने अंदर भगवान्‌को अनुभव करना, श्रीमाकी ओर उन्मुक्त होना और भगवान्‌के लिये कर्म करते रहना जबतक कि तुम्हें अपनी सभी क्रियाओंमें श्रीमाकी उपस्थितिका बोध न होने लगे। तुम्हें इस बातकी चेतना रहनी चाहिये कि तुम्हारे हृदयमें भगवान् विराजमान हैं और तुम्हारे कर्मोंका वही परिचालन कर रहे हैं। इस बातको हृत्-पुरुष बड़ी आसानीसे, तेजीसे और गहराईके साथ अनुभव कर सकता है यदि वह पूर्ण रूपसे जागृत हो, और एक बार यदि हृत्पुरुष यह अनुभव प्राप्त कर ले तो फिर यह अनुभव मन और प्राणतक भी प्रसारित हो सकता है।

***

तुम्हारी दूसरी अनुभूतिमें–जो कि, तुम कहते हो, उस समय

तुम्हें इतनी सच्ची मालूम हुई थी—एकमात्र सत्य यही है कि तुम्हारे लिये या किसी भी साधकके लिये बिना किसी सहायताके केवल तुम्हारे या उसके अपने ही प्रयासके बलपर, निम्नतर चेतनासे बाहर निकलना अत्यंत कठिन है। यही कारण है कि जब तुम इस निम्नतर चेतनामें डूब जाते हो तब तुम्हें सब कुछ कठिन प्रतीत होता है क्योंकि कुछ समयके लिये तुम सत्य चेतनाको खो बैठते हो। परन्तु यह सुझाव ठीक नहीं है क्योंकि तुम्हारे भीतर एक जगह भगवान्‌की और उद्‌घाटन हो चुका है और तुम इस निम्नतर चेतनामें रहनेके लिये बाध्य नहीं हो।

जब तुम सत्य-चेतनामें रहते हो तब तुम्हें यह दिखायी देता है कि सब कुछ किया जा सकता है यद्यपि अभी सामान्य आरंभ ही हुआ है। परन्तु एक बार यदि दिव्य शक्ति और सामर्थ्य आ जाय तब आरंभ ही पर्याप्त है। कारण सब बात तो यह है कि यह शक्ति सब कुछ कर सकती है और संपूर्ण परिवर्तन और अंतरात्माकी सार्थकताके लिये केवल समय एवं अंतरात्माकी अभीप्सा-की आवश्यकता है।

*

श्रीमाकी इच्छाका अनुसरण करनेके लिये यह आवश्यक है कि तुम प्रकाश सत्य और सामर्थ्यको पानेके लिये उन्हींकी ओर मुड़ो यह अभीप्सा करो कि दूसरी कोई भी शक्ति तुम्हें प्रभा-वित या परिचालित न करे, अपने प्राणमें किसी प्रकारकी माँग या शर्त न रखो अपने मनको इतना अचंचल रखो कि वह सत्य-को ग्रहण करनेके लिये तैयार रहे और अपनी ही धारणाओं और

रचनाओंको पकडे रहनेके लिये हठ न करे—अतमें अपने हृत्पुरुष-को जागरित रखो और सामने रखो जिसमें श्रीमाके साथ तुम्हारा योग निरतर वना रहे और तुम यह जान सको कि उनकी वास्तविक इच्छा क्या है। तुम्हारा मन और प्राण दूसरी-दूसरी प्रेरणाओं और सुझावोको भागवत इच्छा समझनेकी भूल कर सकते हैं, परतु एक वार यदि हृत्पुरुप जग जाय तो वह कभी भूल नहीं करता।

शक्तिकी क्रियामे सर्वांगीण पूर्णता तो तभी आ सकती है जव साधकका अतिमानसिक रूपातर पूरा हो जाय, पर चेतनाके निम्नतर स्तरोमें भी अपेक्षाकृत अच्छे ढगसे क्रिया हो सकती है यदि साधक भगवान्‌के साथ अपना सस्पर्श वनाये रखे तथा अपने मन, प्राण और शरीरमें सजग, सावधान और सचेतन बना रहे। इसके अतिरिक्त यह एक ऐसी अवस्था है जो साधककी परम मुक्तिके लिये अनिवार्य है और उसे उस मुक्तिके लिये तैयार करनेवाली है।

जो मनुष्य एकरस जीवनसे डरता है और कुछ नवीनता चाहता रहता है वह योग नही कर सकता अथवा कम-से-कम यह योग नही कर सकता। इस योगमें अक्लात (अथक) अध्यवसाय और धैर्यकी आवश्यकता होती है। मृत्युभयका होना प्राणकी एक दुर्वलताका लक्षण है और यह भी योगसाधनाकी योग्यताके

तुम्हें इतनी सच्ची मालूम हुई थी–एकमात्र सत्य यही है कि तुम्हारे लिये या किसी भी साधकके लिये बिना किसी सहायताके केवल तुम्हारे या उसके अपने ही प्रयासके बलपर, निम्नतर चेतनासे बाहर निकलना अत्यंत कठिन है। यही कारण है कि जब तुम इस निम्नतर चेतनामें डूब जाते हो तब तुम्हें सब कुछ कठिन प्रतीत होता है क्योंकि कुछ समयके लिये तुम सत्य चेतनाको खो बैठते हो। परन्तु यह सुझाव ठीक नहीं है क्योंकि तुम्हारे भीतर एक जगह भगवान्‌की ओर उद्घाटन हो चुका है और तुम इस निम्नतर चेतनामें रहनेके लिये बाध्य नहीं हो।

जब तुम सत्य-चेतनामें रहते हो तब तुम्हें यह दिखायी देता है कि सब कुछ किया जा सकता है यद्यपि अभी सामान्य आरंभ ही हुआ है। परन्तु एक बार यदि दिव्य शक्ति और सामर्थ्य आ जाय तब आरंभ ही पर्याप्त है। कारण सब बात तो यह है कि यह शक्ति सब कुछ कर सकती है और संपूर्ण परिवर्तन और अंतरात्माकी सार्थकताके लिये केवल समय एवं अंतरात्माकी अभीप्सा की आवश्यकता है।

*

श्रीमाकी इच्छाका अनुसरण करनेके लिये यह आवश्यक है कि तुम प्रकाश सत्य और सामर्थ्यको पानेके लिये उन्हींकी ओर मुड़ो यह अभीप्सा करो कि दूसरी कोई भी शक्ति तुम्हें प्रभावित या परिचालित न करे, अपने भावमें किसी प्रकारकी माग या शर्त न रखो अपने मनको इतना अचंचल रखो कि वह सत्य को ग्रहण करनेके लिये तैयार रहे और अपनी ही धारणाओं और

में साधकके ही अपने अनुभवकी सीमित शक्तिको या उसके मानसिक और प्राणिक रचनाओंको बैठा सकता है। विभिन्न साधकोंकी विभिन्न अवस्थाएं होती हैं, प्रत्येक साधकका अपना-अपना साधनमार्ग होता है। परंतु तुम्हारे लिये मेरा परामर्श यही है कि तुम निरंतर भगवान्‌की ओर खुले रहो, धीर-स्थिर भावसे अभीप्सा करते रहो, कभी अत्यधिक उत्सुक मत होओ और प्रसन्नतापूर्वक विश्वास और धैर्य बनाये रखो।

समयसे पहले यह दावा करना कि हमने अतिमानसको प्राप्त कर लिया है या उसका रसास्वादन ही किया है, यह किसीके लिये भी बुद्धिमानीका काम नहीं है। प्रायः ही ऐसे दावेके साथ-साथ साधकके अति-अहंकारका उबाल, बोधसंबंधी कोई मूलगत भ्रांति या कोई भारी पतन, अनुचित अवस्था या क्रिया मिली हुई होती है। मेरी समझमें इस नश्वर पार्थिव और मानवी आधारके लिये अतिमानस-रूपांतरकी ओर अग्रसर होनेके उपयुक्त कहीं बेहतर अवस्था यह होगी कि साधकमें एक प्रकारकी आध्यात्मिक नम्रता हो, वह अपने ऊपर एक गंभीर, निरहंकार दृष्टि रखता और अपनी वर्तमान प्रकृतिकी अपूर्णताओंको शांतिपूर्वक निरीक्षण करता हो, वह अपने-आपको महान् समझने तथा अपनेको ही प्रस्थापित करनेकी जगह अपने वर्तमान स्वरूपको अतिक्रम करनेकी आवश्यकताको अनुभव करता हो—पर किसी अहंकारपूर्ण महत्वाकांक्षाके वश होकर नहीं वरन् भगवन्मुखी प्रेरणाके वश होकर।

***

विरुद्ध है। इसी प्रकार जो मनुष्य अपनी निम्न वृत्तियोंके वशमें है उसे भी मानसाधना कठिन ही मालूम हो सकती है और, अगर उसे एक सच्ची आन्तरिक पुकारका तथा आध्यात्मिक चेतना और भगवान्के साथ एकता प्राप्त करनेकी एक सच्ची और सुदृढ अभीप्साका सहारा न प्राप्त हो तो उसका सहज ही सर्वनाशी पतन हो सकता है और उसके सभी प्रयास निष्फल हो सकते हैं।

∴

अब रही 'शक्तिकी क्रिया' की बात सो इस विषयमें सब कुछ इस बातपर निर्भर करता है कि तुम 'क्रिया' का क्या अर्थ समझते हो। कामना-वासनाके होनेपर प्रायः साधक या तो अत्यधिक प्रयास करता है,—जिसका बहुधा अर्थ होता है अधिक परिश्रम और थोड़ा फल साथ ही क्लान्ति और अवसाद तथा कठिनाई या असफलताकी अवस्थामें निराशा अविश्वास या विद्रोह—अथवा वह शक्तिको नीचे बलात् खींच लानेकी चेष्टा करता है। शक्तिको खींचा जा सकता है पर जो लोग यौगिक दृष्टिसे सामर्थ्यशाली और अनुभवसिद्ध होते हैं उनके अतिरिक्त अन्य लोगोंके लिये यह बराबर निरापद नहीं होता यद्यपि बहुधा यह अत्यंत फलोत्पादक हो सकता है। निरापद यह इसलिये नहीं होता कि यह एक तो प्रचण्ड प्रतिक्रियाएं उत्पन्न कर सकता है, अथवा यह मिश्र अनुपयुक्त या विभिन्न शक्तियोंको उतार सकता है जिन्हें यथार्थ शक्तियोंसे अलग करके पहचाननेका योग्य अनुभव साधकको नहीं होता। अथवा यह भगवान्के अहैतुक दान और यथार्थ निर्देशके स्थान

में साधकके ही अपने अनुभवकी सीमित शक्तिको या उसके मानसिक और प्राणिक रचनाओंको बैठा सकता है। विभिन्न साधकोंकी विभिन्न अवस्थाएं होती हैं, प्रत्येक साधकका अपना-अपना साधनमार्ग होता है। परतु तुम्हारे लिये मेरा परामर्श यही है कि तुम निरतर भगवान्‌की ओर खुले रहो, धीर-स्थिर भावसे अभीप्सा करते रहो, कभी अत्यधिक उत्सुक मत होओ और प्रसन्नतापूर्वक विश्वास और धैर्य बनाये रखो।

समयसे पहले यह दावा करना कि हमने अतिमानसको प्राप्त कर लिया है या उसका रसास्वादन ही किया है, यह किसीके लिये भी बुद्धिमानीका काम नही है। प्राय ही ऐसे दावेके साथ-साथ साधकके अति-अहकारका उबाल, बोधसबधी कोई मूलगत भ्राति या कोई भारी पतन, अनुचित अवस्था या क्रिया मिली हुई होती है। मेरी समझमे इस नश्वर पार्थिव और मानवी आधारके लिये अतिमानस-रूपातरकी ओर अग्रसर होनेके उपयुक्त कही बेहतर अवस्था यह होगी कि साधकमे एक प्रकारकी आध्यात्मिक नम्रता हो, वह अपने ऊपर एक गभीर, निरहकार दृष्टि रखता और अपनी वर्तमान प्रकृतिकी अपूर्णताओंको शातिपूर्वक निरीक्षण करता हो, वह अपने-आपको महान् समझने तथा अपनेको ही प्रस्थापित करनेकी जगह अपने वर्तमान स्वरूपको अतिक्रम करनेकी आवश्यकताको अनुभव करता हो—पर किसी अहकारपूर्ण महत्वाकाक्षाके वश होकर नही वरन् भगवन्मुखी प्रेरणाके वश होकर।

*
**

अब तुमने जो अनुभव प्राप्त करना आरंभ किया है वह है हृत्पुरुषद्वारा प्रभावित तुम्हारे भौतिक (शारीर) स्तरका आत्म-समर्पण।

तुम्हारे सभी अंग मूलतः समर्पित हो चुके हैं परंतु उन सभी अंगोंमें और उनकी सभी क्रियाओंमें पृथक्-पृथक् और संयुक्त रूपमें हृत्पुरुषपोषित आत्मसमर्पणकी भावनाको धीरे-धीरे बढ़ाकर इस समर्पणको पूर्ण बनाना होगा।

भगवान्‌के द्वारा उपभुक्त होनेका अर्थ है पूर्ण रूपसे समर्पित हो जाना जिसके फलस्वरूप साधक यह अनुभव करता है कि भागवत उपस्थिति सक्रिय क्योंकि भागवतने उसकी सारी सत्ताको अधिकृत कर रखा है स्वयं उसने इन सब चीजोंको अपनी तृप्तिके लिये अधिकृत नहीं किया है। स्वयं अधिकार करनेकी अपेक्षा इस प्रकार समर्पित और भगवान्‌के द्वारा अधिकृत होनेमें बहुत अधिक आनंद मिलता है। साथ-ही-साथ इस समर्पणके फलस्वरूप अपनी सत्ता और प्रकृतिके ऊपर एक प्रकारका शांत और आनंदप्रद प्रभुत्व भी प्राप्त होता है।

हृत्पुरुषको सामने ले आओ और उसे वहीं बनाये रखो तथा उसकी शक्तिको मन प्राण और शरीरके ऊपर प्रयुक्त करो जिससे वह अपनी अनन्य अभीप्सा श्रद्धा-विश्वास और समर्पणको सम्-ना तथा प्रकृतिमें जो कुछ दोष हो जो कुछ अहंकार और प्रमादपूर्ण भाग छुपा हुआ हो क्योंकि और उसको दूर भगा सका

हो, उसे तुरत और प्रत्यक्ष रूपमें पहचान लेनेके अपने सामर्थ्यको उनके (मन, प्राण और शरीरके) अदर सचारित कर सके।

***

अहकारके जितने भी रूप हो उन सबको निकाल बाहर करो, उसे अपनी चेतनाकी प्रत्येक क्रियामेंसे दूर कर दो।

विश्वव्यापी चेतनाको विकसित करो। अपने अह-केंद्रित दृष्टि-को विशालतामें, नैर्व्यक्तित्वमें, विश्वगत भगवान्‌की अनुभूतिमे, विश्वशक्तियोकी प्रत्यक्ष प्रतीतिमे और जागतिक अभिव्यक्ति, विश्व-लीलाकी सत्योपलब्धि तथा रहस्यबोधमे विलीन हो जाने दो।

अहकारके स्थानमें अपनी सत्य-सत्ताको प्राप्त करो, जो भग-वान्‌का अश है, विश्वजननीसे उत्पन्न हुआ है और इस अभि-व्यक्तिका यत्र है। परतु भगवान्‌का एक अश, एक यत्र होनेका जो यह बोध है वह सब प्रकारके गर्व, अहबोध या अहकारके दावोसे या श्रेष्ठत्वस्थापन, माग या वासनासे रहित होना चाहिये। कारण, यदि ये सब चीजें वहा हो तो यह समझना होगा कि वह यथार्थ वस्तु नही है।

बहुतसे लोग साधना करते समय अपने मन, प्राण और शरीर-मे ही निवास करते हैं और वे मन, प्राण और शरीर कभी-कभी या कुछ अशमें ही उच्चतर मन और प्रबुद्ध मनके द्वारा उद्भासित होते है, किंतु अतिमानस-परिवर्तनके लिये प्रस्तुत होनेके लिये यह आवश्यक है कि (जैसे ही व्यक्ति-विशेषके लिये इसका समय आ जाय) सबोधि और अधिमानसकी ओर आत्मोद्घाटन किया जाय, जिसमें ये हमारी समस्त सत्ता और सारी प्रकृतिको अतिमानस-

रूपांतरके लिये तैयार कर दें। चेतनाको शक्तिके साथ विक-सित और विस्तृत होने दो फिर इन सब बातोंका ज्ञान तुम्हें अधिकाधिक होता जायगा।

स्थिरता विवेक-बुद्धि अनासक्ति (किंतु उदासीनता नहीं)-ये सब अत्यंत आवश्यक हैं क्योंकि इनके जो विरोधी भाव हैं वे रूपांतरके कार्यमें बहुत अधिक बाधा पहुंचाते हैं। अभीप्सामें तीव्रता होनी चाहिये परंतु इसे इन चीजोंके साथ-साथ रहना चाहिये। न तो उतावली होनी चाहिये न जड़ता न तो राज-सिक अति-उत्सुकता होनी चाहिये न तामसिक निरुत्साह—एक धीर स्थिर, अविराम पर शांत आवाहन और क्रिया होनी चाहिये। सिद्धिको छीनने-झपटने या पकड़ लेनेकी वृत्ति नहीं होनी चाहिये बल्कि उसे भीतरसे या ऊपरसे अपने-आप आने देना चाहिये और उसके क्षेत्र उसकी प्रकृति उसकी सीमाओंका ठीक-ठीक निरी-क्षण करते रहना चाहिये।

श्रीमाकी शक्तिको अपने अंदर कार्य करने दो परंतु इस विषयमें सावधान रहो कि कहीं तुम्हारे गर्वित अहंकारकी कोई क्रिया या सत्यके रूपमें सामने आनेवाली कोई अज्ञानकी शक्ति उसके साथ मिलजुल न जाय या उसका स्थान स्वयं ग्रहण न कर ले। विशेष रूपसे इस बातकी अभीप्सा करो कि तुम्हारी प्रकृति मेंसे समस्त अंधकार और अचेतनता दूर हो जाय।

ये ही प्रधान शर्तें हैं जिनका पालन करनेपर मनुष्य अति-मानसिक रूपांतरके लिये तैयार हो सकता है परंतु इनमेंसे किसी भी शर्तको पूरा करना आसान नहीं है और जब पूर्ण रूपसे इन सबका पालन होगा तभी यह कहा जा सकता है कि प्रकृति

तैयार हो गयी है। यदि भावनाका यथार्थ भाव (जो अंतरात्मा-का होता है, अहंकाररहित होता है, एकमात्र भगवान्‌की ओर ही खुला होता है) स्थापित हो जाय तो फिर साधनाकी क्रिया बहुत अधिक तेजीके साथ आगे बढ़ सकती है। इस यथार्थ भावको ग्रहण करना और उसे बनाये रखना, अपने अंदर होनेवाले परि-वर्तनको बढाते रहना—बस इतना करना ही साधककी ओरसे सहा-यता करना है और इसे वह कर सकता है, और सर्वांगीण परि-वर्तनकी सहायताके लिये उससे बस इसी एक चीजकी मांग की जाती है।

रूपांतरके लिये तैयार कर दें। चेतनाको शांतिके साथ विकसित और विस्तृत होने दो फिर इन सब बातोंका ज्ञान तुम्हें अधिकाधिक होता जायगा।

स्थिरता विवेक-बुद्धि अनासक्ति (किंतु उदासीनता नहीं)— ये सब अत्यंत आवश्यक हैं क्योंकि इनके जो विरोधी भाव हैं वे रूपांतरके कार्यमें बहुत अधिक बाधा पहुंचाते हैं। अभीप्सामें तीव्रता होनी चाहिये परंतु इन सब चीजोंके साथ-साथ रहना चाहिये। न तो जल्दबाजी होनी चाहिये न जड़ता न तो राजसिक अति-उत्सुकता होनी चाहिये न तामसिक निरुत्साह—एक धीर स्थिर, अविराम पर शांत आवाहन और क्रिया होनी चाहिये। सिद्धिको छीनने-झपटने या पकड़ लेनेकी वृत्ति नहीं होनी चाहिये बल्कि उसे भीतरसे या ऊपरसे अपने-आप आने देना चाहिये और उसके क्षेत्र उसकी प्रकृति उसकी सीमाओंका ठीक-ठीक निरीक्षण करते रहना चाहिये।

श्रीमाकी शक्तिको अपने अंदर कार्य करने दो परंतु इस विषयमें सावधान रहो कि कहीं तुम्हारे वंचित अहंकारकी कोई क्रिया या सत्यके रूपमें सामने आनेवाली कोई अज्ञानकी शक्ति उसके साथ मिलजुल न जाय या उसका स्थान स्वयं ग्रहण न कर ले। विशेष रूपसे इस बातकी अभीप्सा करो कि तुम्हारी प्रकृतिमेंसे समस्त अंधकार और अचेतनता दूर हो जाय।

ये ही प्रधान शर्तें हैं जिनका पालन करनेपर मनुष्य अतिमानसिक रूपांतरके लिये तैयार हो सकता है परंतु इनमेंसे किसी भी शर्तको पूरा करना आसान नहीं है और जब पूर्ण रूपसे इन सबका पालन होगा तभी यह कहा जा सकता है कि प्रकृति

साधनाकी प्रारंभिक अवस्थामें प्राय ये बाधाएं आया करती हैं। इनके आनेका कारण यह है कि अभीतक तुम्हारी प्रकृति पर्याप्त रूपसे ग्रहणशील नहीं हो पायी है। तुम्हें यह पता लगाना चाहिये कि तुम्हारी बाधा कहांपर है, मनमें है या प्राणमें, और फिर तुम्हें वहां अपनी चेतनाको प्रसारित करनेका प्रयास करना चाहिये, वहांपर पवित्रता और शांतिका अधिक मात्रामें आवाहन करना चाहिये तथा उस पवित्रता और शांतिमें अपनी सत्ताके उस भागको सच्चाईके साथ और पूर्ण रूपमें भागवत शक्तिके चरणोंमें अर्पण कर देना चाहिये।

***

प्रकृतिका प्रत्येक भाग अपनी पुरानी चालढालको ज्यों-का-त्यों बनाये रखना चाहता है और जहांतक उससे संभव होता है, किसी मूलगत परिवर्तन और उन्नतिको होने देना नहीं चाहता, क्योंकि ऐसा होनेपर उसे अपनेसे किसी उच्चतर शक्तिके अधीन होना पड़ता है, और उसे अपने क्षेत्रमें, अपने पृथक् साम्राज्यमें अपने प्रभुत्वको खोना पड़ता है। यही कारण है कि रूपांतरकी प्रक्रिया इतनी लंबी और कठिन बन जाती है।

मन निस्तेज हो जाता है, क्योंकि मनका नीचेका आधार है भौतिक मन जिसका धर्म है तमस् या जड़त्व—कारण जड़तत्त्वका मूल धर्म है तामसिकता। जब लगातार या बहुत समयतक उच्चतर अनुभूतियां होती रहती हैं तब मनके इस भागमें थकावट आ जाती है अथवा प्रतिक्रिया होनेके कारण बेचैनी या जड़ता उत्पन्न हो जाती है। इस अवस्थासे बचनेका एक उपाय है समाधि—

कठिनाइयाँ

साधनाकी प्रारम्भिक अवस्थामे बराबर ही कठिनाइया उपस्थित होती है और अनगिनत बाधाए आती रहती है तथा जब तक आधार तैयार नही हो जाता तबतक अदरके दरवाजोके खुलनेमे देर लगती है। यदि ध्यान करते समय बराबर ही तुम्हे निश्चलताका अनुभव होता हो और आतर ज्योतिकी झलके मिलती हो यदि तुम्हारी अतर्मुखी प्रवृत्ति इतनी प्रबल होती जा रही हो कि बाहरी बंधन क्षीण होने लगे हो और प्राणगत विक्षोभ अपनी शक्ति खोने लगे हो तो इसका मतलब है कि साधनामे तुम्हारी बहुत कुछ उन्नति हो गयी है। योगका मार्ग लम्बा है इस मार्गकी एक-एक इच जमीनको बहुत अधिक प्रतिरोधका सामना करते हुए जीतना होता है और साधकमे जिस गुणका होना सबसे अधिक आवश्यक है वह है धैर्य और एकनिष्ठ अध्यवसाय और उसके साथ-ही-साथ ऐसा श्रद्धा-विश्वास जो सब प्रकारकी कठिनाइयोके आने विलब होने तथा आपाततः विफलताओंके होनेपर भी दृढ बना रहे।

साधनाकी प्रारभिक अवस्थामे प्राय ये वाधाए आया करती है। इनके आनेका कारण यह है कि अभीतक तुम्हारी प्रकृति पर्याप्त रूपसे ग्रहणशील नहीं हो पायी है। तुम्हे यह पता लगाना चाहिये कि तुम्हारी वाधा कहापर है, मनमे है या प्राणमे, और फिर तुम्हे वहा अपनी चेतनाको प्रसारित करनेका प्रयास करना चाहिये, वहापर पवित्रता और शातिका अधिक मात्रामे आवाहन करना चाहिये तथा उस पवित्रता और शातिमे अपनी सत्ताके उस भागको सच्चाईके साथ और पूर्ण रूपमे भागवत शक्तिके चरणोमे अर्पण कर देना चाहिये।

प्रकृतिका प्रत्येक भाग अपनी पुरानी चालढालको ज्यो-कात्यो वनाये रखना चाहता है और जहातक उससे मभव होता है, किसी मूलगत परिवर्तन और उन्नतिको होने देना नही चाहता, क्योकि ऐसा होनेपर उसे अपनेसे किसी उच्चतर शक्तिके अधीन होना पडता है, और उसे अपने क्षेत्रमें, अपने पृथक् साम्राज्यमें अपने प्रभुत्वको खोना पडता है। यही कारण है कि रूपातरकी प्रक्रिया इतनी लवी और कठिन वन जाती है।

मन निस्तेज हो जाता है, क्योकि मनका नीचेका आधार है भौतिक मन जिसका धर्म है तमस् या जडत्व—कारण जडतत्त्वका मूल धर्म है तामसिकता। जव लगातार या वहुत समयतक उच्चतर अनुभूतिया होती रहती है तव मनके इस भागमें थकावट आ जाती है अथवा प्रतिक्रिया होनेके कारण वेचैनी या जडता उत्पन्न हो जाती है। इस अवस्थासे वचनेका एक उपाय है समाधि—

कठिनाईमें

साधनाकी प्रारंभिक अवस्थामे बराबर ही कठिनाइयां उपस्थित होती हैं और उन्नतिमे बाधाएं आती रहती हैं तथा जब तक आधार तैयार नहीं हो जाता तबतक अंदरके दरवाजोंके खुलनेमे देर लगती है। यदि ध्यान करते समय बराबर ही तुम्हें निस्तब्धताका अनुभव होता हो और आंतर ज्योतिकी झलकें मिलती हों यदि तुम्हारी अंतर्मुखी प्रवृत्ति इतनी प्रबल होती जा रही हो कि बाहरी बंधन क्षीण होने लगे हों और प्राणगत वि-क्षोभ अपनी शक्ति खोने लगे हों तो इसका मतलब है कि साधना मे तुम्हारी बहुत कुछ उन्नति हो गयी है। योगका मार्ग लम्बा है इस मार्गकी एक-एक इंच जमीनको बहुत अधिक प्रतिरोधका सामना करते हुए जीतना होता है और साधकमे जिस गुणका होना सबसे अधिक आवश्यक है वह है धैर्य और एकनिष्ठ अध्यवसाय और उसके साथ-ही-साथ ऐसा श्रद्धा-विश्वास जो सब प्रकार की कठिनाइयोंके आने विलंब होने तथा आपाततः विफलताओं-के होनेपर भी दृढ़ बना रहे।

जिनसे न तो अपना कोई सबध हो और न जिनके विषयमें अपनी कोई दिलचस्पी हो। इस तरह करनेसे प्राय ही यह परिणाम होता है कि कुछ समयके बाद मन दो भागोमे विभक्त हो जाता है, एक भाग तो वह होता है जो मनोमय साक्षी पुरुष होता है, जो देखा करता है और पूर्ण रूपसे अक्षुब्ध तथा अचचल बना रहता है, और दूसरा भाग वह होता है जो देखनेका विषय होता है, प्रकृति-भाग होता है और जिसमेंसे होकर विचार आया-जाया करते है या जिसमें विचरण करते है। उसके बाद साधक इस प्रकृति-भागको भी निश्चल-नीरव या शात करनेका प्रयास कर सकता है। एक तीसरा उपाय है, एक सक्रिय पद्धति भी है, जिसमें साधक यह देखनेकी चेष्टा करता है कि विचार कहासे आ रहे है और उसे यह पता चलता है कि वे उसके अदरसे नही, बल्कि मानो उसके सिरके बाहरसे आ रहे हैं, अगर साधक उन्हे इस प्रकार आते हुए देख ले तो फिर उनके भीतर घुसनेसे पहले ही उन्हे एकदम बाहर फेंक देना होता है। यह पद्धति सभवत सबसे अधिक कठिन है और इसे सब लोग नही कर सकते, पर यदि इसे किया जा सके तो निश्चल-नीरवता प्राप्त करनेका यह सबसे अधिक सीधा और सबसे अधिक शक्तिशाली मार्ग है।

***

यह आवश्यक है कि तुम अपने अदरकी अशुद्ध वृत्तियोको देखो और जानो, क्योकि वे ही तुम्हारे दु खके मूल हैं और अगर तुम्हे उनसे छुटकारा पाना हो तो तुम्हे उनका लगातार त्याग करना ही होगा।

समाधिकी अवस्थामें शरीरको शांत बना दिया जाता है, भौतिक मन एक प्रकारकी तंद्राकी अवस्थामें आ जाता है और आंतर चेतनाको अपनी अनुभूतियां लेनेके लिये स्वतंत्र छोड़ दिया जाता है। इसमें असुविधा यह है कि समाधि अनिवार्य हो जाती है और जाग्रत चेतनाका प्रश्न हल नहीं होता, वह अपूर्ण ही रह जाती है।

∴

ध्यानके समय यदि यह कठिनाई उपस्थित होती है कि सभी प्रकारके विचार मनमें घुस आते हैं तो यह विरोधी शक्तियोंके कारण नहीं होता है बल्कि यह मानव-मनके साधारण स्वभावके कारण होता है। सभी साधकोंको यह कठिनाई होती है और बहुतोंके साथ तो यह बहुत लंबे समयतक बनी रहती है। इस से छुटकारा पानेके कई उपाय हैं। इनमें एक यह है कि विचारोंको देखा जाय और यह निरीक्षण किया जाय कि वे मानव-मनके किस स्वभावको प्रकट कर रहे हैं पर उनमें किसी प्रकारकी रुचि न ली जाय और उन्हें तबतक दौड़ते रहने दिया जाय जब तक वे स्वयं ही थककर रुक न जायं—इसी उपायका अवलंबन लेनेकी सलाह विवेकानंदने अपने राजयोगमें दी है। दूसरा उपाय है इन विचारोंको इस प्रकार देखना मानो वे अपने न हों, उनसे पीछे हटकर साक्षी पुरुषके रूपमें अवस्थित होना और उन्हें अनुमति देनेसे इन्कार करना—इस पद्धतिमें ऐसा मानते हैं कि विचार बाहरसे, प्रकृतिसे आ रहे हैं और उन्हें ऐसे अनुभव करना होता है मानो वे पथिक हों जो मनके प्रदेशसे होकर जा रहे हों और

अधिकांश मनुष्योंका निम्नतर प्राण भयंकर दोषों तथा ऐसी कुछ वृत्तियोंसे भरा रहता है कि जो विरोधी शक्तियोंका प्रत्युत्तर देती हैं। अंतरात्माको निरंतर उद्घाटित रखने, इन प्रभावोंका अनवरत त्याग करते रहने, विरोधी शक्तियोंके सभी सुझावोंसे अपने-आपको अलग रखनेसे तथा श्रीमाकी शक्तिमें स्थिरता, शान्ति, ज्योति और पवित्रताको अपने अंदर प्रवाहित होने देनेसे अंतमें हमारा आधार विरोधी शक्तियोंके घेरेसे मुक्त हो जायगा।

जिस बातकी आवश्यकता है वह है अचंचल बने रहना, अधिकाधिक अचंचल बने रहना, इन सब प्रभावोंको उस प्रकार देखना कि ये तुम्हारे कुछ नहीं हैं, ये कहीं बाहरसे आकर घुस पड़े हैं, इनसे अपने-आपको अलग करना, इन्हें अस्वीकार करना तथा भागवत शक्तिपर दृढ़ विश्वास बनाये रखना। अगर तुम्हारा हृत्पुरुष भगवान्‌को पानेकी इच्छा करता हो, तुम्हारा मन सच्चा हो और निम्न प्रकृति तथा समस्त विरोधी शक्तियोंसे मुक्त होना चाहता हो और अगर तुम अपने हृदयमें श्रीमाकी शक्तिका आवाहन कर सको तथा अपनी व्यक्तिगत शक्तिकी अपेक्षा उसीपर अधिक निर्भर कर सको तो अंतमें विरोधी शक्तियोंका यह घेरा नष्ट-भ्रष्ट हो जायगा और उसका स्थान शांति और सामर्थ्य ग्रहण कर लेंगे।

***

निम्न प्रकृति अज्ञानमयी और अदिव्य है, यह स्वयं ज्योति और सत्यका विरोध नहीं करती, बस यह उनकी ओर खुली हुई नहीं है। परंतु जो विरोधिनी शक्तियां हैं वे केवल अदिव्य ही

परंतु तुम बराबर अपने दोषों और अशुद्ध वृत्तियोंका ही चिंतन मत किया करो। तुम उस बातपर अधिक अपना ध्यान एकाग्र करो जो तुम्हें होना है जो तुम्हारा आदर्श है और यह विश्वास बनाये रखो कि जब यही तुम्हारा लक्ष्य है तब इसे पूरा होना ही होगा और यह अवश्य पूरा होगा।

बराबर दोषों और अशुद्ध वृत्तियोंको देखते रहनेसे चित्त उदास होता है और श्रद्धा दुर्बल होती है। अपनी दृष्टिको किसी वर्तमान अंधकारकी अपेक्षा आनेवाले प्रकाशकी ओर अधिक लगाओ। श्रद्धा प्रसन्नता और अंतिम विजयमें विश्वास—ये सब चीजें ही सहायता करती हैं ये प्रगतिको अधिक सहज और तीव्र बनाती हैं।

जो अच्छी अनुभूतियां तुम्हें प्राप्त होती हैं उनका अधिक-से-अधिक लाभ उठाओ वैसी एक भी अनुभूति इन पतनों और विफलताओंसे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। पर जब ऐसी अनुभूति बंद हो जाय तो उसके लिये अनुताप मत करो या उसके कारण निरुत्साहित मत हो जाओ बल्कि भीतरसे शांत बने रहो और यह अभीप्सा करो कि वह फिरसे एक अधिक स्थायी रूप ग्रहण करके आवे तथा और भी अधिक गभीर और पूर्ण अनुभूतिकी ओर ले जाय।

सर्वदा अभीप्सा करो पर सदा अविचलित अचंचल रहते हुए तथा भगवान्की ओर अपने-आपको सरल और संपूर्ण रूपमें उद्घाटित करते हुए।

अधिकांश मनुष्योंका निम्नतर प्राण भयंकर दोषों तथा ऐसी कुछ वृत्तियोंसे भरा रहता है कि जो विरोधी शक्तियोंका प्रत्युत्तर देती हैं। अंतरात्माको निरंतर उद्घाटित रखने, इन प्रभावोंका अनवरत त्याग करते रहने, विरोधी शक्तियोंके सभी सुझावोंसे अपने-आपको अलग रखनेसे तथा श्रीमाकी शक्तिसे स्थिरता, शांति, ज्योति और पवित्रताको अपने अंदर प्रवाहित होने देनेसे अंतमें हमारा आधार विरोधी शक्तियोंके घेरेसे मुक्त हो जायगा।

जिस बातकी आवश्यकता है वह है अचंचल बने रहना, अधिकाधिक अचंचल बने रहना, इन सब प्रभावोंको इस प्रकार देखना कि ये तुम्हारे कुछ नहीं हैं, ये कहीं बाहरसे आकर घुस पड़े हैं, इनसे अपने-आपको अलग करना, इन्हें अस्वीकार करना तथा भागवत शक्तिपर दृढ़ विश्वास बनाये रखना। अगर तुम्हारा हृत्पुरुष भगवान्‌को पानेकी इच्छा करता हो, तुम्हारा मन सच्चा हो और निम्न प्रकृति तथा समस्त विरोधी शक्तियोंसे मुक्त होना चाहता हो और अगर तुम अपने हृदयमें श्रीमाकी शक्तिका आवाहन कर सको तथा अपनी व्यक्तिगत शक्तिकी अपेक्षा उसीपर अधिक निर्भर कर सको तो अंतमें विरोधी शक्तियोंका यह घेरा नष्ट-भ्रष्ट हो जायगा और उसका स्थान शांति और सामर्थ्य ग्रहण कर लेंगे।

***

निम्न प्रकृति अज्ञानमयी और अदिव्य है, यह स्वयं ज्योति और सत्यका विरोध नहीं करती, बस यह उनकी ओर खुली हुई नहीं है। परंतु जो विरोधिनी शक्तियां हैं वे केवल अदिव्य ही

नहीं वरन् विफलताके सभु हैं वे निम्न प्रकृतिका उपयोग करती हैं उसे कुमार्गमें ले जाती हैं उसे विकृत वृत्तियोंसे भर देती हैं तथा इस उपायके द्वारा वे मनुष्यको प्रभावित करती हैं और यहांतक कि उसके अंदर प्रवेश करने और उसे अपने अधिकारमें कर लेनेकी या कम-से-कम उसे पूरी तरह अपने वशमें कर लेनेकी चेष्टा करती हैं।

सब प्रकारकी अतिरंजित आत्मनिंदासे तथा पाप कठिनाई या विफलताका बोध होनेपर अवसन्न होनेकी आदतसे अपने-आपको मुक्त करो। ये सब भाव वास्तवमें तनिक भी सहायता नहीं करते बल्कि उल्टे ये एक बहुत बड़ी बाधा हैं और हमारी उन्नतिको रोकते हैं। ये सब धार्मिक मनोवृत्तिके परिचायक हैं यौगिक मनोवृत्तिसे इनका कुछ भी संबंध नहीं। योगीको चाहिये कि वह प्रकृतिके सारे दोषोंको इस दृष्टिसे देखे कि ये निम्न प्रकृतिकी क्रियाएं हैं और ये सबके अंदर होती रहती हैं, और भागवत शक्तिमें पूर्ण विश्वास रखते हुए स्थिरता और दृढ़ताके साथ इनका नित्य निरंतर त्याग करता रहे—पर न तो किसी प्रकारकी दुर्बलता या अवसाद या अवहेलनाके भावको न किसी प्रकारकी उत्तेजना अधीरता या उग्रताके भावको अपने अंदर आने दे।

**

योगसाधनाका साधारण नियम यह है कि तुम अवसाद आनेपर अपने-आपको अवसन्न मत होने दो उससे अपनेको अलग कर लो उसके कारणको देखो और उस कारणको दूर करो क्योंकि वह कारण सर्वदा ही अपने अंदर होता है संभवत कहीं-कोई

प्राणमें दोष होता है, या तो किसी अशुद्ध प्रवृत्तिको प्रश्रय दिया गया होता है अथवा कोई तुच्छ वासना कभी तृप्त होनेके कारण, कभी अतृप्त रह जानेके कारण प्रतिक्रिया उत्पन्न की होती है। योगसाधनामे बहुत वार एक वासनाको तृप्त कर देनेपर, किसी अशुद्ध प्रवृत्तिको स्वच्छद खेलने देनेपर वह किसी अतृप्त वासना-की अपेक्षा अधिक बुरी प्रतिक्रिया उत्पन्न करती है।

तुम्हे इस बातकी आवश्यकता है कि तुम अधिक अपने अतर-की गभीरतामे जाकर निवास करो, अपने बाह्य प्राण और मन-मे, जो इन बाह्य स्पर्शोंके लिये खुले हुए हैं, कम निवास करो। अतरतम हृत्पुरुष इन सबके द्वारा पीडित नही होता, भगवान्‌के साथ जो उसका अपना सहज सामीप्य है उसमे वह प्रतिष्ठित रहता है और ऊपरी सतहकी इन तुच्छ वृत्तियोको वह एकदम बाहरी चीजे और अपनी वास्तविक सत्ताके लिये विजातीय समझता है।

***

जिन कठिनाइयो और कुप्रवृत्तियोंका तुमपर आक्रमण होता है, उनके साथ बर्ताव करनेमें सभवत तुम यह भूल करते हो कि तुम उनके साथ बहुत अधिक तादात्म्य स्थापित कर लेते हो और उन्हे अपनी प्रकृतिका अग समझने लगते हो। तुम्हे तो बल्कि उनसे अलग हो जाना चाहिये, अपने-आपको उनसे निर्लिप्त और वियुक्त कर लेना चाहिये, यह समझना चाहिये कि वे अपूर्ण और अशुद्ध विश्वव्यापी निम्न प्रकृतिकी क्रियाए हैं, वे ऐसी शक्तिया है जो तुम्हारे अदर प्रवेश करती और अपनी अभिव्यक्तिके लिये तुम्हे अपना यत्र बनानेकी चेष्टा करती हैं। इस प्रकार अपने-

आपको इनसे निर्लिप्त और वियुक्त कर लेनेपर तुम्हारे लिये यह अधिक संभव हो जायगा कि तुम अपने एक ऐसे भागका पता पा लो और उसीमें अधिकाधिक निवास करने लगो—अपनी आंतर या अपनी चैत्य सत्ताका—जो इन सब बाह्य वृत्तियोंसे आक्रांत या पीड़ित नहीं होता, इन सबको अपनेसे विजातीय समझता है और स्वभावतः ही इन्हें अनुमति देनेसे इनकार करता है और अपने-आपको निरंतर भागवत शक्तियों तथा चेतनाके उच्चतर स्तरों-की ओर मुड़ा हुआ या उनसे संबंधित अनुभव करता है। अपनी सत्ताके उस भागको ढूंढ निकालो और उसीमें निवास करो, ऐसा करनेमें समर्थ होना ही योगसाधनाकी सच्ची नींव है।

अगर तुम इस प्रकार अलग हट जाओ तो ऊपरी सतहके सघर्षके पीछे अपने अंदर ही एक ऐसी प्रशांत स्थिति प्राप्त करना भी तुम्हारे लिये अधिक आसान हो जायगा जहांसे तुम अपनी मुक्तिके लिये कहीं अधिक सफलताके साथ भागवत साहाय्यका आवाहन कर सकोगे। भागवत उपस्थिति स्थिरता शांति शुद्धि शक्ति ज्योति प्रसन्नता और प्रसारता तुम्हारे ऊपर विद्यमान हैं और तुम्हारे अंदर अवतरित होनेके लिये प्रतीक्षा कर रही हैं। इस पीछेकी प्रशांत स्थितिको प्राप्त करो और फिर तुम्हारा मन भी पहलेसे अधिक प्रशांत हो जायगा और प्रशांत मनके द्वारा तुम सबसे पहले शुद्धि और शांतिका और फिर उसके बाद भागवत शक्तिका आवाहन कर सकोगे। अगर तुम इस शांति और शुद्धि को अपने अंदर अवतरित होते हुए अनुभव कर सको तो फिर तुम उनका तबतक बार-बार आवाहन कर सकते हो जबतक वे तुम्हारे अंदर प्रतिष्ठित होना आरंभ न कर दें इस समय तुम

यह भी अनुभव करोगे कि इन वृत्तियोंको परिवर्तित करने तथा तुम्हारी चेतनाको रूपातरित करनेके लिये भागवत शक्ति तुम्हारे अदर क्रिया कर रही है। उसकी इस क्रियाके अदर तुम श्रीमा-की उपस्थिति और शक्तिके विषयमें भी सचेतन हो जाओगे। जब एक बार यह हो जाता है तब बाकी सब चीजें समयपर तथा तुम्हारे अदर होनेवाले तुम्हारी यथार्थ और दिव्य प्रकृतिके क्रम-विकासपर निर्भर करती है।

अपूर्णताओका होना, यहातक कि बहुत अधिक और भयानक अपूर्णताओका होना भी, योगसाधनाकी उन्नतिमे स्थायी रूपसे बाधक नही हो सकता। (मै यहा यह नही कहता कि पहले जो उद्-घाटन हो चुका है वह फिरसे प्राप्त होगा, क्योकि मेरा अनुभव तो यह बतलाता है कि प्रतिरोध और सघर्षका काल निकल जाने-पर साधारणत एक नवीन और बृहत्तर उद्घाटन होता है, एक विशालतर चेतना प्राप्त होती है तथा पहले जो कुछ प्राप्त किया गया था पर जो उस समय खो गया मालूम होता था—किंतु केवल मालूम ही होता था—उससे भी साधक आगे बढ जाता है।) एक-मात्र वस्तु जो स्थायी रूपसे बाधक हो सकती है—परतु उसका भी होना आवश्यक नही है, कारण उसे भी परिवर्तित किया जा सकता है—वह है मिथ्याचार, सच्चाईका अभाव, और वह तुममे नही है। अगर अपूर्णता बाधक होती तो कोई भी मनुष्य योगमे सफलता न प्राप्त कर सकता, कारण सब मनुष्य ही अपूर्ण हैं, और मैंने जो कुछ देखा है उसके आधारपर मै यह नि सदेह होकर नही

कह सकता कि जिनमें योगकी बड़ी-से-बड़ी योग्यता होती है प्रायः उन्हींमें बड़ी-से-बड़ी अपूर्णताएं नहीं होतीं अथवा किसी समय नहीं रही होतीं। सम्भवतः तुम जानते ही हो कि सुकरातने अपने चरित्रपर क्या टिप्पणी की थी। ठीक यही बात बहुतसे बड़े-बड़े योगी अपनी आरंभिक मानवी प्रकृतिके विषयमें कह सकते हैं। योगमें जो बात अंतमें जाकर सबसे अधिक कामकी साबित होती है वह है सच्चाई और उसके साथ-साथ इस पथपर डटे रहनेका धैर्य—बहुतसे लोग इस धैर्यके बिना भी अन्ततक पहुंच जाते हैं क्योंकि विद्रोह, अधैर्य, अवसाद, निराशा, क्लान्ति, मनकी सामयिक हानि इत्यादिके होनेपर भी बाह्य सत्ताकी अपेक्षा कहीं महान् एक शक्ति आत्माकी शक्ति अंतरात्माकी आवश्यकताका वेग उन्हें घने बादलों और कुहासेके अंधकारके भीतरसे धकेलता हुआ उन-के लक्ष्यतक पहुंचा देता है। अपूर्णताएं बाधक हो सकती हैं और कुछ समयके लिये साधकको बुरी तरह गिरा भी सकती हैं परंतु वे स्थायी बाधा नहीं हो सकतीं। प्रकृतिमें कहीं कोई प्रतिरोध होनेके कारण जो कभी-कभी तमसाच्छन्न अवस्था आ जाती है वह साधनामें विलम्ब लानेका कहीं अधिक गंभीर कारण बन सकती है पर वह भी सर्वथा नहीं टिक सकती।

तुम्हारे अंदर जो इतनी अधिक दैहिक व्याकुलताका भाव (उदासी) बना रहता है वह भी इस बातके लिये पर्याप्त कारण नहीं है कि तुम अपनी योग्यता या अपनी आध्यात्मिक शक्ति-परसे विश्वास ही खो दो। मेरा विश्वास है कि साधनामें बारी बारीसे प्रकाशमय और अंधकारमय समयका आना-जाना योगियोंका प्रायः सार्वजनीन अनुभव है और इसका अपवाद बहुत

कम ही देखा जाता है। यदि कोई इस क्रियाके—जो हमारे अ-धीर मानव-स्वभावके लिये अत्यत अप्रिय है—कारणकी खोज करे तो मेरी समझमें यह पता चलेगा कि इसके प्रधानतया दो कारण है। पहला कारण यह है कि मानव-चेतना या तो ज्योति या शक्ति या आनदके निरतर अवतरणको सहन नही कर पाती अथवा उसे तुरत ग्रहण करने और पचानेमें असमर्थ होती है, उसे पचाने-के लिये हर बार कुछ समयकी आवश्यकता होती है, परतु यह पाचनक्रिया बाह्य चेतनाके परदेके पीछे होती रहती है, जिस अनु-भूति या उपलब्धिका अवतरण हुआ रहता है वह परदेके पीछे चली जाती है और इस बाह्य या ऊपरी चेतनाको बेकार पडी रहने तथा दूसरे नये अवतरणके लिये तैयार होनेके लिये छोड देती है। योगकी और भी अधिक उन्नत अवस्थाओमें ये अधकार या जडताके काल उत्तरोत्तर कम लबे होते जाते हैं, कम कष्टदायक होते जाते हैं तथा इसके साथ-ही-साथ एक ऐसी महत्तर चेतना-का बोध साधकको ऊपर उठाये रखता है जो चेतना साधककी तात्कालिक उन्नतिके लिये क्रिया तो नही करती, पर फिर भी वहा वर्तमान रहती है और बाह्य प्रकृतिको धारण किये रहती है। दूसरा कारण है किसी प्रकारके प्रतिरोधका होना, मानव-प्रकृतिमें किसी ऐसी चीजका होना जिसने पहलेके अवतरणको अनुभव ही नही किया है, जो अभीतक तैयार नही है, जो सभवत परिवर्तित ही नही होना चाहती,—यह चीज अधिकतर या तो मनकी या प्राण-की कोई प्रबल अभ्यासगत वृत्ति होती है या भौतिक चेतनाकी किसी प्रकारकी अस्थायी जडता होती है, ठीक हमारी प्रकृतिका कोई भाग नही होती—और यही चीज, चाहे स्वय प्रकट हो या

यह सकता कि जिनमें योगकी बड़ी-से-बड़ी क्षमता होती है प्रायः उन्हींमें बड़ी-से-बड़ी अपूर्णताएं नहीं होतीं अथवा किसी समय नहीं रही होतीं। संभवतः तुम जानते ही हो कि सुकरातने अपने चरित्रपर क्या टिप्पणी की थी ठीक यही बात बहुतसे बड़े-बड़े योगी अपनी आरंभिक मानवी प्रकृतिके विषयमें कह सकते हैं। योगमें जो बात अंतमें जाकर सबसे अधिक कामकी साबित होती है वह है सच्चाई और उसके साथ-साथ इस पथपर डटे रहनेवाला धैर्य—बहुतसे लोग इस धैर्यके बिना भी लक्ष्यतक पहुंच जाते हैं क्योंकि विद्रोह, अवसाद, निराशा, क्लांति, अस्थायी आध्यात्मिक हानि इत्यादिके होनेपर भी बाह्य सत्ताकी अपेक्षा कहीं महान् एक शक्ति आत्माकी शक्ति अंतरात्माकी आवश्यकताका वेग उन्हें घने बादलों और कुहासेके अंधकारके भीतरसे ढकेलता हुआ उनके लक्ष्यतक पहुंचा देता है। अपूर्णताएं बाधक हो सकती हैं और कुछ समयके लिये साधकको बुरी तरह गिरा भी सकती हैं परंतु वे स्थायी बाधा नहीं हो सकतीं। प्रकृतिमें कहीं कोई प्रतिरोध होनेके कारण जो कभी-कभी तमसाच्छन्न अवस्था आ जाती है वह साधनामें विलंब लानेवाला कहीं अधिक गंभीर कारण बन सकती है पर वह भी सर्वदा नहीं टिक सकती।

तुम्हारे अंदर जो इतनी अधिक देरतक पड़नेवाला भाव (उदासी) बना रहता है वह भी इस बातके लिये पर्याप्त कारण नहीं है कि तुम अपनी योग्यता या अपनी आध्यात्मिक भवितव्यतामें विश्वास ही खो दो। मेरा विश्वास है कि साधनामें बारी-बारीसे प्रकाशमय और अंधकारमय समयका आना-जाना साधकोंका प्रायः सार्वजनीन अनुभव है और इसका अपवाद बहुत

के साथ समस्वर बना सकता है, फिर भी उन अपूर्णताओंपर अथवा उन कठिनाइयोंपर जिन्हें वे उत्पन्न करती हैं, अत्यधिक जोर देना, अथवा कठिनाइयोंका अनुभव होनेके कारण भागवत शक्तिकी क्रियापर अविश्वास करना, या वस्तुओंकी काली अर्थात् दोषपूर्ण दिशापर ही लगातार जोर देते रहना अनुचित है। ऐसा करने- से कठिनाइयोंकी ताकत बढ़ जाती है और अपूर्णताओंको बने रहने- का और भी अधिक अधिकार प्राप्त हो जाता है। अवश्य ही मैं 'कुए' के आशावाद (Coueistic Optimism) का अनु- सरण करनेके लिये आग्रह नहीं करता—यद्यपि अत्यधिक आशा- वाद अत्यधिक निराशावादकी अपेक्षा कहीं अधिक सहायक होता है, कुएका आशावाद (Coueism) कठिनाइयोंको ढक देना चाहता है, और इसके अतिरिक्त प्रत्येक चीजकी एक मात्रा भी होती है जिसे ध्यानमें रखना उचित है। परंतु तुम्हारे विषयमें ऐसा कोई खतरा नहीं है कि तुम इन अपूर्णताओंको ढककर रखोगे और अत्यधिक उज्ज्वल भविष्यकी कल्पना करके अपने-आपको धोखा दोगे, तुम तो, ठीक इसके विपरीत, बराबर छायाके ऊपर सबसे अधिक जोर देते हो और ऐसा करके उसे घना बना देते हो और ज्योतिमें प्रवेश करनेके अपने मार्गोंको ही बंद कर देते हो। वास्तव- में आवश्यकता है विश्वासकी, और अधिक विश्वासकी। तुम्हें अपनी संभावनाओंपर विश्वास होना चाहिये, परदेके पीछेमें जो दिव्य शक्ति कार्य कर रही है उसपर विश्वास होना चाहिये, जो कार्य करना है उसपर विश्वास होना चाहिये तथा जो पथप्रदर्शन किया जा रहा है उसपर विश्वास होना चाहिये।

ऐसा कोई भी उच्च कोटिका प्रयास नहीं हो सकता—और

युक्त इस बाधाको हमारे मार्गमें खड़ी कर देती है। यदि कोई अपने अंदर इसके कारणको पकड़ सके उसे स्वीकार करे, उसकी क्रियाको देख सके और उसे दूर करनेके लिये दिव्य शक्तिका आवाहन कर सके तो ये अंधकारके काल बहुत कुछ अल्पस्थायी बनाये जा सकते हैं और इनकी तीव्रता भी कम हो सकती है। पर जो भी हो भागवत शक्ति परदेके पीछे सर्वदा ही कार्य करती रहती है और एक दिन—जब कि हम शायद इसकी जरा भी आशा नहीं करते—ये सब बाधाएं छिन्न-भिन्न हो जाती हैं अंधकार के बादल उड़ जाते हैं और फिरसे प्रकाश और धूप आ जाती है। इन सब अवस्थाओंमें सबसे उत्तम बात अगर कोई उसे कर सके तो यह है कि न तो उद्विग्न हुआ जाय न हताश बल्कि शांतिके साथ डटा रहा जाय और अपने-आपको दिव्य ज्योतिकी ओर खोले फैलाये रखा जाय और विश्वासके साथ उसके आने की प्रतीक्षा की जाय इस तरह, मैंने देखा है कि इन अग्नि परीक्षाओंका समय बहुत घट जाता है। इसके बाद जब ये बाधाएं दूर हो जाती हैं तब हम देखते हैं कि इस बीच बहुत अधिक उन्नति हो गयी है और चेतना ग्रहण और धारण करनेमें पहलेकी अपेक्षा बहुत अधिक समर्थ हो गयी है। आध्यात्मिक जीवनमें जो भी कठिनाइयां और परीक्षाएं आती हैं उन सबके बदले साधकको कुछ लाभ भी मिलता है।

*

यद्यपि अपनी प्रकृतिकी अपूर्णताओंको जाने बिना न तो कोई भागवत शक्तिको ही पास सकता है न अपनी प्रकृतिको ही इस

के साथ समस्वर बना सकता है, फिर भी उन अपूर्णताओंपर अथवा उन कठिनाइयोंपर जिन्हें वे उत्पन्न करती हैं, अत्यधिक जोर देना, अथवा कठिनाइयोंका अनुभव होनेके कारण भागवत शक्तिकी क्रियापर अविश्वास करना, या वस्तुओंकी काली अर्थात् दोषपूर्ण दिशापर ही लगातार जोर देते रहना अनुचित है। ऐसा करने-से कठिनाइयोंकी ताकत बढ जाती है और अपूर्णताओंको बने रहने-का और भी अधिक अधिकार प्राप्त हो जाता है। अवश्य ही मैं 'कुए' के आशावाद (Coueistic Optimism) का अनु-सरण करनेके लिये आग्रह नहीं करता—यद्यपि अत्यधिक आशा-वाद अत्यधिक निराशावादकी अपेक्षा कहीं अधिक सहायक होता है, कुएका आशावाद (Coueism) कठिनाइयोंको ढक देना चाहता है, और इसके अतिरिक्त प्रत्येक चीजकी एक मात्रा भी होती है जिसे ध्यानमें रखना उचित है। परंतु तुम्हारे विषयमें ऐसा कोई खतरा नहीं है कि तुम इन अपूर्णताओंको ढककर रखोगे और अत्यधिक उज्वल भविष्यकी कल्पना करके अपने-आपको धोखा दोगे, तुम तो, ठीक इसके विपरीत, बराबर छायाके ऊपर सबसे अधिक जोर देते हो और ऐसा करके उसे घना बना देते हो और ज्योतिमें प्रवेश करनेके अपने मार्गोंको ही बंद कर देते हो। वास्तव-में आवश्यकता है विश्वासकी, और अधिक विश्वासकी! तुम्हें अपनी संभावनाओंपर विश्वास होना चाहिये, परदेके पीछेमें जो दिव्य शक्ति कार्य कर रही है उसपर विश्वास होना चाहिये, जो कार्य करना है उसपर विश्वास होना चाहिये तथा जो पथप्रदर्शन किया जा रहा है उसपर विश्वास होना चाहिये।

ऐसा कोई भी उच्च कोटिका प्रयास नहीं हो सकता—और

आध्यात्मिक क्षेत्रमें तो इसकी सबसे कम संभावना है—जिसमें अत्यंत दृढ़ बनी रहनेवाली घोर बाधाएं न उठती हों अथवा हमारा मुकाबला न करती हों। ये बाधाएं बाहरी और भीतरी दोनों प्रकारकी होती हैं और, यद्यपि साधारण तौरपर ये अपने मूल रूपमें सब साधकोंके लिये एक जैसी ही होती हैं, फिर भी भिन्न व्यक्तियोंपर जो उनका प्रभाव पड़ता है अथवा जो बाहरी रूप वे ग्रहण करती हैं उसमें बहुत अधिक अंतर हो सकता है। परंतु वास्तवमें जो एकमात्र कठिन बात है वह है भागवत ज्योति और शक्तिकी क्रियाके साथ अपनी प्रकृतिको समस्वर बनाना। बस इस प्रश्नको हल कर लो फिर दूसरी सारी कठिनाइयां या तो दूर हो जायेंगी अथवा गौण स्थान ग्रहण कर लेंगी और यहांतक कि जो कठिनाइयां और भी अधिक साधारण लगती हैं अधिक स्थायी हैं क्योंकि वे रूपांतरके मार्गमें अंतर्निहित हैं वे भी उतनी अधिक भारी नहीं मालूम होंगी क्योंकि उस समय तुम यह अनुभव करोगे कि दिव्य शक्ति तुम्हें धारण किये हुए है और उनकी गतिका अनुसरण करनेका सामर्थ्य भी तुममें आ गया है।

अनुभूतिको पूर्ण रूपसे भूल जानेका अर्थ केवल इतना ही है कि तुम्हारी जिस भीतरी चेतनाको एक प्रकारकी समाधिकी अवस्था में यह अनुभूति मिली है उसके और तुम्हारी बाहरी जाग्रत चेतना-के बीचमें अभीतक कोई पुल नहीं तैयार हुआ है दोनोंमें अभीतक पर्याप्त संयोग नहीं स्थापित हुआ है। जब उच्चतर चेतना इन

दोनोंके बीच पुल तैयार कर देती है तब बाहरी चेतना भी स्मरण रखना आरंभ कर देती है।

***

जबतक सारी सत्ता रूपांतरके लिये तैयार नहीं हो जाती तब-तक अभीप्साकी शक्ति और साधनाके सामर्थ्यमें इस प्रकारका उतार-चढाव आना अनिवार्य है और सभी साधकोंमें आता है। जब हृत्पुरुष सामने आ जाता है या क्रिया करने लगता है और मन तथा प्राण भी उसमें अनुमति देने लगते हैं तभी साधनामें तीव्रता आती है। जब हृत्पुरुषका प्राधान्य अपेक्षाकृत कम होता है, वह उतना अधिक सामने नहीं होता और निम्नतर प्राण अपनी साधारण प्रवृत्तियोंमें ही लगा रहता है अथवा मन अपने अज्ञान-पूर्ण कार्योंमें मशगूल रहता है तब, यदि साधक बहुत सावधान न हो तो विरोधी शक्तियां भीतर प्रवेश कर सकती हैं। सामान्य-तया जड़ता (तमस्) साधारण भौतिक चेतनासे ही आती है, विशेषकर उस समय जब कि प्राण तत्परताके साथ साधनाको सहारा नहीं देता। सत्ताके सभी भागोंमें उच्चतर आध्यात्मिक चेतनाको बराबर उतारते रहनेसे ही ये सब चीजें दूर की जा सकती हैं।

***

बीच-बीचमें चेतनाके नीचे उतर आनेका अनुभव सभी साधको-को होता है। इसके कारण विविध होते हैं—जैसे, बाहरसे आने-वाला कोई स्पर्श, प्राणकी, विशेषत निम्न प्राणकी कोई ऐसी चीज

जो अभी परिवर्तित नहीं हुई होती अथवा पर्याप्त रूपमें परि-
वर्तित नहीं हुई होती प्रकृतिके भौतिक अंगोंमें उठनेवाली कोई बाधा
या मलिनता। जब ऐसा हो तब शांत बने रहो श्रीमाकी ओर
अपने-आपको खोले रखो सच्ची स्थितिको फिरसे स्थापित करो
तथा एक ऐसी सुस्पष्ट एवं अक्षुब्ध विवेक प्राप्त करनेकी अभीप्सा
करो जो तुम्हें जिस बातको ठीक करनेकी आवश्यकता है उसके
कारणको तुम्हारे अंदर दिखा दे।

*

साधनाकी दो गतियोंके बीचमें सर्वदा ही तैयारी करने तथा
परिपाक करनेके लिये विराम-काल आया करते हैं। इन्हें साधन
मार्गकी अवांछित बाधा समझकर तुम्हें इनके कारण न तो क्षुब्ध
होना चाहिये न अधीर होना चाहिये। इसके अतिरिक्त दिव्य
शक्ति ऊपर उठती है और प्रकृतिके एक भागको उच्चतर स्तरमें
उठा ले जाती है और फिर निम्नतर भागको ऊपर उठा ले जाने
के लिये नीचे उतर आती है। यह आरोहण और अवरोहणकी
गति प्रायः ही अत्यंत दुःखदायी होती है क्योंकि मन एक सीधी
रेखामें ऊपर जानेका पक्षपाती होने और प्राण तेजीसे फल पाने-
के लिये उत्सुक रहनेके कारण दोनों ही इस वक्रिम गतिधाराको
समझने या अनुसरण करनेमें असमर्थ होते हैं और इसलिये स्व
भावतः ही वे इससे झुंझलाते या दुःखी होते हैं। परंतु सम्पूर्ण
प्रकृतिका रूपांतर साधित करना कोई आसान काम नहीं है और
जो दिव्य शक्ति कार्य कर रही है वह हमारे मानसिक अज्ञान

या प्राणगत अधैर्यकी अपेक्षा इस कार्यको वहुत अच्छी तरहसे जानती है।

***

यदि साधकमें एक ऐसे केंद्रीय सकल्पका अभाव है जो सर्वदा प्राकृतिक शक्तियोकी लहरसे ऊपर रहता है, जो सदा श्रीमाके सस्पर्शमें रहता है, जो अपने मूल लक्ष्य और अभीप्साका अनुसरण करनेके लिये प्रकृतिको वाध्य करता है, तो यह उसके योगकी एक वहुत वडी वाधा है। ऐसा होनेका कारण यह है कि तुमने अभी-तक अपनी केंद्रीय सत्तामे निवास करना नही सीखा है, तुम्हे इस वातका अभ्यास है कि चाहे जिस किसी प्रकारकी शक्ति क्यो न हो, जहा उसकी कोई लहर तुम्हारे ऊपर चढ आयी कि तुम तुरत उसीमें वह जाते हो और उस समयके लिये उसीके साथ तादात्म्य स्थापित कर लेते हो। यह चीज उन सब चीजोमेंसे एक है जिन्हे तुमने पहले सीखा था पर जिन्हें तुम्हे भूलना होगा। तुम्हे अपनी केंद्रीय सत्ताको, जिसका आधार हृत्पुरुष है, ढूढ निकालना होगा और उसीमें निवास करना होगा।

***

यह युद्ध चाहे जितना भी कठिन क्यो न हो, एकमात्र उपाय यही है कि तुम अभी और यही यह युद्ध लडकर इसे समाप्त कर दो।

कठिनाई यह है कि तुमने कभी अपनी सच्ची वाधाका पूरी तरहसे मुकावला नही किया और न उसपर विजय प्राप्त की। तुम्हारी प्रकृतिके एकदम मूलमें ही एक जगह अहभावापन्न व्यक्ति-

उसकी एक सुदृढ़ मूर्ति गठित हुई है और उसीने तुम्हारी आध्या-
त्मिक अभीप्साके अंदर दुराग्रही अभिमान और आध्यात्मिक अहं-
त्वाकांक्षाका भाव मिला दिया है। इस मूर्तिने इस बातके लिये
कभी अनुमति नहीं दी है कि उसे तोड़ दिया जाय और उसके
स्थानमें किसी और अधिक सत्य तथा दिव्य वस्तुको बैठा दिया
जाय। अतएव जब-जब श्रीमाने तुम्हारे ऊपर शक्तिका प्रयोग
किया है अथवा जब-जब तुमने स्वयं शक्तिको अपने ऊपर उतारा
है तब-तब तुम्हारे भीतरकी इस चीजने उस शक्तिके अपने ढंग
से कार्य करनेमें बाधा उपस्थित की है। इस चीजने मनकी
धारणाओंके अनुसार या अहंकारकी किसी मांगके अनुसार स्वयं
कुछ निर्माण करना आरंभ कर दिया है और यह इस बातकी
चेष्टा करती है कि यह स्वयं अपनी ही शक्तिसे अपनी ही साधना
अपनी ही तपस्याके द्वारा अपने "निजी तरीकेसे" एक अपनी ही
सृष्टिकी रचना करे। तुम्हारे इस भागने कभी सच्चा समर्पण
नहीं किया है इसने कभी सहज और सरल भावसे अपने-आपको
श्रीभगवती माताके हाथोंमें नहीं सौंपा है और वास्तवमें इस अति
मानस-योगमें सफलता प्राप्त करनेका एकमात्र उपाय यही है।
इस योगका उद्देश्य योगी संन्यासी तपस्वी बनना नहीं है। इस
का उद्देश्य है रूपांतर, और यह रूपांतर केवल उस शक्तिके द्वारा
ही सिद्ध हो सकता है जो तुम्हारी अपनी शक्तिसे अनन्तगुना महान्
है यह केवल उसी समय सिद्ध हो सकता है जब तुम भगवती
माताके हाथोंमें सचमुच एक बालककी तरह रहने लगो।

इस वातका कोई कारण नही कि तुम योगमे सफलता पानेकी आशा ही छोड दो। जिस अवसादकी अवस्थाको तुम अभी अनुभव कर रहे हो वह क्षणिक है और वह एक-न-एक समय अत्यत शक्तिशाली साधकपर भी आती है, यहातक कि वार-वार आती है। ऐसे समयमें बस आवश्यकता इस वातकी है कि सत्ताका जो भाग जागृत हो गया है उसे दृढताके साथ पकडे रखा जाय, सभी विपरीत सूचनाओका त्याग किया जाय और अपने लिये जितना सभव हो उतना अपने-आपको सत्य-शक्तिकी ओर उद्घाटित रखते हुए तबतक प्रतीक्षा की जाय जबतक कि यह सकट या परिवर्तनका काल, जिसका कि यह अवसाद एक अवस्थामात्र है, समाप्त न हो जाय। तुम्हारे मनमे जो सव सूचनाए आती है और तुमसे यह कहती हैं कि तुम योग्य नही हो और तुम्हे साधारण जीवन यापन करनेके लिये वापस लौट जाना चाहिये, वे सव विरोधी शक्तियोंसे आनेवाले सुझाव हैं। इस तरहके विचारोको निम्न प्रकृतिकी उपज समझकर उनका वरावर त्याग करते रहना चाहिये, अगर ये विचार हमारे अज्ञानी मनको वाहरसे देखनेमे सत्यके ऊपर प्रतिष्ठित हुए-से भी प्रतीत हो तो भी वे होते हैं मिथ्या ही, क्योकि वे एक अस्थायी गतिधाराको अतिरजित करते और उसे अतिम और यथार्थ सत्यके रूपमे हमारे सामने रखते हैं। तुम्हारे अदर केवल एक ही सत्य है जिसे तुम्हे निरतर पकडे रखना होगा और वह है तुम्हारी दिव्य सभावनाओका सत्य तथा ऊर्ध्वतर ज्योतिके लिये तुम्हारी प्रकृतिकी पुकार। यदि तुम उसे सदा पकडे रखोगे, अथवा, कभी-कभी तुम्हारा हाथ ढीला होनेपर भी यदि तुम उसे फिरसे पकड लिया करोगे, तो सारी

कठिनाइयों बाधाओं और पदस्खलनोंके होते हुए भी अंतमें यह सत्य सिद्ध होकर ही रहेगा। तुम्हारी आध्यात्मिक प्रकृतिके सम विकासके साथ-साथ यथासमय तुम्हारी सारी बाधाएं दूर हो जायंगी।

आवश्यकता बस इस बातकी है कि तुम्हारे प्राणमय भागका स्वभाव बदल जाय और वह समर्पण कर दे। उसे यह अवश्य ही सीखना होगा कि वह एकमात्र सर्वोच्च सत्यको ही पानेकी आकांक्षा करे और अपने निम्नतर प्रेरणाओं और वासनाओंकी तृप्तिके लिये आग्रह करना छोड़ दे। हमारे प्राणमय पुरुषका यह सद् योग ही वह चीज है जो आध्यात्मिक जीवनमें हमारी समग्र प्रकृति को पूर्ण तुष्टि और आनंद प्रदान करती है। जब यह हो जायगा (अर्थात् जब प्राणमय पुरुष सहयोग देने लगेगा) तब साधारण जीवनमें लौट जानेका विचार करना भी असंभव हो जायगा। परन्तु जबतक ऐसा नहीं होता तबतक तुम्हें अपने मनके संकल्प और हृत्पुरुषकी अभीप्साको अपना आधार बनाना होगा उन्हें ही पकड़े रहना होगा और अगर तुम बराबर आग्रह करते रहोगे तो अन्तमें तुम्हारा प्राण हार मान लेगा उसका स्वभाव बदल जायगा और वह समर्पण कर देगा।

अपने मन और हृदयमें इस संकल्पको दृढ़तापूर्वक बैठा दो कि तुम्हें भागवत सत्यके लिये—एकमात्र भागवत सत्यके लिये ही जीना है। इसके विपरीत या इससे न मिलने-जुलनेवाली जितनी बातें है उन सबका त्याग करो और निम्नतर वासनाओंसे मुंह मोड़ लो। यह अभीप्सा रखो कि अन्य किसी शक्तिकी ओर नहीं बल्कि एकमात्र भागवत शक्तिकी ओर तुम्हारा उद्घाटन हो। बस पूरी सच्चाईके साथ इसे करो और तुम्हें जिस तात्कालिक और

जीती-जागती सहायताकी आवश्यकता है उससे तुम वंचित नहीं रहोगे।

***

तुमने जो भाव ग्रहण किया है वही उचित भाव है। यही अनुभव और भाव तुम्हें इतनी तेजीके साथ उन आक्रमणोंपर विजय प्राप्त करनेमें सहायता करते हैं जो कभी-कभी तुम्हारे ऊपर आते हैं और तुम्हें यथार्थ चेतनासे दूर फेंक देते हैं। तुम्हारा कहना ठीक ही है कि कठिनाइयोंको इस प्रकार ग्रहण करनेसे वे सुअवसरोंमें परिणत हो जाती हैं, जब कोई उचित भावके साथ कठिनाईका सामना करता है और उसे जीत लेता है तब वह देखता है कि उसकी एक बाधा दूर हो गयी है, वह एक कदम आगे बढ़ गया है। अगर कोई ऐसे अवसरपर प्रश्न उठाये, उसकी सत्ताका कोई भाग विरोध करे तो उससे कठिनाइयां और दुःख-कष्ट बढ़ जाते हैं—यही कारण है कि भारतके प्राचीन सभी योगमार्गोंमें यह व्यवस्था दी गयी थी कि गुरुके आदेशोंको बिना ननुनचके स्वीकार करना तथा उनका पालन करनेमें तनिक भी चूक न करना अनिवार्य है। वास्तवमें यह व्यवस्था गुरुके हितकी दृष्टिसे नहीं, बल्कि शिष्यके हितकी दृष्टिसे की गयी थी।

***

चीजोंको देखना एक बात है और उन्हें अपने अंदर घुसने देना एकदम दूसरी बात है। साधकको बहुतसी चीजोंका अनुभव लेना होता है, उन्हें देखना और भलीभांति निरीक्षण करना

होता है उन्हें चेतनाके क्षेत्रमें ले आना होता है और यह जानना होता है कि वे क्या हैं। परन्तु इसका कोई कारण नहीं कि तुम उन्हें अपने अंदर घुसने दो और अपने ऊपर अधिकार जमाने दो। केवल भगवान्को या जो कुछ भगवान्के यहाँसे आता है उसको ही तुम अपने अंदर प्रवेश करने दे सकते हो।

यह कहना कि सभी प्रकाश अच्छा है ठीक यह कहनेके समान है कि सभी जल अच्छा है—अथवा यह कहना कि सभी निर्मल या स्वच्छ जल अच्छा है परन्तु यह बात ठीक नहीं हो सकती। इसके पहले कि कोई यह कह सके कि यही सच्चा दिव्य प्रकाश है उसे यह देखना ही होगा कि यह प्रकाश किस प्रकारका है अथवा यह कहाँसे आ रहा है अथवा इसके अंदर क्या है। मिथ्या प्रकाश भी है और भ्रममें डालनेवाली चमकें भी हैं सत्ताके हीनतर स्तरोंसे संबंध रखनेवाले निम्न कोटिके प्रकाश भी हैं। अतएव साधकको इस विषयमें खूब सावधान रहना चाहिये और उनके पार्थक्यको समझना चाहिये *सच्चा विवेक अंतरस्थायी बोध-शक्ति* जो शुद्ध मन तथा अनुभूतिका विकास होनेपर प्राप्त होता है।

*

जो चीज तुमने सुनी वह तुम्हारे स्थूल हृदयमें नहीं उठी थी बल्कि हृदयमें जो भावावेगका केंद्र है वहाँ उठी थी। दीवार गिर जानेका मतलब है तुम्हारी आंतरिक या बाह्य सत्ताके बीचकी बाधाका दूर हो जाना अथवा कम-से-कम वहाँकी किसी एक बाधाका दूर हो जाना। अधिकांश मनुष्य अपनी साधारण बाहरी अज्ञानमयी सत्तामें निवास करते हैं जो आसानीसे भगवान्की ओर

नही खुलती, किंतु उनके अदर एक आतरिक सत्ता भी है जिसे वे नही जानते और जो वडी आसानीसे सत्य और ज्योतिकी ओर खुल सकती है। परतु एक दीवारने उन्हे उस आतरिक सत्तासे अलग कर रखा है और वह दीवार अधकार और अचेतनताकी है। जब यह दीवार गिर जाती है तब एक तरहकी मुक्ति प्राप्त होती है, और तुरत उसके वाद ही जो तुम्हे शाति, आनद और प्रसन्नताका अनुभव हुआ उसका कारण यही मुक्ति है। जो चीख तुमने सुनी है वह तुम्हारे प्राणमय भागकी चीख थी जो एकाएक दीवारके गिर जाने और एकदम उद्घाटन हो जानेके कारण अभिभूत हो गया था।

***

साधारणत चेतना शरीरके अदर आवद्ध रहती है, और मस्तिष्क, हृदय और नाभीके अर्थात् मन, भावावेग तथा इद्रियबोधके केद्रोमें केद्रीभूत रहती है। जब तुम यह अनुभव करते हो कि यह चेतना या इसका कोई भाग ऊपर जाता है और सिरके ऊपर जाकर स्थान ग्रहण करता है तब इसका मतलव यह है कि वह बधी हुई चेतना शरीरके बधनसे मुक्त हो रही है। वास्तवमें तुम्हारी मनोमय चेतना ही इस तरह ऊपर जाती है, साधारण मनकी अपेक्षा किसी उच्चतर वस्तुका सस्पर्श प्राप्त करती है और वहासे आधारके शेष भागोको रूपातरित करनेके लिये उनपर उच्चतर मानसिक सकल्पका प्रयोग करती है। कपन और उष्णताका अनुभव होता है एक प्रकारके प्रतिरोधके कारण, शरीर और प्राणको इस प्रकारकी माग पूरी करनेका और इस प्रकारकी मुक्तिका अभ्यास न

होनेके कारण। जब मनोमय चेतना स्थायी रूपमें इस प्रकार ऊपर स्थित हो जाती है अथवा जब चाहे तब ऊपर उठ सकती है तभी मुक्तिकी यह प्रथमावस्था सिद्ध हो जाती है। वहांसे फिर मनोमय पुरुष उच्चतर स्तरोंकी ओर अथवा विश्वसत्ता और उसकी शक्तियोंकी ओर अपने-आपको स्वच्छंदतापूर्वक खोल सकता है और कहीं अधिक स्वतंत्रता और शक्तिके साथ निम्नतर प्रकृतिपर क्रिया भी कर सकता है।

•

भागवत अभिव्यक्ति प्रशांति और सामंजस्यके द्वारा होती है, न कि सर्वनाशी उथल-पुथलके द्वारा। उथल-पुथल तो सूचित करती है एक संघर्षको साधारणतः प्राणमय लोककी परस्पर लग करनेवाली शक्तियोंके संघर्षको परंतु प्रायः ही उस संघर्षको जो निम्नतर स्तरमें ही होता है।

तुम विरोधी शक्तियोंकी बात बहुत अधिक सोचा करते हो। इस तरह पूर्वचिंता करते रहनेके कारण तुम्हें बहुतसे अनावश्यक संघर्षोंका मुकाबला करना पड़ता है। अपने मनको विपरीत दिशासे हटाकर समुचित दिशाकी ओर एकाग्र करो। श्रीमाकी शक्ति की ओर अपने-आपको खोलो उनकी संरक्षकताके ऊपर अपना ध्यान एकाग्र करो क्योंकि स्थिरता शांति और पवित्रताके लिये तथा दिव्य चैतना और ज्ञानमें परिवर्तित होनेके लिये प्रार्थना करो।

परीक्षाकी भावना भी कोई उपयोगी भावना नहीं है और उसपर आवश्यकतासे अधिक जोर नहीं देना चाहिये। परीक्षाएं भगवान्की ओरसे नहीं की जातीं बल्कि निम्नतर स्तरों—मनोमय

प्राणमय और भौतिक स्तरो—की शक्तियोकी ओरसे की जाती है, भगवान् बस उन्हें होने देते हैं, क्योकि इस तरहका परीक्षण अतरात्माकी शिक्षाका एक अग है और इससे अतरात्माको स्वय अपनेको, अपनी शक्तियोको और उन सीमाओको, जिन्हें उसे पार करना है, जाननेमें सहायता मिलती है। श्रीमा प्रत्येक क्षण तुम्हारी परीक्षा नहीं कर रही है बल्कि इसके विपरीत वह प्रत्येक क्षण तुम्हारी सहायता कर रही हैं जिसमें तुम इन परीक्षाओ और कठिनाइयोकी आवश्यकतासे ही ऊपर उठ जाओ जो कि निम्नतर चेतनासे सबध रखती है। अगर तुम श्रीमाकी इस सहायताके विषयमें सदा सचेतन रह सको तो यही तुम्हारे लिये सभी आक्रमणोसे—चाहे वे विरोधी शक्तियोंके हो अथवा तुम्हारी ही अपनी निम्न प्रकृतिके हो—बचानेवाला सर्वोत्तम रक्षा-कवच सिद्ध होगा।

***

विरोधी शक्तियोने अपने लिये स्वय एक कार्य निर्धारित कर रखा है—यह कार्य है व्यक्तिकी, कार्यकी और स्वय पृथ्वीकी अवस्थाकी परीक्षा करना और यह जाच करके देखना कि ये अध्यात्मशक्तिके अवतरण तथा सिद्धिके लिये कहातक तैयार हुए हैं। ये शक्तिया हमारे रास्तेमें पग-पगपर बडी प्रचडताके साथ आक्रमण करती हुई, छिद्रान्वेषण करती हुई, उल्टी बातें सुझाती हुई, निराशा उत्पन्न करती हुई या विद्रोहके लिये उकसाती हुई, अविश्वास पैदा करती हुई, कठिनाइयोका ढेर लगाती हुई विद्यमान रहती हैं। इसमें सदेह नही कि इस कार्यने उन्हें जो अधिकार दे रखा है उसका ये अत्यत अतिरजित अर्थ लगाती है और हमें जो चीज एक

राईको बराबर दिखायी देती है उसे ही ये पर्वत बना देती हैं। जरासा भी कहीं गलत कदम उठाया अथवा कोई भूल की कि ये रास्तेपर आ उपस्थित होती हैं और रास्ता बंद करनेके लिये मानो समूचे हिमालयको लाकर खड़ा कर देती हैं। परंतु पुरा-कालसे इन शक्तियोंको जो इस प्रकार प्रतिकूलता उत्पन्न करने दिया जाता है उसका उद्देश्य केवल यह नहीं है कि इसके द्वारा हमारी जांच या अग्निपरीक्षा की जाय बल्कि यह है कि यह हमें एक महत्तर शक्ति पूर्णतर आत्मज्ञान तीव्रतर पवित्रता और बल-से युक्त अभीप्सा और किसी चीजसे नष्ट न होनेवाला विश्वास प्राप्त करने तथा भगवत्कृपाका अधिक शक्तिशाली अवतरण करानेका प्रयास करनेके लिये बाध्य करे।

⁂

शक्तिका अवतरण इसलिये नहीं होता कि यह निम्नतर शक्तियोंको जागृत कर दे परंतु अभी उसे जिस रूपमें कार्य करना पड़ रहा है उसीकी प्रतिक्रियाके रूपमें नीचेकी शक्तियां इस प्रकार उमड़ आती हैं। आवश्यकता इस बातकी है कि समस्त प्रकृति-के आधारमें स्थिर और विस्तीर्ण चेतनाको स्थापित किया जाय जिसमें कि जब निम्नतर प्रकृति उभड़कर सामने आये तब ऐसा न प्रतीत हो कि कोई आक्रमण या संघर्ष उपस्थित हुआ है बल्कि ऐसा प्रतीत हो कि शक्तियोंका स्वामी वहां विद्यमान है और वह वर्तमान मशीनके दोषोंको देख रहा है तथा मशीनके संशोधन और परि-वर्तनके लिये जो कुछ करना आवश्यक है उसे धीरे-धीरे कर रहा है।

⁂

ये सब अज्ञानकी शक्तिया है जो पहले तो बाहरसे साधक-के चारो ओर घेरा डालना आरभ करती है और फिर उसे अभि-भूत कर डालने और उसपर अधिकार जमा लेनेके लिये सब एक साथ मिलकर आक्रमण करती है। ऐसे आक्रमणको जब-जब वि-फल कर दिया जाता है और दूर हटा दिया जाता है तब-तब सत्ताके अदर एक प्रकारकी सफाई आती है, ऐसा मालूम होता है मानो हमारे अदर बैठी हुई कुछ चीजें बाहर निकल गयी है, मन, प्राण या शरीरमें अथवा प्रकृतिके अन्य किसी सलग्न भागमें श्रीमाके लिये एक नया क्षेत्र अधिकारमें आ गया है। तुम्हारे प्राणभागके अदर श्रीमाद्वारा अधिकृत क्षेत्र बढता जा रहा है—यह इस बातसे सूचित हो रहा है कि पहले जिन आक्रमणोंसे तुम एक-दम अभिभूत हो जाया करते थे उनका अब तुम अधिक प्रबल विरोध करते हो।

ऐसे समयोमें यदि श्रीमाकी उपस्थिति या शक्तिका आवाहन किया जा सके तो यही कठिनाईका सामना करनेका सबसे उत्तम उपाय है।

तुम्हारी जो यह बातचीत होती है वह श्रीमाके साथ ही होती है जो सदा ही तुम्हारे साथ रहती हैं और तुम्हारे अदर रहती हैं। एकमात्र आवश्यक बात है उस बातचीतको ठीक-ठीक सुनना जिसमें अन्य कोई वाणी उनकी वाणीके रूपमें न आ जाय अथवा तुम्हारे और उनके बीचमें न आ जाय।

⁂

तुम्हारा मन और हृत्पुरुष आध्यात्मिक स्तरपर केंद्रित हैं और भगवान्‌की ओर उन्मुख हैं—इसी कारण भागवत प्रभाव केवल तुम्हारे मस्तक और हृदयतक *नीचे आता है।* किंतु तुम्हारी प्राण सत्ता और प्राण-प्रकृति तथा शरीर चेतना निम्नतर प्रकृतिके प्रभाव में हैं। जबतक प्राण-सत्ता और शरीर-सत्ता समर्पित नहीं हो जातीं अथवा स्वयं अपनी ओरसे उच्चतर जीवनकी कामना नहीं करतीं तबतक इस संघर्षके चलते रहनेकी संभावना है।

प्रत्येक वस्तुको समर्पित कर दो अन्य सभी कामनाओं या स्वार्थोंका त्याग कर दो अपनी प्राणमय प्रकृतिको उन्मुख करने के लिये तथा सभी केंद्रोंमें स्थिरता शांति ज्योति और आनंदको उतार लानेके लिये भागवत शक्तिका आवाहन करो। अभीप्सा करो और श्रद्धा तथा धैर्यके साथ परिणामकी प्रतीक्षा करो। हृदय-की पूर्ण सच्चाई तथा सर्वांगपूर्ण समर्पण और अभीप्साके ऊपर ही सब कुछ निर्भर करता है।

जबतक तुम्हारा *कोई भी अंश जगत्‌के अधिकारमें* रहेगा तब तक जगत् तुम्हें सतायेगा। केवल उसी समय तुम जगत्‌से मुक्त हो सकते हो जब कि तुम पूर्ण रूपसे भगवान्‌के हो जाओ।

**

जिस मनुष्यमें जीवन और उसकी कठिनाइयोंका धीरता और दृढ़तापूर्वक सामना करनेका साहस नहीं है वह योगसाधनाकी कहीं अधिक बड़ी आंतरिक कठिनाइयोंको पार करनेमें कभी समर्थ नहीं हो सकता। इस योगकी तो एकदम पहली शिक्षा ही यह है कि प्रशांत मन सुदृढ़ साहस और भागवती शक्तिपर पूर्ण भरोसा रखते

हुए जीवन और उसकी सभी परीक्षाओंका मुकाबला किया जाय।

आत्महत्या करना निरर्थक है, इससे प्रश्नका समाधान नहीं हो सकता। उसका यह सोचना सरासर भूल है कि आत्महत्या करनेसे उसे शांति मिल जायगी। ऐसा करनेसे तो वह मरनेके बाद अपनी सारी कठिनाइयोंके साथ और भी अधिक बुरी अवस्था-में पहुंच जायगा और फिर पृथ्वीपर दूसरा जन्म होनेपर उन्हें अपने साथ वापस लेता आयेगा। इसका एकमात्र उपाय यही है कि इन सब दूषित विचारोंको दूर फेंक दिया जाय और जीवनके लक्ष्य-स्वरूप किसी निर्दिष्ट कार्यको पूरा करनेका एक स्पष्ट संकल्प रखते हुए सुदृढ और सक्रिय साहसके साथ जीवनका सामना किया जाय।

साधना शरीरमें रहकर ही करनी है, शरीरके बिना केवल अंतरात्मा साधना नहीं कर सकता। जब शरीरपात हो जाता है तब अंतरात्मा अन्य लोकोंमें विचरण करने लगता है—और अंत-में वह फिर दूसरे जीवन और दूसरे शरीरमें वापस आता है। उस समय वे सभी कठिनाइयां, जिन्हें उसने पूर्वजन्ममें हल नहीं किया था, फिरसे नये जन्ममें आ जुटती हैं। तब भला शरीर छोड़नेसे लाभ ही क्या?

फिर इसके अतिरिक्त, अगर कोई जबर्दस्ती शरीर-त्याग करता है तो वह दूसरे लोकोंमें बहुत अधिक दुःख भोगता है और जब

वह फिरसे जन्म ग्रहण करता है तब वह किसी अच्छी नहीं बल्कि और भी बुरी अवस्थामें आ पड़ता है।

अतएव बुद्धिमानीकी बात बस यही है कि इसी जीवनमें और इसी शरीरमें कठिनाइयोंका मुकाबला किया जाय और उन्हें जीता जाय।

∴

सभी योगोंमें अन्ततक पहुंचना कठिन होता है फिर इस योग में तो यह अन्य योगोंसे भी अधिक कठिन है। यह योग केवल उन्हीं लोगोंके लिये है जिनके हृदयमें इसके लिये पुकार उठी है जिनमें इसे करनेकी क्षमता है जो प्रत्येक चीजका और सब तरहके खतरोंका यहांतक कि असफल होनेतकके खतरेका सामना करनेके लिये तैयार हैं और जिन्होंने संपूर्ण निःस्वार्थता निष्कामता और आत्मसमर्पणको प्राप्त करनेके पथपर अग्रसर होनेका संकल्प किया है।

∴

अपने और श्रीमांकी शक्तिके बीच किसी दूसरी चीज या व्यक्ति को मत आने दो। उस शक्तिको अपने अंदर आने देने और कार्य करने तथा सत्य-प्रेरणाको स्वीकार करते रहनेपर ही सफलता निर्भर करती है न कि मनद्वारा रचित कुछ धारणाओंके ऊपर। यहांतक कि जो सब धारणाएं या योजनाएं दूसरे ढंगसे सम्भवतः सफल भी हो जाती वे भी विफल हो जायंगी यदि उनके पीछे यह सत्य भावना सत्य-शक्ति और सत्य-प्रभाव न विद्यमान हो।

•

यह कठिनाई अवश्य ही अविश्वास और अवज्ञाके कारण आयी है। क्योंकि अविश्वास और अवज्ञा ठीक मिथ्याचारकी तरह हैं (वे स्वय मिथ्यापन ही है और मिथ्या धारणाओं और प्रेरणाओं-पर ही आश्रित होते है), ये महाशक्तिके कार्यमें हस्तक्षेप करते है, साधकको उस शक्तिका अनुभव प्राप्त करनेमें या उस शक्तिको पूर्ण रूपसे कार्य करने देनेमें वाधा डालते हैं तथा भागवत सरक्षण-की शक्तिको क्षीण कर देते है।

केवल अपनी अतर्मुखी एकाग्रताके समय ही नही, वल्कि वाहरी कार्यों तथा विभिन्न प्रवृत्तियोमें लगे रहनेपर भी तुम्हे उचित भाव वनाये रखना होगा। ऐसा यदि तुम कर सको और सब वातोमें श्रीमाका पथप्रदर्शन स्वीकार करो तो तुम देखोगे कि तुम्हारी कठि-नाइया धीरे-धीरे कम होती जा रही है अथवा तुम वडी आसानी-से उन्हे पार करते जा रहे हो और सभी चीजे क्रमश सुगम होती जा रही है।

तुम्हें अपने सभी कर्मो और क्रियाओमें भी ठीक वही करना चाहिये जो तुम अपने ध्यानमें करते हो। श्रीमाकी ओर अपने-आपको उद्घाटित करो, अपने सभी कर्मोको श्रीमाके पथप्रदर्शनपर छोड दो, शातिका, सहारा देनेवाली दिव्य शक्तिका तथा दिव्य स-रक्षणका आवाहन करो और इसलिये कि ये सब अवाध गतिसे अपना कार्य कर सके, उन सब मिथ्या प्रभावोका त्याग करो जो भ्रात तथा असावधानी या अचेतनतासे पूर्ण क्रियाओको उत्पन्न कर उनके मार्गमें वाधक हो सकती है।

इस नीतिका अनुसरण करो तो इससे तुम्हारी समस्त सत्ता

प्रीतिके अंदर, सरलगामी शक्ति और ज्योतिके अंदर, एक अखंड शासनके अंदर एक अखंड हो जायगी।

***

मैंने जब अंतरात्माकी ज्योति और भागवत पुकारके प्रति एक-निष्ठ बने रहनेके लिये कहा था तब मैंने भूतकालकी किसी बात या तुम्हारी किसी व्यक्तिगत त्रुटिकी ओर संकेत नहीं कर रहा था। मैं केवल उस बातको ही प्रस्थापित कर रहा था जिसकी सब प्रकार के संकटों और आक्रमणोंके समय बड़ी आवश्यकता होती है—अर्थात् किसी भी प्रकारके सुझावों प्रेरणाओं तथा प्रलोभनोंकी बातकी ओर कान देनेसे इनकार कर देना और इन सबके विरुद्ध सत्यके आह्वान और ज्योतिके अलंघ्य निर्देशको प्रस्थापित करना। सब प्रकारके संशय और अवसादके समय यह कहना कि 'मैं भगवान्‌का हूं मैं कभी असफल नहीं हो सकता' अशुद्धि और अयोग्यताके सुझाव आनेपर यह उत्तर देना चाहिये कि 'मैं अमृतका पुत्र हूं भगवान् ने मुझे वरण किया है मुझे तो बस अपने तथा उनके प्रति सच्चा बने रहना है—फिर विजय निश्चित है और अगर मैं गिर भी जाऊं तो मैं फिरसे उठ खड़ा होऊंगा' वापस लौट जाने और किसी तुच्छ आदर्शका अनुसरण करनेकी प्रेरणाएं आनेपर यह उत्तर देना चाहिये कि 'यही तो सबसे श्रेष्ठ आदर्श है केवल यही तो वह सत्य है जो मेरे अंतरस्थ अंतरात्माको संतुष्ट कर सकता है मैं सभी परीक्षाओं और दुर्गतियोंको पार करता हुआ इस दिव्य यात्राके एकदम अंततक डटा रहूंगा। ज्योति और भागवत पुकार के प्रति एकनिष्ठ बने रहनेका मतलब मेरी दृष्टिमें यही है।

कामना—आहार—कामवासना

प्राणकी सभी साधारण क्रियाए सत्य-सत्ताके लिये विजाती
हैं और बाहरसे आती हैं, वे न तो अतरात्मामे कोई सबध रखत
हैं और न उसमें उत्पन्न ही होती है, बल्कि वे साधारण प्रकृति
आनेवाली लहरे होती है।

कामनाए बाहरसे आती है, अवचेतन प्राण-भागमे प्रवेश करत
है और फिर ऊपरी तलपर उठ आती है। जब वे ऊपरी तलप
आ जाती हैं और मनको इनका पता चल जाता है तभी हम उ
के विषयमे सचेतन होते है। हम उन्हे अपनी इसलिये मान बैठ
है कि हम उन्हें इस तरह प्राणसे उठकर मनमें जाती हुई अनुभ
करते है और यह नही जानते कि वे बाहरसे आयी है। जो हम
प्राण-भागकी, सत्ताकी अपनी चीज है, जिसका उत्तरदायित्व प्रा
भाग या सत्ताको है वह चीज स्वय कामना नही है, बल्कि वह
सुझावोकी उन धाराओ या लहरोको स्वीकार करनेकी उसकी आ
जो विश्वप्रकृतिसे उसके अदर आती है।

***

कामनाके त्यागका अर्थ है मूलत लालसाका, भोगकी तृष्णा

पंथके लिये कोई शर्त नहीं रखता अथवा उसकी अभीप्सा यदि तुरत पूर्ण नहीं कर दी जाती तो वह अपने समर्पणको वापस नहीं ले लेता—क्योंकि हृत्पुरुषको भगवान् अथवा गुरुके ऊपर पूर्ण विश्वास होता है और वह भगवत्कृपा प्राप्त होनेके मुहूर्ततक या उसके लिये उपयुक्त समयतक प्रतीक्षा कर सकता है। अवश्य ही हृत्पुरुषका अपना एक निजी आग्रह भी होता है पर वह भगवान्के ऊपर कभी कोई दबाव नहीं डालता बल्कि प्रकृतिके ऊपर डालता है वह प्रकृति के सभी दोषोंको जो हमारी सिद्धिके मार्गमें बाधक होते हैं अपनी ज्योतिर्मयी अंगुलीके द्वारा दिखा देता है योगकी अनुभूति या साधना की क्रियामें जो कुछ मिला हुआ होता है अज्ञानमय या अपूर्ण होता है उसे वह छांटकर बाहर निकाल देता है और जबतक वह प्रकृति को पूर्णरूपेण भगवान्की ओर खोल नहीं देता सब प्रकारके अहं कारसे उसे मुक्त कर, समर्पित कर, उसके मूल भावको और उस की सारी क्रियाओंको सरल और सत्यमय नहीं बना देता तबतक वह अपने-आपसे अथवा प्रकृतिसे संतुष्ट नहीं होता। इसी चीज-को पहले मन प्राण और शरीरकी चेतनामें पूर्ण रूपसे प्रतिष्ठित करना होगा और तब उसके बाद समस्त प्रकृतिका अतिमानसिक रूपांतर संभव होगा। अन्यथा उससे पहले साधकको केवल मन प्राण और शरीरके स्तरमें थोड़ी या बहुत चमकीली आधी उजेली आधी अंधेरी ज्योतियां और अनुभूतियां ही प्राप्त होती हैं और उनकी प्रेरणा या तो किसी बृहत्तर मन या विशालतर प्राणसे आती है अथवा अधिक-से-अधिक मानव-मनके ऊपरकी उन मनोमय भूमिकाओंसे आती है जो बुद्धि और अधिमानसके बीचमें विद्यमान हैं। ये सब चीजें कुछ हदतक बहुत उत्साहवर्धक और संतोषप्रद मालूम

हो सकती है और उन लोगोंके लिये अच्छी हैं जो उन सब स्तरों-में कुछ आध्यात्मिक अनुभूतिया प्राप्त करना चाहते हैं, परतु अति-मानसिक सिद्धि एक ऐसी चीज है जिसकी शर्त्तें अत्यत कठोर हैं और उन्हे पूरा-पूरा पालन करना बहुत कठिन है और फिर सबसे अधिक कठिन है अतिमानसको भौतिक क्षेत्रमें उतार लाना।

***

कामनासे एकदम मुक्त होनेमें बहुत अधिक समय लगता है। परतु एक बार यदि तुम उसे अपनी प्रकृतिसे निकाल सको और यह अनुभव कर सको कि यह एक शक्ति है जो बाहरसे आती है और तुम्हारे प्राण और शरीरके ऊपर अपना पजा फैला देती है तो फिर इस आक्रमणकारीसे छुटकारा पाना अधिक आसान हो जायगा। परतु तुम्हे यह अनुभव करनेका अत्यधिक अभ्यास हो गया है कि वह कामना तुम्हारा ही एक अग है अथवा तुम्हारे अदर जमकर बैठ गयी है—इसी कारण उसकी क्रियाओंको रोकना और अपने ऊपरसे उसके पुराने आधिपत्यको दूर करना तुम्हारे लिये बहुत कठिन हो गया है।

तुम्हें दूसरी किसी चीजपर, चाहे वह कितनी ही अधिक सहा-यक क्यो न प्रतीत होती हो, एकदम निर्भर नही करना चाहिये, बल्कि प्रधानत, प्रथमत और मूलत श्रीमाकी शक्तिपर ही निर्भर करना चाहिये। सूर्य और प्रकाश सहायक हो सकते हैं और अगर वे वास्तविक सूर्य और वास्तविक प्रकाश हो तो वे सहायक होते भी हैं, पर फिर भी वे श्रीमाकी शक्तिका स्थान नही ग्रहण कर सकते।

***

त्याग करना उसे एक विजातीय वस्तुकी तरह, जो अपने वास्तविक आत्मा और आंतर प्रकृतिकी चीज नहीं है अपनी चेतनासे बाहर निकाल फेंकना। किंतु कामनाके प्रवेगके अनुसार कार्य करनेसे इनकार करना भी कामना-त्यागका ही एक अंग है कामना-द्वारा सुझाये कार्यसे अगर वह उचित कार्य नहीं है तो अलग रहना भी यौगिक साधनाके अंतर्गत स्वीकृत होना चाहिये। जब यह कार्य अनुचित ढंगसे किया जाता है एक मानसिक तपस्याके सिद्धांतका या एक कठोर नैतिक नियमका पालन करनेकी तरह किया जाता है केवल तभी तुम उसे अवदमन या निग्रह कह सकते हो। निग्रह और एक आंतरिक मूल-चेतनागत त्यागमें ठीक वही भेद है जो भेद मानसिक या नैतिक नियंत्रण और आध्यात्मिक शुद्धिमें है।

जब साधक यथार्थ चेतनामें निवास करता है तब वह यह अनुभव करता है कि कामनाएं उससे बाहर हैं, बाहरसे अंदर निम्नतर विश्वप्रकृतिसे उसके मनमें और उसके प्राणमय भागोंमें प्रवेश करती हैं। साधारण मनुष्यकी जो अवस्था होती है उसमें यह अनुभव नहीं होता साधारण मनुष्यको तो अपनी कामनाका तभी पता चलता है जब वह सामने उपस्थित हो जाती है जब वह उसके अंदर आ जाती है और अपने रहनेका स्थान या अभ्यासवश ठहरनेकी जगह पा जाती है और इस कारण मनुष्य यह समझने लगता है कि वह कामना उसकी अपनी ही है और उसीका एक अंग है। अतएव कामनाओंसे छुटकारा पानेकी पहली शर्त यह है कि मनुष्य अपनी यथार्थ चेतनामें ज्ञानपूर्वक निवास करे क्योंकि उस समय कामनाओंको दूर भगाना उस अवस्थाकी अपेक्षा

अधिक आसान होता है जिस अवस्थामे मनुष्यको उन्हे अपना ही अग मानकर उन्हे अपनी सत्तामे बाहर निकाल फेंकनेके लिये उनके साथ सघर्ष करना पडता है। जिस चीजको हम अपनी सत्ताके अगके रूपमें अनुभव करते हैं उसे काट फेंकनेकी अपेक्षा बाहरसे आयी हुई किसी चीजको अपने अदरसे निकाल फेंकना बहुत आसान है।

जब हृत्पुरुष सामने आ जाता है तब भी कामनाओंसे छुटकारा पाना आसान हो जाता है, क्योंकि हृत्पुरुषकी स्वय अपनी कोई कामना नही होती, उसे केवल अभीप्सा होती है और भगवान्के लिये तथा उन सब चीजोंके लिये जो भगवान्की होती है या भगवान्की ओर ले जाती हैं, एक खोज होती है और उनके लिये प्रेम होता है। जब निरतर हृत्पुरुषकी प्रधानता रहती है तब उसके कारण स्वत ही सत्य-चेतना बाहर निकल आना चाहती है और प्रकृतिकी गतिया भी प्राय अपने-आप ठीक रास्तेपर आ जाती हैं।

***

माग और कामना एक ही चीजके दो भिन्न-भिन्न रूप है—और यह भी जरूरी नही है कि हमारी कोई वृत्ति विक्षुब्ध और चचल हुए विना कामना नही कही जा सकती, बल्कि, इसके विपरीत, कामना शात भावसे जमी हुई और स्थायी चीज हो सकती है अथवा नित्य बार-बार सामने आ सकती है। माग या कामना मनोमय या प्राणमय स्तरसे आती है, किंतु हृत्पुरुषोचित या आध्यात्मिक आवश्यकता एक दूसरी ही चीज है। हृत्पुरुष न तो कोई माग करता है न कामना—वह करता है अभीप्सा, वह अपने सम-

पंथके लिये कोई शर्त नहीं रखता अथवा उसकी अभीप्सा यदि तुरत पूर्ण नहीं कर दी जाती तो वह अपने समर्पणको वापस नहीं ले लेता—क्योंकि हृत्पुरुषको भगवान् अथवा गुरुके ऊपर पूर्ण विश्वास होता है और वह भगवत्कृपा प्राप्त होनेके मुहूर्ततक या उसके लिये उपयुक्त समयतक प्रतीक्षा कर सकता है। अवश्य ही हृत्पुरुषका अपना एक निजी आग्रह भी होता है पर वह भगवान्के ऊपर कभी कोई दबाव नहीं डालता बल्कि प्रकृतिके ऊपर डालता है वह प्रकृति के सभी दोषोंको जो हमारी सिद्धिके मार्गमें बाधक होते हैं अपनी ज्योतिर्मयी अंगुलीके द्वारा दिखा देता है, योगकी अनुभूति या साधना-की क्रियामें जो कुछ मिला हुआ होगा है अज्ञानमय या अपूर्ण होता है उसे वह छांटकर बाहर निकाल देता है और जबतक वह प्रकृति को पूर्णरूपेण भगवान्की ओर खोल नहीं देता सब प्रकारके अहं कारसे उसे मुक्त कर, समर्पित कर उसके मूल भावको और उस की सारी क्रियाओंको सरल और सत्यमय नहीं बना देता तबतक वह अपने-आपसे अथवा प्रकृतिसे संतुष्ट नहीं होता। इसी चीज को पहले मन प्राण और शरीरकी चेतनामें पूर्ण रूपसे प्रतिष्ठित करना होगा और तब उसके बाद समस्त प्रकृतिका अतिमानसिक रूपान्तर संभव होगा। अन्यथा उससे पहले साधकको केवल मन प्राण और शरीरके स्तरमें थोड़ी या बहुत चमकीली आधी उजेली आधी अंधेरी ज्योतियां और अनुभूतियां ही प्राप्त होती हैं और उनकी प्रेरणा या तो किसी बृहत्तर मन या विशालतर प्राणसे आती है अथवा अधिक-से-अधिक मानव-मनके ऊपरकी उच्च मनोमय भूमि काओंसे आती है जो बुद्धि और अधिमानसके बीचमें विद्यमान हैं। ये सब चीजें कुछ हदतक बहुत उत्साहवर्धक और संतोषप्रद मालूम

हो सकती हैं और उन लोगोके लिये अच्छी है जो उन सब स्तरो-में कुछ आध्यात्मिक अनुभूतिया प्राप्त करना चाहते हैं, परतु अति-मानसिक सिद्धि एक ऐसी चीज है जिसकी शर्तें अत्यत कठोर हैं और उन्हें पूरा-पूरा पालन करना बहुत कठिन है और फिर सबसे अधिक कठिन है अतिमानसको भौतिक क्षेत्रमें उतार लाना।

कामनासे एकदम मुक्त होनेमें बहुत अधिक समय लगता है। परतु एक बार यदि तुम उसे अपनी प्रकृतिसे निकाल सको और यह अनुभव कर सको कि यह एक शक्ति है जो बाहरसे आती है और तुम्हारे प्राण और शरीरके ऊपर अपना पजा फैला देती है तो फिर इस आक्रमणकारीसे छुटकारा पाना अधिक आसान हो जायगा। परतु तुम्हे यह अनुभव करनेका अत्यधिक अभ्यास हो गया है कि वह कामना तुम्हारा ही एक अग है अथवा तुम्हारे अदर जमकर बैठ गयी है—इसी कारण उसकी क्रियाओको रोकना और अपने ऊपरसे उसके पुराने आधिपत्यको दूर करना तुम्हारे लिये बहुत कठिन हो गया है।

तुम्हें दूसरी किसी चीजपर, चाहे वह कितनी ही अधिक सहा-यक क्यो न प्रतीत होती हो, एकदम निर्भर नही करना चाहिये, बल्कि प्रधानत, प्रथमत और मूलत श्रीमाकी शक्तिपर ही निर्भर करना चाहिये। सूर्य और प्रकाश सहायक हो सकते हैं और अगर वे वास्तविक सूर्य और वास्तविक प्रकाश हो तो वे सहायक होते भी है, पर फिर भी वे श्रीमाकी शक्तिका स्थान नही ग्रहण कर सकते।

***

साधककी आवश्यकताएं यथासंभव कम ही होनी चाहियें क्योंकि ऐसी चीजें बहुत कम ही होती हैं जिनकी सचमुच जीवनमें आवश्यकता पड़ती हो। बाकी चीजें या तो उपयोगिताके कारण काममें लायी जाती हैं या जीवनको सजानेके लिये या विलासिताके लिये व्यवहृत होती हैं। योगीको इन चीजोंको रखने या भोग करनेका अधिकार केवल नीचे लिखी हुई दो अवस्थाओंमेंसे किसी एक अवस्थामें होता है—

(१) अगर वह अपने साधनकालमें इनका व्यवहार एकमात्र इस उद्देश्यसे करता है कि उसे आसक्ति और कामनासे रहित हो कर चीजोंको अधिकृत करनेका अभ्यास हो और वह यह सीख सके कि किस तरह यथार्थ रूपमें भागवत संकल्पके अनुसार चीजोंका व्यवहार किया जाता है, उनका उचित प्रयोग किया जाता है तथा उनका ठीक-ठीक संगठन शृंखला और परिमाण निश्चित किया जाता है।

अथवा (२) अगर वह कामना और आसक्तिसे वास्तवमें मुक्ति पा चुका हो और इन चीजोंकी हानिसे उनके न मिलनेसे या उनसे वंचित हो जानेसे किसी भी प्रकारसे जरा भी विचलित या विक्षुब्ध न हो। अगर उसे किसी प्रकारका लोभ होता हो कोई कामना होती हो किसी चीजकी वह मांग करता हो किसी अधिकार या भोगके लिये दावा करता हो कोई चीज न मिलनेपर या किसी चीजसे वंचित हो जानेपर उसे चिंता शोक क्रोध अथवा बेचैनी होती हो तो इसका मतलब यह है कि उसकी चेतना मुक्त नहीं हुई है और जो चीजें उसके अधिकारमें हैं उनका उपयोग करना उसके लिये साधनाके विपरीत है। और अगर उसकी चेतना

मुक्त भी हो गयी हो तो भी वह तवतक चीजोको रखनेका अधिकारी नही हो सकता जवतक कि वह यह न सीख जाय कि किस तरह चीजोको अपने लिये नही, वल्कि भागवत सकल्पके अनुसार, उसके एक यन्त्रके रूपमें, व्यवहारसवधी ठीक-ठीक ज्ञान और क्रियाको जानते हुए उपयोग किया जाता है, किस तरह उस जीवनको समुचित साधनोसे सपन्न किया जाता है जो अपने लिये नही, वल्कि भगवान्‌के लिये और भगवान्‌मे यापन किया जाता है।

केवल तपस्याके लिये तपस्या करना इस योगका आदर्श नही है, परतु प्राणके क्षेत्रमें आत्मसयम करना तथा स्थूल भौतिक स्तरमे समुचित सुव्यवस्था वनाये रखना इस योगका एक प्रधान अग है—और हमारे उद्देश्यकी सिद्धिके लिये सच्चे सयमकी शिथिलता और कमीकी अपेक्षा तपस्याकी साधना कही अधिक अच्छी है। स्थूल भौतिक स्तरपर प्रभुत्व प्राप्त करनेका मतलव यह नही है कि हम स्थूल पदार्थोंको प्रचुर मात्रामें प्राप्त करे और फिर खुले दिल उनका अपव्यय करे अथवा जितनी तेजीसे वे आयें उतनी ही तेजीसे या उससे भी अधिक तेजीसे उन्हें वरवाद करे। प्रभुत्वका मतलव यह भी है कि चीजोका सावधानीके साथ उचित उपयोग किया जाय और उनका उपयोग करते हुए अपने ऊपर सयम भी रखा जाय।

⁂

अगर तुम योग करना चाहते हो तो तुम्हे सभी वातोमें, चाहे वे छोटी हो या वडी, अधिकाधिक यौगिक भाव धारण करते जाना

चाहिये। हमारे मार्गमें कामना-वासनाका जहांतक संबंध है उस
यौगिक भावका स्वरूप यह नहीं है कि कामनाओंका जबर्दस्ती निग्रह
किया जाय बल्कि यह है कि उनके प्रति अनासक्ति और समता-
का भाव रखा जाय। कामनाओंका जबर्दस्ती निग्रह करना (उप-
वास भी इसी श्रेणीमें शामिल है) और उनका स्वच्छंद भोग करना
दोनों एक ही कोटिकी चीजें हैं दोनों ही अवस्थाओंमें कामना
बनी रहती है एकमें तो वह भोगके द्वारा पुष्ट होती है और
दूसरीमें वह निग्रहके कारण उत्तेजित अवस्थामें छिपी पड़ी रहती
है। जब साधक इनसे पीछे हटकर खड़ा होता है अपने-आपको
निम्नतर प्राणसे अलग कर लेता है उसकी कामनाओं और क्षुधा-
ओंको अपना समझना अस्वीकार करता है और उनके विषयमें
अपनी चेतनामें एक प्रकारकी पूर्ण समता और स्थिरता बनाये रखने-
का अभ्यास करता है केवल तभी स्वयं निम्न प्राण भी धीरे-धीरे
शुद्ध होता है और स्वयं भी सम और स्थिर हो जाता है। कामना-
की प्रत्येक लहरको जैसे ही वह आती है वैसे ही तुम्हें देखना
चाहिये और ठीक वैसे ही शांति और अविचल अनासक्तिके साथ
देखना चाहिये जैसे कि तुम अपनेसे बाहर होनेवाली किसी घटना-
को देखते हो और फिर उसे अपनी चेतनासे बहिष्कृत कर बाहर
चले जाने देना चाहिये तथा उसके स्थानमें क्रमशः सत्य-क्रिया
सत्य-चेतनाको स्थापित करना चाहिये।

आहारके लिये आसक्तिका होना उसके लिये लोभ और वे-
चैनीका होना जीवनमें उसे आवश्यकतासे अधिक महत्त्वकी चीज

बना देना–यही सब यौगिक भावके विपरीत है। इस बातका ज्ञान होना कोई बुरी बात नहीं है कि अमुक चीज रसनेंद्रियके लिये सुखदायी है, केवल उस वस्तुके लिये न तो कामना होनी चाहिये न बेचैनी, न तो उसके प्राप्त होनेपर उल्लास होना चाहिये न उसके न मिलनेपर अप्रसन्नता या खेद ही होना चाहिये। जब आहार स्वादिष्ट न हो अथवा प्रचुर मात्रामें प्राप्त न हो तो उससे विक्षुब्ध या असतुष्ट न हो, साधकको सम और स्थिर बने रहना चाहिये–जितनी आवश्यकता हो बस उतनी ही निश्चित मात्रामे भोजन करना चाहिये, उससे न तो कम न अधिक। भोजनके लिये न तो उत्सुकता ही होनी चाहिये और न अरुचि।

भोजनके विषयमे ही बराबर सोचते रहना और इस तरह मनको कष्ट देते रहना भोजनकी आसक्तिसे छुटकारा पानेका एक-दम गलत रास्ता है। भोजनके प्रश्नको, बस जीवनमें उसका जो उचित स्थान है वहा, एक छोटेसे कोनेमें, रख दो और उसके ऊपर मनको एकाग्र न कर अन्य विषयोपर एकाग्र करो।

आहारके प्रश्नको लेकर अपने मनको व्यग्र मत करो। उचित मात्रामे (न बहुत अधिक न बहुत कम) आहार ग्रहण करो, उस-के लिये न तो लोभ हो न घृणा, बस शरीरकी रक्षाके लिये श्री-माके दिये हुए एक साधनके रूपमें उचित भावके साथ, अपने अदर विद्यमान भगवान्‌को समर्पित करते हुए उसे ग्रहण करो, फिर उससे तामसिकता नही उत्पन्न होगी।

***

स्वादको रसको एकदम बंद देना इस योगका कोई अंग नहीं है। जिस चीजसे छुटकारा पाना है वह है प्राणकी वासना और आसक्ति आहारकी लालसा अपनी पसंदके अनुसार भोजन मिलने पर खुशीसे फूल जाना और उसके न मिलनेपर दुःखित और असंतुष्ट होना भोजनको अनुचित महत्त्व प्रदान करना। अन्य बहुत-सी बातोंकी तरह इस विषयमें भी समता ही हमारी कसौटी है।

⁂

आहारका त्याग करनेका विचार एक गलत प्रेरणा है। तुम थोड़ी मात्रामें भोजन करके रह सकते हो पर एकदम भोजन किये बिना नहीं रह सकते—ऐसा तो केवल थोड़े समयतक ही किया जा सकता है। याद रखो गीताकी बात— नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः। —योग उसके लिये नहीं है जो बहुत अधिक भोजन करता है और न उसके लिये है जो एकदम कुछ खाता ही नहीं। प्राणशक्ति एक और ही चीज है—बिना भोजन किये भी उसको प्रचुर मात्रामें अपने अंदर खींचा जा सकता है और बहुधा उपवासके समय उसकी वृद्धि ही होती है परंतु भौतिक तत्त्व जिसके बिना जीवनका प्राणका अवलंब ही नष्ट हो जाता है, एक दूसरी ही चीज है।

*

प्रकृतिकी इस वृत्ति (आहार-लिप्सा) को न तो उपेक्षा करो न इसे बहुत अधिक महत्त्व ही दो इसका भी समुचित समाधान करना है इसे शुद्ध करना है और इसपर प्रभुत्व स्थापित करना

है, पर यह सब करना है इसे अत्यधिक महत्त्व दिये बिना ही। इसपर विजय प्राप्त करनेके दो मार्ग हैं—एक है अनासक्तिका मार्ग, भोजनको केवल शरीरकी एक आवश्यकताके रूपमें देखने और उदर तथा रसनेंद्रियकी प्राणमयी तृप्तिको कोई महत्त्वपूर्ण बात न समझने-का अभ्यास करना, दूसरा मार्ग है किसी प्रकारका आग्रह या आ-कांक्षा न रख जो कुछ भी खानेको मिल जाय उसे ग्रहण करने और उसीमें (चाहे दूसरे लोग उसे अच्छा कहें या बुरा) एक समान रस लेनेमें समर्थ होना—वह रस केवल भोजनके लिये भोजनका नहीं होता, बल्कि विश्वव्यापी दिव्य आनंदका होता है।

शरीरकी अवहेलना करना और उसे नष्ट होने देना भूल है। शरीर ही साधनाका आधार है और उसे अच्छी अवस्थामें रखना ही चाहिये। उसके प्रति आसक्ति नहीं होनी चाहिये, पर साथ ही अपनी प्रकृतिके इस जड भागके प्रति घृणा या उपेक्षाका भाव भी नहीं होना चाहिये।

इस योगका लक्ष्य उच्चतर चेतनाके साथ केवल ऐक्य प्राप्त करना नहीं है बल्कि उस चेतनाकी शक्तिके द्वारा निम्नतर प्रकृति-का—भौतिक प्रकृतिका रूपांतर साधित करना है।

भोजन करनेके लिये यह आवश्यक नहीं है कि भोजनकी वासना या लालसा हो ही। योगी वासनासे प्रेरित होकर भोजन नहीं करता, बल्कि शरीरको बनाये रखनेके लिये करता है।

यह बात ठीक है कि उपवास करनेपर, अगर उपवास करनेवालेका मन और स्नायुतंत्र सुदृढ़ हो अथवा इच्छाशक्ति सतेज हो तो वह कुछ समयके लिये आंतर सक्रियता और ग्रहणशीलताकी एक ऐसी अवस्थाको प्राप्त कर सकता है जो मनके लिये बहुत लुभावनी होती है और उपवासकी साधारण प्रतिक्रियाओंसे भूख दुर्बलता अंतड़ियोंकी गड़बड़ी आदिसे सर्वथा बचा भी रह सकता है। परंतु शरीर क्षीण होता है और जितनी प्राणशक्ति स्नायुमंडल आत्मसात् करने या संभाल रखनेमें समर्थ होता है उससे कहीं अधिक प्राणशक्तिके भीतर घुस आनेसे प्राणमें अस्वस्थता और अत्यधिक थकावटकी एक अवस्था सहज ही उत्पन्न हो जा सकती है। जिसकी स्नायुएं दुर्बल हों ऐसे मनुष्यको उपवास करनेके लोभसे बचना चाहिये ऐसे मनुष्योंमें उपवासके समय या उसके बाद प्राय: ही मानसिक भ्रांति उत्पन्न होती है या मानसिक समताका ह्रास होता है। विशेषकर यदि भूख-हड़ताल करनेका उद्देश्य ही या आ जाय तो फिर उपवास करना बड़ा खतरनाक हो जाता है क्योंकि उस अवस्थामें एक ऐसी प्राणगत वृत्तिको प्रश्रय मिल जाता है जो सहज ही एक ऐसी आदतमें परिणत हो जा सकती है जो साधनाके लिये हानिकारक और घातक होती है। अगर इन सब प्रतिक्रियाओंसे बचा भी जा सके तो भी उपवासकी कोई पर्याप्त उपयोगिता नहीं है क्योंकि उच्चतर सक्रियता और ग्रहणशीलता किसी कृत्रिम या भौतिक उपायसे नहीं आनी चाहिये बल्कि चेतनाकी तीव्रता और साधनाके लिये दृढ़ संकल्पके द्वारा आनी चाहिये।

*

जिस रूपांतरको सिद्ध करनेकी अभीप्सा हम करते हैं वह इतना विशाल और जटिल है कि उसे एक साथ ही पूरा-पूरा नहीं प्राप्त किया जा सकता, उसे क्रमश एक-एक स्तर पार करते हुए ही प्राप्त करना होगा। भौतिक परिवर्तन इनमेंसे सबसे अंतिम स्तर है और यह स्वय भी एक प्रकारकी क्रमोन्नतिकी प्रक्रियाके द्वारा प्राप्त होता है।

आतरिक रूपातर किसी भी भौतिक उपायसे—चाहे वह भाव-मूलक हो या अभावमूलक—नही सिद्ध किया जा सकता। बल्कि, इसके विपरीत, स्वय भौतिक परिवर्तन भी केवल तभी साधित हो सकेगा जब महत्तर अतिमानसिक चेतना शरीरके कोषोंमे अवतरित होगी। जबतक ऐसा नहीं होता कम-से-कम तबतक भोजन, निद्रा आदि साधारण उपायोंसे आशिक रूपमें शरीर तथा शरीरको सहारा देनेवाली शक्तियोका भरण-पोषण करना होगा। यथोचित मनो-भाव और समुचित चेतनाके साथ आहार ग्रहण करना होगा, निद्रा-को धीरे-धीरे यौगिक विश्राममें परिवर्तित करना होगा। असाम-यिक और अत्यधिक शारीरिक तपस्या आधारके विभिन्न भागोकी शक्ति-योमें हलचल और अस्वाभाविकता उत्पन्न करके साधनाकी प्रक्रिया-में बाधा पहुचा सकती है। उससे मनोमय और प्राणमय भागो-में एक विपुल शक्तिप्रवाह प्रवेश कर सकता है, परतु उससे स्नायु-मडल और शरीर अत्यत क्लात हो जा सकते तथा उन उच्चतर शक्तियोकी क्रियाको धारण करनेकी शक्ति खो सकते हैं। यही कारण है कि यहापर किसी भी आत्यतिक शारीर तपस्याको साधना-के प्रधान अगके रूपमे नही स्वीकार किया गया है।

कभी-कभी एक या दो दिन उपवास करने या आहारकी मात्रा

को इस प्रकार कम कर देनेमें कि वह बहुत कम तो हो पर शरीर के लिये पर्याप्त हो कोई हानि नहीं है परन्तु दीर्घकालतक एक दम निराहार रहना उचित नहीं।

∴

प्राण और शरीरके ऊपर जो कामावेगका आक्रमण होता है उससे साधकको एकदम छूट जाना होगा—क्योंकि यदि वह कामावेगपर विजय न प्राप्त कर ले तो उसके शरीरमें दिव्य चेतना और दिव्य आनंद कभी स्थापित नहीं हो सकते।

∴

यह सच है कि केवल वासनाओंका निग्रह करना या उन्हें दबाये रखना पर्याप्त नहीं है, केवल उतनेसे ही वास्तवमें कोई लाभ नहीं होता परंतु इसका मतलब यह नहीं है कि वासनाओंको प्रश्रय दिया जाय इसका मतलब यह है कि वासनाओंका केवल निग्रह नहीं करना होगा बल्कि उन्हें प्रकृतिसे बाहर निकाल फेंकना होगा। वासनाके स्थानमें होनी चाहिये भगवान्‌के लिये अनन्य अभीप्सा।

रही प्रेमकी बात सो प्रेमको एकमात्र भगवान्‌की ओर ले जाना होगा। साधारणतः मनुष्य जिस चीजको इस नामसे पुकारते हैं वह होता है वासनाकी प्राणगत आवेगकी या शारीरिक सुखकी पारस्परिक तृप्तिके लिये किया गया प्राणका आदान प्रदान। साधकों में इस प्रकारका कोई भी आदान-प्रदान नहीं होना चाहिये क्यों- कि ऐसे आदान प्रदानकी खोज करने या इस प्रकारके आवेगको

प्रश्रय देनेसे साधनमार्गसे दूर चले जानेके सिवा अन्य कोई फल नही होता।

***

इस योगका सारा सिद्धात ही है अपने-आपको पूर्ण रूपसे एकमात्र भगवान्‌को दे देना,—और किसी व्यक्ति, और किसी चीजको नही,—तथा भागवती मातृशक्तिके साथ ऐक्य स्थापित कर अपने अदर भगवान्‌के अतिमानस-स्वरूपकी विश्वातीत ज्योति, शक्ति, विशालता, शाति, पवित्रता, सत्य-चेतना और आनदको उतार लाना। अतएव इस योगमें दूसरोंके साथ किसी भी प्रकारका प्राणज सबध स्थापित करने या आदान-प्रदान करनेकी कोई गुजायश नही, ऐसा कोई भी सबध या आदान-प्रदान तुरत ही अतरात्माको निम्न चेतना और उसकी निम्नतर प्रकृतिके अदर बाध डालता है, भगवान्‌के साथ सच्चा और पूर्ण एकत्व स्थापित नही होने देता और अतिमानसिक सत्य-चेतनामें आरोहण तथा अतिमानसिक ईश्वरीय शक्तिके अवरोहण—इन दोनो ही कार्योंमें बाधा उपस्थित करता है। और अगर यह आदान-प्रदान कही कामज सबधका या कामोपभोगका रूप धारण कर ले—भले ही किसी भी बाह्य क्रियासे इसे अलग रखा जाय—तो यह और भी बुरा होगा, अतएव ये सब बाते साधनामें एकदम वर्जित है। यह कहनेकी कोई आवश्यकता ही नही कि ऐसी कोई भी स्थूल क्रिया करनेकी मनाही है, बल्कि यहातक कि इसके किसी सूक्ष्मतर रूपको भी प्रश्रय नही दिया जाता। जब हम भगवान्‌के अतिमानस-स्वरूपके साथ एकत्व प्राप्त कर लेते है केवल तभी हम भगवान्‌के अदर दूसरोंके साथ अपना सच्चा आध्या-

रिक संबंध स्थापित कर सकते हैं। इस पश्चात्तर एकदमसे इस प्रकारकी स्थूल निम्नतर प्राणिक क्रियाके लिये कोई स्थान नहीं।

कामावेगपर प्रभुत्व स्थापित करना होगा—कामकेन्द्रको इतना अधिक वशमें कर लेना होगा कि काम-शक्ति (वीर्य) बाहर निक्षिप्त और नष्ट न हो बल्कि ऊपरकी ओर खिंच जाय। वास्तव में इसी उपायसे शुक्रके अंदर निहित शक्ति अन्य सभी शक्तियोंको धारण करनेवाली मूल भौतिक शक्तिमें—रेतस् ओजस्‌में—परिवर्तित हो सकती है। परंतु कामवासनाको और उसके किसी प्रकारके सूक्ष्म उपभोगको यदि साधनाके साथ मिला दिया जाय और उसे साधनाका एक अंग मान लिया जाय तो इससे अधिक भयंकर और कोई भूल नहीं हो सकती। यह आध्यात्मिक पतनकी और सरपट दौड़ पड़नेका एकदम अव्यर्थ उपाय है और इससे हमारे वाता वरणमें ऐसी शक्तियां आकर फैल जाती हैं जो अतिमानसिक अव तरणका रास्ता बंद कर देती हैं और उसके बदले हमारी सत्तामें विशृंखला और सर्वनाशका बीज बोनेके लिये विरोधी प्राणमय शक्ति योंका अवतरण कराती हैं। यदि दिव्य सत्यको नीचे उतार लाना हो और दिव्य कर्मको संपन्न करना हो तो इस विकृत गतिको—अगर यह हमारे अंदर उत्पन्न होनेकी चेष्टा करे तो—एकदम निकाल बाहर करना होगा और अपनी चेतनामेंसे इसका बिल्कुल मिटा देना होगा।

यह समझना भी भूल है कि यद्यपि स्थूल रूपसे तो कामोप भोगका त्याग करना होगा पर उसका कोई विशिष्ट आभ्यंतरीण सूक्ष्म प्रतिरूप काम-केन्द्रके रूपांतरका ही एक अंग है। प्रकृतिके अंदर यह जो पशुसुलभ कामशक्तिकी क्रिया है वह अज्ञानमयी स्थूल

सृष्टिकी विधि-व्यवस्थाके अदर एक विशिष्ट उद्देश्यकी सिद्धिका एक कौशलमात्र है। परतु इस क्रियाके साथ-साथ एक प्राणगत उत्तेजना सलग्न होती है जो वातावरणमे इस प्रकारके अत्यत अनुकूल अवसर और कपन उत्पन्न करती है जिससे कि ठीक वे ही सब प्राणमय शक्तिया और सत्ताए, जिनका कि सारा कार्य ही अति-मानसिक ज्योतिके अवतरणको रोकना है, अदर घुस आती है। इस क्रियाके साथ जो एक प्रकारका सुख लगा हुआ है वह दिव्यानद-का विकृत रूप है, सच्चा रूप नही है। शरीरमें प्राप्त होनेवाले सच्चे दिव्यानदका गुण, उसकी गति और उसका सत्त्व एकदम दूसरे प्रकारका होता है, वह आनद मूलत स्वत स्थित होता है और उस-की अभिव्यक्ति एकमात्र भगवान्के साथ आतरिक मिलनके ऊपर निर्भर करती है। तुमने भागवत प्रेमकी बात लिखी है, परन्तु जब भागवत प्रेम शरीरका स्पर्श करता है तब वह स्थूल निम्नतन प्राणज प्रवृत्तियोको नही जगाता, इन प्रवृत्तियोको चरितार्थ करने-पर तो वह प्रेम दूर हट जाता है और जिस ऊचाईसे उसे इस जड सृष्टिकी मलिनताके अदर--जिसे रूपातरित करनेकी शक्ति केवल उसीमें है--उतार लाना काफी कठिन काम है, वही वापस लौट जाने-के लिये वाध्य होता है। भागवत प्रेमको एकमात्र उसी दरवाजे-से--हृत्पुरुषके दरवाजेसे--पानेकी चेष्टा करो जिससे प्रवेश करना वह स्वीकार करता है, और निम्नतर प्राणकी भूल-भ्रातिको दूर फेंक दो।

शरीरकी सिद्धि प्राप्त करनेके लिये कामकेद्र और उसकी शक्ति-का रूपातर आवश्यक है, क्योकि हमारे आधारमें जितनी भी मनो-मय, प्राणमय और अन्नमय शक्तिया है उन सबका आधार इस शरीर-

में बस यही चीज है। उसे अंतरंग ज्योति सृजनात्मिका शक्ति विशुद्ध भागवत आनंदकी राशि और गतिमें परिवर्तित कर देना होगा। जब हम अतिमानस-ज्योति शक्ति और आनंदको उस केंद्रके अंदर उतार लायेंगे केवल तभी उसका परिवर्तन साधित हो सकता है। उसके बाद उसकी क्रिया क्या होगी—इसका निर्णय तो बस अतिमानस-सत्य और भगवती माताकी सृजनात्मिका दृष्टि और संकल्पशक्ति ही करेगी। तब अवश्य ही वह सचेतन सत्य की क्रिया होगी उस अपकार और अज्ञानकी क्रिया नहीं होगी जिन-के साथ कामवासना और कामोपभोगका संबंध होता है वह होगी जीवनी-शक्तियोंका संरक्षण और उन्हें मुक्त निष्कामभावसे विकीर्ण करनेकी क्रिया न कि उन्हें बाहर फेंक देने और नष्ट कर देनेकी क्रिया।

इस कल्पनाको दूर हटाओ कि अतिमानस-जीवन प्राण और शरीरकी वासनाओंकी ही केवल उच्चतर तृप्तिका जीवन होगा मानव-प्रकृतिके अंदर पशुकी महिमाको प्रतिष्ठित करनेकी जो यह आशा है इससे बढ़कर दूसरी कोई चीज सत्यके अवतरणके मार्गमें बाधा नहीं उपस्थित कर सकती। मन चाहता है कि अतिमानसिक अवस्था उसकी अपनी ही पोषित धारणाओं और कल्पनाओंका सम र्थन करनेवाली हो प्राण चाहता है कि वह उसकी ही निजी वासना-ओंका बढ़ा-चढ़ा रूप हो शरीर चाहता है कि वह उसके ही अपने आरामों सुखों और अभ्यासोंके प्रचुर मात्रामें चमत्कार बने रहने की अवस्था हो। यदि ऐसे यही सब होना हो तो फिर वह केवल पाशव और मानव प्रकृतिकी ही एक अतिरंजित और अत्यंत परि वर्द्धित परिणति होगी न कि मानवतासे दिव्यतामें रूपांतर।

तुम्हारे ऊपर "जो कुछ अवतरण करनेकी चेष्टा कर रहा है उसके विरुद्ध विवेक और आत्मरक्षाका कोई भी प्रतिबंध" न लगानेकी जो बात तुमने सोची है वह बहुत ही खतरनाक है। क्या तुमने यह सोचा है कि जो कुछ अवतरण कर रहा है वह यदि दिव्य सत्यके अनुकूल न हो, बल्कि संभवत उसका विरोधी ही हो तो फिर तुम्हारे इस विचारका क्या अर्थ होगा? विरोधी शक्ति साधकके ऊपर अपना अधिकार जमानेके लिये इससे अधिक अनुकूल अवस्थाकी कामना नही करती। सच पूछो तो एकमात्र श्रीमाकी शक्ति और दिव्य सत्यको ही बिना बाधाके अपने अंदर प्रवेश करने देना चाहिये। और वहा भी साधकको अपनी विवेकशक्तिको अवश्य बनाये रखना चाहिये जिसमें श्रीमाकी शक्ति और दिव्य सत्यका यदि छद्मवेश बनाकर कोई मिथ्या चीज आ जाय तो उसे वह पहचान सके, तथा साथ ही उस त्याग-शक्तिको भी बनाये रखना चाहिये जो सब प्रकारकी मिलावटको छाटकर दूर फेंक दे।

अपनी आध्यात्मिक भवितव्यतापर विश्वास रखो, भूल-भ्रांतिसे अलग हटो और अपने हृत्पुरुषको श्रीमाकी ज्योति और शक्तिके सीधे पथप्रदर्शनकी ओर और भी अधिक खोल रखो। अगर केंद्रीय संकल्प सच्चा हो तो प्रत्येक बारका ही भूल स्वीकार करना एक सत्यतर गति और उच्चतर उन्नतिकी ओर जानेके लिये एक-एक सोपान बन सकता है।

मैंने अपने पिछले पत्रमें खूब संक्षेपमें यह बतलाया है कि कामावेग और योगके संबंधमें मेरे विचार क्या हैं। यहा मैं इतना और

जोड़ देना चाहता हूं कि मेरा निर्णय किसी मानसिक अभिमत या पूर्वकल्पित नैतिक धारणापर अवलंबित नहीं है बल्कि प्रामाणिक तथ्यों और निरीक्षण और अनुभवके ऊपर अवलंबित है। मैं यह अस्वीकार नहीं करता कि जबतक कोई साधक अपनी आंतर अनुभूति और बाह्य चेतनाके बीच एक प्रकारका अलगाव बनाये रखता है बाह्य चेतनाको एक निम्नतर क्रिया समझकर वशमें रखता है पर रूपांतरित नहीं करता तबतक यह बिल्कुल संभव है कि वह कामोपभोगकी क्रियाको पूर्ण रूपसे छोड़े बिना भी आध्यात्मिक अनुभूतियां प्राप्त करता रहे और साधनामें उन्नति करता रहे। ऐसी अवस्थामें मन बाह्य प्राणमय (जीवनी-शक्तिसे संबंधित अंश) और अन्नमय चेतनासे अपने-आपको अलग कर लेता है और अपना निजी आंतर जीवन यापन करता है। परंतु बहुत थोड़ेसे लोग ही वास्तव में किसी हदमें पूर्णताके साथ ऐसा कर सकते हैं और जब अनुभूतियां प्राण और शरीरके क्षेत्रतक प्रसारित होती हैं तब फिर कामवृत्तिके साथ इस प्रकारका व्यवहार नहीं किया जा सकता। तब यह किसी भी क्षण एक बाधा देनेवाली उलट-पलट करनेवाली और विकृति उत्पन्न करनेवाली शक्ति बन सकती है। मैंने यह देखा है कि अहंकार (गर्व एवं दुराकांक्षा) और राजसिक लालसाओं और वासनाओंकी तरह ही एकदम उन्हींकी कोटिका यह भी साधन मार्गमें होनेवाले आध्यात्मिक सर्वनाशोंका एक प्रधान कारण रहा है। इसे पूरी तरह निकाल बाहर न कर अनासक्तिके द्वारा इस के साथ समझौता करना व्यर्थ होता है इसे उन्नीत करनेकी चेष्टा करना जैसा कि यूरोपके बहुतसे लोग आधुनिक गुह्यविद्याविशारदों का मत है अत्यन्त उलझनोंसे भरा हुआ और खतरनाक प्रयोग

है। क्योकि जब कामवृत्ति और आध्यात्मिकताको एक साथ मिला-जुला दिया जाता है तभी सबसे वडा सर्वनाश उपस्थित होता है। यहातक कि कामवृत्तिको भगवान्‌की ओर मोडकर उसे ऊपर उठा ले जानेका प्रयत्न करनेमें भी, जैसा कि वैष्णवोंके मधुर भावमें किया गया है, वडा भारी खतरा है—इस वातका निदर्शन वार-वार हमे उन परिणामोंमे मिलता है जो इस पथमें थोडासा भी गलत कदम उठाने या कोई अपप्रयोग करनेसे उत्पन्न होते है। जो हो, इस योगमें, जो केवल भगवान्‌की मूल उपलब्धि ही नही चाहता, वल्कि समस्त सत्ता और स्वभावको ही रूपातरित करना चाहता है, मैंने यह देखा है कि कामशक्तिपर पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त करनेको अपना लक्ष्य वनाना साधनाके लिये अत्यत आवश्यक है, अन्यथा प्राणमय चेतना एक गदली मिलीजुली चीज ही रह जायगी, और यह गदलापन अध्यात्मभावापन्न मनकी शुद्धताको क्षुण्ण करेगा और शरीरकी शक्तियोकी ऊर्ध्वमुखी गतिमें भयानक बाधा उपस्थित करेगा। इस योगकी यह माग है कि समस्त निम्नतर या सावारण चेतनाका पूर्ण ऊर्ध्वारोहण हो जिससे वह उस अध्यात्मचेतनाके साथ युक्त हो जो उसके ऊपर स्थित है, और मन, प्राण और शरीरमें, उनका रूपातर करनेके लिये अध्यात्मचेतनाका (अतमें अतिमानसका) पूर्ण अवतरण हो। जवतक कामवासना मार्गको वद किये हुए है तवतक मपूर्ण ऊर्ध्वारोहण असभव है, जवतक प्राणमें कामवासनाका प्रावल्य है तवतक अवतरण खतरनाक है। कारण किमी भी क्षण यह कामवासना, जिसका उच्छेद नही किया गया है अथवा जो सुप्त अवस्थामें पडी है, ऐसा गदलापन उत्पन्न कर सकती है जो यथार्थ अवतरणको पीछे फेंक देता है और अर्जित शक्तिको अन्य उद्देश्यो-

कामप्रवृत्ति पूरी तरह जड़ जमाये बैठी होती है। अवश्य कुछ ऐसे लोग भी होते हैं जो इसे अपनी प्रकृतिसे सीधा और समूल निकालकर पूर्ण रूपसे इसे दूर कर सकते हैं। पर ऐसा करनेवाले विरल ही होते हैं।

अवश्य ही यह तो कहना ही होगा कि कामप्रवृत्तिको पूर्ण रूपसे दूर करना साधनाकी सबसे कठिन चीजोंमेंसे एक है और इस कार्य में जो समय लगता है उसे देनेके लिये साधकको तैयार रहना चाहिये। परन्तु इसका पूर्ण तिरोभाव सिद्ध किया जा चुका है और ऐसे लोग तो काफी अधिक संख्यामें मिलते हैं जिन्होंने कार्यतः इससे एक प्रकारकी मुक्ति पा ली है जो केवल कभी-कभी अवचेतनामें उठनेवाली स्वप्नकी क्रियाओंके द्वारा ही बाधित होती है।

ॐ

अब कामावेगकी बातपर आवें। तुम इसे कोई ऐसी वस्तु मत समझो जो पापमय और भयंकर हो और साथ ही आकर्षक भी बल्कि उसे निम्न प्रकृतिकी एक भूल और गलत गति समझो। उसका पूर्ण रूपसे त्याग करो पर उसके साथ संघर्ष करके नहीं बल्कि उससे पीछे हटकर, अनासक्त होकर और उसे अपनी अनुमति देना अस्वीकार करके उसकी ओर इस प्रकार देखो मानो वह चीज तुम्हारी अपनी नहीं है बल्कि तुमसे बाहर रहनेवाली प्रकृति की एक शक्तिने उसे तुम्हारे ऊपर लाद दिया है। इस आरोपकी क्रियाको सम्मति देना एकदम अस्वीकार करो। अगर तुम्हारी प्राणसत्ता भी न उसे स्वीकार करे तो तुम अपने प्राण भाग पर अपनी असम्मति देनेके लिये जोर डालो। इस प्रकार अपने

आपको पीछे हटाने और अस्वीकार करनेके कार्यमें सहायता देनेके लिये तुम भागवत शक्तिको पुकारो। अगर तुम इसे शातिके साथ और दृढता तथा धैर्यपूर्वक कर सको तो अतमें वाह्य प्रकृतिकी इस आदतके ऊपर तुम्हारे आतर मकल्पकी विजय अवश्य होगी।

***

इतना अधिक उदास हो जाने अथवा योगमें विफलता होगी इस तरहकी कल्पनाए करनेका कोई कारण नही। यह इस वात-का विलकुल चिह्न नही कि तुम योगके लिये अयोग्य हो। इस-का मतलव वस इतना ही है कि सचेतन भागोसे त्यक्त होकर कामावेगने अवचेतनाके अदर आश्रय ग्रहण किया है, सभवत निम्न-तर प्राणमय-भौतिक चेतना और नितात भौतिक चेतनाके अदर कही-पर आश्रय ग्रहण किया है जहा कुछ ऐसे स्थान है जो अभीतक अभीप्सा और ज्योतिकी ओर खुले नही हैं। जागृत चेतनामेंसे निकाल दी हुई चीजे स्वप्नमे वार-वार आती है और यह साधन-कालमें होनेवाली एक विलकुल साधारण वात है।

इसका इलाज है-(१) उच्चतर चेतनाको प्राप्त करना, उसकी ज्योति और उसकी शक्तिकी क्रियाओको प्रकृतिके अधकारमय भागो-में उतार लाना, (२) निद्राके ममय उत्तरोत्तर अधिक सचेतन होना, उस आतर चेतनाको प्राप्त करना जो साधनासवधी क्रियाके विषयमें नीदमे भी उतना ही सचेतन रहती है जितना जगे रहनेपर रहती है, (३) जाग्रत अवस्थाके सकल्प और अभीप्साके द्वारा नीदमे भी शरीरको प्रभावित करना।

अतिम चीजको करनेका एक उपाय यह है कि सोनेसे पहले

शरीरके अंदर खूब सबल और सचेतन रूपसे यह भाव भर दिया जाय कि यह चीज नहीं होनी चाहिये। यह भाव जितना ही ठोस और स्थूल होगा और जितने ही सीधे तौरपर काम-केंद्रके ऊपर *निबद्ध किया जायगा उतना ही अच्छा होगा। संभव है कि एक*-दम आरंभमें इसका तुरत कोई फल न हो अथवा सदा एक-जैसा न हो पर प्रायः इस तरहका भाव अगर तुम्हें मालूम हो कि उसे किस प्रकार बनाया जाता है तो अंतमें विजयी होता है। अगर वह स्वप्नको अब न भी कर सके तो भी वह अक्सर हमारे भीतर एक ऐसी चेतना जागृत कर देता है जो यथासमय विपरीत परिणामको नहीं होने देती।

बार-बार असफल होनेपर भी साधनामें अपने-आपको उदास होने देना भूल है। साधकको शांत होना चाहिये अपने प्रयासमें डटा रहना चाहिये और प्रतिरोधसे भी कहीं अधिक हठी—दृढ़ होना चाहिये।

*

कामावेगका यह कष्ट दूर होनेके लिये बाध्य है अगर तुम इससे छुटकारा पानेके लिये वास्तवमें उत्सुक होओ। कठिनाई यह है कि *तुम्हारी प्रकृतिका यह भाग (विशेषकर निम्नप्राण और अव*चेतना जो भीतरमें सक्रिय रहती है) उन वृत्तियोंकी स्मृतिको बनाये रखता है और उनसे आसक्त रहता है और तुम उन सब भागोंको खोलते नहीं और उनकी शुद्धिके लिये श्रीमाँकी ज्योति और शक्ति को स्वीकार करनेके लिए उन्हें बाध्य नहीं करते। अगर तुम ऐसा कर पाते और शोक-संताप करना परेशान होना और इन चीजोंसे

तुम छुटकारा नही पा सकते, इस तरहके विचारके साथ चिपके रहना छोडकर अगर तुम स्थिर विश्वास और धीर सकल्पके साथ यह आग्रह करते कि वे दूर हो जाय, उनसे तुम अपने-आपको अलग कर लेते, उन्हे स्वीकार करना इन्कार कर देते या बिलकुल ही उन्हें अपना कोई भाग नही समझने तो वे कुछ समयके वाद अपनी शक्ति खो बैठते और नष्ट हो जाते।

कामवृत्तिका उपद्रव केवल तभीतक जटिल होता है जवतक उसे मन और प्राण-सकल्पकी स्वीकृति प्राप्त होती है। अगर मनसे उसे निकाल दिया जाय अर्थात् अगर मन स्वीकृति देना इन्कार करे, पर प्राण-भाग उससे प्रभावित हो तो यह प्राणमय वासनाकी एक विशाल लहरके रूपमें आती है और मनको जवर्दस्ती अपने साथ बहा ले जानेकी कोशिश करती है। अगर इसे उच्चतर प्राण-से, हृदयसे और कार्यशीला स्वत्वकामी जीवनी-शक्तिमे भी निकाल दिया जाय तो यह निम्न प्राणके अदर आश्रय लेती है और वहा छोटी-छोटी सूचनाओ और वेगोंके रूपमें प्रकट होती है। फिर निम्न प्राणके स्तरसे भगा देनेपर वह और भी नीचे अधकारमय और जडवत् पुनरावर्तनशील शरीर-भागमें चली जाती है और उस-की क्रियाके फलस्वरूप कामकेद्रमें स्पन्दनका अनुभव होता है तथा वह कामसबधी सूचनाओका प्रत्युत्तर यत्रवत् चला करता है। फिर वहासे भी निकाल देनेपर यह और भी नीचे अवचेतनामें चली जाती है और स्वप्नके रूपमें या स्वप्नके विना भी स्वप्नदोषके रूपमें ऊपर आती है। परतु चाहे जहा कही वह क्यो न हट जाय, वह फिर

भी कुछ समयतक उसी स्थानको अपना आधार या आश्रय बनाकर दुःख पहुंचाने और उच्चतर मायोकी स्वीकृति पुनः अभिकृत करने की चेष्टा करती है और उसकी यह चेष्टा तबतक चलती रहती है जबतक उसपर पूर्ण विजय नहीं प्राप्त हो जाती और वह अपने चारों ओरकी या आसपासकी उस चेतनासे भी नहीं निकाल दी जाती जो साधारण या विश्व-प्रकृतिके अंदर हमारा अपना ही प्रसारित रूप है।

∴

जब हृत्पुरुष प्राणके ऊपर अपना प्रभाव डालता है तब सबसे पहले तुम्हें जिस चीजसे बचनेके लिये सावधान रहना चाहिये वह यह है कि इस हृत्पुरुषकी क्रियाके साथ प्राणकी किसी भ्रांतिपूर्ण क्रियाका जरासा भी मिश्रण न हो जाय। कामवृत्ति एक प्रकार की विकृति या अधःपतन है जो प्रेमको अपना राज्य स्थापित करने में बाधा पहुंचाता है। अतएव जब हृदयमें चैत्य प्रेमकी क्रिया हो तब जिस एक चीजको कभी भीतर नहीं घुसने देना चाहिये वह है कामप्रवृत्ति या प्राणगत वासना—ठीक उसी तरह जैसे कि ऊपरसे बल-सामर्थ्यके अवतरित होनेपर व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा और गर्वको उससे बहुत दूर रखना होता है। क्योंकि उस विकृतिका जरासा भी मिश्रण हो जानेपर वह चैत्य या आध्यात्मिक क्रियाको दूषित कर देगा और सच्ची सिद्धिके आनेमें बाधा पहुंचायेगा।

प्राणायाम और आसन-जैसे दूसरे शारीरिक अभ्यासोंके द्वारा

कामवासना निर्भर न भी करती हो ऐसी बात नहीं—कभी-कभी तो इन क्रियाओंके कारण शरीरमें प्राणशक्ति अत्यन्त अधिक मात्रामें बढ़ जाती है और इसके कारण उस काम-प्रवृत्तिकी शक्ति भी आश्चर्यजनक ढंगसे बढ़ जाती है जिससे, शरीरगत जीवनके सूक्ष्ममें होनेके कारण विजय पाना बराबर ही कठिन होता है। यह करने-की एक बात यही है कि इन प्रवृत्तियोंसे अपने-आपको अलग कर लिया जाय, अपने अन्दर आत्माको खोज निकाला जाय और उसमें निवास किया जाय, फिर ऐसा कभी नहीं मालूम होगा कि ये सब वृत्तियां अपनी हैं बल्कि ऐसा मालूम होगा कि बाहरी प्रकृतिने आंतर आत्मा या पुरुषके ऊपर इन्हें बाहर-ही-बाहर आरोपित कर दिया है। उस समय बड़ी आसानीसे उनका त्याग किया जा सकता है या उन्हें नष्ट किया जा सकता है।

नींदके समय इस प्रकारका कामका आक्रमण आंतर या बाहर-की किसी दूसरी चीजपर बहुत अधिक निर्भर नहीं करता। यह तो अवचेतनाका यन्त्रवत् चलनेवाला एक अभ्यास है, जब काम-प्रवृत्तिको जागृत अवस्थाके विचारों और अनुभवोंमेंसे बाहर निकाल दिया जाता है या उसे भीतर नहीं आने दिया जाता तब वह उस रूपमें नींदके समय आती है, क्योंकि उस समय केवल अवचेतना ही सक्रिय होती है और उस समय कोई सचेतन नियन्त्रण नहीं होता। यह इस बातका सूचक है कि कामवासनाको जागृत मन और प्राण-मेंसे दबा दिया गया है, पर भौतिक चेतनाके उपादानमेंसे उसे दूर नहीं किया गया है।

इसे दूर करनेके लिये सबसे पहले साधकको इस विषयमें सतर्क होना चाहिये कि जाग्रत अवस्थामें कामविषयक किसी कल्पना या अनुभवको प्रश्रय न दिया जाय फिर उसके बाद शरीरके ऊपर और विशेषकर कामकेंद्रके ऊपर एक ऐसा दृढ़ संकल्प प्रयुक्त किया जाय कि इस तरहकी कोई बात नींदमें नहीं हो सकती। यह एकदम तुरत सफल न भी हो पर यदि बहुत दिनोंतक लगातार ऐसा किया जाय तो प्रायः ही इसका असर होता है अव-चेतना आज्ञा मानना आरंभ कर देती है।

*

शरीरको कष्ट पहुंचाना कामप्रवृत्तिको दूर करनेका कोई इलाज नहीं है यद्यपि इससे कुछ दिनोंके लिये यह शान्त हो सकती है। वास्तवमें प्राण और विशेषकर प्राणमय शरीर ही इंद्रियानुभवको सुख या दुःखके रूपमें ग्रहण करता है।

आहार कम कर देनेसे साधारणतः कोई स्थायी फल नहीं होता। इससे शरीर या प्राणमय शरीरकी पवित्रताका एक सूक्ष्मतर भाव आ सकता है यह आधारको हलका बना सकता है और कुछ विशिष्ट प्रकारके तमसको कम कर सकता है। परंतु कामप्रवृत्ति अल्पाहारको भी बहुत अच्छी तरह अपने अनुकूल बना सकती है। वास्तवमें किसी स्थूल उपायके द्वारा नहीं बल्कि चेतनामें परिवर्तन साधित करके ही इन सब चीजोंको पार किया जा सकता है।

तुम्हारी प्रकृतिके इस आदिम निम्नभागसे छुटकारा पानेमें जो

तुम्हारी कठिनाई है वह तबतक बनी रहेगी जबतक तुम एकम
या प्रधानतया अपने मन और मानसिक सकल्पके बलके द्वारा ही अं
अधिक-से-अधिक एक अनिर्दिष्ट और नैर्व्यक्तिक भागवत शक्ति
अपनी सहायताके लिये पुकारकर अपने प्राणमय भागको परिवर्ति
करनेका प्रयास करते हो। यह एक पुरानी कठिनाई है जिसे स
जीवनमें कभी पूर्ण रूपसे हल नहीं किया गया है, क्योकि कभी ठ
तरीकेसे उसका सामना नही किया गया। बहुतसे योग-मार
इससे बहुत अधिक कुछ नहीं आता-जाता, क्योकि वहा रूपांतर
जीवन प्राप्त करना नही, बल्कि जीवनसे दूर भागना ही लक्ष्य
जब किसी प्रयासका उद्देश्य यही है तब इतना ही पर्याप्त हो सक
है कि किसी मानसिक और नैतिक दबावके द्वारा प्राणको न
दबाये रखा जाय अथवा उसे शान्त कर दिया जाय और एक प्रक
की नीद और निस्तब्धताके अदर पडा रहने दिया जाय।
लोग ऐसे भी होते है जो इस वृत्तिको बेलगाम दौडने और अ
यह खतम हो सके तो उसे खतम हो जाने देते हैं और वे
ऐसा मानते है कि वे उससे निर्लिप्त और बेलाग रहते हैं, क्यों
उनके मतानुसार केवल पुरानी प्रकृति ही एक अतीत प्रेरणावश
रही होती है और शरीरपात होनेपर वह भी बद हो जायगी।
इनमेंसे कोई भी समाधान कार्यत सिद्ध नही होता तब साधक व
कभी महज द्विधा-विभक्त आतरिक जीवन बिताने लगता है,
का जीवन अततक एक ओर उसकी आध्यात्मिक अनुभूतिमें
दूसरी ओर उसकी प्राणगत दुर्बलताओमें बटा रहता है और
अपने उत्तम भागका अधिक-से-अधिक लाभ उठाता है और व
मत्ताका जहातक सभव होता है कम-से-कम उपयोग करता

परंतु इनमेंसे कोई भी पद्धति हमारे उद्देश्यके लिये पर्याप्त नहीं है। अगर तुम अपनी प्राणगत वृत्तियोंपर तथा प्रभुत्व प्राप्त करना चाहते हो और उन्हें रूपांतरित करना चाहते हो तो वह तभी किया जा सकता है जब तुम अपने हृत्पुरुषको अपने अंतरात्माको पूर्ण रूपसे जागने दो उसे अपना राज्य स्थापित करने दो और उसको भागवत शक्तिके स्वामी स्पर्शकी ओर खोलकर उसी (हृत्पुरुष) को अपनी स्वाभाविक विशुद्ध भक्ति अनन्य अभीप्सा और भागवत सभी वस्तुओंके प्रति होनेवाले अपने अखंड एकनिष्ठ आवेगको अपने मन हृदय और प्राणप्रकृतिपर स्थापित करने दो। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई पथ नहीं है और किसी अधिक सुगम मार्गके लिये छटपटानेसे कोई लाभ नहीं। मानव पक्षा छिपने अपराध।

भौतिक चेतना—अवचेतना—निद्रा और स्वप्न—रोग

हमारा उद्देश्य है अतिमानस-सिद्धि प्राप्त करना और उस लक्ष्य-के लिये या उस लक्ष्यको सामने रखकर प्रत्येक स्तरकी अवस्थाके अनुसार जो कुछ करना आवश्यक है वही हमें करना होगा। वर्तमान समयमें इस बातकी आवश्यकता है कि भौतिक चेतनाको तैयार किया जाय और उसके लिये यह आवश्यक है कि शरीर और निम्नतर प्राणके भागोमें पूर्ण समता और शांति तथा व्यक्तिगत माग या वासनासे रहित पूर्ण आत्मोत्सर्गका भाव स्थापित किया जाय। अन्य सब चीजें अपने-अपने उचित समयपर आ सकती हैं। अभी बस आवश्यकता इस बातकी है कि भौतिक चेतनाके अंदर हृत्पुरुषका उन्मेष हो और वहा निरंतर भागवत उपस्थिति और पथप्रदर्शनका बोध वर्तमान रहे।

***

जिस चीजका वर्णन तुमने किया है वह जड चेतना है, यह अधिकाशमें अवचेतन है, परन्तु इसका जो भाग चेतन है वह यन्त्र-की तरह गतानुगतिक है, अभ्यासोंके द्वारा या निम्न प्रकृतिकी शक्ति-

योंकि द्वारा जड़वत् बना करता है। यह सदा एक ही प्रकारकी अबोध और अज्ञानपूर्ण वृत्तियोंको दुहराया करता है जो कुछ पहले-से है उसीकी बंधी-बंधायी धारा और सुनिश्चित नियमोंमें आसक्त रहता है परिवर्तनको यह स्वीकार नहीं करता दिव्य ज्योतिको ग्रहण करना या उच्चतर शक्तिका अनुसरण करना नहीं चाहता। अथवा अगर यह यह सब करना चाहता है तो यह उन्हें करनेमें असमर्थ होता है। अथवा अगर यह समर्थ होता है तो दिव्य शक्ति या ज्योति उसे जो क्रिया प्रदान करती है उसे यह एक नये मन्द् अज्ञानमयिक क्रियामें परिवर्तित कर देता है और इस तरह उस-के समस्त प्राण और अन्तरात्माको ही निकाल फेंकता है। यह निष्प्रभ निर्जीव और अलस है उसके अज्ञान और जड़तासे अंधकार और शिथिलतासे भरा हुआ है।

इसी जड़ चेतनाके अंदर हम सबसे पहले उच्चतर (दिव्य या आध्यात्मिक) ज्योति और शक्ति और आनंदको और फिर हमारे योग का जो लक्ष्य है उस अतिमानस सत्यको ले आनेकी चेष्टा कर रहे हैं।

*

जिस चेतनाके विषयमें तुम सचेतन हुए हो वह एकदम भौतिक चेतना है वह प्राय सभी लोगोंमें इसी तरहकी होती है। जब कोई पूर्ण रूपसे या एकमात्र उसी चेतनाके अंदर प्रवेश कर जाता है तब उसे ऐसा मालूम होता है कि यह कोई पशु चेतना है यह या तो प्रकाशहीन और चंचल है या जड़ और निर्जीव है और दोनों अवस्थाओंमें भगवान्‌की ओर खुली हुई नहीं है। जब इसके अंदर दिव्य शक्ति और उच्चतर चेतनाको उतारा जायगा केवल तभी

इसमे मूलगत परिवर्तन हो सकता है। जब ये सब चीजें तुम्हारे सामने प्रकट हो तब तुम उनका आविर्भाव देखकर विचलित मत होओ, बल्कि यह समझो कि वे परिवर्तित होनेके लिये आयी हैं।

अन्यान्य क्षेत्रोकी तरह ही यहा भी सबसे पहले चाहिये अचचल-ता–चेतनाको स्थिर बनाये रखना, उसे किसी तरह विक्षुब्ध और उद्विग्न न होने देना, उसके बाद उसी शान्त अवस्थामे इस समस्त अधकारको दूर करने और इसे परिवर्तित करनेके लिये भागवत शक्तिका आवाहन करना।

***

"बाह्य शब्दोकी और बाह्य शारीर सवेदनोकी मर्जीके अधीन होना", "साधारण चेतनाको अपनी इच्छाके अनुसार दूर हटानेमे असमर्थ होना", "सत्ताकी समस्त प्रवृत्तिका ही योगसे दूर हो जाना"– ये सब बाते निश्चित रूपसे भौतिक मन और भौतिक चेतनाके ऊपर लागू होती है जब कि वे एकदम सबसे अलग हो जाते हैं और बाकी सबको पीछेकी ओर ठेलकर सामनेके समूचे भागको घेर लेते है। जब सत्ताका कोई भाग परिवर्तित करनेके लिये सामने लाया जाता है तब प्राय बराबर ही ऐसा होता है कि वह इस तरह सर्वव्यापी होकर उभड आता है, उसकी क्रिया इतनी प्रधान हो जाती है मानो उसके अतिरिक्त और कुछ है ही नही, और दुर्भाग्यवश बराबर यही होता है कि जिस चीजको परिवर्तित करना है, जो अवाछनीय अवस्थाए हैं, उस भागकी जो कुछ कठिनाइया है, वे ही सब सबसे पहले उभडती हैं और सारे क्षेत्रको दृढताके साथ अधिकृत कर लेती है और बार-बार घटित होती हैं। भौतिक स्तरमें जडता, निष्प्रभ-

ता और असमर्थता प्रकट होती है और प्रकट होता है इन सबका हठीलापन। इस अप्रिय अवस्थामें साधकका एकमात्र कर्तव्य यह है कि वह इस भौतिक (शारीरिक) तामसिकतासे कहीं अधिक हठी बन जाय और एक निश्चित प्रयासमें निरंतर लगा रहे—बिना किसी अभाव समर्थके एक समान प्रयासमें डटा रहे—जिसमें बाधाकी इस ठोस चट्टानमें भी एक विशाल और स्थायी उद्घाटन हो जाय।

*

जिसके अदर चेतनामें इस प्रकार हेर-फेरका होना एक ऐसी साधारण बात है जो साधनामें प्राय सबको होती है। चेतनाका यह उत्थान-पतन यह शैथिल्य जो उच्चतर स्थिति अनुभूत तो हुई है पर अभीतक स्थायित्वको प्राप्त नहीं हुई है उससे इस तरह एक साधारण या एक पुरानी निम्नतर अवस्थामें फिरसे वापस आ जाना उस समय बहुत प्रबल और स्पष्ट हो उठता है जब साधनामें क्रिया भौतिक चेतनाके अदर चलती रहती है। क्योंकि भौतिक प्रकृतिके अदर एक प्रकारकी तामसिकता है जो उस तीव्रताको आसानीसे एक-जैसी नहीं बनी रहने देती जो उच्चतर चेतनाके लिये स्वाभाविक है—भौतिक चेतना बराबर ही अपेक्षाकृत अधिक साधारण अवस्थामें उतरती रहती है उच्चतर चेतना और उसकी शक्तिको दीर्घकालतक काम करना पड़ता है और बार-बार आना पड़ता है और तब कहीं वे भौतिक प्रकृतिमें स्थायी और स्वाभाविक हो पाती हैं। इस उत्थान-पतन या इस विलम्बके कारण चाहे वह कितना ही लम्बा या दुखदायी क्यों न हो तुम विचलित या हताश मत होओ बस इस विषयमें सावधान रहो कि एक आंतरिक अर्धचलना-

के द्वारा तुम बराबर अचचल बने रहो और जहातक सभव हो उच्चतर शक्तिकी ओर अपनेको खोले रखो और किसी वास्तविक विरोधी अवस्थाको अपने ऊपर अधिकार मत जमाने दो। अगर तुम्हारे अदर कोई विरोधी लहर न हो तो फिर जो कुछ है वह केवल उन अपूर्णताओका ही लगातार बने रहना है जो सभी मनुष्यो-में प्रचुर मात्रामें विद्यमान हैं, इस अपूर्णता और उसके बार-बार आनेकी क्रियाको दिव्य शक्ति कार्य करके अवश्य दूर कर देगी, परतु उन्हें दूर करनेमें समय लगता है।

निम्नतर प्राण-प्रकृतिकी गतियोको बार-बार होते हुए देखकर तुम्हें हताश नही होना चाहिये। इनमें कुछ गतिया ऐसी होती है जो तबतक बराबर ही बनी रहने और वापस आते रहनेकी चेष्टा करती रहती है जबतक कि अत्यत जड चेतनाके रूपातरके द्वारा समस्त भौतिक प्रकृतिका परिवर्तन नही हो जाता, उस समयतक उनका दबाव पडा करता है—कभी तो वे अपनी पुरानी शक्तिको प्राप्त करके आती है और कभी अधिक निस्तेज होकर—एक गतानुगतिक अभ्यासके रूपमें आती है। मन या प्राणकी कोई भी सम्मति देना अस्वीकार करके उनकी समस्त जीवनी-शक्तिका हरण कर लो, तब फिर गतानुगतिक अभ्यास तुम्हारे विचारो और कार्योपर प्रभाव डालनेमें असमर्थ हो जायगा और अतमें बद हो जायगा।

मूलाधार खास भौतिक चेतनाका केद्र है और उसके नीचे शरीरमें

जो कुछ है वह एकदम भौतिक—जड़ है जो जैसे-जैसे नीचेकी ओर जाता है वैसे-वैसे अधिकाधिक अवचेतन होता जाता है परंतु अवचेतनाका असली स्थान शरीरके नीचे है जैसे कि उच्चतर चेतना (अतिचेतना) का असली स्थान शरीरसे ऊपर है। परंतु साथ ही-साथ अवचेतनाका अनुभव कहीं भी प्राप्त किया जा सकता है ऐसा अनुभव किया जा सकता है मानो वह एक ऐसी चीज हो जो चेतनाकी क्रियाके नीचे हो और, एक तरहसे नीचेसे उसे धारण किये हो अथवा चेतनाको अपनी ओर नीचे खींच रही हो। अवचेतना ही सभी अभ्यासगत क्रियाओंका विशेषकर भौतिक (शारीरिक) और निम्नतर प्राणकी क्रियाओंका मुख्य आधार है। जब कोई चीज प्राण या शरीरके स्तरसे बाहर निकाल दी जाती है तब वह प्रायः बराबर ही अवचेतनाके अंदर चली जाती है और वहां मानो बीज-रूपमें बनी रहती है और जब संभव होता है तब वह फिर ऊपर आ जाती है। यही कारण है कि अभ्यासगत प्राणकी क्रियाओंसे छुटकारा पाना या चरित्रको परिवर्तित करना इतना कठिन होता है। क्योंकि इस मूल स्रोतसे सहारा पाकर या फिरसे शक्ति पाकर, इस गर्भाशयमें सुरक्षित रहकर तुम्हारी प्राणमय वृत्तियां उनका निग्रह या दमन करनेपर भी फिरसे ऊपर उठ आती हैं और बार-बार प्रकट होती हैं। अवचेतनाकी क्रिया अयौक्तिक यंत्रानुगतिक और बार-बार होनेवाली है। वह युक्ति-तर्क या मानसिक संकल्पकी कोई बात नहीं सुनती। केवल भगवान्‌की उच्चतर ज्योति और शक्तिको इसके अंदर उतारकर ही इसे परिवर्तित किया जा सकता है।

•

प्रकृतिके अन्यान्य सभी प्रमुख भागोकी तरह अवचेतना भी समष्टिगत और व्यष्टिगत होती है। परतु इस अवचेतनाके विभिन्न भाग या स्तर है। इस पृथ्वीपर जो कुछ है वह उस चीजपर अवलबित है जिसे लोग निश्चेतना कहते है, यद्यपि वह वास्तवमें निश्चेतना बिलकुल नही है, वल्कि वह एक प्रकारकी पूर्ण "अव"-चेतना है, एक दवी हुई या अंतर्निहित चेतना है जिममें है तो सव कुछ, पर कुछ भी मूर्त या अभिव्यक्त नही है। अवचेतना इसी निश्चेतना और सचेतन मन, प्राण और शरीरके बीचोबीच अवस्थित है। इसके अदर जीवनके प्रति होनेवाली उन सभी आदिम प्रतिक्रियाओकी सभावना निहित रहती है जो जडके निर्जीव और तमसाच्छन्न स्तरोंसे ऊपर उठनेका प्रयास करती है और निरतर होनेवाले एक विकासके फलस्वरूप धीरे-धीरे विकसित होनेवाली और स्वत रूप धारण करनेवाली एक चेतनामें परिणत हो जाती है, यह उन्हे किसी विचार, धारणा या सचेतन प्रतिक्रियाके रूपमें धारण नही करता, वल्कि इन सव चीजोकी एक तरल सार-वस्तुके रूपमें धारण करता है। और साथ ही वे सव चीजें भी, जिन्हे हम सचेतन अवस्थामें अनुभव करते है, इस अवचेतनामें डूव जाती है, किसी सुस्पष्ट यद्यपि डूवी हुई स्मृतिके रूपमें नही वल्कि अनुभवके अस्पष्ट फिर भी दूर न होनेवाले सस्कारके रूपमें वनी रहती हैं और वे चाहे जव स्वप्नके रूपमें, पुराने विचारो, अनुभवो, क्रियाओ आदिके गतानुगतिक पुनरावर्तनके रूपमे, क्रिया और घटना आदिके रूपमें फूट निकलनेवाली "जटिलताओ" (चित्तकी ग्रथियो) के रूपमें ऊपर आ सकती हैं। यह अवचेतना ही वह प्रधान कारण है जिससे सभी चीजें वार-वार घटित होती हैं और कोई भी चीज

कभी परिवर्तित नहीं होती—केवल बाहरी रूपमें ही परिवर्तित होती है। यह अवचेतना ही वह कारण है जिससे लोग कहते हैं कि स्व-भाव कभी बदला नहीं जा सकता और यह कारण भी है जिससे ये चीजें बराबर ही लौट आया करती हैं जिनके विषयमें हम यह आशा कर बैठे थे कि हम उनसे बराबरके लिये मुक्त हो गये। सभी बीज इस अवचेतनामें रहते हैं और मन प्राण और शरीरके सभी संस्कार रहते हैं—यही मृत्यु और रोगका प्रधान आश्रयस्थान है और अज्ञानका (देखनेमें अभेद्य) अंतिम किला है। ये सभी चीजें जो दबा दी जाती हैं पर जिनसे हम पूरा-पूरा छुटकारा नहीं पाते इसके अंदर डूब जाती हैं वहां बीज-रूपमें रहती हैं तथा किसी भी समय ऊपर निकल आने या अंकुरित होनेके लिये तैयार रहती हैं।

हमारे अंदर क्रमविकासका आधार यह अवचेतना ही है—यह न तो हमारी समूची गुप्त प्रकृति ही है और न हम जो कुछ हैं उसका समग्र मूलस्रोत ही है। परंतु अवचेतनासे चीजें उठ सकती हैं और वे हमारे सचेतन भागोंमें रूप ग्रहण कर सकती हैं और हमारे प्राण और शरीरकी जो क्षुद्रतर प्रेरणाएं, क्रियाएं, अभ्यास और चरित्र-स्वरूप हैं, उनमेंसे अधिकांश चीजोंका मूल स्रोत यही है।

हमारे कर्मके तीन गुप्त उद्गमस्थान होते हैं—अतिचेतना अंतश्चेतना और अवचेतना परंतु इनमेंसे किसीके भी ऊपर हमारा कोई अधिकार नहीं बल्कि हम उन्हें जानतेतक नहीं। जिस चीजको हम जानते हैं वह है हमारी ऊपरी सत्ता जो केवल एक ऐसी व्यवस्था है जो मनकी तरह व्यवहारके लिये बना दी गयी है।

सभी चीजोका मूल स्रोत है साधारण प्रकृति, विश्वप्रकृति जो प्रत्येक व्यक्तिके अदर अपना एक व्यष्टि-रूप प्रकट करती है, क्योकि यह साधारण प्रकृति हमारे अदर 'क्रिया, व्यक्तित्व, स्वभाव, वृत्ति, रुचि, प्रवृत्ति आदिके कुछ अभ्यासोको रख देती है और उसीको, चाहे वह अभी वना हो या हमारे जन्मसे पहले ही वना हो, हम साधारणत 'हम' कहते हैं। इसका एक वहुत वडा भाग ऊपरी सतहके हमारे ज्ञात, सचेतन भागोकी अभ्यासगत क्रियाके अदर है और उनके व्यवहारमें रहता है, पर उससे भी कही अधिक भाग उन तीन अन्य अज्ञात भागोमें छिपा रहता है जो वाहरी सतहके नीचे या पीछे है।

परतु ऊपरी सतहपर जो कुछ भी हमारी अवस्था है वह वरावर साधारण प्रकृतिकी उन लहरोंसे आदोलित, परिर्वातत, परिर्वाधत या पुन-पुन घटित होती रहती है जो या तो प्रत्यक्ष रूपमें या फिर अप्रत्यक्ष रूपमें दूसरोके द्वारा भिन्न-भिन्न परिस्थितियोंके द्वारा और नाना प्रकारके वाहनो या आश्रयोके द्वारा हममें आती हैं। इन लहरोका कुछ प्रवाह तो सीधा सचेतन भागोंमे चला जाता है और वहा कार्य करता है, किंतु हमारा मन इसके स्रोतको जाननेकी परवाह नही करता, इसको अपने अधिकारमें ले लेता है और इस सबको अपना ही समझने लगता है। इसका कुछ अश गुप्त रूपसे अवचेतनामे चला जाता है या उसमे पैठ जाता है और चेतनाके ऊपरी सतहपर कभी भी उठ आनेके लिये उपयुक्त समयकी प्रतीक्षा करता है, इसका एक वहुत वडा भाग अतस्तलकी चेतनामें चला जाता है और वह किसी भी समय वाहर आ सकता है—अथवा यदि वह वाहर न भी आये तो वह वहीपर अव्यवहृत सामग्री–

की तरह पड़ा रहता है। इसका कुछ भाग आर-पार हो जाता है और वह या तो त्याग दिया जाता वापस या बाहर फेंक दिया जाता या विश्व-समुद्रमें गिरा दिया जाता है। हमारा स्वभाव जो शक्तियां हमें दी गयी हैं उनकी एक सतत क्रियामात्र है जिसमेंसे (बल्कि जिसके एक छोटे भागमेंसे) हम अपनी इच्छा या शक्तिके अनुसार कुछ रचना करते हैं। हम जो कुछ रचते हैं वह ऐसा मालूम पड़ता है मानो सदाके लिये स्थिर और रचनाबद्ध हो गया किंतु वास्तवमें वह सब शक्तियोंका एक खेल है एक प्रवाहमात्र है न कुछ स्थिर है न कुछ दृढ़ वह जो आकार या स्थिरता है वह तो एक ही प्रकारके कंपनों और आकृतियोंके लगातार दोहराये जाने और प्रतिक्षण हो रहे पुनरावर्तनके कारण दिखायी देते हैं। यही कारण है कि विवेकानन्दकी उक्ति और होमरके वाक्योंके होते हुए भी तथा भगवानके अनुसार प्रतिरोधके रहते हुए भी हम लोगो के स्वभावका परिवर्तन हो सकता है पर यह एक कठिन काम है कारण प्रकृतिका उसारी क्रम यही है अर्थात् इस प्रकार हठपूर्वक दोहराते जाना और सतत पुनरावर्तन करते रहना।

अब रहा इन लोगोंकी प्रकृतिकी उन चीजोंके संबंधमें जिन्हें हम त्याग कर फेंक तो देते हैं पर वे फिर वापस आ जाती हैं सो यह इस बातपर निर्भर करता है कि तुम उनको कहां फेंकते हो। इसके बारेमें बहुधा एक प्रकारकी प्रक्रिया चलती है। मन अपनी मानसिक रचनाओंका त्याग करता है प्राण अपने प्राणावेगों-का शरीर अपनी आदतोंका—ये चीजें साधारणतया विश्वप्रकृतिके तत्सम् क्षेत्रोंमें वापस चली जाती हैं। जब ऐसा होता है तब पहले तो ये सब उस पारिपार्श्विक चेतनामें ठहरती है जिसको हम साथ

लिये फिरते हैं तथा जिसके द्वारा हम बाह्य प्रकृतिसे आदान-प्रदान करते है, और बहुधा ये वहासे लगातार वापस लौट आया करती है—यह तबतक होता रहता है जबतक इनका इस प्रकार पूर्ण रूपसे त्याग नही कर दिया जाता अथवा यो कहें कि इन्हे इतनी अधिक दूर नही फेंक दिया जाता कि ये फिर कभी हमपर लौटकर न आ सके। किंतु विचारशील और संकल्पशील मनके किसी चीजका त्याग कर देनेपर भी जब प्राण उसको प्रबलतासे पोषण देता रहता है, तब यह अवश्य ही मनको तो छोड देती है किंतु प्राण-में जाकर पैठ जाती है और वहा गर्जन-तर्जन करती है तथा पुनः ऊपर उठ आने और मनपर फिर अधिकार जमाने और हमारी मान-सिक स्वीकृतिको बाध्य करनेमें अथवा उसपर कब्जा कर लेनेका यत्न करती रहती है। जब उच्चतर प्राण भी अर्थात् हृदय अथवा वृहत्तर प्राणशक्ति भी इसको त्याग देती है तब वहासे यह नीचे उतर आती है और निम्नतर प्राणमें आश्रय ग्रहण करती है, उस निम्नतर प्राणमे जिसकी छोटी-छोटी मामूली गतियोमे हमारा यह नित्यका क्षुद्र जीवन बनता है। जब निम्नतर प्राण भी इसको त्याग कर देता है तब यह भौतिक चेतनामें घुस जाती है और जड-ताके अथवा यंत्रवत् पुनरावर्तित होते रहनेके रूपमे वहा बनी रहने-की चेष्टा करती है। वहासे भी त्याग दिये जानेपर यह अवचेतना-में चली जाती है और स्वप्नमें निष्क्रियताकी अवस्थामें, अत्यत तमो-गुणी दशामें आन प्रकट होती है। अचेतना अज्ञानका अतिम आश्रयस्थान है।

अब उन लहरोंके बारेमें जो साधारण प्रकृतिमे बार-बार आती है, सो वहाकी हीन शक्तियोकी यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वे

यत्न करती है कि व्यक्ति-विशेषमें अपनी क्रियाको सदा बनाये रखें उनकी बनायी हुई चीजोंको जो बिगाड़ दिया गया है उनको फिर से बना दें इसलिये जब वे देखती हैं कि उनके प्रभावको अस्वीकार किया जा रहा है तो वे लहरें बहुधा एक *परिवर्धित शक्तिके* साथ यहांतक कि विस्मयजनक प्रबलताके साथ वापस आती हैं। किन्तु यदि एक बार पारिपार्श्विक चेतना शुद्ध की जा चुकी है तो *वे अधिक देरतक नहीं ठहर सकती—हां यदि 'विरोधी शक्तियां'* हस्तक्षेप करें तो एक दूसरी बात है। यह होनेपर भी इनका आक्रमण अवश्य ही हो सकता है किन्तु यदि साधकने अंतरात्मामें अपनी स्थिति दृढ़ कर ली है तो ये केवल आक्रमण भर करेंगी और लौट जायंगी।

यह ठीक है कि हमारे व्यक्तित्वका अधिकांश भाग या यों कहें कि विश्वप्रकृतिके प्रति प्रतिक्रिया करनेकी हमारी प्रवृत्तियों और सुझावोंका बहुतसा भाग हम पूर्वजन्मोंसे लाते हैं। वंशक्रमानुगत बातोंका प्रबल प्रभाव केवल बाह्य सत्तापर पड़ता है इसके अतिरिक्त यहांपर भी वंशक्रमानुगत बातोंका सभी प्रभाव स्वीकार नहीं किया जाता जो बातें हमारे इस भावी जीवनमें साथ मेल खाती हैं अथवा कम-से-कम उसमें बाधा पहुंचानेवाली नहीं होतीं केवल वे ही स्वीकार की जाती हैं।

*

अवचेतना अभ्यासों और स्मृतियोंका घर है और यह पुरानी निग्रह की हुई प्रतिक्रियाओं और प्रतिबिंबों तथा मन प्राण या शरीरसम्बन्धी अनुभूतियोंको लगातार अथवा जब भी यह कर सके तभी

दुहराया करती है। इस अवचेतनाको अपनी सत्ताके उच्चतर भागो-के ऐसे आग्रहद्वारा, जो उनसे भी अधिक लगातार रहनेवाला हो, हमे यह सिखा देना होगा कि यह पुरानी आदतोको छोड दे और नवीन तथा सत्य अभ्यासोको ग्रहण करने लग जाय।

***

तुम इस बातको अनुभव नही करते हो कि साधारण प्रकृति-सत्ताका कितना बडा भाग भौतिक अवचेतनामे रहता है। यही स्थान है जहा मन और प्राणकी अभ्यासगत गतिया जमा रहती है और यहीसे ये जागृत मनमें आ जाती हैं। ऊपरकी चेतनामेंसे निकाल वाहर किये जानेपर ये इसी "पणियोकी गुफामें" आश्रय लेती है। चूकि अव इन्हे जागृत अवस्थामे तो स्वच्छदतापूर्वक वाहर नही निकलने दिया जाता इसलिये ये निद्रावस्थामें स्वप्नके रूपमें आती है। जव ये अवचेतनामेंसे भी दूर कर दी जाती हैं, इन छिपे हुए स्तरोको प्रकाशित करके इनके वीजतकका भी नाश कर दिया जाता है तभी ये सदाके लिये चली जाती है। जैसे-जैसे तुम्हारी चेतना अदरकी ओर गहराईमें उतरती जायगी और तुम्हारे इन आवेष्टित हीनतर भागोमें उच्चतर ज्योति उतरकर आती जायगी वैसे-वैसे ये वातें जो अब इस रूपमें वार-वार होती हैं, वे लोप हो जायगी।

***

निस्सदेह, यह सभव है कि शक्तियोको नीचेसे ऊपर खीचा जा सके। यह हो सकता है कि तुम्हारे आकर्षण करनेपर जो-

जो शक्तियां ऊपरको उठती हैं वे नीचेमें छिपी हुई दिव्य शक्तियां ही हों और यदि ऐसा है तो यह जो गति ऊपरकी ओर होती है वह ऊपरमें जो दिव्य शक्ति है उसकी गति और प्रयत्नको पूरा करती है विशेषतः उन शक्तियोंकी इस बातमें सहायता करती है कि वह शरीरमें उतर आवे। अथवा यह भी हो सकता है कि वे अज्ञानकी शक्तियां हों जो नीचे रहती हैं और पुकार होनेपर ऊपर आ जाती हैं और यदि ऐसा है तो इस प्रकारके आकर्षणका यह फल होगा कि या तो इससे समग्र डर जायगा या बेचैनी पैदा हो जायगी—कभी-कभी तो बहुत अधिक मात्रामें उलझन आ घेरती है अथवा भयंकर उथल-पुथल या बेचैनी हो जाती है।

निम्नतर प्राणका स्तर अत्यंत अंधकारमय स्तर है और इसको पूरी तरह खोलकर उसी अवस्थामें लाभ उठाया जा सकता है जब कि इसके ऊपरके स्तर ज्योति और ज्ञानके प्रवाहके लिये पूरी तरह से खोल दिये जा चुके हों। ऊपरके स्तरोंको इस प्रकारसे तैयार किये बिना और ज्ञानको प्राप्त किये बिना ही जो निम्नतर प्राणपर पूरा ध्यान लगा देता है वह बहुतसी उलझनोंमें पड़ जा सकता है। इस बातका यह अर्थ नहीं है कि इस स्तरकी अनुभूतियां उपर्युक्त तैयारी होनेके पहले मसलन कि साधनाकी प्रारंभिक अवस्थाम कभी होंगी ही नहीं ये अनुभूतियां तो आप-से-आप भी होती हैं, किन्तु उन्हें अत्यधिक महत्त्व नहीं देना चाहिये।

एक योग-शक्ति है जो भीतर शरीरमें कुण्डलीकृत अथवा सुप्त अवस्थामें पड़ी है क्रियाशील नहीं है। जब कोई योग करता है

तब यह कुडलिनी शक्ति अपनेको अकुडलित करती है और भाग-वत चैतन्य और भागवत शक्ति जो ऊपर प्रतीक्षा कर रहे हैं उनसे मिलनेके लिये ऊपरकी ओर उठती है। जब यह होता है, जब जागृत हुई यह योगशक्ति ऊपर उठती है, तब प्राय ऐसा अनुभव होता है कि मानो कोई सर्प अपनेको अकुडलित करता हुआ सीधा खडा हो रहा है और अपनेको अधिकाधिक ऊपर उठा रहा है। जब यह योगशक्ति ऊपर पहुचकर भागवत चैतन्यसे मिल जाती है तब भागवत चैतन्यकी शक्ति शरीरमें भी अधिक सुगमतासे उत आ सकती है और यह अनुभव किया जा सकता है कि वहा य शक्ति प्रकृतिका परिवर्तन कर रही है।

तुम्हे जो यह अनुभव हुआ कि तुम्हारा शरीर और तुम्हा आखें ऊपरकी ओर खिची जा रही हैं, यह उसी गतिका एक अ है। यह शरीरकी आतरिक चेतना और शरीरकी आतरिक सूक्ष दृष्टि है जो ऊपरकी ओर देख रही है और ऊपर उठ रही है ता ऊपरमें जो भागवत चेतना और भागवत दृष्टि है उनसे मिलने चेष्टा कर रही है।

***

यदि तुम अपनी प्रकृतिके निम्नतर भागो या कक्षाओमें उत हो तो तुमको इस बातके लिये सावधान रहना चाहिये कि चेतन उच्चतर प्रदेश जो नवजीवन प्राप्त कर चुके हैं, उनसे तुम जीवि जागृत सबध बनाये रख सको और इनके द्वारा ज्योति और शा को नीचेके उन क्षेत्रोमें उतारकर ला सको जहा अभीतक नवजी नही प्राप्त हुआ है। यदि साधक उपर्युक्त जागरूकता नही रख

तो वह निम्न कोटिके स्तरोंकी इन नवजीवनरहित गतियोंमें डूब जायगा और अपनेको अज्ञानान्धकार और कष्टमें पायेगा।

सबसे निरापद मार्ग यह है कि चेतनाके उच्चतर भागोंमें ही रहा जाय और वहींसे निम्नतर भागोंपर एक दबाव डाला जाय जिससे उनका परिवर्तन हो सके। यह इस तरहसे किया जा सकता है और इसे करनेके लिये तुम्हें केवल उसकी शक्तिको प्राप्त कर लेने और उसका अभ्यास करनेकी आवश्यकता है। यदि तुम ऐसा करनेकी शक्ति प्राप्त कर लो तो तुम्हारी प्रगति बहुत सहज सरल और कम दुःखदायी हो जायगी।

तुमने जो मनोविश्लेषणका अभ्यास किया वह भूल थी। इस से कम-से-कम इस समयके लिये तो पवित्रीकरणकी क्रियाको अधिक जटिल बना दिया सुगम नहीं। फ्रायड (Freud) का मनो-विश्लेषण एक ऐसा अभ्यास है जिसका योगके साथ किसी भी हालत-में संबंध नहीं जोड़ना चाहिये। इस मनोविश्लेषणमें यह किया जाता है कि किसी ऐसे भागको जो अत्यंत अंधकारमय है अत्यंत खतरनाक है जो प्रकृतिका अस्पष्ट अस्वस्थ भाग है, जो निम्न प्राण का अवचेतन स्तर है उसको पकड़कर उसके कुछ अस्पष्ट छिपे हुए रूपोंको अलग कर लिया जाता है और इस भागको तथा उस-के उन रूपोंको उनका जो प्रकृतिमें सच्चा स्थान है उससे कहीं अधिक महत्त्व दे दिया जाता है। आधुनिक मनोविज्ञान एक ऐसा सायंस है जो अभी शैशवावस्थामें है अतः उतावला आनुमानिक और असम्बद्ध है। जैसा कि अन्य शैशवावस्थाके सायंसोंमें होता

है वैसा ही यहा भी मानवी मनकी सार्वत्रिक आदत–जिसका काम है एक आशिक अथवा एकदेशीय सत्यको लेकर उसे अनुचित रूप-से सार्वदेशिक बना देना और फिर प्रकृतिके सपूर्ण क्षेत्रोकी अपनी इसी सकुचित भाषामे व्याख्या करनेकी चेष्टा करना–विप्लव मचा रही है। इसके अतिरिक्त निगृहीत कामवासनासबधी समिश्र क्रियाओके महत्त्वको इतना अधिक अतिरजित कर देना एक खतर-नाक असत्य है और ऐसा करनेसे एक गदा प्रभाव उत्पन्न हो सकता है और यह हो सकता है कि मन और प्राण पहलेकी अपेक्षा भी अधिक अपवित्र बननेको प्रवृत्त हो न कि कम।

यह सत्य है कि मनुष्यके अदर जो अतस्तलकी चेतना है यही उसकी प्रकृतिका सबसे बडा भाग है और इसके अदर ही उन अदृश्य शक्तियोका रहस्य छिपा हुआ है जिनके द्वारा हमारी ऊपरी तल-की सपूर्ण क्रियाओकी व्याख्या की जा सकती है। किंतु निम्नतर प्राणकी अवचेतना–और ऐसा मालूम होता है कि जो कुछ है वह यही है जिसे फ्रायडका यह मनोविश्लेषण जानता है, बल्कि यह इस-के भी केवल थोडेसे स्वल्प-प्रकाशित अशोको ही जानता है–जो समग्र अतस्तलकी चेतनाके एक मर्यादित और अत्यत लघुतर भागके अति-रिक्त और कुछ भी नही है। हमारी यह अतस्तलकी चेतना हमारे समग्र ऊपरी तलके व्यक्तित्वके पीछे रहती है और इस व्यक्तित्व-का भरण करती है, इस अतस्तलकी चेतनामे ऊपरी तलके मनके पीछे एक बृहत्तर और अधिक कार्यक्षम मन है, ऊपरी तलके प्राणके पीछे एक बृहत्तर और अधिक शक्तिशाली प्राण है, ऊपरी तलकी शारीरिक सत्ताके पीछे एक सूक्ष्मतर और अधिक स्वतत्र भौतिक चेतना है। और फिर यह अतस्तलकी चेतना ऊपरकी ओर, इस

मन प्राण और शरीरके ऊपर उच्चतर अतिचेतनाकी ओर खुलती है जैसे कि यह नीचेकी ओर निम्नतर अवचेतनाके क्षेत्रोंकी ओर खुलती है। यदि कोई चाहता है कि वह अपनी प्रकृतिको शुद्ध और रूपान्तरित कर ले तो उसे इन्हीं उच्चतर क्षेत्रोंकी शक्तिके प्रति अपने-आपको खोलना होगा उन क्षेत्रोंमें ऊपर उठना होगा और उनकी शक्तिद्वारा अंतस्तलकी चेतना और ऊपरी तलकी सत्ता इन दोनोंका परिवर्तन करना होगा। और यह कार्य भी सावधानीके साथ करना होगा अपरिपक्व अवस्थामें या उतावलीके साथ नहीं बल्कि एक उच्चतर परिचालनका अनुसरण करते हुए और सदा उचित भावमें रहते हुए नहीं तो हो सकता है कि जिस शक्ति-को नीचे उतारा जायगा वह इतनी प्रबल हो कि उसको प्रकृतिका यह अंधकारमय और कमजोर ढांचा सहन न कर सके। किंतु निम्नतर अवचेतनाके उद्घाटनसे आरंभ करना जिसमें यह खतरा रहता है कि उसमें जो कुछ गंदला या अंधेरा है वह सब ऊपर उठ आये बड़ी भारी भूल है यह तो अपना रास्ता छोड़कर विपत्तिको निमंत्रण देने जाना है। पहले उसे उच्चतर प्राण और मनको बल-वान् और दृढ़ बना लेना चाहिये उनमें ऊर्ध्वसे ज्योति और शांति-को लाकर भर देना चाहिये ऐसा हो जानेके बाद वह अवचेतनाको अधिक सुरक्षिततापूर्वक तथा द्रुत और सफल परिवर्तनकी संभावना-पूर्वक खोल सकता है यहांतक कि वह उसमें गोता भी लगा सकता है।

किन्हीं बातोंसे उनका अनुभव ले लेनेके द्वारा छुटकारा पानेकी पद्धति भी खतरेसे खाली नहीं है कारण इस रास्तेपर चलनेसे ऐसा होता है कि साधक उनसे छुटकारा प्राप्त करनेकी जगह उनमें सुगमतासे फंस जा सकता है। दो प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक प्रेरक भाव

है जो इस पद्धतिका पोषण करते हैं। एक प्रेरक भाव यह है कि विषयका इस प्रयोजनसे भोग किया जाय कि उसे थकाकर नष्ट किया जा सके, परतु यह किन्ही विशेष अवस्थाओमें ही उचित कहा जा सकता है, विशेषत तब जब कि किसी स्वाभाविक प्रवृत्तिका साधकपर इतना प्रबल अधिकार जम चुका हो या उसमें उस प्रवृत्ति-के प्रति इतना प्रबल आकर्षण होता हो कि विचारके द्वारा अथवा विषयको त्याग देने तथा उसके स्थानपर सत्य गतिको स्थापित करनेकी प्रक्रियाद्वारा उससे पिड न छुडाया जा सकता हो और यह जब बहुत ज्यादा होता है तब तो कभी-कभी साधकको यहातक करना पडता है कि वह साधारण जीवनकी साधारण क्रियाओकी ओर ही पुन लौट जाय, और अपने नवीन मन और सकल्पको इन क्रियाओ-के पीछे रखते हुए इस साधारण जीवनका सत्य अनुभव प्राप्त कर ले और ऐसा करनेके बाद जब यह बाधा दूर हो जाय अथवा दूर होनेकी तैयारीपर पहुच जाय तब पुन आध्यात्मिक जीवनमे प्रवेश करे। किंतु जान-बूझकर विषयोमे पडनेका यह तरीका सदा खतर-नाक है, यद्यपि कभी-कभी ऐसा करना अपरिहार्य हो जाता है। यह तभी सफल होता है जब कि साधककी सत्तामे आत्म-साक्षात्कार-की अवस्थातक पहुचनेके लिये उत्कट सकल्प होता है, कारण उस अवस्थामे यह विषयसेवन उनमें इन विषयोंके प्रति एक तीव्र असतोष और प्रतिक्रिया अर्थात् वैराग्यको उत्पन्न कर देता है, और तब सिद्धि प्राप्त कर लेनेका उसका जो सकल्प है उसे प्रकृतिके प्रतिरोधी भागोमे भी उतारा जा सकता है।

अनुभव ले लेनेका जो दूसरा प्रेरक भाव होता है वह सर्व-साधारणके अधिक उपयोगमें आनेवाला होता है। साधकको जब

किसी वस्तुको अपनी सत्तामेंसे निकाल बाहर करता है तब यह आवश्यक है कि वह पहले उस वस्तुका ज्ञान ले उसकी क्रियाका स्पष्ट आतरिक अनुभव प्राप्त कर ले तथा प्रकृतिकी कार्यप्रणाली में उस वस्तुका जो ठीक वास्तविक स्थान है उसका पता लगा ले। इसके बाद यदि वह यह देखता है कि वह सर्वथा मिथ्या गति है तो वह उसे दूर करनेके लिये और यदि वह यह देखता है कि वह एक उच्चतर और सत्य गतिका ही विकृत रूपमात्र है तो उसको रूपातरित करनेके लिये उसपर कार्य कर सकता है। इसीको या इससे मिलती-जुलती चीजको ही मनोविश्लेषण-पद्धतिने अपने प्रारं भिक और अपर्याप्त ज्ञानके द्वारा अपरिष्कृत और अनुचित रीतिसे सपन्न करनेकी चेष्टा की है। निम्नतर गतियोंको उनका ज्ञान प्राप्त करने और उनसे व्यवहार करनेके लिये चेतनाके पूर्ण प्रकाश में ऊपर उठा ले आनेकी क्रिया अपरिहार्य है कारण इसके बिना पूर्ण परिवर्तन हो ही नहीं सकता। किंतु वह ठीक तरहसे तभी सफल हो सकता है जब कि निम्न प्रकृतिकी उस शक्तिपर जो परि वर्तित किये जानेके लिये ऊपर उठायी गयी है उसपर कभी-न-कभी जल्दी या देरमें विजय प्राप्त कर लेनेके निमित्त उच्चतर ज्योति और शक्ति पर्याप्त रूपसे काम कर रही हो। बहुतसे लोग अनुभव लेने या बहाना करके केवल विरोधी गतिको ही ऊपर उठाते है, बल्कि उस गतिका त्याग करनेके बदले उसे स्वीकृति देकर उसकी सहा- यता करते है उसे जारी रखने या बार-बार करते रहनेके लिये एक दलील खोज लेते है और इस प्रकार उससे खेल करते रहते उसका जो पुनरावर्तन होता है उसे प्रश्रय देते रहते और उसे पालते रहते है बादम जब वे उससे पिंड छुड़ाना चाहते है, तब उसपर

उसका इतना अधिकार जम चुका होता है कि वे देखते हैं कि अब वे उसके पजेमें फस गये हैं और विवश हो चुके है और केवल एक भयानक सघर्ष या भगवत्कृपाका हस्तक्षेप ही उन्हे उससे मुक्त कर सकता है। प्राणकी एक प्रकारकी ऐंठन या विकारके कारण कुछ लोग ऐसा करते है, दूसरे केवल अज्ञानके वश होकर करते है, किंतु जैसा साधारण जीवनमे है वैसा ही योगमें भी प्रकृति अज्ञानको साधकके बचावके लिये कोई सतोपजनक प्रमाण नही मानती। वैसे तो प्रकृतिके सभी अज्ञानमय भागोके साथ अनुचित व्यवहार करनेमें यह खतरा लगा ही हुआ है, किंतु निम्न प्राणकी अवचेतना और उसकी गतियोंसे बढकर अधिक अज्ञानमय, अधिक खतरनाक, अधिक कुतर्की और पुनरावर्तन करनेके लिये अधिक हठी प्रकृतिका और कोई भाग नही है। अत इस भागको अपक्वावस्थामें ही या अनुचित रीतिसे अनुभव लेनेके लिये ऊपर उठाकर ले जानेका अर्थ होता है सचेतन भागोको भी उसकी अधकारमय और गदी सामग्रीमें मिलाकर लिप्त करने और इस प्रकार समग्र प्राण यहा-तक कि मनोमय प्रकृतिको भी विषाक्त करनेकी जोखिम उठाना। इसलिये सदा ही साधकको चाहिये कि वह भावात्मक अनुभूतिद्वारा प्रारभ करे, न कि अभावात्मकद्वारा, अर्थात् पहले वह दिव्य प्रकृतिकी किसी वस्तु, शाति, ज्योति, समता, शुद्धि, दिव्य बलको अपनी सचेतन सत्ताके उन भागोमें जिनका परिवर्तन करना है, उतार लाये और जब वह कार्य पर्याप्त मात्रामें हो जाय और वहा एक दृढ भावात्मक नीवकी स्थापना हो जाय, तभी यह निरापद होता है कि उन छिपे हुए अवचेतनाके विरोधी तत्वोको इस प्रयोजनके लिये ऊपर उठाया जाय जिसमें दिव्य शाति, ज्योति, शक्ति और ज्ञानके

जिसके द्वारा उनका विनाश और निराकरण किया जा सके। ऐसा होनेपर भी इस निम्नतर सामग्रीका यथेष्ट अंश अपने-आप ऊपर उठता रहेगा और इन विघ्नोंसे त्राण पानेके लिये जितना आवश्यक है उतना अनुभव तुम्हें देता रहेगा, किंतु अंतर यही होगा कि उस समय इनके साथ व्यवहार करनेमें तुम्हें बहुत ही कम खतरा रहेगा और यह कार्य तुम एक उच्चतर आंतर परिचालनकी अधीनतामें रहते हुए कर सकोगे।

इन मनोविश्लेषणवादियोंकी बातोंपर जरा भी गंभीरतापूर्वक ध्यान देना मेरे लिये उस समय कठिन हो जाता है जब मैं यह देखता हूं कि ये लोग आध्यात्मिक अनुभूतिकी अपनी टार्चकी झिल-मिलाती हुई रोशनीसे परीक्षा करनेकी चेष्टा करते हैं—फिर भी शायद इनपर विचार करना चाहिये, कारण अर्द्ध-ज्ञान एक शक्तिशाली चीज होता है जो वास्तविक सत्यको सामने आने देनेमें एक महान् बाधा बन सकता है। यह नवीन मनोविज्ञान मुझे तो बहुत कुछ ऐसा दिखायी देता है जैसे कि बालक यथोचित रूपसे वर्णमाला भी नहीं बल्कि उसके किसी संक्षिप्त रूपको याद कर रहे हों और अवचेतना तथा रहस्यमय गुप्त और अति-अहंकार-रूपी अपने 'क-ख-ग-घ'को मिला-मिलाकर एकदम मग्न हो रहे हों और यह समझ रहे हों कि उनकी यह पहली किताब (पे-ड़=पेड़ बि-ल्ली=बिल्ली) ही जो एक मुख्यतमा प्रारम्भ है वास्तविक ज्ञानका मार्ग है। ये लोग नीचेकी ओरसे ऊपरको देखते हैं और निम्नतर अंधकारके द्वारा उच्चतर प्रकाशकी व्याख्या किया करते हैं, परंतु इन चीजोंका मूल ऊपर

है, नीचे नही, "उपरि बुध्न एषाम्।" वस्तुओका वास्तविक मूल अतिचेतना है, न कि अवचेतना। कमलका अर्थ उस कीचडके, जिसके अदरमे वह यहा इस भूमिपर पैदा होता है, किही गुप्त तत्त्वो-का विश्लेषण करके नही जाना जा सकता, उसका रहस्य तो कमल-के उस द्युलोकस्थ आदर्श नमूनेमें मिलेगा जो वहाके प्रकाशमे सदा-सर्वदा खिला रहता है। इसके अतिरिक्त इन मनोविश्लेषणवादि-योका स्वनिर्मित क्षेत्र भी क्षुद्र, अधकारमय और मर्यादित है, किसी चीजके अशको जाननेके लिये पहले तुम्हे उस चीजकी समग्रताका ज्ञान होना आवश्यक है, इसी प्रकार निम्नतमको यथार्थ रूपमें जानने-के लिये पहले उच्चतमको जानना होगा। यही शुभ आशा है एक वृहत्तर मनोविज्ञानके उदय होनेकी जो उदित होनेके लिये अपने कालकी प्रतीक्षा कर रहा है जिसके समक्ष यह इस प्रकारका अधेरे-में टटोलते फिरना समाप्त हो जायगा और इसका अस्तित्व ही नही रह जायगा।

***

चूकि निद्राका आधार अवचेतना है, इसलिये यह प्राय चेतना-को निम्नतर स्तरमें गिरा देती है, यदि यह सचेतन निद्रा न हो जाय। अत इसका स्थायी इलाज यही है कि इसे अधिकाधिक सचेतन वनाया जाय, किंतु जबतक यह नही हो जाता तवतक भी साधकको जव वह जागे तव सदा इस अधोगमनकी प्रवृत्तिके विरुद्ध प्रतिक्रिया करते रहना चाहिये और रात्रिकी सुस्तीके असरको अपने-में जमा नही होने देना चाहिये। परतु इन बातोंके लिये सदा एक स्थायी प्रयास और साधनाकी आवश्यकता होती है और यह

समय-सापेक्ष है। कभी-कभी तो इसमें बहुत अधिक समय लग जाता है। अतएव तात्कालिक फल मिलता नहीं दिखायी देता इस कारण इस प्रयासको ही छोड़ देनेसे काम नहीं चलेगा।

*

जबतक कि निद्रावस्थामें जो अनुभूतियां होती हैं वे विशेष प्रकारकी और ऊपर उठानेवाली न हों अथवा जबतक कि जो यौगिक चेतना प्राप्त की गयी है वह स्वयं भौतिक स्तरमें ही इतनी प्रबल न हो गयी हो कि वह जड़ताकी ओर से आनेवाले खिंचावपर प्रतिक्रिया कर सके तबतक जाग्रत चेतनाके समय साधनाके द्वारा साधक चेतनाके जिस स्तरमें पहुंचता है रात्रिमें वह चेतना प्रायः सदा ही उस स्तरसे नीचे उतर आती है। साधारण निद्रावस्थामें जो चेतना शरीरमें रहती है वह अवचेतन शरीरकी चेतना होती है। यह क्षीणताको प्राप्त हुई चेतना होती है न कि सत्ताके बाकीके अंगों-की तरह जाग्रत और जीवित चेतना। सत्ताका बाकी अंश उस समय अलग रहता है और उसकी चेतनाका एक भाग बाहर निकल-कर अन्य स्तरों और क्षेत्रोंमें जाता है और अनुभूतियां प्राप्त करता है। ये अनुभूतियां ही जैसे स्वप्नका तुमने वर्णन किया है वैसे स्वप्नोंके रूपमें दिखायी देती हैं। तुम कहते हो कि तुम बहुत बुरे स्थानोंमें चले जाते हो और तुम्हें इस तरहकी अनुभूतियां होती हैं जिनमेंसे एकका तुमने उल्लेख किया है। परंतु यह इस बातका कोई अशुभ चिह्न नहीं है कि तुममें कोई खराबी है। इसका केवल यही अर्थ है कि तुम प्राणमय लोकमें चले जाते हो जैसा कि हरेक मनुष्य करता है और यह प्राणमय जगत् ऐसे स्थानों और ऐसी

अनुभूतियोंसे भरा पडा है। तुम्हे जो करना है वह यह नही कि तुम इस बातका इतना अधिक यत्न करो कि तुम ऐसे स्थानोंमें जाओ ही नही, कारण वहाका जाना तो सर्वथा बद नही किया जा सकता, किंतु तुमको इस बातका यत्न करना चाहिये कि जबतक इन अतिभौतिक प्रकृतिके क्षेत्रोपर तुम्हे पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त न हो तब-तक तुम जो वहा जाओ तो पूर्ण सरक्षणके साथ ही जाओ। यह भी एक कारण है जिससे तुमको सोनेसे पहले माताका स्मरण कर लेना चाहिये और शक्तिके प्रति उन्मुख हो जाना चाहिये, कारण जितना ही अधिक तुम यह अभ्यास डाल सकोगे और जितना ही इसे सफलतापूर्वक कर सकोगे उतना ही अधिक यह सरक्षण तुम्हारे साथ रहेगा।

*
**

इन सब स्वप्नोको तुम निरे स्वप्न ही मत समझो, ये सभी आकस्मिक और असबद्ध रूपसे अथवा अवचेतनाद्वारा निर्मित नही हुए हैं। बहुतसे तो प्राणमय लोक, जहा जीव निद्रावस्थामें प्रवेश करता है वहाकी अनुभूतियोके चित्रण या प्रतिच्छाया-रूप है और कुछ सूक्ष्म भौतिक स्तरके दृश्य अथवा घटनाए हैं। वहापर जीव प्राय इस प्रकारकी घटनाओंके स्पर्शमें आता है अथवा ऐसी क्रियाए करता रहता है जो उसके जागृत कालके जीवनकी घटनाओ और क्रियाओंसे मिलती-जुलती होती हैं। इन घटनाओ और क्रियाओंमें वे ही परिस्थितिया और मनुष्य होते है जो उसके जागृत कालके जीवनमें थे, यद्यपि इनके क्रम और आकार-प्रकारमें कम या बहुत अधिक अतर रहता है। किंतु स्वप्नमें अन्य परिस्थितियो और

अन्य मनुष्योंसे भी संस्पर्श हो सकता है जिनसे भौतिक जीवनका परिचय ही न हो या जो भौतिक जगत्से कुछ भी संबंध न रखते हों।

जाग्रत दशामें तुम अपनी प्रकृतिके कुछ मर्यादित क्षेत्र और क्रियासे ही अवगत होते हो। निद्रावस्थामें तुम इस क्षेत्रके परे जो चीजें हैं उनकी स्पष्ट रूपसे जानकारी प्राप्त कर सकते हो—जाग्रत दशाके पीछे रहनेवाली एक बृहत्तर मनोमय या प्राणमय प्रकृति है अथवा एक सूक्ष्म भौतिक या अवचेतन प्रकृति है इसी प्रकृतिमें तुम्हारा वह अधिकांश भाग रहता है जो तुम्हारे अंदर विद्यमान है परन्तु जो जाग्रत अवस्थामें स्पष्टतया क्रियाशील नहीं रहता। इन समस्त अज्ञानमय क्षेत्रोंको शुद्ध करना होगा नहीं तो प्रकृति-का परिवर्तन होना असंभव हो जायगा। प्राणमय या अवचेतन स्वप्नोंकि दशामें तुम्हें अपने आपको विचलित नहीं होने देना चाहिये। कारण स्वप्नानुभूतिका अधिकांश भाग इन्हीं क्षेत्रोंसे बना हुआ होता है—प्रत्युत इन बातोंसे तथा जिन क्रियाओंका वे निर्देश करते हैं उन से छुटकारा पानेके लिये और सचेतन होने तथा भागवत सत्यके अतिरिक्त और समस्त चीजोंका त्याग करनेके लिये अभीप्सा करनी चाहिये। इस भागवत सत्यको तुम जितना ही अधिक प्राप्त करोगे और जाग्रत अवस्थामें बाकीकी सब चीजोंका त्याग करते हुए, इसे ही निरंतर अपनामें रह सकोगे उतनी ही निम्न कोटिकी यह सब स्वप्न-सामग्री अधिकाधिक शुद्ध होती चली जायगी।

*

जिन स्वप्नोंका तुम वर्णन करते हो वे स्पष्ट रूपसे प्रतीकात्मक स्वप्न हैं और प्राणमय स्तरके हैं। ये स्वप्न किसी भी बातके प्रतीक

हो सकते है, जैसे, क्रीडा करती हुई शक्तियोके, जिन चीजोको कार्य-में परिणत किया है या जिनकी अनुभूति प्राप्त की है उनके आधार-भूत ढाचे या बुनावटके, वास्तविक या सभावित घटनाओंके, आतर या वाह्य प्रकृतिमे अमली या सुझायी हुई गतियो या परिवर्तनोंके।

भीरुता, स्वप्नमे भय होना जिसका सकेत था, सभवत सचेतन मन या उच्चतर प्राणकी कोई वस्तु नही थी वल्कि निम्न प्राण-प्रकृतिमे कोई अवचेतनाकी वस्तु थी। यह भाग सदा ही अपनेको तुच्छ और अकिंचन वोध करता है और इसको यह भय लगा ही रहता है कि वह कही महत्तर चेतनाद्वारा निगल न लिया जाय—यह भय कुछ लोगोको तो प्रथम स्पर्श के होनेपर यहातक होता है कि जैसे कोई दहला देनेवाला आतक या त्रास हो।

इस प्रकारके सब स्वप्न वहुत स्पष्ट रूपसे ऐसी रचनाए है जैसी कि जीवको प्राणमय जगत्में प्राय मिलती हैं और कभी-कभी मनोमय जगत्में भी। कभी तो ये रचनाए तुम्हारे अपने ही मन या प्राणकी होती हैं, कभी दूसरोके मनकी होती हैं जो या तो ठीक उसी रूपमें या कुछ परिवर्तनके साथ तुममें चली आती हैं, और कभी ऐसी रचनाए आ जाती है जो दूसरे स्तरोकी अमानुषी शक्ति-यो या सत्ताओंद्वारा रची हुई होती हैं। ये वाते सत्य नही होती और इस भौतिक जगत्मे इनके सच्ची सावित होनेकी कोई जरू-रत भी नही, किंतु फिर भी यदि इनकी रचना इसी प्रयोजन और इसी प्रवृत्तिसे हुई हो तो ये शरीरपर असर कर सकती हैं, और यदि इन्हे सम्मति दी गयी तो ये आतर या वाह्य जीवनमें अपने उद्दिष्ट परिणामको पूरा कर सकती अथवा अपना मतलब साध सकती हैं—कारण ये स्वप्न अधिकाशत प्रतीकात्मक या आयो-

घनात्मक होते हैं। इनके साथ यही उचित है कि इनका केवल निरीक्षण किया जाय तथा इनको समझ लिया जाय और यदि वे विरोधी लोकोंसे आये हों तो इनका त्याग कर दिया जाय या इन्हें नष्ट कर दिया जाय।

एक और प्रकारके स्वप्न होते हैं जो उपर्युक्त ढंगके नहीं होते बल्कि दूसरे स्तरों दूसरे लोकोंमें हमारी अवस्थाओंसे सर्वथा भिन्न अवस्थाओंके अंतर्गत जो बातें वस्तुतः घटित होती हैं उनका निदर्शन करानेवाले या उनकी प्रतिच्छाया-रूप होते हैं। और फिर कुछ ऐसे स्वप्न होते हैं जो एकदम प्रतीकात्मक होते हैं और कुछ ऐसे जो हमारे अंदरकी वर्तमान गतियों और प्रवृत्तियोंका दिग्दर्शन कराते हैं इन गतियों और प्रवृत्तियोंको हमारा जागृत मन चाहे जानता हो या नहीं अथवा ये स्वप्न हमारी पुरानी स्मृतियोंको अपने उप-योगमें लाते हैं या अवचेतनाकी चीजोंको वे चाहे भिन्न-भिन्न रूप-से पड़ी हों या अभीतक कार्यशील हों ऊपर उठाकर ले आते हैं। इस अवचेतनामें उन विविध प्रकारकी सामग्रियोंका समूह है जिन्हें उच्च चेतनामें उठनेवाले साधकको या तो परिवर्तित कर देना है या जिनसे छुटकारा ही पा लेना है। इन स्वप्नोंका अभिप्राय समझ लेना यदि कोई सीख जाय तो वह इनसे हमारी प्रकृतिकी और प्रकृतिके अन्य रहस्योंका बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

*

रातको जागते रहनेका यत्न करना ठीक मार्ग नहीं है आव-श्यक निद्राका निग्रह करनेसे शरीर तामसिक हो जाता है और जागृत ध्यानके समय जिस एकाग्रताकी आवश्यकता है उसके लिये असमर्थ

हो जाता है। उचित मार्ग निद्राका निग्रह करना नहीं वल्कि उसे रूपातरित करना है, विशेषत यह सीख लेना है कि निद्रा लेते हुए भी अधिकाधिक सचेतन कैसे रहा जाय। ऐसा करनेसे निद्रा चेतना-की एक आतरिक अवस्थामे परिणत हो जाती है जिस अवस्थामें साधना ठीक उसी प्रकार चालू रह सकती है जैसी कि जागृत अवस्था-में, और साथ-ही-साथ साधक इस योग्य हो जाता है कि चेतनाके भौतिक स्तरके अतिरिक्त अन्य स्तरोंमें भी वह प्रवेश कर सके और सूचनात्मक तथा उपयोग्य अनुभूतियोंके एक अति विशाल क्षेत्रपर आधिपत्य स्थापित कर सके।

***

निद्राका काम किसी दूसरी चीजसे नहीं लिया जा सकता, किंतु इसका परिवर्तन किया जा सकता है, कारण तुम निद्रामें भी स-चेतन रह सकते हो। यदि तुम इस प्रकार सचेतन हो सको तो रात्रि उच्चतर कार्यके लिये उपयोगमें लायी जा सकती है—वशर्ते कि शरीरको आवश्यक आराम मिल जाय, कारण निद्राका उद्देश्य यह है कि इससे शरीरको आराम मिले और प्राण-भौतिक शक्ति-का फिरसे सचार हो। शरीरको आहार और निद्रा न देना भूल है, जैसा कि कुछ लोग वैराग्यके भाव या आवेशमें आकर करना चाहते हैं—ऐसा करनेसे तो भौतिक अवलब ही क्षीण होने लगता है और, यद्यपि यौगिक या प्राणमय शक्ति थके हुए या क्षीणताको प्राप्त हुए शरीरके अवयवोंको दीर्घकालतक कार्यक्षम बनाये हुए रख सकती है, परन्तु एक समय आता है जब कि इस शक्तिको प्राप्त करना इतना सहज नहीं रहता, वल्कि यह भी कहा जा सकता है

भावात्मक होते हैं। इनके साथ यही उचित है कि इनका केवल निरीक्षण किया जाय तथा इनको समझ लिया जाय और यदि ये विरोधी स्रोतसे आये हों तो इनका त्याग कर दिया जाय या इन्हें नष्ट कर दिया जाय।

एक और प्रकारके स्वप्न होते हैं जो उपर्युक्त ढंगके नहीं होते बल्कि दूसरे स्तरों दूसरे लोकोंमें हमारी अवस्थाओंसे सर्वथा भिन्न अवस्थाओंके अन्तर्गत जो बातें वस्तुतः घटित होती हैं उनका निदर्शन करानेवाले या उनकी प्रतिच्छायामात्र-रूप होते हैं। और फिर कुछ ऐसे स्वप्न होते हैं जो एकदम प्रतीकात्मक होते हैं और कुछ ऐसे जो हमारे अन्दरकी वर्तमान गतियों और प्रवृत्तियोंका दिग्दर्शन कराते हैं इन गतियों और प्रवृत्तियोंको हमारा जागृत मन चाहे जानता हो या नहीं अथवा ये स्वप्न हमारी पुरानी स्मृतियोंको अपने उपयोगमें लाते हैं या अवचेतनाकी चीजोंको न चाहे निष्क्रिय रूपसे पड़ी हों या अभीतक कार्यशील हों ऊपर उठाकर ले आते हैं। इस अवचेतनामें उन विविध प्रकारकी सामग्रियोंका समूह है जिन्हें उच्च चेतनामें उठानेवाले साधकको या तो परिवर्तित कर देना है या जिनसे छुटकारा ही पा लेना है। इन स्वप्नोंका अभिप्राय समझ लेना यदि कोई सीख जाय तो वह इनसे हमारी प्रकृतिकी और प्रकृतिके अन्य रहस्योंका बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

शरीरको जागते रखनेका यत्न करना ठीक मार्ग नहीं है आव-श्यकतासे अधिक निद्राका निग्रह करनेसे शरीर तामसिक हो जाता है और जागृतिके समय जिस एकाग्रताकी आवश्यकता है उसके लिये असमर्थ

हो जाता है। उचित मार्ग निद्राका निग्रह करना नहीं वल्कि उसे रूपांतरित करना है, विशेषत यह सीख लेना है कि निद्रा लेते हुए भी अधिकाधिक सचेतन कैसे रहा जाय। ऐसा करनेमें निद्रा चेतना-की एक आतरिक अवस्थामें परिणत हो जाती है जिस अवस्थामें साधना ठीक उसी प्रकार चालू रह सकती है जैसी कि जागृत अवस्था-में, और साथ-ही-साथ साधक इस योग्य हो जाता है कि चेतनाके भौतिक स्तरके अतिरिक्त अन्य स्तरोंमें भी वह प्रवेश कर सके और सूचनात्मक तथा उपयोग्य अनुभूतियोंके एक अति विशाल क्षेत्रपर आधिपत्य स्थापित कर सके।

***

निद्राका काम किसी दूसरी चीजसे नहीं लिया जा सकता, किंतु इसका परिवर्तन किया जा सकता है, कारण तुम निद्रामें भी स-चेतन रह सकते हो। यदि तुम इस प्रकार सचेतन हो सको तो रात्रि उच्चतर कार्यके लिये उपयोगमें लायी जा सकती है—बशर्ते कि शरीरको आवश्यक आराम मिल जाय, कारण निद्राका उद्देश्य यह है कि इससे शरीरको आराम मिले और प्राण-भौतिक शक्ति-का फिरसे सचार हो। शरीरको आहार और निद्रा न देना भूल है, जैसा कि कुछ लोग वैराग्यके भाव या आवेशमें आकर करना चाहते हैं—ऐसा करनेसे तो भौतिक अवलब ही क्षीण होने लगता है और, यद्यपि यौगिक या प्राणमय शक्ति थके हुए या क्षीणताको प्राप्त हुए शरीरके अवयवोको दीर्घकालतक कार्यक्षम बनाये हुए रख सकती है, परन्तु एक समय आता है जब कि इस शक्तिको प्राप्त करना इतना सहज नहीं रहता, बल्कि यह भी कहा जा सकता है

कि प्रायः अर्थमय हो जाता है। शरीर अथवा कार्य सुचारु रूप-
से कर सके इसके लिये शरीरको जो कुछ आवश्यक है वह उसे
दिया ही जाना चाहिये। परिमित पर यथेष्ट आहार (बिना किसी
लोलुपता या कामनाके) यथेष्ट निद्रा किंतु घोर तामसिक प्रकार
की नहीं यही नियम होना चाहिये।

⁂

जिस निद्राका तुमने वर्णन किया है जिसमें ज्योतिर्मय निश्चल-
नीरवता होती है अथवा वह निद्रा जिसमें शरीरके रोम-रोममें आनंद
छा जाता है ये अवस्थाएं स्पष्ट रूपसे उत्तम हैं। इसको छोड़कर
बाकीका जो निद्राकाल है जिसका तुम्हें भान नहीं रहता हो सकता
है कि तुम उस समय गंभीर निद्राके प्रभावमें थे और भौतिक स्तर
से निकलकर मनोमय प्राणमय और अन्य स्तरोंमें चले गये थे।
तुम कहते हो कि उस समय तुम अचेत थे किंतु यह तो केवल यही
हो सकता है कि तुम्हें इस बातका स्मरण न हो कि उस समय
क्या-क्या हुआ था कारण उपर्युक्त स्तरोंसे लौटते समय चेतनाका
एक तरहका पलटाव होता है, एक प्रकारका अवस्थांतर या विपर्यास
होता है उस समय निद्रावस्थामें जो कुछ भी अनुभव हुआ हो उस
सबमें संभवतः केवल अंतिम अनुभव अथवा वह अनुभव जो कि बहुत
ही प्रभावोत्पादक हो उसको छोड़कर बाकीका सब कुछ भौतिक
चेतनासे हट जाता है और ऐसा हो जाता है कि मानो वहां कुछ
था ही नहीं सब कुछ शून्य था। एक और भी शून्यावस्था होती
है, जड़ताभरी अवस्था जो केवल शून्य ही नहीं प्रत्युत भाराक्रांत
और स्मृतिसत्ताविहीन होती है किंतु यह अवस्था तब होती है जब

कोई गहरे तौरसे और प्रगाढताके साथ अवचेतनामें प्रवेश कर जाता है, इस तरह अवतलमें गोता लगाना अत्यंत अवाञ्छनीय है, इससे चेतना अंधकाराच्छन्न और निम्नोन्मुखी हो जाती है तथा विश्राम-के स्थानमें बहुधा थकावट उत्पन्न होती है जो ज्योतिर्मय निश्चल-नीरवताकी अवस्थासे बिलकुल विपरीत प्रकारकी अवस्था है।

तुम्हारी निद्रा न तो अर्द्ध-निद्रा थी न चौथाई, न निद्राका षोड-षांश ही, यह चेतनाका अंतःप्रवेश था जो इस अवस्थामें भी सचेतन तो रहती है पर बाह्य बातोंके लिये अपनेको बंद किये हुए होती है और केवल अंतःअनुभूतिके लिये ही उद्घाटित रहती है। इन दो सर्वथा भिन्न अवस्थाओंका तुम्हें विवेक होना चाहिये, एक अवस्था है निद्रा और दूसरी है समाधि (अवश्य ही निर्विकल्प नहीं) का प्रारंभ। इस तरहका अंतःप्रवेश आवश्यक है, कारण मनुष्यका क्रियाशील मन पहले बाह्य वस्तुओंकी ओर ही प्रायः मुंह किये रहता है, यह मन अंतःसत्ता (अंतः मन, अंतः प्राण, अंतः शरीर, अंतरात्मा) में रहने लगे इसके लिये इसे पहले पूर्ण रूपसे अंतःमें प्रवेश करना होता है। किंतु अभ्यासके द्वारा साधक एक ऐसी अवस्था प्राप्त कर सकता है जिसमें वह बाह्यतः सचेत रहता है पर फिर भी अंतःमें निवास करता है और जब चाहे तब अंतःप्रविष्ट या बहिर्गत अवस्थाओंमें आ जा सकता है। इस अवस्थाको प्राप्त होनेपर तुम जागृत अवस्थामें भी उस अवस्थाकी-सी सघन निश्चल-ता और उसी अवस्थाका-सा महत्तर और विशुद्धतर चेतनाका अपने

अंदर ऊपरसे भरा जाना प्राप्त कर सकते हो जिस अवस्थाको तुम भ्रमवश निद्राके नामसे पुकार रहे हो।

*

साधना करते हुए इस तरहकी शारीरिक थकावट हो जाना यह विभिन्न कारणोंसे हो सकता है—

(१) शरीर जितना हजम कर सके उससे अधिक ग्रहण कर लेनेसे ऐसी थकावट आ सकती है। तब इसका इलाज यह है कि सचेतन निश्चलतामें शांतिपूर्वक विश्राम करना शक्तियोंको ग्रहण तो करना परन्तु ऐसा करनेका एकमात्र प्रयोजन सामर्थ्य और शक्तिकी पुनः प्राप्ति हो और कुछ भी नहीं।

(२) निष्क्रियता जब जड़ताका रूप धारण कर ले तब ऐसी थकावट आ सकती है—यह जड़ता चेतनाको नीचे अर्थात् साधारण भौतिक स्तरपर, उतार लाती है जो जल्दी ही थक जानेवाला और तामसिकताकी ओर झुकाव रखनेवाला होता है। यहाँका इलाज है कि फिर सत्य चेतनामें लौटा जाय और वहीं विश्राम किया जाय न कि जड़तामें।

(३) केवल शरीरद्वारा ही अत्यधिक परिश्रम किये जानेके कारण भी यह थकावट आ सकती है—अर्थात् शरीरको यथेष्ट निद्रा या विश्राम न दिया गया हो। शरीर योगका आधार है किंतु इसकी शक्ति ऐसी नहीं है कि कभी क्षीण ही न हो अतः इसकी शक्तियोंकी बराबर देख-भाल रखनेकी आवश्यकता होती है। विश्वव्यापी प्राणशक्तिको ला-लाकर तुम शरीरको बनाये रख सकते हो किंतु इस विश्वव्यापी प्राणशक्तिमें भी बल प्राप्त करते रहनेकी एक

मर्यादा है। अतएव उन्नति करनेकी उत्सुकतामें भी एक प्रकारकी परिमितता बरतनेकी आवश्यकता है–परिमितता न कि उदासीनता या आलस्य।

*
**

रोग इस बातका चिह्न है कि शरीरमे कही कुछ अपूर्णता या दुर्बलता है अथवा भौतिक प्रकृति विरोधी शक्तियोंके स्पर्शके लिये कहींसे खुली हुई है, इसके साथ ही रोगका प्राय निम्न प्राण या भौतिक मन अथवा किसी अन्य स्थानमे किसी प्रकारके अवकार या असामजस्यमे सबध रहता है।

यदि कोई श्रद्धा और योगशक्तिसे या भागवत शक्तिको अदर-में उतार लाकर रोगसे पूरी तरह छुटकारा पा सके तो यह तो बहुत ही अच्छी बात है। परतु एकबारगी ऐसा करना बहुधा सभव नही होता, कारण समग्र प्रकृति शक्तिके प्रति उद्घाटित नही होती अथवा उसका साथ देनेमें असमर्थ होती है। हो सकता है कि मन श्रद्धालु हो और शक्तिका साथ दे, किंतु निम्नप्राण और शरीर उसका अनुगमन न कर सके। या, यदि मन और प्राण तैयार हो तो यह सभव है कि शरीर साथ न दे और यदि साथ दे भी तो केवल आशिक रूपसे, कारण इसकी यह आदत है कि यह उन शक्तियोकी, जो एक विशिष्ट रोगको पैदा करती हैं, पुकारका उत्तर देता है और प्रकृतिके जड भागमें जो आदत पड जाती है वह एक महा हठीली शक्ति है। ऐसी अवस्थाओमे भौतिक साधनोका आश्रय लिया जा सकता है–प्रधान साधनके तौरपर नही, बल्कि एक सहा-यताके तौरपर अथवा यह समझकर कि शक्तिकी क्रियाके लिये यह

एक तरहका स्थूल सहारा होगा। अत्यंत तीव्र और जोरदार योग विषयोंका प्रयोग नहीं किंतु ऐसी ओषधियोंका प्रयोग करना चाहिये जो शरीरमें किसी प्रकारकी गड़बड़ मचाये बिना ही लाभदायक हो।

❖

रोगोंके आक्रमण निम्न प्रकृतिके या विरोधी शक्तियोंके आक्रमण होते हैं जो प्रकृतिमें किसी प्रकारकी कमजोरी देखकर, उसका कोई दरवाजा खुला पानेपर अथवा उसका कुछ भी सहयोग मिलने पर अंदर आ घुसते हैं—ऐसी अन्य सब वस्तुओंकी तरह जो हमारे अंदर आती हैं पर जिन्हें हमें निकाल बाहर कर देना होता है ये रोग भी हमारे अदर बाहरसे ही आते हैं। जब ये आते हैं तभी यदि कोई इनके आनेका अनुभव कर सके और इनके शरीरमें प्रवेश करनेसे पहले ही इन्हें दूर फेंक देनेकी शक्ति और अभ्यास उसमें हो जाय तो ऐसा व्यक्ति रोगसे मुक्त रह सकता है। और जब यह आक्रमण अदरसे उठता हुआ दिखायी देता है तब भी यही समझना चाहिये कि यह आया तो बाहरसे ही है पर अवचेतनामें प्रवेश करनेसे पहले पकड़ा नहीं जा सका और एक बार जहां यह अवचेतनामें आ पहुंचा कि यह शक्ति जो इसको वहां लायी है जल्दी ही या देरमें इसे अवश्य उभाड़ती ही है और तब यह शरीरको आक्रांत कर लेता है। जब तुम्हें शरीरमें घुस आनेके अनन्तर ही इसका अनुभव होता है तो यह इसलिये होता है कि यद्यपि यह अवचेतनाके द्वारसे नहीं किंतु सीधे ही अदर घुस आया है फिर भी जबतक यह अभी बाहर ही था तभी तुम इसको नहीं पकड़ सके। बहुधा यह इसी तरहसे आया करता है सामनेसे

अथवा प्राय पार्श्वसे सताप रेखामे, सीधे, सूक्ष्म प्राणमय परिवेष्टन-को, जो कि हमारे सरक्षणका प्रधान कवच है, भेदन करके वलात् अदर घुस आता है। परतु इसके भौतिक शरीरमे घुम सकनेके पहले ही इसे यही, उस प्राणमय परिवेष्टनमे ही, रोक दिया जा सकता है। इस हालतमें यह हो सकता है कि साधकको रोगका कुछ असर हो,--ऐसा हो सकता है कि ज्वरसा या जुकामसा हो जाय, परतु व्याधिका पूर्ण आक्रमण नही हो सकता। इससे भी कुछ पहले यदि इसे रोका जा सके या प्राणमय परिवेष्टन स्वय इसका प्रतिरोध करे और अपने-आपको दृढ, सवल और अखड वनाये रखे तो फिर रोग होगा ही नही, इस आक्रमणका शरीरपर कोई असर ही नही होगा और इसका कोई नाम-निशानतक नही रहेगा।

***

निस्सदेह, रोगपर अदरसे क्रिया की जा सकती है और उसे आराम किया जा सकता है। परतु वात यह है कि यह कार्य सदा सहज नही होता, कारण जड प्रकृति वहुत अधिक प्रतिरोध किया करती है, तमोगुणका प्रतिरोध होना ही रहता है। अतएव एक अथक लगनकी आवश्यकता होती है, आरभमे यह प्रयास पूर्ण रूप-से व्यर्थ हो सकता है अथवा रोगके लक्षण वढ़ जा सकते हैं, पर क्रमश अभ्यास करते-करते शरीर या किसी रोगविशेषपर नियत्रण करनेकी उसकी शक्ति वढ जाती है। इसके अतिरिक्त रोगके आक-स्मिक आक्रमणको आतरिक साधनोंके द्वारा आराम कर लेना अपेक्षा-कृत सहज है, परतु शरीरको ऐसा बना डालना कि भविष्यमें उसमें

एक तरहका स्थूल सहारा होगा। अत्यंत तीव्र और जोरदार ओष-धियोंका प्रयोग नहीं किंतु ऐसी ओषधियोंका प्रयोग करना चाहिये जो शरीरमें किसी प्रकारकी गड़बड़ मचाये बिना ही लाभदायक हों।

**

रोयोंकि आक्रमण निम्न प्रकृतिके या विरोधी शक्तियोंके आक्रमण होते हैं जो प्रकृतिमें किसी प्रकारकी कमजोरी देखकर, उसका कोई दरवाजा खुला पानेपर अथवा उसका कुछ भी सहयोग मिलनेपर अन्दर आ घुसते हैं—ऐसी अन्य सब वस्तुओंकी तरह जो हमारे अन्दर आती हैं पर जिन्हें हमें निकाल बाहर कर देना होता है ये रोग भी हमारे अन्दर बाहरसे ही आते हैं। जब ये आते हैं तभी यदि कोई इनके आनेका अनुभव कर सके और इनके शरीरमें प्रवेश करनेसे पहले ही इन्हें दूर फेंक देनेकी शक्ति और अभ्यास उसमें हो जाय तो ऐसा व्यक्ति रोगसे मुक्त रह सकता है। और जब यह आक्रमण अन्दरसे उठता हुआ दिखायी देता है तब भी यही समझना चाहिये कि यह आया तो बाहरसे ही है पर अवचेतनामें प्रवेश करनेसे पहले पकड़ा नहीं जा सका और एक बार जहां यह अवचेतनामें आ पहुंचा कि वह शक्ति जो इसको वहां लायी है जल्दी ही या देरमें इसे अवश्य उभाड़ती ही है और तब यह शरीरको आक्रांत कर लेता है। जब तुम्हें शरीरमें घुस आनेके अनन्तर ही इसका अनुभव होता है तो यह इसलिये होता है कि यद्यपि यह अवचेतनाके द्वारसे नहीं किंतु सीधे ही अन्दर घुस आया है फिर भी जबतक यह अभी बाहर ही था तभी तुम इसको नहीं पकड़ सके। बहुधा यह इसी तरहसे आया करता है सामनेसे

अथवा प्राय पार्श्वसे सताप रेखामे, सीधे, सूक्ष्म प्राणमय परिवेष्टन-को, जो कि हमारे सरक्षणका प्रधान कवच है, भेदन करके बलात् अदर घुस आता है। परतु इसके भौतिक शरीरमे घुस सकनेके पहले ही इसे यही, उस प्राणमय परिवेष्टनमे ही, रोक दिया जा सकता है। इस हालतमें यह हो सकता है कि साधकको रोगका कुछ असर हो,–ऐसा हो सकता है कि ज्वरसा या जुकामसा हो जाय, परतु व्याधिका पूर्ण आक्रमण नहीं हो सकता। इससे भी कुछ पहले यदि इसे रोका जा सके या प्राणमय परिवेष्टन स्वय इसका प्रतिरोध करे और अपने-आपको दृढ, सबल और अखड बनाये रखे तो फिर रोग होगा ही नहीं, इस आक्रमणका शरीरपर कोई असर ही नही होगा और इसका कोई नाम-निशानतक नही रहेगा।

निस्सदेह, रोगपर अदरसे क्रिया की जा सकती है और उसे आराम किया जा सकता है। परतु बात यह है कि यह कार्य सदा सहज नही होता, कारण जड प्रकृति बहुत अधिक प्रतिरोध किया करती है, तमोगुणका प्रतिरोध होता ही रहता है। अतएव एक अथक लगनकी आवश्यकता होती है, आरभमें यह प्रयास पूर्ण रूप-से व्यर्थ हो सकता है अथवा रोगके लक्षण बढ जा सकते हैं, पर क्रमश अभ्यास करते-करते शरीर या किसी रोगविशेषपर नियत्रण करनेकी उसकी शक्ति बढ जाती है। इसके अतिरिक्त रोगके आक-स्मिक आक्रमणको आतरिक साधनोंके द्वारा आराम कर लेना अपेक्षा-कृत सहज है, परतु शरीरको ऐसा बना डालना कि भविष्यमें उसमें

कभी रोग हो ही न सके अधिक कठिन है। किसी जीर्ण रोगका आंतर क्रियाद्वारा उपचार करना और भी अधिक कठिन होता है, वह पूर्ण रूपसे लुप्त हो जानेके लिये तैयार ही नहीं होता इसकी अपेक्षा शरीरकी सामयिक अस्वस्थताको दूर करना आसान होता है। जबतक शरीरपर नियमन अपूर्ण है तबतक आंतरिक शक्ति के व्यवहारमें इस तरहकी तथा अन्य अपूर्णताएं तथा कठिनाइयां बनी ही रहेंगी।

यदि तुम आंतरिक क्रियासे रोगका बढ़नाभर भी अटका सको तो यह भी एक प्राप्ति है तब तुम्हें अभ्यासके द्वारा अपनी शक्ति को उस समयतक बढ़ाते रहना है जबतक कि वह इस योग्य न हो जाय कि वह रोगको आराम कर सके। ध्यान रहे कि जबतक यह शक्ति पूर्ण रूपसे प्राप्त न हो जाय तबतक भौतिक औषधोपचार-की सहायताके सर्वथा त्याग करनेकी आवश्यकता नहीं है।

औषधि तो अंतिम उपाय है जिसका उपयोग उस समय करना पड़ता है जब कि चेतनामें कोई ऐसी चीज होती है जो शक्तिको प्रत्युत्तर ही नहीं देती या विरोधी प्रत्युत्तर देती है। बहुधा स्थूल-गत चेतनाका ही कोई भाग ऐसा होता है जो विमुख रहता है--या किसी समय जब कि समग्र जागृत मन प्राण और शरीरतक भी उस मुक्तिदायक प्रभावको स्वीकार कर लेते हैं तब यह अव-चेतना एक ऐसी चीज है जो मार्गमें बाधा डालती है। यदि अव-चेतना भी प्रत्युत्तर देने लगे तब तो शक्तिका साधारणसा स्पर्श भी किसी रोगविशेषको न केवल आराम कर सकता है बल्कि भविष्य-

के लिये रोगके उस विशिष्ट प्रकार या रूपको यथार्थत असभव बना सकता है।

**

रोगके बारेमे तुम्हारी जो परिकल्पना है, वह एक भयानक सिद्धान्त है–कारण रोग तो एक ऐसी वस्तु है जिसे निकाल बाहर करना है, न कि उसे स्वीकार करना या उसका भोग करना। सत्ता-मे कोई चीज ऐसी होती है जो रोगमे सुख भोगती है, व्याधिकी पीडाको भी, दूसरी किसी भी पीडाकी तरह, सुखके रूपमें बदल देना सभव है, क्योकि पीडा और सुख ये दोनो ही इनका मूल स्वरूप जो आनद है उसकी अधोवस्थाए है, अत इन दोनोको एक दूसरेके रूपमे परिणत किया जा सकता है या फिर इन दोनोको ही ऊपर उठाकर उन्हे उनके मूल तत्त्व आनदको प्राप्त कराया जा सकता है। यह भी ठीक है कि बीमारीको स्थिरता, समता और धैर्यके साथ सहन करनेकी शक्ति साधकमें होनी ही चाहिये, और क्योकि बीमारी आ ही गयी है अत यह मान लेना भी कि "मै बीमार हू" इसी भावसे होना चाहिये कि "यह भी एक अनुभव है, जिसे जगत्के अनुभवोमेंसे गुजरते हुए मुझे प्राप्त कर लेना है।" किंतु इसको स्वीकृति देना और इसमें सुख भोगना, इसका तो यह अर्थ होगा कि इसे शरीरमें ठहरनेके लिये सहायता दी जा रही है, ऐसा करनेसे काम नही चलेगा, कारण जैसे काम, क्रोध, ईर्षा आदि प्राण-प्रकृतिके विकृत रूप हैं और भ्राति, पक्षपात तथा मिथ्योपचार मनोमय प्रकृतिके विकृत रूप हैं वैसे ही रोग भौतिक प्रकृतिका विकृत रूप है। इन सबको निकाल बाहर करना होगा और इनका त्याग

करना इनको मिटा देनेकी पहली शर्त है और इनको स्वीकार करने-से सर्वथा विपरीत परिणाम होता है।

***

समस्त रोग भौतिक शरीरमें प्रवेश करनेसे पहले सूक्ष्म चेतना और सूक्ष्म शरीरके ज्ञानतंतुमय या प्राणभौतिक कोषसे होकर घुसते हैं। यदि किसीको सूक्ष्म शरीरका ज्ञान है या वह सूक्ष्म चेतना-से सचेतन है तो वह रोगको रास्तेमें ही अटका सकता है और उसे भौतिक शरीरमें प्रवेश करनेसे रोक सकता है। परंतु यह भी संभव है कि वह तब उसका ध्यान उधर न हो या जब वह निद्रामें हो तब आ जाय अथवा अवचेतनाके रास्तेसे या जिस समय वह आत्मरक्षाके लिये असावधान हो ठीक उसी समय एकदम आ घुसे ऐसी अवस्थामें इसके अतिरिक्त और कोई उपाय ही नहीं है कि इसने शरीरपर जितना अधिकार कर लिया है वहांसे इस को मार भगाया जाय। इन आतरिक साधनोंके द्वारा आत्मरक्षा इतनी सुदृढ़ हो सकती है कि शरीर क्रियात्मक रूपमें रोगमुक्त हो जाय। ऐसे अनेक योगी हैं जो रोगमुक्त हैं। फिर भी "क्रिया-त्मक रूपमें" का अर्थ "सर्वथा" नहीं है। सर्वथा रोगमुक्तता तो विज्ञानमय परिवर्तनसे ही होगी। कारण विज्ञानमय अवस्थाके नीचे जो यह रोगमुक्तता होती है वह आखिरकार बहुतसी शक्तियोंमेंसे एक शक्तिका ही परिणाम होता है और जो समता उसमें स्थापित हो चुकी है उसके जरा भी भंग होनेसे इस रोगमुक्तावस्थामें बाधा पड़ सकती है किंतु विज्ञानमय स्थितिमें तो यह प्रकृतिका स्वाभा-विक नियम ही है। विज्ञानमय तत्त्वके द्वारा रूपांतरित शरीरका

निर्मुक्त होना आप-से-आप होनेवाला होगा, उसकी नवीन
में स्वभावत निहित होगा।

नोमय लोक तथा अन्यान्य नीचेके लोकोमें जो यौगिक शक्ति
समें और विज्ञानमय प्रकृतिमे भेद है। जो वस्तु योग-शक्ति-
मन और शरीर-चेतनामें प्राप्त की जाती है वह विज्ञानमय
में स्वभावत अंतर्निहित है और उसकी विद्यमानता उसके कही-
प्त किये जानेपर निर्भर नही करती, किंतु स्वभावत है—वह
सिद्ध है और निरपेक्ष है।

करना इसको मिटा देनेकी पहली शर्त है और इसको स्वीकार करने से सर्वथा विपरीत परिणाम होता है।

*

समस्त रोग भौतिक शरीरमें प्रवेश करनेसे पहले सूक्ष्म चेतना और सूक्ष्म शरीरके ज्ञानतंतुमय या प्राणभौतिक कोषसे होकर गुज रते हैं। यदि किसीको सूक्ष्म शरीरका ज्ञान है या वह सूक्ष्म चेतना से सचेतन है तो वह रोगको रास्तेमें ही झटका सकता है और उसे भौतिक शरीरमें प्रवेश करनेसे रोक सकता है। परंतु यह भी संभव है कि वह जब उसका ध्यान उधर न हो या जब वह निद्रामें हो तब आ जाय अथवा अवचेतनाके रास्तेसे या जिस समय वह आत्मरक्षाके लिये असावधान हो ठीक उसी समय एकदम आ घुसे ऐसी अवस्थामें इसके अतिरिक्त और कोई उपाय ही नहीं है कि इसने शरीरपर जितना अधिकार कर लिया है वहांसे इस को मार भगाया जाय। इन आंतरिक साधनोंके द्वारा आत्मरक्षा इतनी सुदृढ़ हो सकती है कि शरीर क्रियात्मक रूपमें रोगमुक्त हो जाय। ऐसे अनेक योगी हैं जो रोगमुक्त हैं। फिर भी "क्रियात्मक रूपमें" का अर्थ 'सर्वथा' नहीं है। सर्वथा रोगमुक्तता तो विज्ञानमय परिवर्तनसे ही होगी। कारण विज्ञानमय अवस्थाके नीचे जो यह रोगमुक्तता होती है वह आखिरकार बहुतसी शक्तियोंमेंसे एक शक्तिका ही परिणाम होता है और जो समता उसमें स्थापित हो चुकी है उसके जरा भी भंग होनेसे इस रोगमुक्तावस्थामें बाधा पड़ सकती है किंतु विज्ञानमय स्थितिमें तो यह प्रकृतिका स्वाभा विक नियम ही है। विज्ञानमय तत्त्वके द्वारा विस्मीकृत शरीरका

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	लाइन	अशुद्ध रूप	शुद्ध रूप
१०	७	नका	मनका
१२	१०	लिया ह	लिया है
१५	५	वृतज्ञ	कृतज्ञ
१५	१६	सयमित	सयमित
१७	१०	देखता कि	देखता है कि
२४	१५	बनाय	बनाये
२६	११	अप	अपनी
२६	१२	अपने-आपक	अपने-आपको
२६	१५	कि	किसी
२८	४	अभीप्स	अभीप्सा
३०	११	खेलको ो	खेलको तो
३१	१६	चाहिय	चाहिये
३७	१६	अण-परमाणु	अणु-परमाणु
४२	७	शली-जसी	शैली-जैसी
४२	२०	चाहिय	चाहिये
४७	१४	कर्मका	कर्मको

१२ अट्ठाईस अभंगोंकी गवाही

तुकारामजी वारकरी सम्प्रदायके साधनमार्गपर ही चले, यह स्पष्ट है। यह मार्ग हमलोगोंने कहाँतक देखा, पर निश्चयको दृढ़ताके लिये हमलोग एक बार स्वयं तुकारामजीसे ही पूछ लें और फिर यह प्रकरण समाप्त करें। तुकारामजीने जो साधन किये, उन्हें उन्होंने अपने अभंगोंमें स्पष्ट बता दिया है। अभंगोंमें कहीं स्वयं किये हुए साधनके तौरपर और कहीं दूसरोंको उपदेश करनेके प्रसङ्गसे उन साधनोंको बताया है। तुकाराम 'जैसी वाणी वैसी करनी' वाले थे इस कारण उनकी वाणीसे उनके किये हुए साधन ही प्रकट होते हैं। छत्रपति शिवाजी महाराजको, शिवाबाईको और धरना देनेवाले ब्राह्मणको उपदेश करते हुए जो साधन उन्होंने बताये हैं उन्हें हम देखें। ऐसे सब साधनबोधक अभंगोंका एक साथ विचार करनेसे निश्चितरूपसे यह पता चल जायगा कि तुकारामजी किस साधनमार्ग-पर चले वह साधनमार्ग क्या था।

(१) सोपा मिळ चित्त । म्हणे जो रुक्मिणी-कान्त ॥१॥
पूर्ण झाला सकळ काम । निरसिला भव-भ्रम ॥ध्रु०॥
परनारी परद्रव्य । झाले विषवत् समान ॥२॥
तुका म्हणे फार । और न लगा व्यवहार ॥३॥

मैंने एक रुक्मिणीकान्तको ही चित्तमें धारण कर लिया। उसीसे सारा काम बन गया। भव-भ्रम दूर हो गया। परद्रव्य और परनारी विषवत् हो गये। तुका कहता है, कोई बड़ा उद्योग नहीं करना पड़ा। बस इतनेसे ही सारा काम बन गया, भव-भ्रम दूर हो गया। दो बातें महत्त्वकी: चित्तमें भगवान्‌को बैठाया और परद्रव्य और परनारी विषवत् हो गये। इतनेसे ही सारा काम बन गया। कौन-सा काम? भव-भ्रम दूर हो गया। तात्पर्य हरि-चिन्तन और सदाचार संसार-निवृत्तिके साधन हैं।

चित रगते ही, चैतन्य ही होता । तव क्या न्यूनता ? निजानन्द ॥ ९३ ॥
सुखके सागर, खडे ईंटपर । कृपा कर वर, वही एक ॥ ९४ ॥
जीते हम हैं जो, नामके भरोसे । गाते हैं मुखसे हरिनाम ॥
सिखाया सतोंने मुझ मूरखको । उनके वचको उर धारा ॥ ९९ ॥
पकडे हूँ दृढ विट्ठल चरण । तुका कहे आन नाहीं काम ॥

'मेरे जीको जजालसे छुड़ाया, ऐसे दयालु मेरे प्रभु नारायण हैं । सतत श्रीविठ्ठलका नाम मुखसे उचारूँ, यही मेरा नियम, यही मेरा धर्म है । तुमलोग और कहीं मत देखो, श्रीहरिकी कथा करो, उसीमें अकस्मात् तुम उन्हें देख लोगे । भावुक भक्तोंके हाथ भगवान् लगते हैं, अपनेको बड़े बुद्धिमान् लगानेवाले मर मिटते हैं तो भी भगवान् उन्हें नहीं मिलते । निर्गुण भगवान् भक्तिप्रिय माधुर्य चखनेके लिये अपनी इच्छासे सगुण बनकर प्रकट होते हैं, चित्त उनमें रँग जाय तो स्वय ही चैतन्य हो जाय, फिर वहाँ निजानन्दकी क्या कमी रहे ? वह सुखके सागर ईंटपर खड़े हैं, वही एक कृपा करनेवाले हैं । हमें उन्हींके नामका विश्वास है इसलिये वाणीसे उन्हींका नाम-सकीर्तन करते हैं । मुझ मूर्खको सतजनोंने ऐसा ही सिखाया है, उनके वचनपर विश्वास किये बैठा हूँ । श्रीविठ्ठलके चरण पकड़े बैठा हूँ । तुका कहता है, अब और कोई दूसरी इच्छा नहीं है ।'

ये लोग ससारसे ऐसे क्यों चिपके रहते हैं, इसीका मुझे बड़ा आश्चर्य लगता है । मेरा तो यह अनुभव है कि 'हरि कथा सुखाची समाधि' (हरिकथा सुखकी समाधि है) । क्या यह परमामृत भोग करना इनके भाग्यमें नहीं है ?

(६) 'गाईन ओविया पण्ढरीचा देव' (गाऊँ मैं गीत पण्ढरीके भगवन्त)—यह दूसरा अभग है । अब इसे देखें—

रँगा मेरा चित्त, चरणोंम नत । प्रेमानन्द-रत यही लाभ ॥ २ ॥
जोई यही पूँजी, ससारसे सारी । राम कृष्ण हरी, नारायण ॥ ३ ॥

(५) 'पाण्डुरंग करूँ प्रथम नमन' (पाण्डुरंगको पहले नमन करता हूँ)—तुकारामजीके ओवीरूप दो अभंग हैं। ये हैं बहुत बड़े, पर मधुर हैं। प्रत्येक अभंग सौ चरणोंका है पहला अभंग देखा जाय।

श्रमले मन संसार संभ्रमें।

'संसारमें भटकते-भटकते मैं थक गया। तो अब आपकी थकावट दूर हुई ! विश्रान्ति मिली ! समाधान हुआ ! कैसे हुआ !

शीतल या नामें झाली काया ॥ ५ ॥

'इस नामसे काया शीतल हुई।'

हरि-नाम और हरि-गुण गाओ और सब उपाय दुःखमूल हैं। मेरा उद्धार हरि-कीर्तनसे हुआ। लोगोंको अपने अनुभवका ही मार्ग बतलाता हूँ—

वैकुण्ठ जानेका यह सुन्दर मार्ग है। रामकृष्णका कीर्तन करो, दिण्डीपताका लिये उन्हींका संकीर्तन करते हुए यात्रा करो। सुजान हो, अजान हो, जो हो हरिकथा करो। मैं शपथ करके कहता हूँ कि इससे तर जाओगे। (११, १९)

निराश मत हो यह मत कहो कि हम पतित हैं हमारा उद्धार क्या होगा। मुझ-जैसा 'पतित और कोई न होगा', और लोग और साधन करते होंगे पर मेरे लिये कीर्तन छोड़ और कोई साधन नहीं और इसी साधनसे मैं तर गया।

> मज अंकित केले लिये निर्मोचन। ऐसे नारायण, दयावंत ॥ २१ ॥
> हाचि माझा नेम हाचि माझा धर्म। नित्य जप नाम श्रीविठ्ठल ॥ २४ ॥
> घरीं मज देखा, गर्जे हरिनाम। देवाचे श्रीराम पदाधिक ॥ ६० ॥
> भक्त जन दास, भावे समर्थ। करी गुप्तिमंत गिरि मस्तीं ॥ ६८ ॥
> होऊनि निर्गुण धरिते सगुण। भक्त जन प्रेम वश होऊ ॥ ८९ ॥

नाम लोभ मोह, आशा तृष्णा माया ।
जय गान गाया, हरिनाम ॥ ३६ ॥
यही रीति अंग, किये पाण्डुरंग ।
रंगाये श्रीरंग, निजरंग ॥ ४२ ॥
विट्ठलके प्यारे, हमहैं दुलारे ।
दैत्य मतवारे, काँप रहे ॥ ४६ ॥
सत्य मान सत-सज्जन-वचन ।
गहो नारायण, पदाम्बुज ॥

'अमृतका बीज, आत्मतत्त्वका सार, गुह्यका भी गुह्य रहस्य श्रीराम-नाम है । यही मुख मैं सदा लेता रहता हूँ और निर्मल हरि-कथा किया करता हूँ । हरि-कथामें सबके समाधि लग जाती है । लोभ, मोह, आशा, तृष्णा, माया सब हरि-गुण-गानसे रफूचक्कर हो जाते हैं । पाण्डुरङ्गने इसी रीतिसे मुझे अङ्गीकार किया और अपने रंगमें रँगा डाला । हम विट्ठलके लाड़िले लाल हैं, जो असुर हैं वे कालके भयसे काँपते रहते हैं । सत-वचनोंको सत्य मानकर तुमलोग नारायणकी शरणमें जाओ ।

प्रेमियोंका सङ्ग करो । धन लोभादि मायाके मोहपाश हैं । इस फन्देसे अपना गला छुड़ाओ । ज्ञानी बननेवालोंके फेरमें मत पड़ो, कारण 'निन्दा, अहंकार, वादभेद' में अटककर वे भगवान्से बिछुड़े रहते हैं । 'साधुओंका सङ्ग करो ।' 'सतसङ्गसे प्रेम-सुख लाभ करो ।'

सत-संग-हरि कथा संकीर्तन । सुखका साधन राम-नाम ॥

प्रतीतिकी यह सीधी-सादी बानी कितनी मीठी है ! ऊपर उल्लिखित दोनों अभंगशतक कण्ठ करने योग्य हैं । इस गङ्गाप्रवाहमें नित्य निमज्जन करे ।

(७) 'साधका ची दशा उदास असावी' (साधककी अवस्था उदास रहनी चाहिये—उदास किसे कहते हैं ? 'जिसे अन्दर-बाहर कोई

नासे लोभ मोह, आशा तृष्णा माया ।
जब गान गाया, हरिनाम ॥ ३६ ॥
यही रीति अग, किये पाडुरग ।
रगाये श्रीरग, निजरग ॥ ४२ ॥
विठ्ठलके प्यारे, हमहैं दुलारे ।
दैत्य मतवारे, कॉप रहे ॥ ४६ ॥
सत्य मान सत-सज्जन-वचन ।
गहो नारायण, पदाबुज ॥

'अमृतका बीज, आत्मतत्त्वका सार, गुह्यका भी गुह्य रहस्य श्रीराम-नाम है । यही सुख मै सदा लेता रहता हूँ और निर्मल हरि-कथा किया करता हूँ । हरि-कथामें सबके समाधि लग जाती है । लोभ, मोह, आशा, तृष्णा, माया सब हरि-गुण-गानसे रफूचक्कर हो जाते हैं । पाण्डुरङ्गने इसी रीतिसे मुझे अङ्गीकार किया और अपने रगमें रँगा डाला । हम विठ्ठलके लाड़िले लाल हैं, जो असुर हैं वे कालके भयसे कॉपते रहते हैं । सत-वचनोंको सत्य मानकर तुमलोग नारायणकी शरणमें जाओ ।

प्रेमियोंका सङ्ग करो । धन लोभादि मायाके मोहपाश हे । इस फन्देसे अपना गला छुड़ाओ । ज्ञानी बननेवालोंके फेरमे मत पड़ो, कारण 'निन्दा, अहकार, वादभेद' में अटककर वे भगवान्से विछुड़े रहते हैं । 'साधुओंका सङ्ग करो ।' 'सतसङ्गसे प्रेम-सुख लाभ करो ।'

सत-सग-हरि कथा सकीर्तन । सुखका साधन राम-नाम ॥

प्रतीतिकी यह सीधी-सादी बानी कितनी मीठी है । ऊपर उल्लिखित दोनों अभगशतक कण्ठ करने योग्य हैं । इस गङ्गाप्रवाहमें नित्य निमज्जन करे ।

(७) 'साधका ची दशा उदास असावी' (साधककी अवस्था उदास रहनी चाहिये—उदास किसे कहते हैं ? 'जिसे अन्दर-बाहर कोई

उपाधि न हो' उसकी जिह्वा लोलुप न हो, भोजन और निद्रा नियमित हों, अर्थात् वह युक्ताहारविहार हो। स्त्री-विषयमें वह फिसलनेवाला न हो—

> एकांतीं लोकांतीं स्त्रियांसी भाषण । प्राण गेल्या जाण करूं नये ॥
> एकान्त लोकान्त कहीं स्त्री-भाषण । न करे प्राण, जाय जाय ॥

'एकान्तमें या लोकान्तमें (भीड़ भड़क्केमें) प्राणोंपर बीत आवे तो भी स्त्रियोंसे भाषण न करे।'

इस प्रकार सदाचारका पालन करते हुए—

> संग सज्जनांचा उच्चार नामाचा । घोष कीर्तनाचा अहर्निशीं ॥

'सज्जनोंका संग नामका उच्चारण और कीर्तनका घोष अहर्निश किया करे। इस प्रकार हरि-भजनमें रमे। सदाचारमें ढीला रहकर भगवद्भक्तोंके भेषमें कोई केवल भजन करे तो वह भजन कुछ भी काम न देगा। वैसे ही कोई सदाचारमें पक्का है पर भजन नहीं करता तो वह भी बेकार है। सदाचारसे रहे और हरिको भजे, उसीको गुरु-कृपासे ज्ञान लाभ होगा।

(८) 'काळ सारावा चिंतनें' (चिन्तनसे समय काटे)—एकान्त-वास गङ्गा-स्नान देव-पूजन तुलसी-परिक्रमा नियमपूर्वक करते हुए हरि चिन्तनमें समय व्यतीत करे। इन्द्रियोंको नियमसे निग्रह कर आहार, विहार, निद्रा और भाषणमें संयत रहे। देह भगवान्को अर्पण करे। प्रपञ्चका भार सिरपर उठाकर कराहता न बैठे। परमार्थ-लाभ ही महालाभ है, यह जानकर भगवान्के चरण प्राप्त करे।

(९) 'धिक् जिणें तो पराधीन' (परके अधीन होकर जीनेको धिक्कार है!)—जो मनुष्य दीन है वह न परलोक पा सकता है न इहलोकमें मान प्राप्त कर सकता है। अतिथि-पूजन करे। द्वारपर कोई अतिथि आया और उसे विमुख होकर जाना पड़ा तो वह जो जाता है

वह यजमानका 'सत्' लेकर जाता है। द्वारपर कोई भूखा खड़ा चिल्ला रहा हो और गृहस्थ घरमें बैठा भोजन करे—ऐसा भोजन भी किसीसे कैसे करते बनता है, उस अन्नमें रुचि भी कहाँसे आ जाती है? काम, क्रोध, लोभ, निद्रा, आहार और आलस्यको जीते। मानके लिये न कुढ़े। विवेक और वैराग्य बलवान् हो। निन्दा और वाद सर्वथा त्याग दे।

(१०) 'युक्ताहार न लगे आणीक साधन' (युक्ताहारके लिये और साधन क्या!)—

लौकिक व्यवहार, चलाआ अखड। न ला भस्मदट, वनवास॥
कलिमें घार, नाम-सकीर्तन। उससे नारायण, आ मिलेंगे॥

'लौकिक व्यवहार छोड़नेका कुछ काम नहीं, वन-वन भटकने या भस्म और दण्ड धारण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं। कलियुगमें (यही उपाय है कि) कीर्तन करो, इसीसे नारायण दर्शन देंगे।'

रहते जो नहीं, एकादशी व्रत। जानो उन्हें प्रेत, जीते भूत॥
नहीं जिस द्वार, तुलसी श्रीवन। जानो वह श्मशान, गृह कैसा॥

'एकादशी-व्रतका नियम जो नहीं पालन करता उसे इस लोकमें रहनेवाला प्रेत समझो। जिस घरके द्वारपर तुलसीका पेड़ न हो उस घरको श्मशान समझो।'

(११) 'पाराविया नारी माउली समान' (परनारी माताके समान)—जाने। परधन और परनिन्दा तजे। रामनामका चिन्तन करे। सत-वचनोंपर विश्वास रखे। सच बोले। तुकारामजी कहते हैं, 'इन्हीं साधनोंसे भगवान् मिलते हैं, और प्रयास करनेकी आवश्यकता नहीं।'

(१२) भक्ति सह गीत। गावो शुद्ध करि चित्त॥ १॥
यदि चाहो भगवान। कर लो सुलभ साधन॥ध्रु०॥
करो मस्तक नमन। धरो सतोंके चरण॥ २॥

परमार्थ करना चाहते हो तो मत करो। भगवान्‌को चाहते हो तो भगवान्‌को भजो।

देवाचिये चाडें आलवावें देवा। ओस देह भावा पाडोनिया॥

'भगवान्‌की लगन हो तो देहभावको शून्य करके भगवान्‌को भजो।' जन और मनके फन्देमें मत फँसो, इनसे छिपकर नारायणका चिन्तन-सुख भोग करो।

(१८) निर्वैर व्हावें सर्व भूतासवें (निर्वैरः सर्वभूतेषु हो)—यह एक साधन भी बहुत ही अच्छा है।

(१९) नरस्तुति आणि कथेचा विकरा (नरस्तुति और कथाका विक्रय)—ये दो पाप ऐसे हैं कि भगवन्! मेरे द्वारा कभी न होने दो! और

भूतों प्रति द्वेष संतोंकी बुराई। हो न यदुराई, कदा काळ॥

'प्राणियोंके प्रति मात्सर्य और सन्तनिन्दा, यह भी हे गोविन्द! मुझसे कभी न हो।'

(२०) कळे न कळे ज्या धर्म (धर्मको जो जानते हैं या नहीं जानते)—ऐसे सुजान-अजान सबको तुकाराम एक ही रास्ता बतलाते हैं, 'माझ्या विठोबाचें नाम। अट्टहासें उच्चारा॥' (मेरे विठ्ठलका नाम अट्टहासके साथ उच्चारो।)

तो या दाखवील वाटा। जया पाहिजे त्या नीटा॥
कृपावंत मोठा। पाहिजे तो कळवळा॥ २॥

'वह (स्वयं ही) जिसके लिये जो मार्ग ठीक है वह दिखा देगा। वह बड़ा दयालु है, पर हृदयकी वह लगन होनी चाहिये।'

भगवत्प्रेम चित्तमें धारण करो। मन और वाणीपर विठ्ठलकी ही धुन हो। हृदयमें सच्ची लगन हो तो जिसके लिये जो मार्ग सरल और सुगम है उसे वह स्वयं दिखा देगा।

(११) हेंचि भवरोगाचें औषध (यही भवरोगकी ओषधि है)—
इस ओषधिके सेवनसे क्या होगा ?—

जन्म जरा भारी व्याध । न रहे और कोई उपाध ।
कहती सब धातुगें ॥

'जन्म-मृत्यु जरा और रोग नष्ट हो जाते हैं और कोई विकार नहीं होता। षड्विकारोंका भी क्षय हो जाता है। इस ओषधिमें सब गुण-ही-गुण हैं दोष कुछ भी नहीं। जितना सेवन करें उतना लाभ है। सच तो यह ओषधि बड़ी अच्छी है। यह क्या है ? तुकारामजी बतलाते हैं—

सांवरे प्यारेको रे देख । सब चार अठारह जमे एक ।
कुसंग न कर क्षण एक । नाम मंत्र बोल विष्णु-सहस्र ॥

'योगेश्वर साँवरे प्यारेको देख। देख उन्हें जिनमें छओं शास्त्र चारों वेद और अठारह पुराण एकीभूत हैं। एक क्षण भी कुसङ्ग न कर। विष्णुसहस्रनाम जपा कर। यही यह ओषधि है। अब इसका अनुपान भी जान ले नहीं तो ओषधि-सेवनसे क्या लाभ ? अनुपान सुनो—

कहीं न जाय छोड निज घर । न लगे बाहरकी रे बयार ॥
मधु बोलना कम कर । संग अपर छोड दे रे ॥

'अपना घर (हरि-प्रेम) छोड़कर बाहर न जाय बाहरकी हवा न लगने दे, कटुक न बोले और ममत्वसंग छोड़ दूसरा संग न करे। अपना हृदय श्रीहरिको दे डाले। फिर हरिके देनेसे वह नवनीतके समान मृदु होता है।

कुछ अनुपान अभी और बतलाना है—

महाभ्रमे अनुताप ओक लो पिसा । सेव कर ध्यान सारी माया ।
धनोग स्वरूप भक्ति ना वैसा । तुका कहे दशा ओमें वैराग्य ॥

'अनुताप-तीर्थमें स्नान करो, दिशाओंको ओढ लो और आशारूपी पसीना बिल्कुल निकल जाने दो और वैराग्यकी दशा भोग करो। इससे, पहले जैसे तुम थे वैसे हो जाओगे।'

(२२) सारी दशाएँ इससे सधतीं। मुख्य उपासना सगुणभक्ति।
प्रकटे हृदयकी मूर्ति। भावशुद्धि जानकर ॥

'सब दशाएँ इससे सध जाती हैं। मुख्य उपासना सगुणभक्ति है। भावशुद्धि होनेपर हृदयमें जो श्रीहरि हैं उनकी मूर्ति प्रकट हो जाती है।'

श्रीहरिके सगुणरूपकी भक्ति करना ही जीवोंके लिये मुख्य उपासना है। मुमुक्षु जिस मूर्तिका नित्य ध्यान करता है वह हृदयमें रहनेवाली मूर्ति मुमुक्षुका चित्त शुद्ध होनेपर उसके नेत्रोंके सामने आ जाती है। इस सगुणसाक्षात्कारका मुख्य साधन हरि नामस्मरण ही है, और सगुण-साक्षात्कारके अनन्तर भी नामस्मरण ही आश्रय है। नाम स्मरणसे ही हरिको प्राप्त करो और हरिके प्राप्त होनेपर भी नामस्मरण करो। बीज और फल दोनों एक हरिनाम ही हैं, इस सगुणभक्तिसे सब दशाएँ साधी जाती हैं। भव-बन्धन कट जाते हैं, जन्म-मृत्युका चक्कर छूट जाता है। योगी जिसे ब्रह्म मानते और मुक्त जिसे परिपूर्ण आत्मा कहते हैं वही हमारे सगुण श्रीहरि हैं। उनका नाम-सकीर्तन ही हमारा साधन और साध्य है। उसी नारायणको हम भक्तलोग 'सगुण, निर्गुण, जगज्जनिता, जगजीवन, वसुदेव-देवकी-नन्दन, बालरॉगन, बाल-कृष्ण' कहकर भजते हैं।

(२३) धरना देनेवाले ब्राह्मणको—तुकारामजीने ११ अभगोंमें जो बोध कराया है उसमें भी यही बतलाया है कि इन्द्रियोंको जीतकर मनको निर्विषय करो और भगवान्की शरण लो। शरण जानेकी रीति बतलायी कि, देहभावको शून्य करके 'भगवत्प्रेमसे ही भगवान्को भजो।'

(२४) शिवाजी महाराजको भेजे हुए पत्रमें भी—

आम्ही तेणें सुखी । म्हणा विठ्ठल विठ्ठल मुखीं ॥ १ ॥
कंठीं मिरवा तुळसी । व्रत करा एकादशी ॥ २ ॥

'हमें इसीमें सुख है कि आप मुखसे 'विठ्ठल-विठ्ठल' करें । कण्ठमें तुलसीकी माला धारण करें और एकादशीका व्रत पालन करें ।' यही मुख्य उपदेश है ।

(२५) प्रयाणके पूर्व शिष्यवर्गको ११ अभंगोंमें जो पूर्ण बोध कराया है उसमें भी वाद-विवादके झगड़ेमें न पड़कर 'तुम अपना काम करो' यही पहले कहा है और फिर बतलाते हैं कि 'भगवान्‌के दर्शन चाहते हो तो साधन करो । नारायणकी माया पहले छोड़ दो । दीप-सोवला स्नान स्वच्छ रखो, तुलसीकी सेवा करो, अतिथि और ब्राह्मणोंका पूजन करो । सम्पूर्ण भक्ति-भावसे वैष्णवोंकी दासी बनो और मुखसे श्रीहरिका नाम लो ।

(२६) 'ऐका पण्डितजन' (सुनो हे पण्डितो !)—विद्या पढ़कर विद्वान् क्या करते हैं ? प्रायः किसी राजा रईस या धनिककी अतिरिक्त स्तुति करके अपनी विद्या उनके पैरोंपर रख देते हैं । ऐसे पण्डितोंसे तुकाराम कहते हैं 'नरस्तुति मत करो । तब पेट कैसे भरेगा ? अन्न आच्छादन । हे तों प्रारब्धा आधीन' (अन्न-वस्त्र तो प्रारब्धके अधीन है ।) सारा प्रपञ्च प्रारब्धके सिर पटको और श्रीहरिको ढूँढ़नेमें लगो । कैसे ढूँढ़ें क्या करें ?

तुका म्हणे वाणी । सुखें वेंचा नारायणीं ॥

अपनी वाणी नारायणके लिये सुखपूर्वक खर्च करो ।

पण्डित शब्दकी व्याख्या तुकारामजीने गीताके अनुसार ही की है—

पंडित तो भला । नित्य भजे जो विठ्ठला ॥ १ ॥
अवघें सम ब्रह्म पाहे । सर्वांभूतीं विठ्ठल आहे ॥ २ ॥

'सच्चा पण्डित वही है जो नित्य विठ्ठलको भजता है और यह देखता है कि यह सम्पूर्ण समब्रह्म है और सब चराचर जगत्‌में श्रीविठ्ठल ही रम रहे हैं।'

(२७) अब अन्तमें एक मधुर अभंग और लीजिये जो सबके लिये बोधप्रद है। इसमें उपासनाकी शपथ करके तुकारामजीने यह बतलाया है कि परम साधन नाम-संकीर्तन ही है। उपास्यदेवको उठा लेना कितनी बड़ी बात है। हृदयमें वैसी सच्ची लगन हो, वैसी दृढता हो, वैसी कृतकार्यता हो तभी उपास्यदेवकी शपथ करके कोई बात कही जा सकती है। ऐसी बातका मर्म और महत्त्व उपासकोंके ही ध्यानमें आ सकता है—

नाम-संकीर्तन सुलभ साधन। पाप-उच्छेदन जडमूल॥ १॥
मारे-मारे फिरो काहे बन-बन। आवें नारायण घर बैठे॥ ध्रु०॥
जाओ न कहीं करो एक चित्त। पुकारो अनंत दयाघन॥ २॥
'राम कृष्ण हरि विठ्ठल केशव'। मंत्र भरि भाव जपो सदा॥ ३॥
नहीं कोई अन्य सुगम सुपथ। कहूँ मैं शपथ कृष्णजीकी॥ ४॥
तुका कहे सूधा सबसे सुगम। सुधी जनाराम रमणीक॥ ५॥

'नाम-संकीर्तनका साधन है तो बहुत सरल, पर इससे जन्म-जन्मान्तरके पाप भस्म हो जायँगे। इस साधनको करते हुए वन-वन भटकनेका कुछ काम नहीं है। नारायण स्वयं ही सीधे घर चले आते हैं। अपने ही स्थानमें बैठे चित्तको एकाग्र करो और प्रेमसे अनन्तको भजो। 'राम-कृष्ण-हरि-विठ्ठल केशव' यह मन्त्र सदा जपो। इसे छोड़कर और कोई साधन नहीं है। यह मैं विठ्ठलकी शपथ करके कहता हूँ। तुका कहता है, यह साधन सबसे सुगम है, बुद्धिमान् धनी ही इस धनको यहाँ हस्तगत कर लेता है।'

यह प्रकरण यहाँ समाप्त हुआ। सत्संग, सत्-शास्त्र, सद्गुरु-कृपा और साक्षात्कार परमार्थभक्ति ये चार पड़ाव हैं। इनमेंसे पहला पड़ाव सत्संग है यहाँतक हमलोग पहुँचे। तुकाराम वारकरी घरानेमें पैदा हुए, वारकरी सम्प्रदायमें भरती हुए और उसी सम्प्रदायको उन्होंने बढ़ाया। इससे वारकरियोंका सत्संग ही उन्हें प्राप्त हुआ। यह सम्प्रदाय मुट्ठीभर लोगोंका नहीं है सम्पूर्ण महाराष्ट्रके अधिवासियोंका यह धर्म है। इसलिये वारकरी सम्प्रदायके मुख्य तत्त्व 'सिद्धान्तपञ्चपदी' के रूपसे संकलित करके पाठकोंके सामने रखे हैं। अनन्तर एकादशीव्रत वारकरियोंके भजन, मेले और कीर्तन-प्रकार इन तीन मुख्य बातोंका विचार किया। तुकाराम बापके समयसे इस मार्गपर चले और इसी मार्गपर चलनेका उपदेश उन्होंने सबको किया इसलिये हमलोग भी उनके सत्संगसे उन्हींके प्रासादिक वचनोंको सुनते हुए यहाँ तक आये। अन्तमें उन्होंने अपने मनको, सर्वसाधारण जनको, अधम और सुजनको, राजाको और अपनी सहधर्मिणी जिजाबाईको जो उपदेश किया उससे भी यह बोध किया कि तुकारामजीने अपने लिये कौन-सा साधनमार्ग निश्चित किया था। सम्प्रदायके परम्परागत मार्गपर ही तुकाराम चले और इससे यह ज्ञात हुआ कि उनका साधनमार्ग और सम्प्रदायका साधनमार्ग एक ही है। उदास-वृत्तिसे रहकर प्रपञ्च करे और तन-मन भगवान्‌को अर्पण करे, परस्त्री, परधन परनिन्दा और परहिंसासे सर्वदा दूर रहे, सदाचारमें अटल रहे, काम क्रोध मोह, तृष्णा माया, दम्भ और मत्सरको सर्वथा त्यागकर चित्तको शुद्ध करे, सन्तवचनोंपर विश्वास रखते हुए सब प्राणियोंके साथ विनम्र रहे, एकादशीका व्रत, पण्ढरीकी वारी और हरिकीर्तन कभी न छोड़े। भक्तोंके साथ सम्प्रदायके इस मार्गपर चलते हुए परम प्रेमसे श्रीपाण्डुरङ्गका भजन करे। यहाँतक यही साधनमार्ग देखा। अब सत्-शास्त्रकी ओर आगे बढ़ें।

छठा अध्याय

तुकारामजीका ग्रन्थाध्ययन

'अक्षरोंको लेकर बड़ी मायापच्ची की, इसलिये कि भगवान् मिलें। यह कोई विनोद नहीं किया है कि जिससे दूसरोंका केवल मनोरञ्जन हो।'

*　　　*　　　*

'विश्वास और आदरके साथ सन्तोंके कुछ वचन कण्ठ कर लिये।'

*　　　*　　　*

—श्रीतुकाराम

१ विषय-प्रवेश

'तुकारामजीका ग्रन्थाध्ययन' शीर्षक देखकर बहुत से लोग अचरज करेंगे कि 'क्या तुकारामने भी ग्रन्थोंका अध्ययन किया था? ग्रन्थोंसे उन्हें क्या काम? वह कभी किसी पाठशालामें जाकर या किसी गुरुके पास बैठकर कुछ पढ़े भी थे? उनपर तो भगवत्कृपा हुई। भगवत्-स्फूर्ति होनेसे उनके मुखसे ऐसी अभगवाणी निकली!' यह अन्तिम वाक्य सही है, उन्हें भगवत्-स्फूर्ति हुई और इससे अभगवाणी उनके मुखसे प्रकट हुई। यह बात सोलहों आने सच है। पर प्रश्न यह है कि भगवत्-स्फूर्ति होनेके पूर्व उन्होंने कुछ अध्ययन भी किया था या नहीं? भगवत्-स्फूर्ति तुकारामजीको ही क्यों हुई? देहूमें या अन्यत्र और भी तो बहुत से युवक

थे। पर बोये बिना कुछ उगता नहीं और श्रम किये बिना कुछ मिलता नहीं, कर्मका यह मुख्य सिद्धान्त है। तुकारामने भी भगवान्‌से मिलनेके लिये अनेक साधन किये। तुकाराम पाठशालामें जाकर पढ़े थे और परमार्थ सिखानेवाले गुरु भी उन्हें मिले थे। उनकी पाठशाला थी पण्ढरीका भागवत सम्प्रदाय और उनके गुरु थे उनके पूर्वमें होनेवाले भगवद्भक्त। पुण्डलीकने महाराष्ट्रमें भागवतधर्मका विश्वविद्यालय स्थापित किया। तबसे पण्ढरीके विद्यालयसे संयुक्त आळन्दी, सासवड, त्र्यम्बकेश्वर पैठण इत्यादि स्थानोंमें अनेक विद्यालय स्थापित हुए। इस विद्यालयसे अनेक भगवद्भक्त निर्माण होकर बाहर निकले थे और उन्होंने महाराष्ट्रमें सर्वत्र भागवतधर्मका जय-जयकार किया था। तुकारामके द्वारा देहूमें विद्यालय स्थापित होना बदा था। पर इसके पूर्व उन्होंने पण्ढरी, आळन्दी और पैठणके विद्यालयोंमें योग्य गुरुओंके समीप स्वयं भी अध्ययन किया था। तुकाराम वारकरी सम्प्रदायकी पाठशालामें तैयार हुए और इस सम्प्रदायमें प्रचलित मुख्य-मुख्य ग्रन्थोंका उन्होंने भक्तिपूर्वक अध्ययन किया था। हमें इस अध्यायमें यही देखना है कि तुकारामजीने किन-किन ग्रन्थोंका अध्ययन किया, किन-किन सन्तोंके वचन कण्ठ किये उनके प्रिय ग्रन्थराज कौन-से थे, उन्होंने ग्रन्थोंका अध्ययन किस प्रकार किया और उनमेंसे क्या सार ग्रहण किया। परन्तु इसके पूर्व हमें यह देखना चाहिये कि ग्रन्थाध्ययनका सामान्यतः महत्त्व क्या है।

२ अध्ययनके बाद साक्षात्कार

सद्गुरु-कृपा होनेके पूर्व और कुछ काल पीछे भी ग्रन्थाध्ययन करनेके लिये ही आवश्यक होता है। सबने सब समयोंमें शास्त्राध्ययनका महत्त्व माना है। पहले अपरा विद्या और पीछे परा विद्या, पहले परोक्ष ज्ञान और पीछे अपरोक्षज्ञान पहले शास्त्राध्ययन और पीछे अनुभव, यह क्रम सनातनसे चला आया है। मुण्डकोपनिषद्‌में द्वे विद्ये वेदितव्ये कहकर

'ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरण निरुक्त छन्दो ज्योतिषमिति' अपरा विद्या गिनाकर यह कहा है कि 'यया तदक्षरमधिगम्यते' (जिससे वह अक्षर ब्रह्म जाना जाता है) वह पराविद्या है। अपरा विद्या प्राप्त कर लेनेपर ही परा विद्या प्राप्त होती है। 'शब्दादेवापरोक्षधी' अर्थात् वेद-शास्त्रोंके अध्ययनसे ही अपरोक्षानुभव प्राप्त होता है, यही सिद्धान्त है। ज्ञान जैसे जैसे जमता है वैसे-ही-वैसे विज्ञानका आनन्द प्राप्त होता जाता है। श्रीज्ञानेश्वर महाराजने 'अमृतानुभव' में पहले शब्दका मण्डन करके पीछे यह दिखा दिया है कि अपरोक्षानुभवके अनन्तर उसका किस प्रकार खण्डन हो जाता है। परन्तु शब्दका मण्डन करते हुए उन्होंने यह कहा है कि 'शब्द बड़े कामकी चीज है। 'तत्त्वमसि' शब्दके द्वारा ही जीवको अपने स्वरूपका स्मरण होता है। शब्द जीवको स्वरूप स्थितिपर ले आनेवाला दर्पण है।' (अमृतानुभव प्र० ६। १) इसी प्रकार 'शब्द विहितका सन्मार्ग और निषिद्धका असन्मार्ग दिखानेवाला मशालची है। शब्द बन्ध और मोक्षकी सीमा निश्चित करनेवाला— इनके विवादका निर्णय करनेवाला न्यायाधीश है।' (अमृत० प्र० ६। ५) यहाँ 'शब्द' का अभिप्राय 'वेद' से है। 'वेद' शब्दका ही पर्याय है। शब्दसे ही जीवात्मा शिवात्मासे मिलता है। जीवात्माका परमात्मासे मिलन होनेपर यद्यपि शब्द पीछे हट आता है (यतो वाचो निवर्तन्ते), तथापि आत्मारामके मन्दिरमें पहुँचा आनेवाला 'शब्द' पथ-प्रदर्शक है और इसलिये उसका सहारा लिये बिना जीवके लिये और कोई गति नहीं है।

३ शब्दका अभिप्राय

'शब्द' का अभिप्राय 'वेद' से ही है, तथापि वेदोंका रहस्य जो शास्त्र, पुराण और सन्त वचन बतलाते हैं उनका भी समावेश इस 'शब्द' में हो जाता है। अर्थात् 'शब्द' से वेद, शास्त्र, पुराण, सन्त-वचन, भव बन्ध-मोचक शब्द साहित्य मात्र ग्रहण करनेसे यही निष्कर्ष निकलता है

कि शास्त्रका आश्रय किये बिना जीवको सात्त्विक मार्ग मिलना दुर्घट है। इस पवित्र शब्द-साहित्यसे जीवको प्रवृत्ति-निवृत्ति, विधि-निषेध, बन्ध मोक्षका यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है और अपने मूलका पता लगता है। तुकारामजीने धर्मग्रन्थोंके रूपसे वेद, शास्त्र, पुराण और सन्त-वचनोंको ही जहाँ-तहाँ ग्रहण किया है।

विश्वीं विश्वंभर । बोले वेदांतींचा सार ॥ १ ॥
जगीं जगदीश । शास्त्रें वदती सावकाश ॥ २ ॥
व्यापिलें हें नारायणें । ऐसीं गर्जती पुराणें ॥ ३ ॥
जनीं जनार्दन । संत बोलती वचन ॥ ४ ॥
सूर्याचिया परी । तुका लोकीं क्रीडा करी ॥ ५ ॥*

'विश्वमें विश्वम्भर हैं; तात्पर्य वेदान्त यही कहता है। जगत्में जगदीश हैं यही धीरे-धीरे शास्त्र बतलाते हैं। इस सबको नारायणने व्यापा है यही पुराणोंकी गर्जना है। जनमें जनार्दन हैं, यही सन्तोंकी वाणी है। सूर्यके समान यही (श्रीहरि) लोकमें क्रीडा कर रहे हैं।'

वेद, शास्त्र, पुराण और सन्त-वचन सबका रहस्य एक ही है और वह यही है कि विश्वमें विश्वम्भर हैं यही विश्वम्भर जो विश्वको अपने एकांशसे भरते हैं। वेदोंने यह आत्मस्फूर्तिसे बताया शास्त्रोंने खण्डन मण्डनपूर्वक चर्चा करते हुए तात्पर्य बताया, पुराणोंने गरजकर बताया जिसमें आबालवृद्ध और आचाण्डाल सब लोग सुन लें और स्वयं अनुभव

---

* ऐतिहासिक दृष्टिसे देखनेवाले इस अभंगमें यह देख सकते हैं कि तुकारामजीने हिंदुधर्मके इतिहासके चार भाग किये हैं—(१) वेदोपनिषत्काल, (२) स्मृती या षड्दर्शनोंका काल, (३) पुराणोंका काल और (४) साधु-सन्तोंका काल। इन चारों काल-विभागोंमें वैदिक धर्मकी परम्परा अविच्छिन्नरूपसे चली आयी है और 'विश्वीं विश्वंभर' (विश्वमें विश्वम्भर) ही इसके धर्मका सार है।

प्राप्त करके सन्तोंने बताया। चारोंके बतानेका ढंग अलग-अलग हो सकता है, भाषा भिन्न-भिन्न हो सकती है, शैली भी विविध हो सकती है, पर सिद्धान्त एक ही है। सिद्धान्तकी दृष्टिसे उनमें एकवाक्यता है। वेद शास्त्र जिसे आत्मा कहते हैं; पुराण राम-कृष्ण-शिवादि रूपसे जिसका वर्णन करते हैं, उसीको हमारे वारकरी भक्त विठ्ठल नामसे पुकारते हैं। नामोंमें भेद भले ही हो, पर परमात्म वस्तु एक ही है। नाम रूपके भेदसे वस्तु भेद नहीं होता। श्रुतिने जिसे पहचाननेके लिये ॐ शब्दका सङ्केत किया उसीको वारकरी भक्तोंने विठ्ठल कहा। श्रुतिने जिसका निर्गुण निराकारत्व बखाना, सन्तोंने उसीका सगुण-साकारत्व बखाना। लक्ष्य एक ही रहा। जबतक लक्ष्यमें भेद नहीं है तबतक वर्णन करनेकी पद्धतियोंमें भेद होनेपर भी लक्ष्य और सिद्धान्तकी एकता भङ्ग नहीं हो सकती। वेदोंका अर्थ, शास्त्रोंका प्रमेय और पुराणोंका सिद्धान्त एक ही है और वह यही है कि सर्वतोभावसे परमात्माकी शरणमें जाओ और निष्ठापूर्वक उसीका नाम गाओ। तुकारामजीने यही कहा है—'वेदोंने अनन्त विस्तार किया है पर अर्थ इतना ही साधा है कि विठ्ठलकी शरणमें जाओ और निष्ठापूर्वक उसीका नाम गाओ। सब शास्त्रोंके विचारका अन्तिम निर्धार यही है। अठारह पुराणोंका सिद्धान्त भी, 'तुका कहता है कि यही है।'

वेद, शास्त्र और पुराण सिद्धान्तके सम्बन्धमें विसवादी या परस्पर-विरोधी नहीं बल्कि एक ही सिद्धान्तको प्रकट करनेवाले हैं और इसलिये हमलोग यह कहा करते हैं कि हमारा सनातन धर्म वेद शास्त्र-पुराणोक्त है और हमारे नित्यकर्मोंका सङ्कल्प भी 'वेद शास्त्र-पुराणोक्त फल-प्राप्त्यर्थ' होता है। जो परमात्मा वेदप्रतिपाद्य हैं उन्हींको 'सा चौ अठराचा गोळा' (छः शास्त्र, चार वेद और अठारह पुराणोंका गोला) कहकर भक्तजन उनके 'श्याम रूपको आँखों देखना चाहते हैं।' तुकाराम कहते हैं—

ऐके रे जना । तुझ्या स्वहिताच्या खुणा ।
पंढरीचा राणा । मना माजी स्मरावा ॥ १ ॥
सकळ शास्त्रांचें हें सार । हें वेदांचें गव्हर ।
पाहतां विचार । हाचि करिती पुराणें ॥ २ ॥

'सुन रे जीव ! अपने स्वहितकी पहचान सुन ले । पण्ढरीके राजाको मनमें स्मरण कर । सब शास्त्रोंका यह सार है यही वेदोंका रहस्य है । पुराणोंका भी यही विचार है ।'

वेद, शास्त्र, पुराण और सन्तवचन सब नारायणपरक होनेसे इनमेंसे किसीका भी अध्ययन वैदिक धर्मका ही अध्ययन है । वेदोंको देखिये, शास्त्रोंको समझिये, पुराणोंको पढ़िये अथवा साधु-सन्तोंकी उक्तियोंको ध्यानमें ले आइये, सबका सार एक ही है । यह सम्पूर्ण साहित्य इसीलिये निर्माण हुआ है कि जन्म-मृत्युका चक्कर छूटे संसारको मधुर धाम जीव स्वकर्माचरण करे, परमात्मबोध जगाकर निःश्रेयस स्थितिको प्राप्त करे, मृत्युको मारकर जीये, सहज सच्चिदानन्दस्वरूप हो जाय । जल एक ही है वापी, कूप, तड़ागादि केवल नाम उपाधि हैं । कोई नदी-किनारे रहकर नदीके जलसे अपना काम कर ले कोई सरोवरके जलसे काम चला ले कोई कुएँका जल सेवन करे । ज्ञान उदकके समान है जिसे पिपासा हो वह स्वयं शास्त्रोंका उपयोग कर तृप्त हो यही इस शब्द-साहित्यका मुख्य हेतु है । नदी, कूप, सरोवर सागर सबका हेतु एक ही है और वह यही है कि तृषार्त जीव तृप्त हो जायँ । उपाधिका अभिमान या उपहास करके वाद विवाद करना प्यास बुझनेका लक्षण नहीं है । चोखामेळा रैदास चमार सजन कसाई कान्हूपात्रा-जैसे कनिष्ठ जातिमें उत्पन्न जीव भी सच्ची तृषा लगनेसे सत्सङ्गसे प्राप्त ब्रह्मानन्दस्वरूप जल आकण्ठ पानकर तर गये । परमार्थकी सच्ची तृषा लगनेपर जाति रूप धन विद्यादि आगन्तुक कारणोंकी मीमांसा करनेको जी ही नहीं चाहता ।

एकनाथ जैसे ब्राह्मण अपने ब्राह्मणत्वका अभिमान नहीं रखते और चोखामेला-जैसे अति शूद्र अपने 'हीनपन'से लज्जित भी नहीं होते। ज्ञानेश्वर, एकनाथने 'ब्राह्मणसमाज' नहीं स्थापित किये। नामदेव, तुकारामने 'पिछड़ी हुई जातियोंके सङ्घ' नहीं बनाये, और रैदास, चोखामेलाने 'अछूतोद्धारक मण्डल' भी नहीं खड़े किये। प्रत्युत सब जातियोंके सब मुमुक्षु जीवोंके लिये सब सन्तोंने अपने कीर्तनोंमें, ग्रन्थोंमें और अभंगोंमें अपनी वाणीका उपयोग किया है और सर्वत्र यही आशय प्रकट किया है कि 'यारे यारे ल्हान थोर। भलते याती नारी अथवा नर॥' (आओ, आओ छोटे-बड़े सब आओ, चाहे जिस जातिके रहो, नर हो नारी हो, आओ।) तात्पर्य, वेद, शास्त्र, पुराण और सन्त-वचन जीवोंके उद्धारके लिये निर्माण हुए हैं और जिस किसीका मन भगवान्‌के लिये बेचैन हो उठा हो उसके लिये इन्हींमेंसे किसी एक या अनेक प्रकारोंका अवलम्बन करना आवश्यक है, क्योंकि इसके बिना परोक्ष ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता। तुकारामजीने इनमेंसे 'पुराणों और सन्त-वचनोंका अवलम्बन किया और उनका सार हृदयमें सग्रह कर लिया।

४ अध्ययनके विषय—पुराण और सन्त-वचन

तुकारामजीने वेदोंका अध्ययन नहीं किया। 'घोकाया अक्षर। मज नाही अधिकार॥' (अक्षर घोखनेका मुझे अधिकार नहीं) यह उन्होंने स्वय ही तीन बार कहा है। पर उन्होंने यह नहीं कहा कि ब्राह्मण ही वेदके अधिकारी क्यों? हम शूद्रोंको यह अधिकार क्यों नहीं? इसके लिये वह ब्राह्मणोंसे कभी लड़े नहीं। ऐसे व्यर्थके वाद उपस्थित करनेवाला क्षुद्र मन उनका नहीं था। वह यह जानते थे कि ब्राह्मणोंको वेदाधिकार होनेपर भी सभी ब्राह्मण वेदाध्ययन नहीं करते और जो करते हैं वे सभी ससार-सागरसे मुक्त नहीं होते और हों भी तो कोई हर्ज नहीं, उनसे

लोगोंका मुक्ति-द्वार बन्द नहीं हो जाता। 'स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्' इस भगवद्वचनके अनुसार उनके लिये मोक्षके द्वार खुले ही हैं। जिन्हें वेदोंका अधिकार था उनमेंसे बहुत ही थोड़े वेदोंका अध्ययन करनेवाले थे, और इनमेंसे विरला ही कोई वेदार्थ जानकर अर्थरूपको प्राप्त होता था। इसके अतिरिक्त वेदार्थ अत्यन्त गहन है शास्त्र अपार है और जीवन बहुत अल्प। ऐसी अवस्थामें वेदोंका रहस्य यदि सुगम पुराण-ग्रन्थोंमें तथा प्राकृत ग्रन्थोंमें मौजूद है तब इस सुगम मार्गको छोड़कर सामने परोसकर रखे हुए भोजनसे विमुख होकर बड़ मूठ परेशानी उठानेकी क्या आवश्यकता है? फिर तो बातकी एक बात यह है कि जिसके चित्तकी सच्ची लगन लग गयी वह साधनोंके झगड़ेमें नहीं पड़ा करता, जो साधन सहज समीप और सुलभ होते हैं उन्हींका अवलम्बन कर अपना कार्य साध लेता है। इस प्रकार तुकारामजीने पुराणों और सन्तवचनोंको ही अपने अध्ययनके लिये चुना और उनके प्रेमी स्वभावके लिये यही चुनाव उपयुक्त था। और इसमेंसे भी उनका कार्य पूर्ण हुआ। वेदोंके अक्षर उन्हें कण्ठ करनेका अधिकार नहीं था तो भी वेदोंका अर्थ—अक्षर परब्रह्म—उन्हें प्राप्त हुआ। इस प्रकार अक्षरतः तो नहीं पर अर्थतः उन्होंने वेदोंका अध्ययन किया और यही तो चाहिये था।

५ अध्ययनका रस

तुकारामजीने अपने जीवनके कुछ वर्ष ग्रन्थाध्ययनमें व्यतीत किये इसमें सन्देह नहीं। उन्होंने अपने आत्मचरित्रपर अभंगोंमें कहा ही है कि विश्वास और आदरके साथ सन्तोंके वचनोंका पाठ किया। 'पढ़े हुए शब्दका ज्ञान बतलाता हूँ' 'जैसा पढ़ना वैसा चलना मनुष्य जानता है' इत्यादि अभंगोंमें यही बात उन्होंने कही है। दूसरोंको उपदेश करते हुए भी उनके मुखसे इसी प्रकारके उद्गार निकले हैं—'वेदोंको पढ़कर हरिगुण गाओ' 'ग्रन्थोंको देखकर कीर्तन करो'। जिन ग्रन्थोंको उन्होंने

देखा, विश्वास और आदरके साथ देखा। ग्रन्थकर्ताके प्रति आदरभाव रखकर तथा उनके द्वारा विवेचित सिद्धान्तों और कथित सन्त-कथाओं-पर पूर्ण विश्वास रखकर तुकारामजीने उन ग्रन्थोंको पढा, यह उन्होंने स्वय ही बताया है। उनके पिताने उन्हें जमा-खर्च, बाकी-रोकड़, बही-खातेमें लिखने योग्य हिसाब-किताबका ज्ञान करा दिया था, पर जब उन्हें परमार्थकी भूख लगी तब उन्होंने परमार्थके ग्रन्थोंको बड़ी आस्थासे देखा। प्रपञ्चमें काम देनेवाली विद्या जीवनको सफल करानेवाली विद्या नहीं है। यह बोध जब उन्हें हुआ तब वह परमार्थके ग्रन्थ देखने लगे। भगवान्‌के लिये अक्षरोंको लेकर बड़ी माथापच्ची की। प्रपञ्चका मिथ्यात्व प्रतीत होनेपर वैराग्य दृढ हुआ और तब भगवत्-प्राप्तिके लिये प्राण व्याकुल हो उठे। तब—

> मागील भक्त कोणे रीती। जाणोनि पावले भगवद्भक्ती।
> जीवें भावें त्या विवरी युक्ती। जिज्ञासु निश्चिती या नाव॥
>
> (नाथभागवत १९—२७४)

'पूर्वके भक्त किस प्रकार भगवद्भक्तिको प्राप्त हुए यह जानकर तन मन-प्राणसे उन साधनोंका जो विचार करता है उसीको जिज्ञासु कहते हैं।'

इसी प्रकार तुकाजी, पूर्वके भक्त किन साधनोंसे भगवान्‌के प्रिय हुए, इसका विचार करने लगे और यह विचार ग्रन्थोंमें ही होनेसे उन्हें ग्रन्थोंका अवलोकन करना पड़ा। पूर्वके भक्तोंकी कथाएँ जानकर उनका अनुकरण करनेके लिये उन्होंने पुराणों और सन्त-वचनोंका परिचय प्राप्त किया। सन्तोंके वचनोंको देखते-देखते उनका मनन होने लगा, मननसे अनायास पाठान्तर हुआ। मनन करते-करते अक्षर मुखस्थ हो गये, पाठान्तर और मननसे अर्थरूप हो गये। वही कहते हैं कि 'केवल शब्द कण्ठ करनेसे क्या होगा, अर्थको देखो, अर्थरूप होकर रहो, एकनाथ भी कहते हैं—

> शब्द सांडूनिया मागें शब्दार्थी माजी रिगें ।
> जें जें परिसतु तें तें होय अंगें । निरहंकारपणें रिगिजु ॥
>
> (ज्ञानेश्वरी ७—१५१)

शब्दको पीछे छोड़ दो और शब्दके अर्थमें प्रवेश करो । जो-जो सुनो वह विनीत होकर, विकल्पको त्याग कर स्वयं ही बनो ।

जिसे जिसकी चाह होती है उसे वह जहाँ भी मिले वहींसे निकाल लेता है । तुकारामजीको भगवान्‌की चाह थी, इसीकी धुन थी, इसलिये देवताओं और भगवान्‌का परिचय करानेवाले देवतुल्य सज्जनोंकी कथाएँ जिन ग्रन्थोंमें थीं वे ही ग्रन्थ उन्हें प्रिय हुए और इन ग्रन्थोंमेंसे विशेषकर ऐसे ही वचन उन्हें कण्ठ हो गये जो हरि-प्रेम बढ़ानेवाले हैं—

> करुं ठेलें पाठांतर । करुणाकर माधव ॥ १ ॥
> निद्री प्रेम मूर्तिमंत । ऐसा संतप्रसाद ॥ धु ॥
> सोज्ज्वळ केला पंथ । मागें नीट आगिरथा ॥ २ ॥
> तुका म्हणे पेंड बांधा । करूं साधा तें सोपी ॥ ३ ॥

संतोंके ऐसे वचनोंका पाठ करें जिनमें करुण-प्रार्थना हो । जिन सन्तोंने भगवान्‌के सगुण-साकार होनेके विषय किया ऐसे सन्तोंके वचन उनका प्रसाद ही हैं । इन सन्तोंने पूर्वके सन्तोंके मार्ग झाड़-बुहारकर स्वच्छ किये हैं । ये मार्ग पहलेसे ही हैं पर इन सन्तोंने इन मार्गोंको और सुगम कर दिया है । अब जल्दी करें, भगवान्‌को पुकारें और उनके चरणयुगल प्राप्त करें ।

इस प्रसंगको और विचारें तो तुकारामजीके मनका भाव स्पष्ट व्यक्त हो जायगा । परमार्थविषयक सहस्रों ग्रन्थ संस्कृत और प्राकृत भाषाओंमें थे, पर उन सबमें उन्हें वे ही ग्रन्थ प्रिय थे जिनमें 'करुणाकर माधव' थे अर्थात् जिनमें भगवान्‌की करुणप्रार्थना थी भगवान् और भक्तका प्रेम जिनमें व्यक्त हुआ था जो प्रेमसे भगवान्‌को [illegible] होनेमें सहायक

थे । केवल शास्त्रीय प्रक्रिया बतलानेवाले शास्त्रीय ग्रन्थ उन्हें नहीं रुचते थे । 'करुणाकर भाषण' भी नये-पुराने अनेक कवियोंके काव्योंमें ग्रथित किये हुए मिलेंगे, पर केवल इतनेसे उनको सन्तोष नहीं हो सकता था । उन्हें तो ऐसे सगुणभक्तोंके 'करुणाकर भाषणों' का पाठ करना था जिन्होंने भगवान्‌को 'मूर्तिमान्' किया हो, अर्थात् जिन्हें सगुण-साक्षात्कार हुआ हो, जिन्होंने भगवान्‌को प्रत्यक्ष देखा हो, भगवान्‌से प्रेमालाप किया हो । इन सगुण भक्तोंके 'करुणाकर भाषणों' का पाठ करनेका हेतु भी तुकारामजीने उपर्युक्त अभंगके चौथे चरणमें बता दिया है । उन सन्तोंको जो लाभ हुआ अर्थात् भगवान्‌को 'मूर्तिमान्' करके जो प्रेम-सुख उन्होंने प्राप्त किया वही प्रेम-सुख तुकाराम चाहते थे और उनका उत्साहबल इतना दिव्य था कि वह यह समझते थे कि 'भगवान्‌की गुहार कर' हम उसे प्राप्त कर लेंगे । जिन सन्तोंको भगवान्‌का सगुण साक्षात्कार हुआ उन्हींके वचनोंका पाठ करनेका हेतु तुकारामजीने इस प्रकार व्यक्त कर ही दिया है । पर सन्त भी तुकारामजी ऐसे चाहते थे जो पूर्व-परम्पराको लेकर चले हों । कोई नया धर्मपन्थ चलानेवाले, नया सम्प्रदाय प्रवर्तित करानेवाले, कोई नया आन्दोलन उठानेवाले महात्मा वह नहीं चाहते थे । धर्मक्रान्ति या बगावत उन्हें प्रिय नहीं थी । पहलेसे ही जो मार्ग बने हुए हैं, पर बीचमें कालवशात् जो लुप्त या दुर्गम हो गये उन्हें फिरसे स्वच्छ और सुगम बनानेवाले महात्माओंके ही वचन उन्हें प्रिय थे । 'आम्ही (हम) वैकुण्ठवासी' अभंगमें तुकारामजीने अपने अवतारका प्रयोजन बताया है । उसमें भी यही कहा है कि प्राचीन कालमें 'ऋषि जो कुछ कह गये' उसीको 'सत्यभावसे बर्तनेके लिये' हम आये हैं और 'सन्तोंके मार्ग झाड़-बुहारकर स्वच्छ करेंगे यही हमारा काम है ।

पुढिलाचे सोयी माझया मना चालीं ॥
माताची आणिली नाहीं बुद्धि ॥

'पूर्वके सन्तोंके मार्गपर चलूँ यही मेरी मनःप्रवृत्ति है मैंने अपनी बुद्धिसे कोई नया मत नहीं ग्रहण किया है। तुकारामजी कहते हैं, मेरा सात्त्विक व्यवहार है।' तुकारामजीने नामसंकीर्तनके जो अभंग रचे उनमें उन्होंने यही कहा है कि 'पितरोंके बल-भरोसे गीत गाऊँगा।' दूसरे एक स्थानमें तुकारामजी कहते हैं कि 'मेरी वाणी क्या है मूर्खकी बकवाद है बच्चेकी तोतली बातें हैं, इस प्रकार अपनेको कवित्वहीन बतलाते हुए यह भी बतला देते हैं कि आप सन्तजनोंका उच्छिष्ट सेवन करके, आपलोगोंका सहारा पाकर ही मेरे मुखसे प्रासादिक वाणी निकली।' (आधारें बरवी प्रसादाची वाणी। उच्छिष्ट सेवनें तुमचिया॥) तुकारामजीने फिर भगवान्से यही प्रार्थना की है कि सन्त गेले त्या ठाया। देवराया पावबी॥ (पूर्वके सन्त जहाँ पहुँचे, वहीं हे भगवन्! मुझे पहुँचाओ।)

तात्पर्य पूर्वपरम्पराको लेकर चलनेवाले तथा भगवान्को मूर्तिमान् करनेवाले पहुँचे हुए सन्तोंके ही वचनोंका पाठ तुकारामजी करते थे और उन सन्तोंको जो भगवद्दर्शन हुए थे ही दर्शन तुकाराम चाहते थे। कौन ऐसे सन्त थे और कौन-से ग्रन्थ तुकाराम-प्रिय हुए यह विचार प्रसङ्गसे आप ही आगे आनेवाला है। पुराण-ग्रन्थों और साधु-सन्तोंके ग्रन्थोंका ही सहारा तुकारामजीने लिया और उनका सार अपने हृदयमें संग्रह किया। बृहदारण्यकमें कहा है, 'ग्रन्थोंका अध्ययन बहुत न करे। कारण वाणीकी वह व्यर्थकी थकान है।' ग्रन्थोंके सिद्धान्त ध्यानमें आनेपर ग्रन्थोंका प्रयोजन नहीं रहता। ग्रन्थोंके सिद्धान्त ज्यों ज्ञात हुए और यह लगन लगी कि महात्माओंके अनुभव मुझे भी प्राप्त हों, आत्मस्थितिके सुखका अधिकारी मैं भी बनूँ और इसके लिये जी जहाँ छटपटाने लगा वहाँ ग्रन्थाध्ययन धीरे-धीरे कम होने ही लगता है और अन्तरङ्गका अभ्यास तब आरम्भ होता है। पीछेकी अवस्थामें तुकारामजीने ही कहा है—

पाहों ग्रंथ तरी आयुष्य नाहीं हातीं ।
नाहीं ऐसी मती अर्थ कळे ॥ १ ॥
(देखूँ ग्रंथ सारे तो आयु नहीं हाथ ।
मति भी न दे साथ अर्थ जानूँ ॥ १ ॥)
होईल तें हो या विठोबाच्या नावें ।
अर्जिलें तें भावें जीवीं धरूँ ॥ २ ॥
(होना हो सो होय विट्ठल-आसरे ।
आये भक्तिसे रे उर धरूँ ॥ २ ॥)

'सब ग्रन्थ देखना चाहें तो आयु अपने हाथमें नहीं । इतनी बुद्धि भी नहीं जो अर्थ समझमें आवे । इसलिये विठोबाके नामपर जो हो सो हो, जो कुछ (ज्ञान) मिलेगा उसे भावपूर्वक जीसे लगा रखूँगा, ग्रन्थके साररूप हरिको जब चित्त ले लेता है तब ग्रन्थका कार्य समाप्त हो जाता है । अस्तु, तुकारामजीने कौन से ग्रन्थ देखे, किन सन्तोंके वचनोंका पाठ किया, या पठित ग्रन्थोंमेंसे क्या सार ग्रहण किया, यह अब देखें ।

६ महीपतिबावाके उद्गार

तुकारामजीके ग्रन्थाध्ययनका वर्णन महीपतिबावाने अपने 'भक्त-लीलामृत' (अ० ३०) में अपनी प्रेम-परा वाणीसे इस प्रकार किया है—

'नामदेवके अभगोंका नित्य पाठ करते हुए (तुकाराम) नाचते-गाते थे । एकादशीको व्रत रहकर सन्तोंके साथ जागरण करते थे, उन्होंने अन्य सन्तोंके भी ग्रन्थ देखे । विख्यात यवन भक्त कबीरका वचनामृत बड़ी प्रीतिसे पान करते थे । श्रीज्ञानेश्वरने अपने श्रीमुखसे जो महान् अध्यात्म ग्रन्थ कहा उसकी शुद्ध प्रति इस वैष्णव वीरने प्राप्त की और उसका अध्ययन किया । सन्त एकनाथने भागवतपर जो टीका की उसका भी शुद्ध ग्रन्थ इन्होंने बड़े प्रयाससे प्राप्त किया । इस ग्रन्थका मनन करनेके

लिये तुकाराम भण्डारापर्वतपर एकान्त स्थानमें जाकर बैठा करते थे। पूर्वाभ्यासमें तुकारामजीके सहायक स्वयं वैकुण्ठवासी भगवान् थे। पर्वतपर बैठकर ग्रन्थका पारायण करके अब वह अर्थान्वय ध्यानमें लाते थे। ग्रन्थके वचन स्मरण रखने और कण्ठ करनेमें तुकारामजीको विशेष परिश्रम नहीं करना पड़ता था दिन-रात मनन करते थे इससे अक्षर कण्ठस्थ हो जाते थे। एकनाथ महाराजके प्रासादिक वचन जिसमें भरे हुए हैं उस भावार्थ रामायणका भी नित्य प्रीतिसे पारायण करते थे। श्रीमद्भागवतकी रस कथाएँ उन्होंने पढ़ीं और किन्हीं महापुरुषके मुखसे भी सुनीं। श्रीहरिकी लीला विशेष अभ्यास के साथ देखी-सुनी। श्रीज्ञानेश्वरके योगवासिष्ठ, अमृतानुभव ग्रन्थोंका मनन कर अर्थकी खोज की और पुराण भी बहुत श्रवण किये।

महीपतिबाबाने जिन ग्रन्थोंका उल्लेख किया है उन्हें तुकारामजीने 'एकान्तमें बैठकर देखा और उनका अर्थ ढूँढ़ा' इसमें सन्देह नहीं। नामदेवके अभंग 'पाठ करते हुए वह नाचा करते थे' यह तो स्पष्ट ही है। सर्वप्रथम नामदेवके ही अभंगोंका पाठ और मनन किया। कबीरके दोहे उन्होंने बड़ी प्रीतिसे पढ़े यह बात इससे भी स्पष्ट हो जाती है कि तुकारामजीने स्वयं भी वैसे ही दोहे रचे हैं। ज्ञानेश्वरके ग्रन्थोंकी 'ग्रन्थ प्रतिष्ठा उन्होंने प्राप्त की' महीपतिबाबाका यह कथन बड़े ही महत्त्वका है। ज्ञानेश्वरके ज्ञानेश्वरी अमृतानुभव और योगवासिष्ठ (?) ग्रन्थोंका उन्होंने मनन किया और अर्थ ढूँढ़कर' रखा। महीपतिबाबाने इसी प्रसङ्गमें आगे चलकर कहा है कि हरिपाठके जेह अभंग जिन्हें श्रीज्ञानेश्वरने स्वमुखसे कहा उन अभंगोंका वैष्णव वीर तुका प्रेम और आदरके साथ गाया करते थे। अर्थात् ज्ञानेश्वरी अमृतानुभव, योगवासिष्ठ और हरि पाठके अभंग, ज्ञानेश्वर महाराजके इन चार ग्रन्थोंका तुकारामजीने मनन पूर्वक अध्ययन किया था। अब रही बात एकनाथ महाराजकी।

नाथभागवतका शुद्ध ग्रन्थ उन्होंने बड़े 'प्रयाससे' प्राप्त किया और भण्डारा-पर्वतपर निर्जन स्थानमें बैठकर इन ग्रन्थोंका पारायण किया। नाथके 'भावार्थरामायण' का भी उन्होंने 'निज प्रीतिसे पारायण' किया। भागवत-की सरस कथाएँ पढीं, किन्हीं महापुरुषद्वारा वर्णित कथाएँ भी श्रीकृष्ण-लीलाप्रेमार्थ 'आयास' के साथ सुनीं। महीपतिबाबाने तुकारामजीके अध्ययनका यह जो सुन्दर वर्णन किया है वह यथार्थ है, बाबाकी शोधक-बुद्धि और मार्मिकता देखकर साश्चर्य आनन्द होता है। तुकारामजीके ग्रन्थाध्ययनके सम्बन्धमें महीपतिबाबाने जो कुछ लिखा है उसका समर्थन करनेके लिये तुकारामजीके अभगोंमें ही कोई अन्त.प्रमाण मौजूद हों तो उन्हें अब देखें। नामदेव, कबीर, ज्ञानेश्वर और एकनाथके ग्रन्थोंको तो तुकारामजीने आस्थापूर्वक देखा ही था, पर और भी उन्होंने क्या क्या देखा था यह भी हमलोग क्रमसे देखें। मेरे विचारमें तुकारामजी मूलसस्कृत भागवत और गीता प्राकृत टीकाओंकी सहायताके बिना स्वय समझ सकते थे और कितने ही सस्कृत स्तोत्र, सुभाषित, भर्तृहरिके नीति और वैराग्यशतक आदि ग्रन्थ भी उन्होंने देखे थे। तात्पर्य, तुकाराम बहुश्रुत थे और उनके अभगोंसे यह अनुमान होता है कि वह सस्कृत भी सामान्यतः अच्छी जानते थे।

७ भागवतधर्मके मुख्य ग्रन्थ—गीता और भागवत

तुकाराम भागवतधर्मके विद्यालयमें भर्ती हुए यह पहले कह ही चुके हैं। पिछले अध्यायमें यह भी दिखा चुके हैं कि उन्होंने भागवतधर्मका आचार स्वीकार कर लिया। अब जिन ग्रन्थोंमें भागवतधर्मके तत्त्वोंका प्रतिपादन किया हुआ हो उन ग्रन्थोंका अध्ययन भी सम्प्रदायके साथ आप ही प्राप्त होता है। भागवतधर्मके मुख्य ग्रन्थ दो हैं—गीता और भागवत। वेद-शास्त्रोंका सम्पूर्ण रहस्य गीता ग्रन्थमें सञ्चित किया हुआ है और गीता-

भक्त श्रीकृष्णचन्द्रका चरित्र भागवतमें वर्णित है। श्रीकृष्णके ज्ञानाधिकारी भक्त दो हैं, एक अर्जुन और दूसरे उद्धव। भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको गीतामें और उद्धवको श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धमें भागवतधर्मका मर्म बताया है। इसीको मराठीमें क्रमशः श्रीज्ञानेश्वर और एकनाथने विशद किया है। भागवतधर्मके गीता और भागवत मुख्य आधारस्तम्भ हैं और उनमें पूर्ण एकवाक्यता है। दोनों ग्रन्थोंकी शिक्षा एक है। दोनोंका यही एक उपदेश है कि सब कर्म कृष्णार्पणबुद्धिसे करके हरिभक्तिके द्वारा स्वयं तर जाय और दूसरोंको भी तारे। कुछ विद्वान् यह कहा करते हैं कि गीता प्रवृत्तिपरक है और भागवत निवृत्तिपरक, पर यथार्थमें दोनों ग्रन्थ प्रवृत्ति-निवृत्तिका परस्पर समन्वय करनेवाले ग्रन्थ हैं। दोनों ग्रन्थोंमें ज्ञान और भक्तिका मधुर मिलन हुआ है।

> गीता-भागवत करिती श्रवण। अखंड चिंतन विठोबाचें॥
> तुका म्हणे मज घडो त्यांची सेवा। तरी माझ्या दैवा पार नाहीं॥

'जो गीता और भागवत श्रवण करते हैं और श्रीहरिका चिन्तन करते हैं तुका कहता है कि उनकी सेवाका अवसर मुझे मिले तो मेरे सौभाग्यकी सीमा न रहे।' 'पाण्डुरंग करूँ प्रथम नमना' वाले ओवीरूप शतचरणात्मक अभंगमें भागवतका स्वतन्त्र उल्लेख भी किया है—

'सब जो कुछ है व्यासादिने बता दिया है। मैं उन्हींका उच्छिष्ट अपनी वाणीसे कहता हूँ। व्यासने कहा है कि भव-सिन्धुके पार जानेके लिये भक्ति ही मुख्य है। जीवोंके उद्धारके लिये ही भागवत निर्माण किया'

तुकारामजीके कथनानुसार गीता और भागवतका भक्ति ही सार है। गीता और भागवतका तुकारामजीको कितना दृढ़ परिचय था यह अब देखा जाय।

८ गीताध्ययन

मूलगीता तुकाराम नित्यपाठ करते थे और इससे उनके अभंगोंपर जहाँ-तहाँ गीताकी छाया पड़ी स्पष्ट दिखायी देती है । कुछ उदाहरण नीचे देते हैं—

गीता—**निर्दोषं हि समं ब्रह्म ।**

अभंग—ब्रह्म सर्वगत सदा सम । जेथें आन नाहीं विषम ॥

'ब्रह्म सर्वगत सदा सम है । जहाँ और कुछ भी विषम नहीं है ।'

गीता—**अन्तकाले च मामेव स्मरन् ।**

अभंग—अंतकाळीं ज्याच्या नाम आलें मुखा ।
तुका म्हणे सुखा पार नाहीं ॥

'अन्तकालमें जिसके मुखमें नाम आ गया उसके सुखका कोई पार नहीं ।'

गीता—**पद्मपत्रमिवाम्भसा ।**

अभंग—मग मी व्यवहारीं असेन वर्तत ।
जैसें जळाआंत पद्मपत्र ॥

'व्यवहारमें मैं ऐसे रहता हूँ जैसे जलमें कमलपत्र ।'

गीता—**'द्वाविमौ पुरुषौ लोके'** और **'उत्तम पुरुषस्त्वन्य'**

अभंग—क्षरा अक्षरावेगळा । तुका राहिला सोवळा ॥

'क्षर-अक्षरसे अलग वह वेलाग है ।'

गीता—**ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।**

अभंग—जरी मागों पद इंद्राचें । तरी शाश्वत नाहीं त्याचें ॥
स्वर्ग भोग भागू पूर्ण । पुण्य सरल्या मागती येणें ॥

'यदि इन्द्रका पद माँगूँ तो वह शाश्वत नहीं है। पूर्ण स्वर्गभोग माँगूँ तो पुण्य समाप्त होनेपर लौटना पड़ेगा।

यावानर्थ उदपाने (गीता २।४६) इस श्लोकका यथार्थ अनेकार्थीके अनुरूप तुकारामजीने इस प्रकार किया है—

स्वामी मीभिचया मोक्षाचें काम काय ।
माझें तें कोड तुकेपासीं ॥

गङ्गाका जल पाये बिना हमारा क्या काम रुका जाता है। हमारा मतलब तो प्यास बुझानेसे है।'

'ॐतत्सदिति निर्देशः' का अभिप्राय तुकारामजी यह बतलाते हैं—

ॐ तत्सत् इति सूत्राचें सार । कृपेचा सागर पांडुरंग ॥ १ ॥
(ॐतत्सत् इति सूत्रका सार । कृपाके सागर पांडुरंग ॥ १ ॥)

गीता—कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥

अभंग—त्यागें भोग माझ्या येतील अंतरा ।
मग मी दातारा काय करूं ॥

'ऐसे त्यागसे भोग मेरे अन्तरमें आ जायँगे तब मैं क्या करूँगा।'

गीता—उद्धरेदात्मनात्मानम् ।

अभंग—आपणचि तारी आपण चि मारी ।
आपण उद्धरी आपणास ॥

'आप ही तारनेवाला है आप ही मारनेवाला है। अपना आप ही उद्धार करनेवाला है।'

गीता—वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥

अभंग—जीव न देखे मरण । धरी नवी साडी जीर्ण ॥

'जीव मरण नहीं देखता । नया धारण करता और पुराना छोड़ देता है ।'

गीता—अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्य. सम्यग्व्यवसितो हि स ॥

अभंग—न व्हावीं तीं जालीं कर्मे नरनारी ।
अनुतापें हरी स्मरता मुक्त ॥

'जिनके हाथों ऐसे कर्म हुए जो कभी न हों वे नर हों या नारी,

'यदि इन्द्रका पद माँगूँ तो वह शाश्वत नहीं है। पूर्ण सार्वभौम माँगूँ तो पुण्य समाप्त होनेपर लौटना पड़ेगा।'

'यावानर्थ उदपाने' (गीता २ । ४६) इस श्लोकका भावार्थ ज्ञानेश्वरीके अनुरूप तुकारामजीने इस प्रकार किया है—

त्यानी भरिलिया अंतरींग फळ काय।
आपुलें तें काज तुकयासी॥

'गङ्गाका अन्त पाये बिना हमारा क्या काम रुका जाता है? हमारा मतलब तो प्यास बुझानेसे है।'

'ॐतत्सदिति निर्देशः' का अभिप्राय तुकारामजी यह बतलाते हैं—

ॐ तत्सत् इति सूत्राचें सार। कृपेचा सागर पांडुरंग॥१॥
(ॐतत्सत् इति सूत्रका सार। कृपाके सागर पाण्डुरंग॥१॥)

गीता—कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥

अभंग—स्वप्नीं भोग मनस्या बैसोनि अंतरा।
मग मी दातारा काय करूं॥

'ऐसे स्वप्नसे भोग मेरे अन्तरमें आ बसेंगे तब मैं क्या करूँगा।'

गीता—उद्धरेदात्मनात्मानम्।

अभंग—आपणचि तारी आपणचि मारी।
आपण उद्धरी आपणचा॥

'आप ही तारनेवाला है, आप ही मारनेवाला है। अपना आप ही उद्धार करनेवाला है।'

गीता—वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

लेखनीको रोक रखते हैं। अन्य सन्तोंके समान तुकारामजीको भागवतसे स्फूर्ति मिली। एकादश स्कन्धपर एकनाथ महाराजका भाष्य है और द्वादश स्कन्धमें कलिसन्तारक नाम-सकीर्तनकी महिमा वर्णित है। श्रीमद्भागवत भागवतधर्मका वेद है। श्रीज्ञानेश्वर महाराजने व्यासदेवके पद-चिह्नोंको ढूँढते हुए और भाष्यकार (श्रीमत् शङ्कराचार्य) से मार्ग पूछते हुए गीतारहस्य-विशद किया है, तथापि ज्ञानेश्वरीपर भागवतकी ही छाप अधिक पड़ी है। भारतवर्षमें श्रीकृष्णभक्तिका प्रचार प्रधानतः भागवतसे ही हुआ है। भागवत ग्रन्थ तुकारामजीने अनेक बार समग्र सुना, देखा और अपनी भाषामें दोहराया है। भागवतके अनेक श्लोक उन्हें कण्ठ हो गये, उनका मर्म उनके हृदयमें उतर आया और उसकी भक्तकथाएँ उनकी भक्तिके लिये उद्दीपक हुई। इस विषयमें किसीको कुछ सन्देह न रह जाय, इसलिये अन्त प्रमाणोंके द्वारा ही यह देखा जाय कि तुकारामजीके विचार और वाणीपर भागवतका कितना गहरा प्रभाव पड़ा था—

(१) चतुर्थ स्कन्ध (अ० ८) में नारदजीने ध्रुवको भगवत्-स्वरूपका ध्यान बताया है। इसी प्रकार भागवतमें अन्यत्र श्रीमहाविष्णुका वर्णन है। दशम स्कन्धमें श्रीकृष्णका रूप वर्णन भी वैसा ही है। तुकाराम-जीने श्रीपण्ढरपुरनिवासी श्रीविट्ठलका जो रूप वर्णन किया है वह भागवत-के उस रूप वर्णनके साथ मिलाकर देखनेयोग्य है—

श्रीवत्साङ्कं घनश्यामं पुरुषं वनमालिनम्।
शङ्खचक्रगदापद्मैरभिव्यक्तचतुर्भुजम् ॥ ४७ ॥
किरीटिनं कुण्डलिनं केयूरवलयान्वितम्।
कौस्तुभाभरणग्रीवं पीतकौशेयवाससम् ॥ ४८ ॥

वनमालिनम्=तुळशीहार गळा, रुळे माळ कंठीं वेजयन्ती।
गलेमें तुलसीका हार है, वैजयन्ती माला लटक रही है।

हरी' मन्त्रका जप करो और उसी समय गीताकी पोथी उनके हाथमें दी और कहा कि इसका नित्य पाठ किया करो। यह बात स्वयं महीपतिबाबाने अपने ग्रन्थमें कही है। तात्पर्य, तुकारामजी गीताका नित्य पाठ किया करते थे और गीताकी बहुत सी प्रतियाँ स्वयं लिखकर अथवा शिष्योंसे लिखाकर अपने पास रखते थे। वे प्रतियाँ जिज्ञासुओंको देनेके काम आती थीं। यह भी हो सकता है कि गीताकी ऐसी प्रतियाँ लिख-लिखकर लोग उन्हें अर्पण करते हों। इस प्रकार तुकारामजी स्वयं नित्य गीता-पाठ करते थे और दूसरोंसे भी कराते थे।

९ भागवत-परिचय

गीताके समान ही मूल भागवत भी उन्होंने अच्छी तरह देखा था। गीता पढ़ना ज्ञानेश्वरी पढ़ना है और भागवत पढ़ना एकनाथी भागवत पढ़ना है। ऐसी साम्प्रदायिक परिपाटी होनेपर भी तुकारामजीने मूल गीता और मूल भागवतको अच्छी तरह देखा था इसमें कोई सन्देह नहीं। तुकारामजीके अभंगोंमें या सभी सन्तोंकी कविताओंमें जिन प्रह्लाद, ध्रुव गजेन्द्र अजामिल अम्बरीष उद्धव सुदामा गोपी ऋषि-पत्नी आदि भक्त-भक्तिनोंके बारम्बार नाम आते हैं उनकी कथाएँ भागवतपुराणमें ही हैं। ध्रुवाख्यान भागवतके चतुर्थ स्कन्धमें (अ ८ ९) है जड़भरतकी कथा पञ्चम स्कन्धमें (अ ९ १ ११), अजामिलकी कथा षष्ठ स्कन्धमें (अ १ २ १) प्रह्लाद-चरित्र सप्तम स्कन्धमें (अ ५ से १) गजेन्द्र-मोक्षका वर्णन अष्टम स्कन्धमें (अ २, ३), अम्बरीषका आख्यान नवम स्कन्धमें (अ ४ ५) और दशम स्कन्धमें सम्पूर्ण श्रीकृष्ण चरित्र है। संसारके सब ग्रन्थोंमें भक्ति-सुधार्णवस्वरूप श्रीमद्भागवत ग्रन्थ अत्यन्त मधुर है। उसमें भी दशम स्कन्ध मधुरतर और उसमें फिर श्रीकृष्णकी बाललीला मधुरतम है। श्रीकृष्णकी बाल लीलाओंके सम्बन्धमें आगे विस्तारपूर्वक वर्णन आनेवाला है इसलिये यहाँ

तरीच जन्मा यावें । दास विठ्ठलाचे व्हावें ॥ १ ॥
नाहीं तरी काय थोडीं । श्वान सूकरें बापुडीं ॥ ध्रु० ॥
जाल्याचें तें फळ । अंगीं लागों नेदी मळ ॥ २ ॥
तुका म्हणे भले । ज्याच्या नावें मानवले ॥ ३ ॥

‘(मनुष्य) जन्म तो ही लो जो विठ्ठलनाथके दास हो। नहीं तो कुत्ते और सूअर (विड्भुज) क्या कम हैं? जन्म लेना तभी सफल है जब अङ्गमें मैल न लगने दे (सत्त्व शुद्ध रहे) तुका कहता है, वे ही भले हैं जिनका मन भगवन्नाममें लग गया।’

(४) संसारमें गृह-सुत दारा और द्रव्यादिके पीछे भटकनेवाले मनुष्यको इस संसारारण्यमें प्रचण्ड वात्यासे उड़नेवाली धूलसे भरी हुई दिशाएँ नहीं सूझतीं—

क्वचिच्च वात्योत्थितपांसुधूम्रा
दिशो न जानाति रजस्वलाक्षः ॥
(५ । १३ । ४)

तुका म्हणे इहलोकींच्या व्यवहारें ।
नये डोळा धुरें भरूनि राहें ॥

‘तुका कहता है, इस लोकके व्यवहारसे आँखें धुएँसे भरी हुई न रखो।’

(५) षष्ठ स्कन्धमें अजामिलके कथा-प्रसङ्गमें कहा है—

न वै स नरकं याति नेक्षितो यमकिङ्करैः ।
(२ । ४८)

तान्नोपसीदत हरेर्गदयाभिगुप्तान् ॥
(३ । २७)

इन दो चरणोंसे बिल्कुल मिलता हुआ तुकारामजीका यह अभंग है—

मेघश्याम पीतकौशेयवाससम्—कासे सोनसळा पांवर पाटोळा।

घननीळ सावळा बाइयानो ॥ १ ॥

(काछे पीताम्बर पीतपट धारे।

घननील साँवर मेरे कान्हा ॥)

किरीटिनं कुण्डलिनम्—मकर कुंडलें तळपती श्रवणीं।

मुकुट कुंडलें श्रीमुख शोभलें। इत्यादि

(मकर कुंडल श्रवणमें झलकत। मुकुट कुंडल श्रीमुख सोहन ॥)

कौस्तुभमण्युपशोभितम्—कंठीं कौस्तुभमणि विराजित।

'कण्ठमें कौस्तुभमणि शोभ रहा है।

(२) भक्तिं हरौ भगवति प्रवहन्—सुख

(भगवान् पर ध्यानमें रखिये)

प्रेम अमृताची धार। वाहे देवा ही समोर ॥

'प्रेमामृतकी धारा भगवान्‌के सामने भी ऐसी ही प्रवाहित होती है।

(३) नायं देहो देहभाजां नृलोके

कष्टान्कामानर्हते विड्भुजां ये।

तपो दिव्यं पुत्रका येन सत्त्वं

शुद्ध्येद्यस्माद्ब्रह्मसौख्यं त्वनन्तम् ॥

(५।५।१)

विड्भुज माने विष्ठा भक्षण करनेवाले स्वान सूकर आदि क्षुद्र योनियोंमें जो कष्टदायक विषय भोग प्राप्त होते हैं वे ही यदि नर-देह प्राप्त होनेपर भी बने रहें तो यह तो बहुत ही घृणास्पद है। इसलिये (ऋषभदेव कहते हैं) पुत्रो! दिव्य तप करके चित्तको शुद्ध करो, इससे अनन्त ब्रह्म सुख प्राप्त करोगे। इस श्लोकके साथ यह अभंग मिलाकर देखिये—

प्रसन्न हुए ।' (अब दूसरे श्लोकमें यही बतलाते हैं कि भक्तिके सिवा भगवान् और कुछ नहीं चाहते–) 'उपर्युक्त बारहों गुण यदि किसी ब्राह्मणमें हैं पर वह कमलनाभ भगवान्की सेवासे विमुख है तो उसकी अपेक्षा वह चाण्डाल श्रेष्ठ है जिसने अपना मन, वचन, कर्म, अर्थ और प्राण भगवान्को समर्पित कर दिया है । कारण, हरि भक्त चाण्डाल भी अपने कुलको पावन करता है, पर गर्वका पुतला बना हुआ नास्तिक ब्राह्मण अपना भी उद्धार नहीं कर सकता । ये दोनों श्लोक तुकारामजीके दो अभङ्गोंमें भावरूपसे आ गये हैं—

नव्हती ते संत करितां कवित्व ।=पाण्डित्य
मताचे ते आप्त नव्हती संत ॥ १ ॥=अभिजन
नव्हती ते संत वेदाच्या पठणें ।=श्रुत
नव्हती ते संत करितां तपतीर्थाटण ॥=तप इ० इ०

'सन्त वे नहीं जो कवित्व करते हैं, जिनका बड़ा परिवार है, जो वेदपाठ या तप-तीर्थाटन आदि करते हैं ।'

अब दूसरा अभंग देखिये—

अभक्त ब्राह्मण जळो त्याचें तोंड । काय त्यासी रांड प्रसवली ॥ १ ॥
वैष्णव चांभार धन्य त्याची माता । शुद्ध उभयतां कुळ याती ॥ ध्रु० ॥
ऐसा हा निवाडा जाला से पुराणीं । नव्हे माझी वाणी पदरिची ॥ २ ॥
तुका म्हणे आगी लागो थोरपणा । दृष्टि त्या दुर्जना न पडो माझी ॥ ३ ॥

'जो ब्राह्मण होकर भी भगवान्का भक्त न हो उसका मुँह काला । उसे मानो राँडने जना हो । चमार है पर यदि वह वैष्णव है तो उसकी माता धन्य है जिसने उसे जन्म देकर उभय कुल पावन किये । पुराणोंमें ही यह निर्णय हो चुका है, यह मैं कुछ अपने पल्लेसे नहीं कह रहा हूँ । तुका कहता है, उस बड़प्पनमें आग लगे (जिसमें भगवद्भक्ति नहीं), उसपर मेरी दृष्टि भी न पड़े ।'

यम सांगे दूतां । तुम्हां नाहीं तेथें सत्ता ॥
जेथें होय हरिकथा । सदा घोष नामाचा ॥ १ ॥
नका जाऊं तया गांवा । नामधारकाच्या शिवा ॥
सुदर्शन   घरा । वरती फिरे मोकळी ॥ ध्रु ॥
चक्रगदा घेउनी हरी । उभा असे त्यांचे द्वारीं ॥

यमराज अपने दूतोंसे कहते हैं कि जहाँ हरि-कथा होती है नाम-संकीर्तन होता है वहाँ तुमलोगोंको कोई अधिकार नहीं है। नामधारकोंके म[illegible]ग्राममें तुमलोग मत जाओ, वहाँ प्रत्येक घरपर सुदर्शनचक्र घूमता रहता है, प्रत्येक द्वारपर श्रीहरि चक्र और गदा लिये खड़े रहते हैं।

* * * *

(१) मन्ये धनाभिजनरूपतपःश्रुतौज-
स्तेजःप्रभावबलपौरुषबुद्धियोगाः ।
नाराधनाय हि भवन्ति परस्य पुंसो
भक्त्या तुतोष भगवान् गजयूथपाय ॥
(७ । ९ । ९)

विप्राद्द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभ-
पादारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम् ।
मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थ-
प्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः ॥
(७ । ९ । १०)

परम भक्त प्रह्लाद कहते हैं—धन अभिजन रूप, तप पाण्डित्य (श्रुत) ओज तेज प्रभाव बल पौरुष प्रज्ञा और अष्टाङ्गयोग—ये गुण भगवान्‌की प्रसन्नताके कारण नहीं होते। गजेन्द्र पशु था और उसमें इन गुणोंमेंसे एक भी गुण नहीं था। भगवान् केवल उसकी भक्ति पाकर

प्रसन्न हुए ।' (अब दूसरे श्लोकमें यही बतलाते हैं कि भक्तिके सिवा भगवान् और कुछ नहीं चाहते—) 'उपर्युक्त बारहों गुण यदि किसी ब्राह्मणमें हैं पर वह कमलनाभ भगवान्‌की सेवासे विमुख है तो उसकी अपेक्षा वह चाण्डाल श्रेष्ठ है जिसने अपना मन, वचन, कर्म, अर्थ और प्राण भगवान्‌को समर्पित कर दिया है । कारण, हरि भक्त चाण्डाल भी अपने कुलको पावन करता है, पर गर्वका पुतला बना हुआ नास्तिक ब्राह्मण अपना भी उद्धार नहीं कर सकता । ये दोनों श्लोक तुकारामजीके दो अभङ्गोंमें भावरूपसे आ गये हैं—

नव्हती ते संत करितां कवित्व ।=पाण्डित्य
संताचे ते आप्त नव्हती संत ॥ १ ॥=अभिजन
नव्हती ते संत वेदाच्या पठणें ।=श्रुत
नव्हती ते संत करितां तपतीर्थाटण ॥=तप इ० इ०

'सन्त वे नहीं जो कवित्व करते हैं, जिनका बड़ा परिवार है, जो वेदपाठ या तप-तीर्थाटन आदि करते हैं ।'

अब दूसरा अभंग देखिये—

अभक्त ब्राह्मण जळो त्याचें तोंड । काय त्यासी रांड प्रसवली ॥ १ ॥
वैष्णव चांभार धन्य त्याची माता । शुद्ध उभयता कुळ याती ॥ ध्रु० ॥
ऐसा हा निवाडा जाला से पुराणीं । नव्हे माझी वाणी पदरिची ॥ २ ॥
तुका म्हणे आगी लागो थोरपणा । दृष्टी त्या दुर्जना न पडो माझी ॥ ३ ॥

'जो ब्राह्मण होकर भी भगवान्‌का भक्त न हो उसका मुँह काला ! उसे मानो राँडने जना हो । चमार है पर यदि वह वैष्णव है तो उसकी माता धन्य है जिसने उसे जन्म देकर उभय कुल पावन किये । पुराणोंमें ही यह निर्णय हो चुका है, यह मैं कुछ अपने पल्लेसे नहीं कह रहा हूँ । तुका कहता है, उस बड़प्पनमें आग लगे (जिसमें भगवद्भक्ति नहीं); उसपर मेरी दृष्टि भी न पड़े ।'

इस अभंगमें उपर्युक्त दूसरे श्लोकका अर्थ स्पष्ट ही प्रतिबिम्बित हुआ है और साथ ही तुकारामजी यह भी बतला देते हैं कि यह निर्णय पुराणोंमें हो ही चुका है। किस पुराणमें कहाँ यह निर्णय हुआ है यह बतलानेकी अब कोई आवश्यकता न रही। भागवत पुराणके उपर्युक्त श्लोकमें यह निर्णय किया हुआ सामने मौजूद है।

(७) प्रह्लाद दैत्यपुत्रोंको उपदेश करते हुए कहते हैं (स्कन्ध ७—६)—

> पुंसो वर्षशतं ह्यायुस्तदर्धं चाजितात्मनः।
> निष्फलं यदसौ रात्र्यां शेतेऽन्धं प्रापितस्तमः॥६॥
> मुग्धस्य बाल्ये कैशोरे क्रीडतो याति विंशतिः। इत्यादि

तुकाराम भागवत वासुदेव अभंगमें कहते हैं—

> अल्प आयुष्य मानवी देह। शत गणिलें तें अर्ध रात्र खाय।
> पुढें बालत्व पीडा रोग क्षय। इत्यादि

मानवी देहकी आयु अल्प है। १०० वर्षकी आयु गिनें तो आधी आयु तो रात ही खा जाती है। फिर बालकपनमें कुछ आयु निकल जाती है। रोग पीड़ा शोक और क्षय घर कर लेते हैं।

(८) अष्टम स्कन्ध (अ० २-४)में गजेन्द्रका आख्यान है उसके साथ तुकारामजीके गजेन्द्रसम्बन्धी उल्लेख मिलाकर देखनेयोग्य हैं। गजेन्द्रकी कथा और उसका मर्म तुकारामजी बतलाते हैं—

> गजेंद्र तो हस्ती सहस्र वरुषें। जळामाजी नक्रें पीडियेलें॥१॥
> सुहृदीं सांडिलें सोयरीं सारें। ऐसी वाट पाहे विठो तुझी॥२॥
> दयेच्या सागरा माझ्या नारायणा। तया दोघांजणां तारियेलें॥३॥
> तुका म्हणे पुढें वाहोनि विमानीं। नेली आपुलेनी विष्णुदूतें॥४॥

गजेन्द्रको जलमें एक सहस्र वर्षतक ग्राहने पकड़ रखा था। गजेन्द्रके कोई सुहृद् उसे छुड़ा नहीं सके। तब अन्तमें हे विठ्ठलनाथ!

वह आपकी प्रतीक्षा करने लगा। हे कृपानिधान मेरे नारायण! उन दोनोंका आपने उद्धार किया। आप उन्हें विमानमें बैठाकर ले गये। यह सुनकर मुझे भी यह भरोसा हो गया।'

एक हजार वर्षतक गज ग्राहका युद्ध हुआ यह बात भागवतमें भी है—'तयोर्नियुद्ध्यतो समा' सहस्रं व्यगमन्।' कोई सुहृद् छुड़ा नहीं सके—'अपरे गजास्तं तारयितुं न चाशकन्।' गजेन्द्र और ग्राह दोनोंको भगवान्‌ने तारा, यह बात भागवतमें ही कही है। 'विमानमें बैठा ले जाने-की बात भागवतमें इस रूपमें है—'तेन युक्तं अद्भुत स्वभवनं गरुडा-सनोऽगात्।' इस प्रकार तुकारामजीने भागवतकी जिन जिन भक्तकथाओं-का उल्लेख अपने अभंगोंमें किया है उन कथाओंको, उल्लेख करनेके पूर्व, मूल भागवतमें अच्छी तरह देख लिया है। अर्थात् भागवतके साथ तुकारामजीका प्रत्यक्ष और दृढ परिचय था, यह स्पष्ट है।

तुकारामजीकी यह बात भी विशेष मनन करनेयोग्य है कि 'भगवान् उन्हें विमानमें बैठाकर ले गये। यह सुनकर मुझे भी यह भरोसा हो गया।' भगवान् भक्तको विमानमें बैठाकर अपने धाम ले जाते हैं यह गजेन्द्र-अम्बरीष आदि भक्तोंके चरित्रोंमें देखा और इसका 'मुझे भी भरोसा हो गया।' तुकारामजीका यह उद्गार उन्हींकी वैकुण्ठगमनकी कथाके साथ मिलाकर देखनेयोग्य है।

(९) तैरेव सद्भवति यत्क्रियतेऽपृथक्त्वात्
सर्वस्य तद्भवति मूलनिषेचनं यत्॥

(८।९।२९)

यथा हि स्कन्धशाखानां तरोर्मूलावसेचनम्।
एवमाराधनं विष्णोः सर्वेषामात्मनश्च हि॥

(८।५।४९)

इस अभंगमें उपर्युक्त दूसरे श्लोकका अर्थ स्पष्ट ही प्रतिफलित हुआ है और साथ ही तुकारामजी यह भी बतला देते हैं कि 'यह निर्णय पुराणोंमें ही हो चुका है।' फिर पुराणमें कहाँ यह निर्णय हुआ है यह बतलानेकी अब कोई आवश्यकता न रही। भागवत-पुराणके उपर्युक्त श्लोकमें यह निर्णय किया हुआ सामने मौजूद है।

(७) प्रह्लाद दैत्यपुत्रोंको उपदेश करते हुए कहते हैं (स्कन्ध ७—६)—

> पुंसो वर्षशतं ह्यायुस्तदर्धं चाजितात्मनः।
> निष्फलं यदसौ रात्र्यां शेतेऽन्धं प्रापितस्तमः॥६॥
> मुग्धस्य बाल्ये कैशोरे क्रीडतो याति विंशतिः। इत्यादि

तुकाराम 'भावें गावें वासुदेव' अभंगमें कहते हैं—

> अल्प आयुष्य मानवी देह। शत गणिलें तें अर्ध रात्र खाय।
> पुढें बालत्व पीडा रोग क्षय। इत्यादि

मानवी देहकी आयु अल्प है। १०० वर्षकी आयु गिनें तो आधी आयु तो रात ही खा जाती है। फिर बाल्यावस्थामें कुछ आयु निकल जाती है। फिर पीडा, रोग और क्षय चट कर जाते हैं।

(८) अष्टम स्कन्ध (अ० २१)में गजेन्द्रका आख्यान है, उसके साथ तुकारामजीके गजेन्द्रसम्बन्धी उल्लेख मिलाकर देखनेयोग्य हैं। गजेन्द्रकी कथा और उसका मर्म तुकारामजी बतलाते हैं—

> गजेंद्र तो हस्ती सहस्र वरुषें। जळामाजी नक्रें पीडिलासे ॥१॥
> सुहृदीं सांडिलें कोणी नाहीं साह्ये। अंतीं वाट पाहे सिद्धि तुझी ॥२॥
> रूपेच्या सायरा मांडल्या नारायणा। तया हाव्याजव्या तुम्हि धेनें ॥३॥
> तुकाम्हणे मेरें धावनि निर्वाणी। भोगी भक्तोनी विश्वासले ॥४॥

गजेन्द्रको जलमें एक सहस्र वर्षसे ग्राहने पकड़ रखा था। गजेन्द्रके कोई सुहृद् उसे छुड़ा नहीं सके। तब अन्तमें हे सिद्धिनाथ!

यह आपकी प्रतीक्षा करने लगा। हे कृपानिधान मेरे नारायण ! उन दोनोंका आपने उद्धार किया। आप उन्हें विमानमें बैठाकर ले गये। यह सुनकर मुझे भी यह भरोसा हो गया।'

एक हजार वर्षतक गज ग्राहका युद्ध हुआ यह बात भागवतमें भी है—'तयोर्नियुध्यतोः समाः सहस्रं व्यगमन्।' कोई छुड़ा न सके—'अपरे गजाः तारयितुं न चाशकन्।' गजेन्द्र और ग्राह दोनोंको भगवान्‌ने तारा, यह बात भागवतमें ही कही है। 'विमानमें बैठा ले जाने'की बात भागवतमें इस रूपमें है—'तेन युक्तः अच्युत स्वभवनं गरुडामनोऽगात्।' इस प्रकार तुकारामजीने भागवतकी जिन जिन भक्तकथाओंका उल्लेख अपने अभंगोंमें किया है उन कथाओंको, उल्लेख करनेके पूर्व, मूल भागवतमें अच्छी तरह देख लिया है। अर्थात् भागवतके साथ तुकारामजीका प्रत्यक्ष और दृढ परिचय था, यह स्पष्ट है।

तुकारामजीकी यह बात भी विशेष मनन करनेयोग्य है कि 'भगवान् उन्हें विमानमें बैठाकर ले गये। यह सुनकर मुझे भी यह भरोसा हो गया।' भगवान् भक्तको विमानमें बैठाकर अपने धाम ले जाते हैं यह गजेन्द्र-अम्बरीष आदि भक्तोंके चरित्रोंमें देखा और इसका 'मुझे भी भरोसा हो गया।' तुकारामजीका यह उद्गार उन्हींकी वैकुण्ठगमनकी कथाके साथ मिलाकर देखनेयोग्य है।

(९) तैरेव सद्भवति यत्क्रियतेऽपृथक्त्वात्
सर्वस्य तद्भवति मूलनिषेचनं यत॥

(८।९।२९)

यथा हि स्कन्धशाखानां तरोर्मूलावसेचनम्।
एवमाराधनं विष्णोः सर्वेषामात्मनश्च हि॥

(८।५।४९)

प्रेमसूत्रदोरी । नेतो तिकडे जातो हरी ॥१॥
मने सहित वाचा काया । अवघें दिलें पंढरिराया ॥२॥
(प्रेमसूत्रडोर । जाते हरि खींचो जिस ओर ॥
मन सह तन वचन । किया सब हरि-अर्पण ॥)

प्रणयरचना—प्रेमसूत्रकी डोर ।

(१४) भागवतके निम्नलिखित श्लोकका तो तुकारामजीने पदशः भाषान्तर किया है—

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत् ॥

यह श्लोक एकादश स्कन्ध (अ० १४ । १४)में है। कुछ हेर-फेरके साथ ऐसा ही श्लोक षष्ठ स्कन्धमें भी है (अ० ११ । २५) इस श्लोकका अर्थ यह है कि जिसने मुझे आत्मार्पण किया है वह मेरा भक्त मेरे सिवा और कुछ भी नहीं चाहता। पारमेष्ठ्य अर्थात् परमेष्ठीपद अथवा सत्यलोक, महेन्द्रधिष्ण्य अर्थात् इन्द्रपद, सार्वभौमपद, रसाधिपत्य अर्थात् पातालका आधिपत्य, योगसिद्धि, अपुनर्भव अर्थात् मोक्षकी भी वह इच्छा नहीं करता। इन पारमेष्ठ्यादि छः पदोंको सामने रखकर, तुकारामजीने देखिये, कैसे इस श्लोकका अनुवाद किया है—

परमेष्ठीपदा । तुच्छ करीती सर्वदा ॥१॥
'परमेष्ठी पदको भी सदा तुच्छ समझते हैं। (कौन ?)'
हेंचि ज्याचें धन । सदा हरीचें चिंतन ॥ध्रु०॥
'सदा हरिका चिन्तन ही जिनका धन है।'
इंद्रादिक भोग । भोगन्हे तो भवरोग ॥२॥

'इन्द्रादिकोंके जो भोग हैं वे भोग नहीं, भवरोग हैं।'

सार्वभौम राज्य । त्यांसी कांहीं नाहीं काज ॥३॥

'सार्वभौम राज्यसे उन्हें कोई काम नहीं है।'

पाताळींचें आधिपत्य । ते तों मानिती विपत्य ॥४॥

'पातालके आधिपत्य होनेको वे विपत्ति ही समझते हैं।'

योगसिद्धिसार । त्यांसी वाटे तें असार ॥५॥

'योगसिद्धियोंके सारको वे निःसार समझते हैं।'

मोक्षाचेनहि सुख । सुख नव्हे तेंचि दुःख ॥६॥

'मोक्षसुखको वे सुख नहीं दुःख ही समझते हैं।'

तुका म्हणे हरीवीण । त्यांसि अवघा वाटे शीण ॥७॥

'तुका कहता है हरिके बिना वे सब कुछ व्यर्थ समझते हैं।'

इतने स्पष्ट प्रमाण पानेके पश्चात् कोई भी यह नहीं कह सकता कि श्रीमद्भागवतके साथ तुकारामजीका दृढ़ परिचय नहीं था।

१० पुराणोंपर श्रद्धा

भागवतके अतिरिक्त अन्य पुराणोंको भी तुकारामजीने बड़े प्रेमसे पढ़ा था। पुराणोंके सम्बन्धमें उन्होंने अनेक बार जो प्रेमोद्गार प्रकट किये हैं उनसे यह मालूम होता है कि पुराणोंका भी उनके चित्तपर बड़ा प्रभाव पड़ा था।

एक स्थानमें उन्होंने कहा है 'मैंने पुराण देखे, दर्शनोंमें भी ढूँढ खोज की पर तीनों भुवनमें ऐसा (मेरे नारायण-जैसा) कोई दूसरा न देखा।' एक दूसरे स्थानमें कहते हैं 'पुराणोंका इतिहास देखा उसके मीठे रसका अनुभव किया और उसीके आधारपर यह कविता कर रहा हूँ यह व्यर्थका प्रकार नहीं है।' एक स्थानमें तुकाराम भगवान्से प्रार्थना

करते हैं कि 'हे भगवन्! मैं यहाँ (इन चरणोंमें) अनन्य अधिकारी कब, कैसे बन सकूँगा, यह मैं नहीं जानता। पुराणोंके अर्थोंका जब ध्यान करता हूँ तो जी तड़पने लगता है।' 'भक्तिके विना भगवान् नहीं मिलने के', तुकाराम कहते हैं कि 'यही बात पुराण बतलाते हैं। पुराणोंमें यह प्रसिद्ध है कि असख्य भक्तोंको भगवान्ने उबारा है, पुराण बतलाते हैं कि भगवान् ऐसे दयालु हैं। पुराणोंके वचन मेरे लिये प्रमाण हैं।'

इस प्रकार अनेक स्थानोंमें तुकारामजीने अपना पुराण-प्रेम व्यक्त किया है। पुराणोंकी भक्त-कथाएँ पढ़कर तुकाराम तन्मय हो जाते थे, इनकी सी उत्कट भगवद्भक्ति मेरे चित्तमें कब उदय होगी, यही सोच उनको होता था और वह व्याकुल हो उठते थे। पुराणोंका अमृतरस पान करते हुए वह प्रेमाश्रुओंसे भीग जाते थे। ध्रुवकी ध्याननिष्ठा देखकर वह श्रीविट्ठलरूपके ध्यानमें निमग्न हो जाते थे। नाम स्मरणसे कितने असख्य भक्त तर गये, यह सोचकर वह और भी अधिक उल्लासके साथ नाम-कीर्तनमें निमज्जित हो जाते थे। श्रीमद्भागवतादि पुराणोंके समवलोकन-का ऐसा मृदु और मधुर सुसस्कार तुकारामजीके शुद्ध चित्तपर पड़ा। 'नामाचे पवाडे गर्जती पुराणें' (पुराण गरजकर नामके गीत गाते हैं) वाले अभगमें तुकारामजीने यह कहा है कि आदिनाथ शङ्कर, नारद, परीक्षित, वाल्मीकि आदि, नामके अलौकिक रागमें तन्मय हो गये और हम-जैसोंको मार्ग दिखा गये। अस्तु, यहाँतक हमलोगोंने यह देखा कि गीता तथा भागवतादि पुराणोंका अध्ययन तुकारामजीके ज्ञानार्जनका कितना बड़ा अङ्ग था।

११ विष्णुसहस्रनाम-पाठ

भागवतधर्मियोंमें विष्णुसहस्रनाम भी पहलेसे ही बहुत प्रिय और मान्य है। इसके नित्यपाठकी परम्परा भी बहुत प्राचीन है। यह विष्णु-

(३) सहस्रनामकी प्रत्येक पुकार उत्तरोत्तर अधिकाधिक बल देनेवाली है।

(४) सहस्रनामका रूप भक्तोंका पक्षपाती है।

(५) मेरी पूँजी सहस्रनाममाला है।

(६) एक नाम भी जहाँ असीम है वहाँ सहस्र नामोंकी माला गूँथ डाली।

(७) जिसके रूप है न आकार, वह नाना अवतार धारण करता है, उसीने अपने सहस्र नाम रख लिये।

(८) सहस्र नामसे पूजा करना फलश ही चढाना है।

तुकारामजीका यह कहना है कि विष्णुसहस्रनाम नौकाका मैंने सहारा लिया, आपलोग भी लीजिये; इससे भव सिन्धुको पार कर जाओगे। इस सहस्रनामावलिमें श्रीकृष्णके जो केशव, पुरुषोत्तम, गोविन्द, माधव, अच्युत, देवकीनन्दन, वासुदेव, गरुडध्वज, नारायण, दामोदर, मुकुन्द, हरि, भक्तवत्सल, पापनाशन आदि नाम हैं—ये ही तुकारामजीके अभंगोंमें बार-बार आते हैं। कुछ नामोंपर उन्हें अभंग भी सूझे हैं—

(१) धर्मो धर्मविदुत्तमः।

घर्माची तू मूर्ति। पाप-पुण्य तुझे हातीं॥ १॥

'धर्मकी तुम मूर्ति हो। पाप-पुण्य तुम्हारे हाथमें है।'

(२) गुसश्चक्रगदाधरः।

घेऊनियां चक्रगदा। हाची धन्दा करीतो॥ १॥
भक्ता राखे पायापाशीं। दुर्जनांसी संहारी॥ २॥

चक्र और गदा लिये वह यही किया करता है कि भक्तोंको अपने चरणोंके पास रखता और दुर्जनोंका संहार करता है।'

'कल्पान्तापर' पदका यह विवरण है। सुदर्शनचक्रमें यह अम्बरीष-जैसे भक्तोंको अपने चरणोंके समीप रखता और ग्राहके कण्ठ-जैसे दुर्जनोंका संहार करता है।

(३) अमृतांशोऽमृतवपुः।

जीवनाचें जीवन । अमृताची तनु । ब्रह्मांडभूषण । नारायण ॥ १ ॥

१२ महिम्नादि स्तोत्र और सुभाषित

तुकारामजीके अभंगोंमें संस्कृत-श्लोकोंके प्रतिरूप या अनुवाद आते हैं, जिनसे उनकी बहुश्रुतता और धारणा शक्तिका पता लगता है—

(१) सर्वं विष्णुमयं जगत्। विष्णुमय जग वैष्णवांचा धर्म।

(२) मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद ॥

माझे भक्त गाती जेथें। नारदा मी उभा तेथें ॥ १ ॥

मेरे भक्त जहाँ गाते हैं, हे नारद! मैं वहाँ खड़ा रहता हूँ।

(३) कामातुराणां न भयं न लज्जा।

कामातुरा भय लज्ज ना विचार।

कामातुरको न भय है, न लज्जा न विचार।

(४) क्षमा शस्त्रं करे यस्य दुर्जनः किं करिष्यति।

अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति ॥

क्षमाशस्त्र जया नराचिये हातीं। दुष्ट तयाप्रति काय करी ॥ १ ॥
तृण नाहीं तेथें पडला दावाग्नी। जाय तो विझोनी आपसया ॥ २ ॥

क्षमा-शस्त्र जिस मनुष्यके हाथमें है दुर्जन उसका क्या बिगाड़ सकते हैं! जहाँ तृण ही नहीं है वहाँ दावाग्नि सुलगाकर क्या करेगी? आप ही बुझ जायगी।

(५) मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम्।

उलंघितें पांगुळ गिरी । मुकें करी अनुवाद ॥

(६) प्रतिष्ठा शूकरीविष्ठा गौरव न तु रौरवम् ॥

मानदंभचेष्टा । हे तों सूकराची विष्ठा ॥ १ ॥

(७) परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ॥

पुण्य परउपकार पाप ते परपीडा ।
आणिक नाहीं जोडा दुजा यासी ॥

'पुण्य परोपकार है और पाप परपीड़ा है। इसका और कोई जोड़ा नहीं है।'

(८) मृगमीनसज्जनाना तृणजलसन्तोषविहितवृत्तीनाम् ।
लुब्धकधीवरपिशुना निष्कारणवैरिणो जगति ॥

काय केलें जळचरीं । ढीवर त्याच्यां घातावरी ॥ १ ॥
हातों ठायींचा विचार । आहे याति वैरकार ॥ध्रु०॥
श्वापदातें वधी । निरपराधें पारधी ॥ २ ॥
तुका म्हणे खळ । संतां पीडिती चांडाळ ॥ ३ ॥

जलचर बेचारोंने क्या किया जो धीवर उनकी घातमें रहता है? पर यह ऐसा ही है, यह जातिस्वभाव है, इसकी देह ही इनके वैरकी है। (वैसे ही) व्याध निरपराध मृगोंको मारा करता है। (और) तुका कहता है, खल जो हैं चाण्डाल, वे सन्तोंको ही सताया करते हैं। लुब्धक, धीवर, पिशुन तीनों दृष्टान्त तुकारामजीने उठा लिये हैं और उन्हें अभंग-वाणीमें क्या खूबीसे बैठाया है।

भर्तृहरिके नीतिवैराग्यशतक और आचार्यके पाण्डुरङ्गाष्टक, षट्पदी और महिम्नादि स्तोत्र तुकारामजीके अवलोकन और पाठमें रहे होंगे। पाण्डुरङ्गाष्टकमें इस आशयका एक श्लोक है कि भगवान्‌ने कटिपर जो हाथ रखे हैं वह यह जतलानेके लिये कि भक्तोंके लिये भवसागर कमरके नीचे ही है।

अखिल ब्रह्माण्डमें भी वह न समा सकेगी, मेरुकी लेखनी, सागरकी स्याही और भूमिका कागज तो पूरा पड़ ही नहीं सकता।'

१३ तुकारामजीका संस्कृत-ज्ञान

तात्पर्य गीता, भागवत, कई अन्य पुराण तथा महिम्नादि स्तोत्रोंको तुकारामजीने बहुत अच्छी तरहसे पढ़ा था। जिन लोगोंकी यह धारणा हो कि तुकाराम लिखे-पढ़े नहीं थे वे आश्चर्य करेंगे। तुकाराम-जीने भण्डारा-पर्वतपर ज्ञानेश्वरी और नाथभागवतादि ग्रन्थोंके अनेक पारायण किये थे। वह मराठी बहुत अच्छी तरहसे लिख सकते थे। बाल-लीलाके जो अभग उन्होंने बनाये उन्हें उन्होंने अपने हाथसे लिखा। अब वह सस्कृत जानते थे या नहीं और यदि जानते थे तो कितनी जानते थे, यह प्रश्न रहा। गीता और भागवतके अवतरण देकर उनके साथ उनके अभगोंका जो मिलान किया गया है उससे यह प्रश्न बहुत कुछ हल हो जाता है। समानार्थक अवतरण सैकड़ों दिये जा सकते हैं परन्तु हमने केवल ऐसे ही अवतरण दिये हैं जिनसे यह बात निर्विवादरूपसे स्पष्ट हो जाय कि तुकारामजी मूल सस्कृत-ग्रन्थोंको देखते थे और मूलके वचन गुन-गुनाते हुए ही कई अभग उन्होंने रचे हैं। तुकारामजीने स्वय कहा है कि मैंने अक्षरोंपर बड़ा परिश्रम किया, 'पुराणोंको देखा और दर्शनोंमें खोज की।' इससे यह स्पष्ट है कि मूल सस्कृत ग्रन्थोंको उन्होंने केवल सुना नहीं, स्वय देखा और पढ़ा था। देखनेमें भी अन्तर हो सकता है। व्याकरणके नियम चाहे उन्होंने न घोखे हों, उन नियमोंकी उन्हें कोई आवश्यकता भी नहीं थी। पर भागवतादि ग्रन्थ मूल सस्कृतमें वह पढ़ते थे और उनका अर्थ समझनेमें उन्हें कोई कठिनाई न होती थी। उसके पूर्व उन्होंने किसी उत्तम विद्वान्के मुखसे श्रवण भी किया होगा और उससे सस्कृतके साथ उनका परिचय बढ़ा होगा। कुछ लोग

यह कहते हैं कि वैराग्य हो जानेके पश्चात् तुकारामजी कुछ काल्तक देहूमें रहे। वहाँ उन्होंने एक विद्वान् भागवतज्ञके मुँहसे सम्पूर्ण भागवत सुनी और पीछे भण्डारा शैलपर उन्होंने भागवतके अर्थ शोधके लिये उसके अनेक पारायण किये। भागवतसप्ताहके भागवतवर्द्धिनीके सप्ताह बहुतोंने देखे होंगे अथवा चातुर्मास्यमें भागवतपुराण भी श्रवण किया होगा। यह परिपाटी अति प्राचीन है। तुकारामजीने भी सप्ताह और पुराण सुने होंगे। सप्ताहमें अनेक भाग्यवान् आगत भागवतकी पोथी सामने रखकर मूल पाठ भी किया करते हैं और नित्य पुराण श्रवण करते-करते बुद्धिमान् पुरुषोंको ही क्यों स्त्रियोंको भी महत्त्वके अच्छे-अच्छे श्लोक कण्ठ हो जाते हैं। कुछ लोगोंका यह मत है कि इसी तरहसे तुकारामजीको भी कुछ श्लोक याद हो गये अन्यथा संस्कृतका उन्हें बोध नहीं था। पर ऐसा समझ बैठना युक्तियुक्त नहीं है। स्वयं तुकारामजी ही जब कहते हैं कि 'पुराणोंको देखा दर्शनोंको ढूँढ़ा।' तब हमें उसमें सन्देह करनेका कोई कारण नहीं है। 'पुराणोंको देखा' माने भावार्थ समझनेके लिये मैंने स्वयं पुराणोंको पढ़ा और 'दर्शनोंको ढूँढ़ा' माने शास्त्र ग्रन्थोंमें ढूँढ़-खोज की; और इनका तात्पर्यार्थ यही समझा कि 'गोविन्दकी शरणमें जाओ निष्कामभावसे नाम-संकीर्तन करो।' तुकारामजीने दो-चार बार जो यह कहा है कि 'वेदोंके अक्षर पढ़नेका मुझे अधिकार नहीं' इसका भी मर्म जानना ही होगा। उनके कथनका अभिप्राय यह है कि सन्तोंके वचन मैंने याद किये भागवतके कुछ श्लोक और श्लोक कण्ठ किये इसी प्रकार यदि मुझे वेद-वचन कण्ठ करनेका अधिकार होता तो उपनिषदोंको देखकर उनसे भी नित्यपाठके योग्य वचन-संग्रह मैं कर लेता। शास्त्र पुराण उन्होंने स्वयं देखे वेदोंको भी देखते यदि अधिकार होता यही इसका स्पष्ट अभिप्राय है। वह इतनी संस्कृत जान गये थे कि भागवतादि ग्रन्थोंको मूलमें ही देखकर उनका भावार्थ समझ लेते। उनकी श्रद्धा और

द अलौकिक थी, शास्त्र-पुराणोंके भावार्थको तुरत ग्रहण कर लेनेयोग्य नकी अन्तःकरण प्रवृत्ति थी। इस कारण इन ग्रन्थोंको देखते-देखते उन न्थोंका अर्थबोध होने योग्य संस्कृत-भाषाका ज्ञान प्राप्त हो जाना उनके ये कुछ भी कठिन नहीं था। शास्त्रों और पुराणोंका रहस्य विशद रनेवाले प्राकृत ग्रन्थ भी मौजूद थे और उन ग्रन्थोंको भी उन्होंने देखा ा। इसलिये मूल ग्रन्थोंको देखकर उनका भावार्थ जान लेना उनके से ज्ञा-प्रतिभावान् पुरुषके लिये सहज ही था। वेद-शास्त्र पुराणोंका रहस्य ज्ञानेश्वरी और नाथभागवतमें व्यक्त हुआ था, और इन ग्रन्थोंको तुकाराम-जीने अपने हृदयसे लगा रखा था। तुकारामजीका आचार उत्तम ब्राह्मणोंके भी अनुकरण करने योग्य था। देवपूजादिके मन्त्र उन्हें कण्ठ थे। पूजा समाप्त करते हुए 'मन्त्रहीन क्रियाहीनम्' इत्यादि कहकर प्रार्थना की जाती है। तुकारामजी कहते हैं—

असो मन्त्रहीन क्रिया। नका चर्या विचारूं॥ १॥
सेवेमध्यें जमा धरा। कृपा करा सेवटीं॥ २॥

'कर्म मेरा मन्त्रहीन हुआ हो, रीत अनरीत जो कुछ हो, कुछ मत विचारिये। सेवामें इसे जमा करिये और अन्तमें कृपा कीजिये।'

भोजन समयमें 'हरिर्दाता हरिर्भोक्ता' इत्यादि कहा करते हैं। तुकारामजीने उसीको अपनी वाणीमें यों कहा है—'दाता नारायण। स्वयं भोगिता आपण॥' तुकारामजीका एक बड़ा ही सुन्दर अभंग है—'कासयानें पूजा करूं केशीराजा' एक बार ऐसा हुआ कि तुकारामजी सब पूजा-सामग्री पास रखकर पूजा करने बैठे, पूजा आरम्भ भी नहीं होने पायी और तुकारामजीको ध्यान लग गया। पूज्य-पूजक और पूजा-साहित्य, यह त्रिपुटी नहीं रही, तीनों एकाकार हो गये। जिस अभंगकी बात कह रहे थे वह इसी समयका अभंग है। यह आचार्यके 'परा पूजा' नामक प्रकरणके भावमें है। इससे कुछ लोग बड़ी अधीरतासे यह कह देते हैं कि तुकाराम-

भी मूर्तिपूजक नहीं थे । पर इस प्रसंगसे यदि कोई बात साबित होती है तो वह यही कि तुकारामजी बड़े आस्थावान् और नियमी मूर्तिपूजक थे, और चन्दन, अक्षत, पुष्प धूप दीप-दक्षिणा आरती, भजन, नैवेद्यके साथ नित्य शास्त्रोक्त रीतिसे भगवान्की प्रतिमाका पूजन करते थे । नियमके वह बड़े पक्के थे, जरा भी विकार उनमें नहीं था । उन्हींका वचन है 'कांहीं नित्यनेमाविण । अन्न खाय तो श्वान' (कुछ नित्य नियमोंके बिना जो अन्न खाता है वह कुत्ता है।) केवल भण्डारेपर जाकर ग्रन्थ पढ़े एकान्तमें भगवान्की आन्तरिक प्रार्थना की और रातको गाँवके देवालयमें दो पहर कीर्तन कर लिया इतना ही तुकारामजीका कार्यक्रम नहीं था कुलपरम्परागत श्रीपाण्डुरङ्गकी पूजा भी वह नित्य-नियमपूर्वक और अत्यन्त श्रद्धाके साथ करते थे । चैतन्यघन भगवान्की मूर्ति भी चैतन्यघन है भगवान् सामने खड़े हैं, षोडश उपचारोंके साथ प्रेमपूर्वक उनका पूजन करना परमानन्दमय योग कर्म है । ऐसे आनन्दमग्न होकर वह भगवान्की पूजा करते थे । पूजामें सब मन्त्र पुराणोक्त ही है । भगवान्की पूजा करनेका अधिकार सब जीवोंको है । तुकारामजीकी समय-समयकी पूजा उनका पवित्र रहन-सहन, उनका संस्कृत और प्राकृत भाषाओंके ग्रन्थोंका अभ्यास-ग्रन्थोंका अवलोकन, नित्यपाठ और कीर्तन यह सब इतना भावयुक्त था कि ऐसे आचारवान् पुरुष ब्राह्मणोंमें भी बहुत कम मिल सकते हैं । बहुजनसमाजपर उनके इस चरित्रका बहुत ही अच्छा प्रभाव पड़ा और उनकी भगवद्भक्तिका डंका सर्वत्र बजने लगा । पुराणमताभिमानियोंको तुकारामजीका यह यश दुःसह होने लगा । उनकी ओरसे रामेश्वर भट्ट नामके एक पुरुष तुकारामजीसे लड़ने-झगड़नेके लिये आगे बढ़े । यह प्रसङ्ग आगे आवेगा । तुकारामजीके संस्कृत ग्रन्थोंके अध्ययनका यहाँतक विचार हुआ, अब उनके प्राकृत ग्रन्थाध्ययनकी बात देखें ।

१४ ज्ञानेश्वरी

ज्ञानेश्वरीके साथ तुकारामजीका कितना गाढा परिचय था यह दिखलानेके लिये ज्ञानेश्वरीके कुछ वचन और साथ ही उनसे मिलान करनेके लिये तुकारामजीके वचन उद्धृत करते हैं।

(१) राम हृदयमें हैं पर भ्रान्त जीव बाह्य विषयोंपर लुब्ध होते हैं। ज्ञानेश्वरी (अ० ९) में इनके लिये जोंक और दादुरकी उपमाएँ दी हैं। 'गौका दूध कितना पवित्र और मीठा होता है और होता भी है कितना पास--त्वचाके एक ही परदेके अन्दर। पर जोंक उसका तिरस्कारकर अशुद्ध रक्तका ही सेवन करती है।' (५७) 'अथवा कमलकन्द और मेढक एक ही स्थानमें रहते हैं तो भी कमलमकरन्दका सेवन भौंरे ही करते हैं और मेढकके लिये कीचड़ ही बचता है' (५८) शतचरण अभगमें तुकारामजीने भी यही दृष्टान्त दिया है— 'नामनिन्दकके लिये भगवान् वैसे ही दूर हैं, जैसे जोंकके लिये दूध।'

(२) ज्ञानेश्वरी अ० १२-९० में यह ओवी है कि 'सहस्रों नामोंकी नौकाओंके रूपमें सजकर मैं ससारमें तारक बना हूँ।' तुकारामजीका अभग है कि 'सहस्र नामोंकी नौकाको ठीक कर लो जो भव सिन्धुके पार ले जाती है।'

(३) बीज फूटकर पेड़ होता है, पेड़ गिरकर बीजमें समाता है। (ज्ञानेश्वरी १७-५९) तुकाराम कहते हैं—पेड़ बीजके पेटमें और बीज पेड़के अन्तमें।

(४) पण्डित बालकका हाथ पकड़कर स्वय ही अच्छे अक्षर लिखता है (ज्ञाने० १३-३०८)। तुकाराम—बच्चेके लिये गुरुजी ही पटिया अपने हाथमें लेते हैं।

भी मूर्तिपूजक नहीं थे । पर इस प्रसंगसे यदि कोई बात लक्षित होती है तो वह यही कि तुकारामजी बड़े आस्थावान् और नियमी मूर्तिपूजक थे, और चन्दन, अक्षत, फूल धूप, दीप-दक्षिणा, आरती भजन, नैवेद्यके साथ नित्य शास्त्रोक्त रीतिसे भगवान्की प्रतिमाका पूजन करते थे । नित्यकर्मके वह बड़े पक्के थे, जरा भी ढिलाई उनमें नहीं थी । उन्हींका वचन है 'काहीं नित्यनेमाविण । अन्न खाय तोचि श्वान (कुछ नित्य नियमोंके बिना जो अन्न खाता है वह कुत्ता है ।) केवल भण्डारेपर जाकर ग्रन्थ पढ़े, एकबार भगवान्की धार्मिक प्रार्थना की और रातको गाँवके देवालयमें दो पहर कीर्तन कर लिया, इतना ही तुकारामजीका कार्यक्रम नहीं था । कुलपरम्परागत श्रीपाण्डुरङ्गकी पूजा भी वह नित्य-नियमपूर्वक और अत्यन्त श्रद्धाके साथ करते थे । चैतन्यघन भगवान्की मूर्ति भी चैतन्यघन है भगवान् सामने खड़े हैं, षोडश उपचारोंके साथ प्रेमपूर्वक उनका पूजन करना परमानन्दप्रद श्रेष्ठ कर्म है । ऐसे भावभक्त होकर वह भगवान्की पूजा करते थे । पूजामें जप मन्त्र पुराणोक्त ही है । भगवान्की पूजा करनेका अधिकार सब जीवोंको है । तुकारामजीकी सगुण-अनन्य पूजा उनका पवित्र रहन-सहन उनका संस्कृत और प्राकृत भाषाओंके अभ्यास-ग्रन्थोंका अवलोकन नित्यपाठ और कीर्तन, यह सब इतना आकर्षक था कि ऐसे आचारवान् पुरुष ब्राह्मणोंमें भी बहुत कम मिल सकते हैं । बहुजनसमाजपर उनके इस चरित्रका बहुत ही अच्छा प्रभाव पड़ा और उनकी भगवद्भक्तिका डंका सर्वत्र बजने लगा । पुरातनमताभिमानियोंको तुकारामजीका यह यश दुःसह होने लगा । उनकी ओरसे रामेश्वर भट्ट नामके एक पुरुष तुकारामजीसे लड़ने-झगड़नेके लिये आगे बढ़े । वह प्रसङ्ग आगे आवेगा । तुकारामजीके संस्कृत ग्रन्थोंके अध्ययनका यहाँतक विचार हुआ अब उनके प्राकृत ग्रन्थाध्ययनकी बात देखें ।

(१४) जब गर्भिणी स्त्रीको परोसा गया तभी गर्भवासी अर्भककी तृप्ति हुई। (ज्ञाने० १३-८४८) तुकाराम—माताकी तृप्तिसे ही गर्भस्थ बालक तृप्त होता है ।

(१५) अपनी कोई स्वतन्त्र इच्छा न रखकर भगवानकी इच्छाके अनुकूल हो जाय, यह बतलाते हुए ज्ञानेश्वरजी जलका दृष्टान्त देते हैं—'माली जलको जिधर ले जाता है, जल उधर ही शान्तिके साथ जाता है, वैसे ही तुम बनो ।' तुकारामजी कहते हैं—'जल जिधर ले जाइये उधर ही जाता है, जो कीजिये वही हो जाता है । राइ, प्याज और ऊख एक ही जलके भिन्न भिन्न रस हैं ।'

ज्ञानेश्वरजीके दृष्टान्तको यहाँ तुकारामजीने और भी मधुर और विशद कर दिया है । उपाधि भेदसे राई (तामस), प्याज (राजस) और ऊख (सात्त्विक) में जल त्रिविध होनेपर भी जल तो एक ही है । जलकी जैसी अपनी कोई इच्छा या आग्रह नहीं वैसे ही मनुष्यको निष्काम होना चाहिये ।

(१६) नवें अध्यायमें गुह्य ज्ञान बतलाते हुए ज्ञानदेव सञ्जयकी सुखावस्था वर्णन करते हैं—

'(श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें) चित्त मगन होकर स्थिर हो गया, वाणी जहाँ की तहाँ स्तब्ध हो गयी, आपादमस्तक सारा शरीर रोमाञ्चित हो उठा । आँखें अधखुली रह गयीं और उनसे आनन्दजल बरसने लगा और अन्दर आनन्दकी जो लहरें उठीं उनसे बाहर शरीर काँपने लगा (५२७,५२८) ऐसे महासुखके अलौकिक रसमें जीवदशा नष्ट हो लगी । (५३०)'

(५) सूर्यके तेजके सामने जुगनूकी चमक क्या ! (ज्ञाने १-१७) तुकाराम— सूरजके सामने जुगनू पुछे दिखावे ।

(६) अखिल जगत् महासुखसे तन जाता है । (ज्ञाने ९-२) तुका कहता है 'अखिल जगत् भगवान्से तन गया है । उसीके गीत गाओ यही काम बाकी है ।

(७) वहाँ वे ही लीलामात्रसे (अनायास) तर गये जिन्होंने मेरा भजन किया । उनके लिये मायाजल इसी पार समाप्त हो गया । (ज्ञाने ७-९७) तुकाराम—मुखसे नारायण-नाम गाने लगे तब भव-बन्धन कहाँ रहा ! भव-सिन्धु तो इसी पार समाप्त हो जायगा ।

(८) सन्त ज्ञानके देवालय हैं सेवा उसका द्वार है, इसे स्वाधीन कर ले । (ज्ञाने ४-१६६) तुकाराम—सन्तोंके चरणोंमें पुनःपुनः पड़े रहो ।

(९) देवता मार्ग बनकर मृत्युलोककी स्तुति करने लगते हैं । (ज्ञाने ९-४९९) तुकाराम—स्वर्गके देवता यह इच्छा करते हैं कि मृत्युलोकमें हमारा जन्म हो ।

(१०) इन्द्रियाँ आपसमें कलह करने लगेंगी । (ज्ञाने ९-११) तुकाराम—मेरी इन्द्रियोंमें परस्पर कलह लगी ।

(११) अपने ही शरीरके रोम कोई नहीं गिन सकता वैसे ही मेरी विभूतियाँ असंख्य हैं । (ज्ञाने १०- १) तुकाराम—विराट्के शरीरमें वैसे ही गिनने लगो तो अगणित केश हैं ।

(१२) मेरी जिससे प्राप्ति हो वही शुद्ध पुण्य है । (ज्ञाने ९-११६) तुकाराम—जिसमें नारायण हैं वही शुद्ध पुण्य है ।

(१३) उस अनन्यगतिसे मेरा प्रेम है । (१०—११७) तुकाराम—नारायण अनन्यके प्रेमी हैं ।

(१४) जब गर्भिणी स्त्रीको परोसा गया तभी गर्भवासी अर्भककी तृप्ति हुई। (ज्ञाने० १३-८४८) तुकाराम—माताकी तृप्तिसे ही गर्भस्थ बालक तृप्त होता है ।

(१५) अपनी कोई स्वतन्त्र इच्छा न रखकर भगवान्‌की इच्छाके अनुकूल हो जाय, यह बतलाते हुए ज्ञानेश्वरजी जलका दृष्टान्त देते हैं—'माली जलको जिधर ले जाता है, जल उधर ही शान्तिके साथ जाता है, वैसे ही तुम बनो ।' तुकारामजी कहते हैं—'जल जिधर ले जाइये उधर ही जाता है, जो कीजिये वही हो जाता है । राई, प्याज और ऊख एक ही जलके भिन्न-भिन्न रस हैं ।'

ज्ञानेश्वरजीके दृष्टान्तको यहाँ तुकारामजीने और भी मधुर और विशद कर दिया है । उपाधि भेदसे राई (तामस), प्याज (राजस) और ऊख (सात्त्विक) में जल त्रिविध होनेपर भी जल तो एक ही है । जलकी जैसी अपनी कोई इच्छा या आग्रह नहीं वैसे ही मनुष्यको निष्काम होना चाहिये ।

(१६) नवें अध्यायमें गुह्य ज्ञान बतलाते हुए ज्ञानदेव सञ्जयकी सुखावस्था वर्णन करते हैं—

'(श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें) चित्त मगन होकर स्थिर हो गया, वाणी जहाँ की तहाँ स्तब्ध हो गयी, आपादमस्तक सारा शरीर रोमाञ्चित हो उठा । आँखें अधखुली रह गयीं और उनसे आनन्दजल बरसने लगा । और अन्दर आनन्दकी जो लहरें उठीं उनसे बाहर शरीर काँपने लगा । (५२७,५२८) ऐसे महासुखके अलौकिक रससे जीवदशा नष्ट होने लगी । (५३०)'

* * * *

तुकाराम कहते हैं—

स्थिरावली वृत्ति पांगुळला प्राण ।
अंतरींची खूण पावुनियां ॥ १ ॥
पुंजाळले नेत्र जाले अर्धोन्मीलित ।
कंठ सद्गदित रोमांच आले ॥ ध्रु ॥
चित्त चाकाटलें स्वरूपामाझारी ।
न निघे बाहेरी सुखावलें ॥ २ ॥
तुका म्हणे सुख प्रेमासी डुल्लत ।
विरालें निश्चित निश्चिंतीने ॥ ३ ॥
(स्थिर हुई वृत्ति स्तम्भित प्राण ।
निज पहिचान जब पायी ॥ १ ॥
आप्लावित नेत्र, हुए अर्धोन्मीलित ।
कंठ गद्गदित रोमहर्ष ॥ ध्रु ॥
चित्त सुचकित स्वरूप-निमग्न ।
करे न गमन ऐसा सुखी ॥ २ ॥
तुका कहे प्रेम सुखसे डोलत ।
निर्मुक्त निश्चित निश्चिंत हो ॥ ३ ॥)

(१७) संसारमें रहते हुए अपना भक्तिपन्थ कैसे चलाना चाहिये यह बतलाते हुए ज्ञानेश्वरजीने बहुरूपिये (अ ४–१७६) और स्फटिकका दृष्टान्त (अ १५—२४९) दिया है । ये दोनों दृष्टान्त तुकारामजी 'नरनाट्य अवघें संपादिलें सोंग' (नरनाट्य सारा रचाया स्वाँग) इस अभंगमें एकत्र ले आये हैं ।

(१८) भगवानकी सेजपर सुखकी नींद । (ज्ञानेश्वरी) लक्ष्मीकी चारपाईपर सुखकी कल्पना (तुकाराम) ।

(१९) अद्वैतानुभवसे देह-भाव छूटनेपर, देहके रहते हुए भी देहसे अलग होनेके भावको प्राप्त होनेपर कर्म बन्धक नहीं होता। ज्ञानदेव इसपर मक्खनका दृष्टान्त देते हैं। दही मथकर जब उससे मक्खन निकाल लिया जाता है तब वह मक्खन छाछमें डालनेसे किसी प्रकार भी नहीं मिल सकता। इसी बातको तुकारामजी यों कहते हैं कि 'दहीसे मक्खन जब अलग कर लिया तब दोनों एक दूसरेमें मिलाये नहीं जा सकते।'

(२०) प्यासा प्यासको ही पीये, भूखा भूखको ही खा जाय। (ज्ञा० १२–६३) तुकाराम–प्यास प्यासको पी गयी, भूख भूखको खा गयी।

(२१) सब प्राणी मेरे ही अवयव हैं, पर मायायोगसे जीवदशाको प्राप्त हुए हैं। (ज्ञाने० ७–६६) तुकाराम–एक ही देहके सब अङ्ग हैं जो सुख-दुःख भोगते—भुगतते हैं।

(२२) गीताके 'अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्' (अ० ९-३३) इस श्लोकपर ज्ञानेश्वरी टीका (४९१—५०७) और तुकारामजीके 'वाटे या जनाचें थोर वा आश्चर्य' तथा 'विषयवडीं भुलले जीव' ये दो अभंग मिलाकर पढनेसे यह बहुत ही अच्छी तरहसे ध्यानमें आ जाता है कि तुकारामजीके विचारोंपर ज्ञानेश्वरीके अध्ययनका कितना गहरा प्रभाव पड़ा हुआ था। ये जीव भगवान्‌को क्यों नहीं भजते, किस बलपर उन्मत्त होकर विषय-भोगमें पड़े हुए हैं, इनकी इस दशापर ज्ञानेश्वर-तुकाराम दोनोंको ही बड़ी दया आयी है।

ज्ञा०–अरे, ये मुझे न भजें ऐसा कौन सा बल इन्हें मिल गया है, भोगमें ऐसे निश्चिन्त होकर कैसे पड़े हैं ? (४९३)

तु०–इनमें कौन-सा ऐसा दम है जो अन्तकालमें काम दे ? किस भरोसे ये निश्चिन्त हैं ? यमदूतोंको वे क्या जवाब देंगे ?

ज्ञा०—विषय है या अमृत है इन प्राणियोंको मुझसा कौन-सा ऐसा बल-भरोसा है जो मुझे नहीं भजते ! (४१४) जितने भी भोग हैं वे सब एक देहके ही सुख-साधनमें लगे हैं और देहका यह हाल है कि यह कालके मुँहमें पड़ी हुई है। (४१५)

तु०—संसारमें कालका कलेवा बनकर कौन सुखी हुआ है ?

ज्ञा०—जहाँ चारों ओर दावानल धधक रहा था वहाँसे पाण्डव कैसे न बच निकलते ! ये जीव इतने उपद्रवोंसे घिरे हुए हैं तो भी कैसे मुझे नहीं भजते !

तु०—क्या ये जीव मृत्युको भूल गये इन्हें यह क्या धोखा हुआ है ! भवसागरसे छूटनेके लिये ये देवकीनन्दनको क्यों नहीं याद करते !

(२१) चाहे कोई कितना ही दिमाग खर्च करे पर चीनीसे फिरसे ऊख नहीं बना सकता। वैसे ही उसे (भगवान्‌को) पाकर कोई जन्म मृत्युके इस चक्करमें नहीं पड़ सकता। (ज्ञा० ८-२२)

तु०—साखरेचा नव्हे ऊँस । आम्हा कैंचा गर्भवास ॥ ? ॥

'चीनीका जब फिरसे ऊख नहीं बनता तब हमें गर्भवास कैसे हो सकता है ?'

(२४) भगवान्‌के गुण गाते-गाते वेद मौन हो गये और शेषनाग भी थक गये—'भगवान्‌से वेदोंसे भी बड़ा कोई है ? या शेषनागसे भी बढ़कर और कोई बोलनेवाले हैं ? पर यह शेषनाग भी शय्याके नीचे जा छिपते हैं और वेद 'नेति नेति' कहकर पीछे हट जाते हैं। वहाँ तो सनकादि भी बौरा गये। (ज्ञाने० –१० ७१)

तु०—त्याचा पार नाहीं कळला वेदांसी ।
भागिरली श्रुती विचारितां ।
सहस्रमुखें शेष सिणला बापुडा ।
चिरंगल्या बहु जिव्हा त्याच्या ।

(आणि) शेष स्तुती प्रवर्तला ।
जिह्वा चिरूनी पलंग झाला ॥ ९ ॥

'वेदोंने उनका पार नहीं पाया, श्रुति भी विचारते ही रह गये। सहस्रमुख शेष बेचारे थक गये, उनके धड़की जिह्वाएँ बन गयीं तो भी पार नहीं पा सके और शेष स्तुति करते-करते जिह्वा चीरकर पर्यंक बन गये।'

(२५) ज्ञानेश्वरीमें (अ० ६-६०से ७८ तक) यह वर्णन है कि देहाभिमानी जीव किस प्रकार शुकनलिकान्यायसे आप ही अपने पैर अटकाकर आत्मघात करता है। इस शुकनलिकान्यायपर तुकारामजी कहते हैं—

आपही तारक, आपही मारक । आप उद्धारक, अपना रे ॥
शुकनलिन्याय, फासा आपही आप । देखतो स्वरूप, मुक्त जीव ॥

'यह जीवात्मा आप ही अपना तारक, आप ही अपना मारक है। आप ही अपना उद्धारक है। रे मुक्त जीव! जरा सोच तो सही कि शुकनलिका-न्यायसे तू कहाँ अटका हुआ है।'

(२६) बड़ोंके यहाँ छोटे-बड़े सभी एक-सा भोजन पाते हैं (ज्ञाने० १८-४८)

तु०—समर्थां सी नाहीं वर्णावर्ण-भेद । सामग्री ते सिद्ध सर्व घरीं ॥ १ ॥

न म्हणे सुहृदसोयरा आवश्यक ।
राजा आणि रंक सारिखेचि ॥ २ ॥

'समर्थोंके यहाँ वर्णावर्ण भेद नहीं होता। सिद्धोंके यहाँ सभी सामग्री सिद्ध ही होती है। वहाँ अपने सगे-सम्बन्धियोंकी बात नहीं है, क्योंकि राजा और रंक सभी वहाँ समान हैं।'

१५ एक पुरानी पोथी

यहाँतक लिख चुकनेके पश्चात् देहूमें एक पुरानी पोथी देखी जिसमें ज्ञानेश्वरीके बारहवें अध्यायकी ओवियाँ और इनमेंसे कुछ ओवियोंके नीचे उन्हीं अर्थोंके तुकारामजीके अभङ्ग लिखे हुए थे। बारहवें अध्यायमें सगुण भक्तिका उत्तम प्रतिपादन है और इस कारण वारकरी सम्प्रदायमें इसकी विशेष मान्यता है। यह पोथी तुकारामजीके ही खानदानमें उनके किसी पोते-परपोतेने लिखी होगी। सम्पूर्ण पोथी यहाँ उद्धृत करना असम्भव है। तथापि नमूनेके तौरपर दो चार अवतरण यहाँ देते हैं—

१ ज्ञा०—व्यक्त और अव्यक्त निःसंशय तुम्हीं एक हो। भक्तिसे व्यक्त और योगसे अव्यक्त मिलते हो। (२१)

तु०—जो कोई जैसा ध्यान करता है दयालु भगवान् वैसे बन जाते हैं। सगुण निर्गुणके भाव तो इधर से बहुत परे हैं।

* * *

योगी कष्टकर जिसका साक्षात् पाते हैं वह हमें अपनी दृष्टिके सामने दिखायी देता है।

२ ज्ञा०—एकदेशीय स्वरूप और सर्वव्यापक स्वरूप, दोनों समान ही हैं। (२५)

तु०—म्हणा विठ्ठल ब्रह्म नव्हे। त्याचे बोल नाइके कानें॥

जो कहता है कि विठ्ठल ब्रह्म नहीं है वह क्या कहता है यह सुननेकी जरूरत नहीं।

३ ज्ञा०—जो ॐकारके परे है वाणीके लिये जो अगम्य है। (११)

तु०—यदि मैं स्तुति करूँ तो वेदोंसे भी जो काम नहीं बना वह मैं कर सकता हूँ! पर इस वैखरीको उस मुखका चसका लग गया है रसना वही रस चाहती है।

४ ज्ञा०—कर्मेन्द्रियाँ सुखपूर्वक उन अशेष कर्मोंको करती रहती हैं जो वर्णविशेषके भागके अनुसार प्राप्त होते हैं। (७६) और भी जो-जो कायिक, वाचिक, मानसिक भाव हैं उन सबके लिये मेरे सिवा और कोई ठौर-ठिकाना नहीं है। (७९)

तु०—अपने हिस्सेमें जो काम आया वही करता हूँ, पर भाव मेरा तेरे ही अंदर रहे। शरीर शरीरका धर्म पालन करता है, पर भीतरकी बात रे मन ! तू मत भूल।

* * *

कहीं किसी औरका प्रयोजन नहीं, सब जगह मेरे लिये तू-ही-तू है। तन, वाणी और मन तेरे चरणोंपर रखे हैं, अब हे भगवन् ! और कुछ चा न देख पड़ता।

५ ज्ञा०—अभ्यासके बलसे कितने अन्तरिक्षमें चलते हैं, कितनोंने याघ्र और सर्पके स्वभाव बदल डाले हैं। (१११) अभ्याससे विष भी ाच जाता है, समुद्रपर भी चला जा सकता है, कितनोंने तो अभ्यासके बलसे वेदोंको भी पीछे छोड़ दिया है। (११२) इसलिये अभ्यासके लिये तो कुछ भी दुष्कर नहीं है। इसलिये अभ्याससे तुम मेरे स्थानमें आ जाओ। (११३)

तु०—अभ्याससे एक एक तोला बचनाग खा जाते हैं, दूसरोंसे आँखों देखा नहीं जाता। अभ्याससे साँपको हाथमें पकड़ लेते हैं, दूसरे देखकर ही काँपने लगते हैं, आयाससे असाध्य भी साध्य हो जाता है, इसका कारण, तुका कहता है कि अभ्यास है।

१६ एकनाथ महाराजके ग्रन्थ

अब एकनाथ महाराजके ग्रन्थोंसे तुकारामजीका कितना घनिष्ठ परिचय था, यह देखा जाय। एकनाथी भागवत, भावार्थरामायण, फुटकर

अभङ्ग इत्यादि साहित्य बहुत बड़ा है। नाथ-भागवत और अभङ्ग ही तुकारामजीके पाठ और अवलोकनमें विशेषरूपसे रहे होंगे। अन्तःप्रमाणके लिये अनेक अवतरण दिये जा सकते हैं, पर अधिक विस्तार न करके कुछ ही प्रमाण यहाँ देते हैं—

(१) मेरे भक्त जो घर आये वे सब पर्वकाल ही घरपर आये। ऐसे तीर्थ जब घर आते हैं, वैष्णवोंके लिये वही दशमी-दिवाली है। (नाथ भागवत ११-१६६६)

सन्त जब घर आते हैं तब दशहरा-दिवालीका-सा आनन्द मिलता है। यह अनुभव तो सभीको है पर इस अनुभवको मूर्तरूप प्रदान किया एकनाथ महाराजने। उन्होंने एक अभङ्गमें भी कहा है—

आजी दिवाळीदसरा। श्रीसाधु संत आले घरा॥१॥

'आज ही दिवाली और दशहरा है श्रीसाधु-सन्त जो घर पधारे हैं।'

तुकारामजीके अभङ्गका यह चरण तो अत्यन्त लोकप्रिय है—

साधु संत येती घरा। तोचि दिवाळी दसरा॥१॥

'साधु-सन्त घर आये वही दशहरा-दिवाली है।

(२) आत्मनाथके लिये वैसी छटपटाहट हो जैसे जलके बिना मछली छटपटाती है। (ना० भा० ७-२१)

तु०—जीवनावेगळी मासोळी। तुका तैसा तळमळी॥

जलके बाहर मछली जैसे छटपटाती है तुका भी वैसे ही छटपटाता है।

(३) 'संत आधी देव मग (एकनाथ)

'पहले सन्त पीछे देवता।

देव सारावे परते। संत पूजावे आरते॥१॥ (तुकाराम)

देवताओंको परली तरफ कर दे, पहले सन्तोंको पूजे।

'इहलोककी यह देह देखो, देवता भी चाहते हैं। इस देहमें जन्म मिलनेसे हम धन्य हुए जो श्रीविट्ठलके दास हुए। इसमें जो आयु मिली है वह सच्चिदानन्द-पदवीको प्राप्त करनेका साधन है। स्वर्गकी पताका, तुका कहता है कि मैं दरमें भेजी जायगी।'

(६) केवळ जीं अपवित्र। रिसें आणि वानरें।
त्यां पूजिलीं गौळियांची पोरें। ताकपिरें राजरें॥
(ना भा १४-२११)

'रीछ और बन्दर जिनमें कोई पवित्रता नहीं और छाछ पीनेवाले अधम ग्वाल-बाल, इनका मैंने पूजन किया।'

गौळियांची ताकपिरें। कोण पोरें चांगलीं?॥ (तुकाराम)

'ग्वालोंके छाछ पीनेवाले बच्चे कौन-से बड़े अच्छे हैं!'

(७) चौपड़के खेलमें गोटीका मरना और जीना जैसा है उसी दृष्टिसे जीवोंका बन्ध-मोक्ष भी वैसा ही है।

सारी कौन-सी मरे पीछे अपने पुण्यबलसे, वैकुण्ठधाम पहुँचती है? और कौन नरकसमुद्रमें गिरती है? बद्ध-मुक्तकी बात ही झूठ मिथ्या है। (नामभागवत ११-७१८)

सारी जीती मरी, झूठी बात सारी।
बद्ध मुक्त सारी, बात खोटी॥ (तुकाराम)

सारी मरी-जीती यह बात झूठी है। वैसे ही बद्ध-मुक्त होनेकी बात भी तुका कहता है कि खोटी बात ही है।

(८) क्या गृहाश्रममें भगवान् नहीं हैं? तब वनमें पागल होकर क्यों भटकते हैं? वनमें यदि भगवान् होते तो हरिण, खरगोश आदि क्यों न तर जाते? भस्म रमाकर ध्यान लगानेसे यदि भगवान् मिलते तो गर्दभ-समुदायोंका क्षणमात्रमें उद्धार क्यों न होता? एकान्त गुफामें रहनेसे

यदि भगवान् मिलते तो चूहे तरना छोड़ घर घर चीं चीं क्यों करते रहते ?
(नाथभागवत अ० ५)

कहो साँप खाता अन्न । करे क्या ध्यान, बक भी ? ॥१॥
कपट भरा भीतर । भरा उदर, मलसे ॥ध्रु०॥
करे चूहा भी एकांत । गदहा भी भभूत, रमावे ? ॥२॥
तुका जल नक्रालय । काग भी नहाय, कहो तो ? ॥३॥

(तुकाराम)

'क्या साँप अन्न खाता है ? (नहीं, वायु-भक्षण करके ही रहता है।) और बकजी कैसा ध्यान करते हैं ! इनके भीतर केवल कपट भरा है, पेटमें बुराई भरी है । चूहा भी बिलमें एकान्तमें रहता है । गदहा भी सर्वाङ्गमें भभूत रमा लेता है । जलमें ही घड़ियाल रहता है । कौआ जल-स्नान करता है । पर इससे क्या ? इनके भीतर कपट भरा हुआ है, पेटमें बुराई भरी हुई है ! इससे इन्हें कोई साधु या परमार्थके साधक नहीं कहता । वायु-भक्षण, ध्यान, एकान्तवास, भस्म-लेपन, जलमें बैठकर या खड़े होकर अनुष्ठान या स्नान—ये सब ईश्वर प्राप्तिके साधन हैं सही, पर इनको करते हुए भी यदि बुद्धि निर्मल न हो तो इनसे कोई लाभ नहीं हो सकता ।

(९) अद्वैत भक्ति और अभेद भक्तिके भाव और शब्द ज्ञानेश्वरीमें हैं । इसी भक्तिको एकनाथने 'मुक्तीवरील भक्ति' (मुक्तिके ऊपरकी भक्ति) कहा है । नाथ भागवतमें ये शब्द दस-पाँच बार आये हैं । (अ० ९ ओवी ७१० से ८१० तक) इसी 'मुक्तिके ऊपरकी भक्ति' का उल्लेख तुकारामजीके एक अभङ्गके एक चरणमें है—

मुक्तीवरील भक्ति जाण । अखंड मुखीं नारायण ॥

'मुखमें अखण्ड नारायण नाम ही मुक्तिके ऊपरकी भक्ति जानो ।'

(१०) देहको मिथ्या करके त्यागेंग । तो मोक्ष सुखसे पावोगे ।
इसे अच्छा जानके भोगेंग । तो अवश्य जावोगे नरकको ।
इसलिये इसे न त्यागे न भोग । बीचो-बीच विभाग ।
आत्मसाधनमें यह रंग । समभावमें पगे स्वहितार्थ ।
(भावार्थरामायण अ० १ । १५२ १५१)

'देहको दूषित समझकर त्याग दें तो मोक्ष-सुखसे ही वञ्चित होना पड़े, यदि इसे अच्छा समझकर भोगें तो सीधे नरकका रास्ता नापना पड़े । इसलिये इसे न त्यागे न भोगे, मध्यमार्गमें विभाग करे, इसे निज स्वभावसे आत्महितके लिये आत्मसाधनमें लगावे ।

देहको सुख न देवे भोग । न देवे दुःख न करे त्याग ॥
देह न हीन न है उत्तम । तुका कहे तुम, करो हरि-भजन ॥
(तुकाराम)

शरीरको सुख भोग न दे दुःख भी न दे इसका त्याग भी न करे । शरीर न बुरा है न अच्छा है; तुका कहता है इसे बस हरि भजनमें लगाओ ।'

नाथका भावार्थरामायण भी तुकारामजीने देखा था इसमें सन्देह नहीं । भावार्थरामायणसे दो अवतरण लेते हैं—

(११) वैराग्यकी बातें तभीतक हैं जबतक कोई सुन्दर स्त्री नैनोंके सामने नहीं आती है । (भावार्थरामायण अरण्य अ० १)

वैराग्यकी बातें बस तभीतक हैं जबतक किसी सुन्दर स्त्रीपर दृष्टि नहीं पड़ी । (तुकाराम)

(१२) श्रीरामनामके बिना जो मुख है वह केवल चमकुण्ड है । भीतर जो जिह्वा है वह चमड़ेका टुकड़ा है । (भा० रामायण)

जिसके मुँहमें नाम नहीं वह मुँह चमड़ेका कुंडा है । (तुकाराम)

नाथ और तुकाराम दोनोंके ही अभगोंके संग्रह प्रसिद्ध हैं। नाथके अभगोंका पाठ और अध्ययन तुकारामजीने किया था और इसका तुकारामजीके चित्त और वाणीपर बड़ा प्रभाव पड़ा था। नाथ और तुकारामजीकी कुछ उक्तियाँ मिलाकर देखें। पहले नाथकी उक्ति देते हैं, पीछे तुकारामजीकी। पाठक इसी क्रमसे दोनोंको मिलाकर पढ़ें—

(१) एक सद्गुरुकी ही महिमा गाया करे, अन्य मनुष्योंकी स्तुति कुछ काम न देगी।

—एक विट्ठलकी ही महिमा गाया करे, मनुष्यके गीत न गाये।

(२) चिंतनासी न लगे वेळ। काहीं तया न लगे मोल॥
वाचे सदा सर्वकाळ। रामकृष्ण हरी गोविंद॥१॥

'चिन्तनके लिये कोई समय नहीं लगता, उसके लिये कुछ मूल्य नहीं देना पड़ता। सब समय ही 'राम कृष्ण हरि गोविन्द' नाम जिह्वापर बना रहे।'

—चिंतनासी न लगे वेळ। सर्व काळ करावें॥

'चिन्तनके लिये कुछ समय नहीं चाहिये, सब समय ही करता रहे।'

(३) सदा 'राम कृष्ण हरि गोविन्द' का चिन्तन करो। यही एक सत्य सार है, व्युत्पत्तिका भार केवल व्यर्थ है।

—यही एक सत्य सार है, व्युत्पत्तिका भार बेकार है।

(४) द्रव्य लेकर जो कथा-कीर्तन करते हैं वे दोनों ही नरकमें जाते हैं।

—कथा कीर्तन करके जो द्रव्य देते या लेते हैं वे दोनों ही नरकमें जाते हैं।

(५) गीता और भागवतपर एकनाथ और तुकाराम दोनोंका ही असीम प्रेम था। दोनोंने ही नाम-स्मरणका उपदेश दिया है और दोनोंके हृदयमें हरिहरैक्यभाव था—

आयुष्यमेंतरी नाम-स्मरण । गीताभागवतांचें श्रवण ॥
विष्णुशिवमूर्तींचें ध्यान । हेंचि देणें सर्वथा ॥

'जबतक जीवन है तबतक नाम-स्मरण करे, गीता-भागवत श्रवण करे और हरिहरमूर्तिका ध्यान करे ।'

—गीताभागवत करिती श्रवण । अखंड चिंतन विठोबाचें ॥

'गीता-भागवत श्रवण करते हैं और विठोबाका चिन्तन करते हैं ।'

(६) आपके नामकी महिमा हे पुरुषोत्तम ! मैं नहीं समझ पाता ।

—आपके नामकी महिमा हे पुरुषोत्तम ! मैं नहीं समझ पाता ।

(७) धर्माधर्मके फेरमें मत पड़ो । मैं भीतरी बात बतलाता हूँ । श्रीरामका नाम आह्लादके साथ उच्चारो ।

—धर्मको जो समझते हैं और जो नहीं समझते सब सुनें मैं रहस्यकी बात बतलाता हूँ । मेरे विठोबाके नाम आह्लादके साथ उच्चारो ।

(८) स्त्रीके अधीन होकर पुरुष स्त्रैण न बने, उसके इशारेपर नाचकर अपना परमार्थ खो न दे । एकनाथ और तुकाराम दोनोंका यही उपदेश है ।

स्त्रीके अधीन जिसका जीवन हो जाता है उस अधमको नरकमें जाना पड़ता है । स्त्रीका रुख देखकर वह चलता है, और किसीकी बात उसे अच्छी नहीं लगती । (एकनाथ) स्त्रीके अधीन जिसका जीवन होता है उसको देखनेसे भी अपशकुन होता है । ये सब जन्तु संसारमें न जाने किसलिये मदारीके बन्दरकी तरह जीते हैं । स्त्रीकी मनोवाञ्छाको ही जो सत्य समझता है वह दीन सचमुच ही पूरा अभागा है । (तुकाराम)

यहाँ 'मदारीके बन्दर' की बात पढ़कर ज्ञानेश्वरीकी वह ओवी याद आती है जिसमें कहा है 'स्त्रीके चित्तको जो आराधन करता है उसीके इशारे नाचता है । वह मदारीका बन्दर जैसा है ।' (अ० १३-७११)

(९) हरि-हरके अभेदके सम्बन्धमें दोनोंके ही अभङ्ग देखने योग्य हैं। एकनाथके तीन अभङ्गोंका एक-एक चरण लेनेसे तुकारामजीका एक अभङ्ग बनता है।

हरिहरा भेद । नका कर्‍हं अनुवाद ॥
धरिता र भेद । अधम तो जाणिजे ॥ १ ॥

यह एक अभङ्गका प्रथम चरण है। दूसरे एक अभङ्गका तीसरा चरण ऐसा है—

गोडीसी साखर साखरेसी गोडी ।
निवडिता अर्थघडी दुजी नव्हे ॥

एक तीसरे अभङ्गका चरण इस प्रकार है—

एका वेलाटीची आढी । मूर्ख नेणती बापुडीं ॥१॥

इन तीनों चरणोंका भाव यह है कि 'हरि और हरमें भेदकी कल्पना-कर उसका फैलाव मत करो। जो ऐसा भेद धारण करेगा उसे अधम समझो। मिठासमें चीनी है और चीनीमें मिठास है, अर्थको विचारो तो चीज एक ही है।'

'एक आडीकी ही आड है, इस बातको मूर्ख बेचारे नहीं जानते।'

इन तीनों चरणोंमें जो भाव हैं वे तुकारामजीके जिस अभङ्गमें एकीभूत हुए हैं उस अभङ्गको अब देखिये—

हरिहरा भेद । नाहीं, नका करूं वाद ॥१॥
एक एकाचे हृदयीं । गोडी साखरेचे ठायीं ॥ध्रु०॥
भेदकासी नाड । एक वेलांटीं च आड ॥२॥
उजवा वाम भाग । तुका म्हणे एकचि अंग ॥३॥

'हरि-हरमें भेद नहीं है, झूठ-मूठ बहस मत करो। दोनों एक दूसरेके हृदयमें हैं, जैसे मिठास चीनीमें और चीनी मिठासमें है। भेद

(९) हरि-हरके अभेदके सम्बन्धमें दोनोंके ही अभङ्ग देखने योग्य हैं। एकनाथके तीन अभङ्गोंका एक-एक चरण लेनेसे तुकारामजीका एक अभङ्ग बनता है।

हरिहरा भेद । नका करूँ अनुवाद ॥
धरिता रे भेद । अधम तो जाणिजे ॥ १ ॥

यह एक अभङ्गका प्रथम चरण है। दूसरे एक अभङ्गका तीसरा चरण ऐसा है—

गोडीसी साखर साखरेसी गोडी ।
निवडिता अर्थघडी दुजी नव्हे ॥

एक तीसरे अभङ्गका चरण इस प्रकार है—

एका वेलांटीची आढी । मूर्ख नेणती बापुडीं ॥१॥

इन तीनों चरणोंका भाव यह है कि 'हरि और हरमें भेदकी कल्पना-कर उसका फैलाव मत करो । जो ऐसा भेद धारण करेगा उसे अधम समझो । मिठासमें चीनी है और चीनीमें मिठास है, अर्थको विचारो तो चीज एक ही है।'

'एक आडीकी ही आड है, इस बातको मूर्ख बेचारे नहीं जानते।'

इन तीनों चरणोंमें जो भाव हैं वे तुकारामजीके जिस अभङ्गमें एकीभूत हुए हैं उस अभङ्गको अब देखिये—

हरिहरा भेद । नाहीं, नका करू वाद ॥१॥
एक एकाचे हृदयीं । गोडी साखरेचे ठायीं ॥ध्रु०॥
भेदकासी नाड । एक वेलांटी च आड ॥२॥
उजवा वाम भाग । तुका म्हणे एकचि अंग ॥३॥

'हरि-हरमें भेद नहीं है, झूठ-मूठ बहस मत करो । दोनों एक दूसरेके हृदयमें हैं, जैसे मिठास चीनीमें और चीनी मिठासमें है। भेद

करनेवालोंकी दृष्टिसे जो भाव आता है वह एक भावोंकी ही भाव है। दाहिना और बायाँ दो पोहे ही हैं भाव तो एक ही है।

(१०) देव उभा मागें पुढें । वारी सांकड सकळें ॥ (एकनाथ)

'भगवान् आगे पीछे खड़े संसारका संकट निवारण करते हैं।

देव उभा मागें पुढें । उगवी कांटें संकट ॥ (तुका)

'भगवान् आगेपीछे खड़े संकटसे उबारते हैं।'

(११) सद्गुरु-महिमाके विषयमें एकनाथ महाराज कहते हैं—

उनके उपकार कभी उतारे नहीं जा सकते। प्राण भी उनके चरणोंपर रख दूँ तो वह भी थोड़ा है।

सन्त-सज्जनमें तुकाराम महाराज कहते हैं—

इनसे उऋण होनेके लिये हमें क्या देना चाहिये? यह प्राण भी चरणोंपर रख दूँ तो थोड़ा है।

(१२) पण्ढरीका वह वारकरी धन्य है, उसका जन्म धन्य है जो नियमपूर्वक पण्ढरी जाता है और वारी टलने नहीं देता। (एका)

—पंढरीचा वारकरी । वारी चुकों नेदी हरी ॥ (तुका)

'पण्ढरीका वारकरी वारी और हरीको नहीं भूलता।'

(१३) दोन्ही अक्षरांचें काम । वाचे म्हणा रामनाम ॥ (एका)
(दो ही अक्षरोंका काम । वाचा कहो राम नाम ॥)
दोन्ही अक्षरांचें काम । उच्चारावा रामराम ॥ (तुका)
(दो ही अक्षरोंका काम । उचारो श्रीराम राम ॥)

(१४) बार-बार संतोंसे कहता हूँ
सबसे यही दान माँगता हूँ।
बार-बार यही कहता हूँ
जगतसे यही दान माँगता हूँ॥ (एका)

(१५) भागवत-सम्प्रदायमें हरि-हरका समान प्रेम है और एकादशी तथा सोमवार दोनों ही व्रतोंका पालन विहित है।

जो सोमवार और एकादशी व्रत रहते हैं उनके चरण में अपने मस्तकसे वन्दन करूँगा। शिव विष्णु दोनों एक ही प्रतिमा हैं ऐसा जिनका प्रेम है उन्हें वन्दन करूँगा। (एक०)

एकादशी और सोमवारका व्रत जो नहीं पालन करते उनकी न जाने क्या गति होगी! (तुका०)

(१६) जो मुझे नाम और रूपमें ले आये उन्होंने मुझपर बड़ी कृपा की। हे उद्धव! उन्होंने मुझे यह सुगम मार्ग दिखाया। (एक०)

—(भगवान्) नाम-रूपमें आ गये, इससे सुगम हो गये। (तुका०)

(१७) कहीं-कहीं ऐसा जान पड़ता है कि एकनाथ महाराजके अभङ्गका मनन करते हुए कहीं उनकी उक्तिकी पूर्त्तिके तौरपर और कहीं प्रेमसे उनकी बातका उत्तर देनेके लिये तुकारामजीने अभङ्ग रचे हैं। एकनाथ महाराजका एक अभङ्ग है, 'देवाचे ते आप्त जाणावे ते संत' (भगवान्‌के जो आप्त हैं वे ही सन्त हैं)। इसी अभङ्गकी मानो पूर्तिके लिये तुकारामजीने 'नव्हती ते संत करिता कवित्व' (सन्त वे नहीं हैं जो कविता करते हैं) इत्यादि अभङ्ग रचा है। बहिणाबाईका मूल 'सर्वसंग्रहगाथा' मुझे शिऊरमें उनके वंशजोंके पाससे मिला। उसमें बीचहीमें एक पन्नेपर एकनाथ महाराजका 'ब्रह्म सर्वगत सदा सम' इत्यादि अभङ्ग लिखा हुआ था। इस अभङ्गका ध्रुवपद है, 'ऐसे कासयानें भेटती ते साधु' (ऐसे महात्मा कैसे मिलते हैं)। इसी अभङ्गके नीचे तुकारामजीका 'ऐसे ऐसियाने भेटती ते साधु' (ऐसे महात्मा ऐसे मिलते हैं) इत्यादि अभङ्ग दिया हुआ है।

(१८) ज्ञानेश्वरीका नाथ भागवतपर और इन दोनों ग्रन्थोंका तुकारामजीके अभङ्गोंपर विलक्षण परिणाम घटित हुआ देख पड़ता है।

अर्जुन जब मोहसे विकल हो उठा तब 'स्नेहकी कठिनता' बतलाते हुए ज्ञानदेव कहते हैं—

भौंरा चाहे जैसे कठिन काठको मौजके साथ भेदकर उसे खोखला कर देता है पर कोमल कलीमें आकर फँस ही जाता है। (२०१) यह प्राणोंको उत्सर्ग कर देगा पर कमल दलको नहीं चीरेगा। स्नेह कोमल होनेसे ऐसा कठिन है। (२ २ म १)

भौंरेका यह दृष्टान्त एकनाथ महाराजने ग्रहण किया है, साथ ही उसमें उन्होंने घरघरके नित्य परिचित बालकका मधुर दृष्टान्त जोड़ा है—

जो भौंरा सूखे काठको स्वयं कुरेद डालता है वह कोमल कमलके बीचमें आकर प्रीतिकी रीतिमें बँधा जाता है केसरको जरा भी धक्का नहीं लगने देता। ऐसे ही बच्चा जब बापका पल्ला पकड़ लेता है तब बाप वहीं खड़ा रह जाता है इसलिये नहीं कि बाप इतना दुर्बल है बल्कि इस कारणसे कि वह स्नेहमें फँसकर वहीं गड़ जाता है। (नाथभागवत २। ७७०-७७१)

तुकारामजीने अपने अभंगमें इन दोनों दृष्टान्तोंका उपयोग किया है—

'जो भौंरा काठको कुछ नहीं समझता उसे फूल फँसा लेता है। प्रेम-प्रीतिका बँधा' किसी तरहसे नहीं छूटता। बच्चा पल्ला पकड़ लेता है तो बाप बालकके सामने लाचार हो जाता है। तुका कहता है भावसे या मनसे भगवान्को भजो।

तुकारामजीका एक और अभंग है जिसमें बच्चोंका दृष्टान्त फिरसे आया है—

भेदीला   भ्रमर । परतासी बापी पीक ।
सपो   मेरी   बाल । मातेपुढें   पिसाली   बा ॥
काय धरी स्वामी बल । देवदिला   फार   काठ ।
नेणिती   सचक । मनी   स्नेह   मूढांची ॥

प्रेमकी कलह है । बच्चा पल्ला पकड़कर ऐंचता-ऐंठता है। बापको इधर-उधर हिलने नहीं देता है । यदि बाप चाहे तो बच्चेको झटक दे सकता है । इसमें कौन-से बड़े बलकी जरूरत है ? झटका देनेमें देर भी कितनी लगेगी, पर स्नेह-सूत्रके जाल ऐसे हैं कि बलवान् भी उनमें फँस जाते हैं ।'

एकनाथ महाराजकी शैलीमें फैलाव काफी रहता है, तुकारामजीकी वाक्शैली सूत्र-जैसी चुस्त और साफ होती है । ज्ञानेश्वरी और नाथ-भागवतका अध्ययन तुकारामजीने बहुत अच्छी तरहसे किया । ज्ञानेश्वरीको नाथ-भागवत विशद करता है । इन दोनों ग्रन्थोंका जिसने उत्तम अध्ययन किया हो वही तुकारामजीके सूत्ररूप वचनोंकी गुत्थियोंको सुलझा सकता है । उदाहरणके तौरपर यह अभङ्ग लीजिये—

गोदेकाठीं होता आड । करुनी कोडकवतुक ॥ १ ॥
देखण्यानीं एक केलें । आइत्या नेलें जिवनापें ॥ ध्रु० ॥
राखोनिया होतो ठाव । अल्प जीव लावूनी ॥ २ ॥
तुका म्हणे फिटे धणी । हे सज्जनीं विश्राती ॥ ३ ॥

गोदावरीके किनारे एक कुआँ था । बरसातके जलसे लबालब भरा था और अपनी शानमें मस्त था । मैं भी वहाँ अपने जरा से प्राणको लिये, जगह दबाये बैठा था, पर देखनेवालोंने एक उपकार किया । वे मुझे नदीके बहते जलमें ले गये, वहाँ मेरी तृप्ति हुई । यह विश्राम सत्सङ्गसे ही मिला ।

इतनेसे पूर्ण अर्थ-बोध नहीं होता । देखनेवालोंने उपकार किया । ये देखनेवाले कौन हैं ? 'गोदावरी' कौन है और यह कुआँ क्या है ? देखनेवाले सन्त हैं, ये ही नदीके बहते जलमें ले गये । यह इन्होंने बड़ा 'उपकार' किया । इस उपकारकी कृतज्ञता प्रकट करनेके लिये

यह अभङ्ग रचा गया है। यह सन्तपरक है। संसार-सागरको पार करनेके अनेक उपाय हैं। उनमें मुख्य ज्ञान और भक्ति हैं। भक्ति-मार्ग सरल, निर्विघ्न और नित्य निर्भय है; ज्ञान-मार्ग मध्यम और कर्माधीन है। भक्ति-मार्ग ही गोदावरी अखण्ड-प्रवाह कलकल-नादिनी नदी है और ज्ञान-मार्ग ही कुआँ है। नाथ-भागवतके ११ वें अध्यायमें ४८ वें श्लोकपर नाथ महाराजका जो भाष्य है उसमें इस अभङ्गका मूल है।

> प्रायेण भक्तियोगेन सत्सङ्गेन विनोद्धव ।
> नोपायो विद्यते सध्र्यङ् प्रायणं हि सतामहम् ॥

इसी श्लोकपर यह भाष्य है। श्लोकका भाव यह है कि 'सत्सङ्गसे मिलनेवाले भक्तियोगके बिना भगवत्प्राप्तिका अन्य उत्तम उपाय प्रायः नहीं है। कारण सन्तोंका उत्तम आश्रय मैं ही हूँ।' यह भगवद्वचन है, इसपर नाथ भाष्य इस प्रकार है—

'खेतमें पानी देना हो तो मोट और पाट दो ही उपाय हैं। मोटसे कुएँमेंसे पानी निकालो तो बहुत कष्ट करनेपर थोड़ा ही पानी मिलता है। फिर मोटके साथ रस्सा और एक जोड़ी बैल भी चाहिये। फिर बराबर 'ना' 'ना' करते बैलोंको ठोकते पीटते खींच-खाँच करते पानी निकालो तो उससे थोड़ी ही जमीन भीजेगी पर नदीके पाटकी यह बात नहीं है। वहाँ उसके जल-प्रवाहके आनेके लिये रास्ता बन गया कि एक दिन बहता हुआ जल बहता ही रहेगा।' (५११-१२ १४)

यह मोटसे पानी निकालना ही ज्ञान-मार्ग है—

> मोटेचें पाणी तेंचि ज्ञान । जें कांहीं वेदशास्त्रपठण ।
> नित्यानित्यविवेकी जाण । पंडित विचक्षण बसती ॥५१५॥

'मोटसे पानी निकालना जैसा है वैसा ही ज्ञान है। वेद और शास्त्र पढ़कर ये विचक्षण पण्डित नित्यानित्यविवेक करने बैठते हैं, तब क्या होता है?—

महाराजको 'औंढे मेरे जीवन एक जनार्दन' कहकर कई स्थानोंमें स्पष्ट करके उनका 'गुरुभूप' घोष किया है।

१७ नामदेवके अभङ्ग

अब नामदेवकी ओर चलें। नामदेवके अभङ्गोंकी व्याख्या सुस्पष्टरूपसे करनी नहीं है इसलिये, तथा तुकारामजी नामदेवके ही अवतार थे इसलिये भी उनका सम्बन्ध अवतरण देकर दिखानेकी विशेष आवश्यकता नहीं है। जिन जिन विषयोंपर नामदेवके अभङ्ग हैं प्रायः उन सभी विषयोंपर तुकारामजीके भी अभङ्ग हैं। नामदेवजीकी सगुण भक्ति अत्युत्कट हार्दिक प्रेमसे भरी हुई है, उनकी मधुर भक्ति मधुरतम है। इस सम्बन्धमें नामदेव-जैसे नामदेव ही हैं। नामदेव अपने घरके सब लोगोंसहित दासी जनाके भी सहित सर्वथा पाण्डुरङ्गके हैं और भगवान्‌से उनकी अर्जुनकी-सी सख्यभक्ति है। नामदेवके घरके आदमी-जैसे ही भगवान् उनके साथ रात-दिन रहनेवाले, खेलनेवाले, बोलनेवाले, प्रेम-कलह करनेवाले घरके ही आदमी बन गये हैं। 'मैंने गाया निज मन। साधू भागवत धर्म' इसीके लिये नामदेवका अवतार हुआ था। नामदेव इस युगके उद्धव ही थे। भगवान्‌के साथ इनकी बड़े प्रेमकी घुल-घुलकर बातें हुआ करती थीं भरी मेरी माइ सखनकी सई। सुमिरत पनहाई प्रेमामृत। इत्यादि कहते हुए वह भगवान्‌से बड़े ही मीठे भाव कहते थे और भगवान् भी अपना षड्गुणैश्वर्य भूलकर उनके प्रेममें फँस जाते थे। भक्त भगवान्‌की यह प्रेम तरल कोमलता नामदेवकी ही बानीसे जाननी चाहिये। नामदेव भगवान्‌से कहते हैं कि तुम पक्षिणी हो, मैं अण्डज हूँ। तुम मृगी हो मैं मृगछौना हूँ। तुम मैया हो मैं बच्चा हूँ। तुम कृष्ण हो मैं रुक्मिणी हूँ। तुम समुद्र हो मैं द्वारका हूँ। तुम तुलसी हो मैं मञ्जरी हूँ। भगवान्‌के साथ नामदेवका ऐसा विलक्षण सख्य था। यह देखकर तथा मथुरामें नवनीतको मात करनेवाली उनकी मधुर

वाणी सुनकर पाषाण भी अपना जडत्व छोड़कर द्रवित हो जाय। बाकी सब बातोंमे नामदेवजीके ही सशोधित और परिवर्द्धित सस्करण तुकारामजी थे । तुकारामजीकी वाणीमें भगवद्भक्त, लोकोद्धारक महापुरुषकी जो दिव्य स्फूर्ति, जो ठसक, जो प्रखरता और जो ओज भरा है, वह अलौकिक ही है। पर यहाँ हमे नामदेव तुकारामकी परस्पर तुलना नही करनी है। नामदेव ही तुकारामके रूपमें धर्म-कार्यार्थ अवतरित हुए, इसलिये नामदेवका जो बड़ा काम बाकी या वही तुकारामजीने किया, यही कहना उचित है। दोनोंके अभगोंमें जो साम्य है, उसका अब किञ्चित् अवलोकन करें। कई चरण दोनोंके अभगोंमें बिल्कुल एक-से हैं, जैसे 'देवावीण ओस स्थळ नाहीं' यह नामदेवका चरण है, और तुकारामजीने कहा है, 'देवावीण ठाव रिता कोठें आहे ?' दोनोंका मतलब एक ही है अर्थात् 'भगवान्से खाली कोई स्थान नहीं।' एकाध शब्दका हेर-फेर है, पर एक सामान्य कथन है और दूसरा प्रश्नरूपमें है। नामदेवका चरण है, 'पढरीच्या सुखा। अतपार नाहीं लेखा।' तुकारामजीका समचरण है, 'गोकुळीच्या सुखा अतपार नाहीं देखा।' नामदेव कहते हैं, 'वीतभर पोट लागलेंसे पाठीं' (बित्ताभर पेट पीठसे जा लगा है)' और तुकाराम कहते हैं, 'पोट लागलें पाठीशीं। हिंडवितें देशोदेशीं' (पेट पीठसे लगा है और देश-देश घुमा रहा है), 'झूठ' पर दोनोंके चार-चार अभग हैं। नामदेवने भक्तिकी उत्कटतासे सारा झूठ स्वय ही ओढ़ लिया है। कहते हैं, 'मेरा गाना झूठा, मेरा नाचना झूठा, मेरा ज्ञान झूठा और ध्यान भी झूठा।' और तुकारामजी कहते हैं, 'लटिकें तें ज्ञान लटिकें तें ध्यान। जरी हरि-कीर्तन प्रिय नाहीं॥' (वह ज्ञान झूठा और वह ध्यान भी झूठा जो हरि-कीर्तन-प्रिय न हो।) तुकारामजीने झूठ स्वय नहीं ओढा है, झूठोंके पल्ले बाँध दिया है।

महाराजको 'आँके मेरे जीवन एक जनार्दन' कहकर कई स्थानोंमें सत्य करके उनका 'आह्वान' घोष किया है।

१७ नामदेवके अभङ्ग

अब नामदेवकी ओर चलें। नामदेवके अभङ्गोंकी व्यापक सुव्यवस्थितरूपसे छपी नहीं है इसलिये, तथा तुकारामकी नामदेवके ही अवतार थे इसलिये भी उनका सम्बन्ध अवतरण देकर दिखानेकी विशेष आवश्यकता नहीं है। भिन्न भिन्न विषयोंपर नामदेवके अभङ्ग हैं प्रायः उन सभी विषयोंपर तुकारामजीके भी अभङ्ग हैं। नामदेवजीकी सगुण भक्ति अत्युत्कट हार्दिक प्रेमसे भरी हुई है, उनकी मधुर भक्ति मधुरतम है। इस सम्बन्धमें नामदेव-जैसे नामदेव ही हैं। नामदेव अपने घरके सब लोगोंसहित दासी जनाके भी सहित सर्वथा पाण्डुरङ्गके हैं और भगवान्‌से उनकी अर्जुनकी-सी सख्यभक्ति है। नामदेवके घरके आदमी-जैसे ही भगवान् उनके साथ रात-दिन रहनेवाले खेलनेवाले, बोलनेवाले, प्रेम-कलह करनेवाले घरके ही आदमी बन गये हैं। 'मैंने पाया निज मम। साधू भागवत धर्म' इसीके लिये नामदेवका अवतार हुआ था। नामदेव इस युगके उदय ही थे। भगवान्‌के साथ इनकी बड़े प्रेमकी घुल-घुलकर बातें हुआ करती थीं अरी मेरी माइ संतनकी छाइ। सुमिरत पत्नाई अमृत। इत्यादि कहते हुए वह भगवान्‌से बड़े ही मीठे व्यङ्ग कसते थे और भगवान् भी अपना षडगुणैश्वर्य भूलकर उनके प्रेममें पग जाते थे। भक्त भगवान्‌की वह प्रेम सरस कोमलता नामदेवकी ही वाणीसे जाननी चाहिये। नामदेव भगवान्‌से कहते हैं कि तुम पक्षिणी हो मैं बच्चा हूँ; तुम मृगी हो मैं मृगछौना हूँ; तुम मैया हो मैं बचा हूँ; तुम कृष्ण हो मैं रुक्मिणी हूँ; तुम समुद्र हो मैं द्वारका हूँ; तुम तुलसी हो मैं मञ्जरी हूँ। भगवान्‌के साथ नामदेवका ऐसा विलक्षण सख्य था। यह देखकर तथा मधुरतामें नवनीतको मात करनेवाली उनकी मधुर

(४) भोगावरी आम्हीं घातला पाषाण ।
मरणा मरण आणियेलें ॥
(विषयोंका भोग, जला डाला मारा ।
मृत्युको ही मारा, निःसशय ॥)

यह दोनोंके ही एक एक अभगका प्रथम चरण है । आगेके चरण दोनोंके एक-दूसरेसे भिन्न हैं ।

(५) 'विठाई माउली वोरसोनी प्रेमपान्हा घाली' ये शब्द-प्रयोग दोनोंके ही अभगोंमें बार-बार आये हैं ।

(६) 'तत्त्व पुसावया गेलों वेदज्ञासी' (तत्त्व पूछने वेदज्ञके पास गये) यह नामदेवका अभग और 'ज्ञानियाचे घरीं चोजविता देव' (ज्ञानीके यहाँ भगवान्‌को ढूँढते) यह तुकारामजीका अभग, दोनोंका ही एक ही आशय है । वेदज्ञ, शास्त्री, पण्डित, कथावाचक आदि सबको देखा पर तेरा प्रेमानन्द उनके पास नहीं है इसलिये तेरे ही चरणोंको चित्तमें और तेरा ही नाम मुखमे धारण किया है । इन अभगोंमें दोनोंका यही अनुभव व्यक्त हुआ है ।

१८ कबीरकी साखी

उत्तर भारतके सन्त-कवियोंमे कबीरसाहबकी साखियोंका तुकाराम-जीको विशेष परिचय था । तुकारामजीने स्वय भी उनके ढगपर कुछ दोहे रचे हैं, तथा कुछ अन्तःप्रमाणोंसे भी यह बात स्पष्ट है—

(१) तुकारामजी एक अभगमें कहते हैं—

धर्म भूताची ते दया । संत कारण पेसिया ॥
नव्हे माझें मत । साक्षी करूनि सागे सत ॥

'प्राणिमात्रपर दया करना ही धर्म है । यही सन्तका लक्षण है । यह मेरा मत नहीं । साक्षी करके सन्त ऐसा कहते हैं ।'

(१) नामदेवका एक अभंगका आशय है—हम पण्ढरीमें के मह हमारी पुरातन पैतृक भूमि है। रानी रखुमाई हमारी माता और पाण्डुरंग हमारे पिता हैं। (मु) पुण्डलीक हमारे भाई और चन्द्रभागा बहिन हैं। नामा कहता है अन्तमें घर अपना चन्द्रभागाके किनारे है।

इसी भावका तुकोबाका अभंग यों है—हमारी पैतृक भूमि पण्ढरी है घर हमारा भीमा-तीरपर है। पाण्डुरंग हमारे पिता और रखुमाई हमारी माता हैं। (मु) भाई पुण्डलीक मुनि और बहिन चन्द्रभागा है। तुका का यह पुरातन परम्परागत अधिकार है जो चरणोंके पास रहता हूँ।

(२) भगवन् ! मेरा मन अपने अधीन करके बिना दाम दिये स्वामित्व क्यों नहीं भोगते हो ! मैं मुफ्तका नौकर तो मिला हूँ जो निरन्तर आपकी सेवा करनेके लिये तयार खासे बैठा हूँ। और तुमपे ऊपर कुछ भार भी तो नहीं रखता। (नामदेव)

इसी भावको देखिये तुकारामजीने किस प्रकार व्यक्त किया है—

दाम देकर लोग सेवक रखते हैं। हम तो बिना कुछ लिये ही सेवक बनना चाहते हैं।

(३) यह भावसीका लड़का यदि चौपड़ा भोरे तो सब लोग किसको हँसेंगे ! तुम तो अविनाशी त्रिभुवनके राजा हो और तुम्हीं मेरे स्वामी हो। (नामदेव)

लड़का लड़का यदि दीन-दुखी दिखायी दे तो हे भगवन् ! लोग किसको हँसेंगे ! लड़का चाहे गुणी न हो, स्वच्छन्दतासे रहना भी न जानता हो तो भी उसका लालन-पालन तो करना ही होगा। (मु०) तुका कहता है वैसा ही मैं भी एक पतित हूँ पर आपका मुद्राङ्कित हूँ। (तुकाराम)

१९ चार खेलाडी

तुकारामजीके डण्डोंके खेलपर सात अभंग हैं। इनमेंसे एक अभंग है। 'खेळ खेळोनियाँ निराळे' (खेल खेलकर अलग)। इसमें खेल खेलकर भी अलग रहे हुए—प्रपञ्चके दावमें न आये हुए चार खेलाड़ियोंका उन्होंने वर्णन किया है। ये चार खेलाड़ी हैं—नामदेव, ज्ञानदेव (उनके भाई-बहिन), कबीर और एकनाथ। तुकाराम इन्हीं चार सन्तोंको सबसे अधिक याने गुरुस्थानीय मानते थे। ये ही इनके प्यारे चार खेलाड़ी हैं।

(१) एक खेलाड़ी है दरजीका लड़का नामा, उसने विठ्ठलको मीर बनाया। खेला, पर कहीं चूका नहीं, सन्तोंसे उसे लाभ हुआ।

(२) ज्ञानदेव, मुक्ताबाई, वटेश्वर चाङ्गा और सोपान आनन्दसे खेले, कृष्णको उन्होंने मीर बनाया और उसके चारों ओर नाचे। सब मिलकर तन्मय होकर खेले, ब्रह्मादिने भी उनके पैर छुए।

(३) कबीर खेलाड़ीने रामको मीर बनाया और यह जोड़ी खूब मिली।

(४) एक खेलाड़ी है ब्राह्मणका लड़का एका, उसने लोगोंको खेलका चसका लगा दिया। जनार्दनको उसने मीर बनाया और वैष्णवोंका मेल कराया। तन्मय होकर खेलते खेलते वह स्वयं ही मीर बन गया।

प्रत्येक खेलाड़ीका एक एक मीर याने उपास्य था। इन चारोंके अतिरिक्त और भी बहुत-से खेलाड़ी हुए पर उनका वर्णन करनेमें तुकारामजी कहते हैं कि 'मेरी वाणी समर्थ नहीं है।' पर तुकारामजी अपने श्रोताओंसे कहते हैं कि 'या चौघाची तरी धरि सोई रे' (इन चारोंके पीछे-पीछे तो चलो)—नामदेव, ज्ञानेश्वर, कबीर और एकनाथका अनुसरण तो करो। इस अभंगका ध्रुवपद इस प्रकार है—

यह बात सिद्ध की है । अम्बरीषके लिये भगवान्‌ने दस बार जन्म लेकर 'दासका दास्य किया ।' भक्तिका उपकार उतारनेके लिये भगवान् राजा बलिके यहाँ द्वारपाल हुए। अर्जुनके सारथी बने । उसके पीछे-पीछे चले और पुण्डलीकके द्वारपर तो अट्ठाईस युगसे खड़े ही हैं।

(२) 'कनवाळू कृपाळू' । भगवान् भक्तके लिये चाहे जो कष्ट उठाते हैं, यह बात अम्बरीष और प्रह्लादके चरित्रोंमें तथा द्रौपदी वस्त्र-हरण और दुर्वासाके धर्म-छल-प्रसङ्गमे प्रत्यक्ष है ।

(३) हरिजनाची कोणा न घडावी निंदा ।
साहत गोविंदा नाहीं त्याचें ॥

'हरि भक्तोंकी कोई निन्दा न करे, गोविन्द उसे सह नहीं सकते । भक्तोंके लिये भगवान्‌का हृदय इतना कोमल होता है कि वह अपनी निन्दा सह सकते हैं पर भक्तकी निन्दा नहीं सह सकते। भक्तोंसे कोई छल-छन्द करे तो यह भी उनसे नहीं सहा जाता—

'दुर्वासा अम्बरीषको छलने आये तो भगवान्‌का सुदर्शन-चक्र उनको जलाता फिरा । द्रौपदीको जब क्षोभ हुआ तब भगवान्‌ने उसकी सहायता की और कौरवोंको ठण्डा ही कर दिया । पाण्डवोंसे वैर करनेवाला बन्धु भगवान्‌से नहीं सहा गया और पाण्डवोंके लिये बलरामको भी उन्होंने दूर (पृथ्वी-परिक्रमा करने) भेज दिया। पाण्डव पुत्रोंकी हत्या करनेवाले अश्वत्थामाके मस्तकमें उन्होंने दुर्गन्ध रख ही छोड़ी ।' इसलिये भगवान्‌की भक्ति करो और भक्तोंको अपनाओ।

(४) शुकसनकादिकीं उभारिला बाहो ।
परीक्षिती लाहो साता दिवसां ॥

'शुक-सनकादि हाथ उठाकर कहते हैं कि परीक्षित् सात दिनमें तर गये ।' भक्तोंपर भगवान्‌की ऐसी दया है । द्रौपदीने जब पुकारा तब भगवान् इतने अधीर हो उठे कि गरुड़को भी उन्होंने पीछे छोड़

एके बाई केस्ता न पावसी काई । बुद्धिभ्रमाने ठकसील मार्ग रे
त्रिगुणांचे फेरीं तुं भार करी हाती या चौघांची धरि धरि सोई रे

एक मार्गसे लेख लेखोगे तो (परमार्थ) हाथमें न पैठोगे । बुद्धिभ्रमसे चलोगे तो ठगे जाओगे । त्रिगुणके फेरसे तुम बड़े भार उठाओगे इसलिये इन चारोंका आश्रयकर इनके मार्गपर चलो । तुकारामजी जिनके मार्गपर चलनेका उपदेश लोगोंको दे रहे हैं उनपर उनका कैसा ही अटल विश्वास, गहरा प्रेम और महान् आदर होगा इसमें सन्देह ही क्या है । ऐसा प्रेम और आदर होनेसे ही तुकारामजीने उनके ग्रन्थोंका बड़ी बारीकीके साथ मध्ययन किया, यह हमलोगोंने पहले देखा ही है ।

२० अध्ययनका सार

भागवत धर्म-परम्पराके प्राचीन तथा अर्वाचीन साधु-सन्तोंकी जो कथाएँ तुकारामजीने पढ़ा या सुनीं उनका तुकारामजीके चित्तपर बड़ा असर पड़ा । इनसे उनके सिद्धान्त दृढ़ हुए, विचार स्थिर हुए, हरि-प्रेम बढ़ा और जीवनकी एक पद्धति निश्चित हो गयी । सन्त-कथा-श्रवण, भक्ति-भाव बढ़ा और विश्वास श्रीविठ्ठलमें निर्मल, निश्चल हुआ । सन्तोंका सहारा मिला । सन्त-कथाएँ कामधेनुके समान हृदयकामको पूरण करनेवाली, भगवत् प्रेमका आनन्द बढ़ानेवाली सन्मार्ग दिखानेवाली, निश्चयका बल देनेवाली और सिद्धान्तोंका पता देनेवाली होती हैं । सन्त-कथाओंसे तुकारामजीने अपना हृदयम निश्चय किया और बलवान् हुए । श्रीज्ञानेश्वर, नामदेवप्रभृति तथा धर्म नीति-प्रवण सन्तोंके चरित्रोंसे आत्महितके कौन-कौन से रत्न तुकारामजीने प्राप्त किये यह एक बार उन्हींके मुखसे सुनें—

(१) मानी भक्तीचे उपकार । भक्तिमा महत्त्वी निरंतर ॥

भगवान् भक्तिके उपकार मानते हैं भक्तके ऋणी हो जाते हैं । इस मर्ममें अम्बरीष बलि भर्जुन और पुण्डलीकके दृष्टान्त देकर

'नारायणने जिन्हें अङ्गीकार किया वे, जो निन्द्य भी थे, वन्द्य हो गये । भगवान्ने अजामिल, भीलनी और कुटनीतकको तारा और उन्हे साक्षात् पुराणोंमें वन्द्य किया । ब्रह्महत्याके राशि अपार पाप जिसने किये उस वाल्मीकि किङ्करको भगवान्ने वन्द्य किया । तुका कहता है, यहाँ भक्ति ही प्रमाण है और बड़प्पन लेकर क्या होगा ।'

भगवान्का जो भक्त है वही यथार्थमें वन्द्य है और वही श्रेष्ठ है । भगवान्का अङ्गीकार करना ही वन्द्यताका प्रमाण है । ज्ञानदेवने भी कहा है, 'भगवद्भक्तिके बिना जो जीना है उसमे आग लगे । अन्त.करणमे यदि हरि-प्रेम नहीं समाया तो कुल, जाति, वर्ण, रूप, विद्या—इनका होना किस कामका ? इनसे उलटे दम्भ ही बढता है । अजामिल, कुटनी और वाल्मीकिका पूर्वाचरण और शबरीकी जाति निन्द्य थी, नारायणने इन्हें अङ्गीकार किया इसलिये ये जगद्वन्द्य हुए ।

(१०) 'तुज करिता नव्हे ऐसें काइ नाहीं !' मनुष्यकी पसद कोई चीज नहीं है । भगवान्को जो पसद हो वही शुभ है, वही वन्द्य है और वही उत्तम है ।

नीति-शास्त्र ससारमे सुव्यवस्था बना रखनेके लिये नीतिके कुछ नियम बाँध देते हैं, पर अन्तिम निर्णयको देखें तो मूल-सूत्र भगवान्के ही हाथमें है ! भगवान् जिसे अङ्गीकार करेंगे वही श्रेष्ठ और वन्द्य होगा । भगवान्की मुहर जिसपर लगेगी वही सिक्का दुनियामें चलेगा । भगवान्के दरबारका हुक्म ही दुनियामें चलता है ।

भगवान्ने गीतामे स्वय ही कहा है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेक शरण व्रज ।
अह त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच. ॥

यह सब धर्मोंका सार है । हरि-शरणागति ही सब शुभाशुभ कर्म-बन्धोंसे मुक्त होनेका एकमात्र मार्ग है । जो शरणागत हुए वे ही तर गये ।

दिया । भक्तके पुकारनेकी देर है भगवान्‌के पधारनेकी नहीं । इसलिये रे मन, जल्दी कर ।

उठते-बैठते भगवान्‌को पुकार । पुकार सुननेपर भगवान्‌से स्थिर नहीं रहा जाता ।

(५) भगवान्‌के प्रेमकी महिमा सुनो । भीलनीके बेर खा जाते हैं वह प्रेमके वश भूखे हैं प्रेमका अभाव ही उनके लिये अकाल (दुर्भिक्ष) है । सुदामाके चावल वह ऐसे ही फाँक गये । उन्होंने भक्ति ग्रहण की ।

(६) प्रह्लाद-कथाका स्मरण करके तुकारामजी कहते हैं—

'भक्तकी आवाज आते ही उछलकर कूद पड़े और खम्भेको तोड़कर बाहर निकले । ऐसी दयालु मेरी विठ्ठमाईके सिवा और कौन है ?'

(७) दीन-दुखी पीड़ित संसारियोंके हे देवराया ! तुम्हीं आधार हो । महासङ्कटसे तुमने प्रह्लादको अनेक प्रकारसे उबारा है ।

(८) 'माझ्या विठोबाचा कैसा प्रेम-भाव' (मेरे विठ्ठलनाथका कैसा प्रेम-भाव है) यह बतलाते हैं—

भगवान् भक्तके आगे-पीछे उसे सँभाले रहते हैं उसपर जो कोई आघात होते हैं उनका निवारण करते रहते हैं, उसके योगक्षेमका सब भार स्वयं वहन करते हैं और हाथ पकड़कर उसे रास्ता दिखाते हैं । तुका कहता है, इन बातोंपर जिसे विश्वास न हो वह पुराणोंको आँख खोलकर देखे ।'

(९) भगवान् जिन्हें अपनाते हैं वे संसारकी दृष्टिमें चाहे निन्द्य भी रहे हों तो भी पीछे वन्द्य हो जाते हैं—

अंगीकार ज्याचा, केला नारायणें । निंद्य तेही तेणें वंद्य केले ॥ १ ॥
अजामेळ भिल्ली, तारिली कुंटणी । प्रत्यक्ष पुराणीं वंद्य केली ॥ ध्रु ॥
ब्रह्महत्याराशी, पातकें अपार । वाल्मीक किंकर वंद्य केला ॥ २ ॥
तुका म्हणे येथें, भजन प्रमाण । काय थोरपण, जाळावें तें ॥ ३ ॥

'नारायणने जिन्हें अङ्गीकार किया वे, जो निन्द्य भी थे, वन्द्य हो गये । भगवान्‌ने अजामिल, भीलनी और कुटनीतकको तारा और उन्हें साक्षात् पुराणोंमें वन्द्य किया । ब्रह्महत्याके राशि अपार पाप जिसने किये उस वाल्मीकि किङ्करको भगवान्‌ने वन्द्य किया । तुका कहता है, यहाँ भक्ति ही प्रमाण है और बड़प्पन लेकर क्या होगा ।'

भगवान्‌का जो भक्त है वही यथार्थमें वन्द्य है और वही श्रेष्ठ है । भगवान्‌का अङ्गीकार करना ही वन्द्यताका प्रमाण है । ज्ञानदेवने भी कहा है, 'भगवद्भक्तिके विना जो जीना है उसमें आग लगे । अन्तःकरणमें यदि हरि-प्रेम नहीं समाया तो कुल, जाति, वर्ण, रूप, विद्या—इनका होना किस कामका ? इनसे उलटे दम्भ ही बढ़ता है । अजामिल, कुटनी और वाल्मीकिका पूर्वाचरण और शबरीकी जाति निन्द्य थी, नारायणने इन्हें अङ्गीकार किया इसलिये ये जगद्वन्द्य हुए ।

(१०) 'तुज करितां नव्हे ऐसें काहीं नाहीं !' मनुष्यकी पसंद कोई चीज नहीं है । भगवान्‌को जो पसंद हो वही शुभ है, वही वन्द्य है और वही उत्तम है ।

नीति-शास्त्र संसारमें सुव्यवस्था बना रखनेके लिये नीतिके कुछ नियम बाँध देते हैं, पर अन्तिम निर्णयको देखें तो मूल-सूत्र भगवान्‌के ही हाथमें है ! भगवान् जिसे अङ्गीकार करेंगे वही श्रेष्ठ और वन्द्य होगा । भगवान्‌की मुहर जिसपर लगेगी वही सिक्का दुनियामें चलेगा । भगवान्‌के दरबारका हुक्म ही दुनियामें चलता है ।

भगवान्‌ने गीतामें स्वयं ही कहा है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

यह सब धर्मोंका सार है । हरि-शरणागति ही सब शुभाशुभ कर्म-बन्धोंसे मुक्त होनेका एकमात्र मार्ग है । जो शरणागत हुए वे ही तर गये ।

भगवान्‌ने उन्हें तारा, उन्हें तारते हुए भगवान्‌ने उनके अपराध नहीं देखे उनकी जाति या कुलका विचार नहीं किया। भगवान् केवल भावकी अनन्यता देखते हैं। अनन्य प्रेमकी गङ्गामें सब शुभाशुभ कर्म शुभ ही हो जाते हैं। भगवान् पूर्वकृत पापोंको क्षमा कर देते हैं और अनन्यता होनेपर तो कोई पाप हो ही नहीं सकता और इस प्रकार भक्त अनायास कर्म-बन्धसे मुक्त हो जाता है। अजामिल गणिका, भीलनी ध्रुव, उपमन्यु, गजेन्द्र, प्रह्लाद, पाण्डव इत्यादि सब भक्तोंको भगवान्‌ने उनके कुल जाति और अपराधोंका विचार न करके तारा है।

तुम्हारे नामने प्रह्लादकी अग्निमें रक्षा की, जलमें रक्षा की, विषको अमृत बना दिया। पाण्डवोंपर जब बड़ा भारी संकट आया तब हे नारायण! तुम उनके सहायक हुए। तुका कहता है कि इस अनाथके नाथ तुम हो यह सुनकर मैं तुम्हारी शरणमें आया हूँ।'

(११) भक्त भी ऐसे होते हैं कि भगवान्‌का अखण्ड स्मरण करते हैं—

एक त पाण्डव अरण्य, वनवासी।
परि त्या देवासी आठविती॥१॥
प्रल्हादासी पिता करिता जाचणी।
परि तो स्मरे मनीं नारायण॥२॥
सुदामा ब्राह्मण दरिद्रें पीडिला।
नाहीं विसरला पांडुरंग॥३॥
तुका म्हणे तुम्हां न पडावा विसर।
दुःखाचे डोंगर झाले तरी॥४॥

देखो पाण्डवोंको, अरण्य वनवास भोग रहे हैं पर भगवान्‌का स्मरण बराबर करते हैं। प्रह्लादको उसका पिता इतना कष्ट देता है पर प्रह्लाद मनसे नारायणका ही स्मरण करता है। सुदामा नारायणको दरिद्रने

(१७) 'भक्तोंके लिये हे भगवन्! आपके हृदयमें बड़ी करुणा है, यह बात हे विश्वम्भर! अब मेरी समझमें आ गयी। एक पक्षीका नाम रखा जो आपका नाम था, और इससे गणिकाका उद्धार हुआ। कुटनीने बड़े दोष किये, पर नाम लेते ही आपको करुणा आ गयी। तुका कहता है, हे कोमलहृदय पाण्डुरङ्ग! आपकी दया असीम है।'

(१८) कालरूप हौएसे डरे हुए जीवोंके पुकारते ही भगवान् कैसे दौड़े आते हैं। यह दिखानेके लिये जनक, राजा शिवि, गणिका, अजामिलके उदाहरण दिये हैं।

(१९) 'भक्तोंके यहाँ भगवान् अपने तनसे काम करते हैं। धर्मके यहाँ जूठन उठाते हैं। भीलनीके जूठे फल खाते हैं और ये उन्हें अत्यन्त प्रिय हैं। क्या भगवान्‌को अपने घर खानेको नहीं मिलता जो द्रौपदीसे सागकी पत्ती माँगते हैं? इन्होंने अर्जुनके घोड़ोंको नहलाया, अर्जुनके कितने सङ्कट निवारण किये। तुका कहता है, ऐसे भक्त ही भगवान्‌के प्यारे हैं। कोरे ज्ञानका तो, मुँह काला!'

इन पुराणोक्त भक्तजनोंके समान ही आधुनिक भागवत भक्तोंकी कथाएँ भी तुकारामजीको अत्यन्त प्रिय थीं और इनकी कथाओंसे भी तुकारामजीने यही तात्पर्य निकाला कि नाम-स्मरण-भक्ति ही सब साधनोंसे श्रेष्ठ है। तुकाराम महाराजके पूर्व महाराष्ट्रमें जो-जो सन्त भगवद्भक्त हुए उन सबके बारेमें तुकारामजीने अनेक बार प्रेमोद्गार निकाले हैं। ऐसे अनेक भक्तोंके नाम 'मङ्गलाचरण' में दिये हुए १२वें अभंगमें आये हैं और तुकारामजीने यह कहकर ये नाम लिये हैं कि मेरा गोत्र बहुत बड़ा है, उसमें सभी सन्त और महन्त हैं और मैं उनका नित्य स्मरण करता हूँ।

(२०) पवित्र तें कुळ पावन तो देश।
जेथें हरिचे दास जन्म घेती॥ १॥

ब्रह्मचर्य भगवत्प्राप्तिमें बाधक होने लगा इसलिये उस पत्नीने उनकी एक आँख फोड़ डाली और अपने गुरुको एक आँखसे अन्धा कर दिया। ऋषि-पत्नियोंने ऋषियोंकी आज्ञाका उल्लङ्घन किया और अन्न उठाकर ले गयीं।

विधि-नियम, धर्माचार और नीति-बन्धन इन सबका पालन अत्यावश्यक है, यह बात तुकारामजी किञ्चित् कम नहीं मानते थे। उन्होंने इन बन्धनोंको तोड़नेवाले दुराचारियों और दाम्भिकोंको बहुत बुरी तरहसे फटकारा है। विषय-सुखके लिये आचार-धर्मका उल्लङ्घन करनेवालोंके लिये नरककी ही गति है इसमें सन्देह ही क्या है। पर भक्त यदि सत्य परमात्माकी प्राप्तिके लिये सर्वस्व न्योछावर करना पड़ता है यह भक्ति-शास्त्रका सिद्धान्त है। भक्ति-शास्त्रकी दृष्टि धर्माधर्मविवेक तुकारामजी इस प्रकार बतलाते हैं—

देव जोडे ते करावे अधर्म । अंतरे ते कर्म नाचरावें ॥ १ ॥

'जिससे भगवान् मिलें वह (लोक-दृष्टिमें) अधर्म भी हो तो करे; जिससे भगवान् छूट जायँ वह कर्म न करे।'

बलि, ऋषि-पत्नी और गोपियोंकी अनन्य भक्तिपर भगवान् मुग्ध हो गये अनन्य प्रेमके वशमें हो गये और इन भक्तप्रेमियोंके इन्हीं लोकदृष्टिमें अधम, कुभा जो भी भगवान्‌ने उन्हें अनन्य भक्तिके कारण अपना लिया और किसीका न लिया। अन्तर-बाहर सम्पूर्ण हरी हो गया।

(१६) भगवत्प्राप्तिका मुख्य साधन नाम-स्मरण है। नाम-स्मरणसे अनन्त भक्त तर गये। तुकारामजीने अपने अनेक अभंगोंमें इनके उदाहरण दिये हैं। एक अभंगमें व्याधिनाम ठाकुर, अजामिल भक्त-गुरु नारद, महाकवि वाल्मीकि, तथा जिनमें हरि-गुण-नाम-संकीर्तनसे सद्गति पाये हुए परीक्षित् तथा एक दूसरे अभंगमें उपमन्यु, गणिका और प्रह्लादके नाम आये हैं।

और दामाजीका देन भरा। गोरा कुम्हारके मटके बनाये, मट्टी ढोयी और नरसी मेहताकी हुण्डी सकारी। और पुण्डलीकके लिये तो भगवान् अभीतक खड़े ही हैं। उनकी लीला धन्य है।'

(२२) 'भक्तऋणी देव बोलती पुराणें' (पुराण कहते हैं कि भगवान् भक्तोंके ऋणी हैं)। पुराणोंका यह वचन कैसे सत्य है, यह बतलाते हुए तुकारामजीने कबीर, नामदेव, एकनाथ और भानुदासके दृष्टान्त दिये हैं। कबीर एक नया बुना हुआ कपड़ा बेचनेके लिये बाजार चले। रास्तेमें एक दीन याचक मिला, आधा वस्त्र फाड़कर उन्होंने उसे दे दिया। पीछे एक ब्राह्मण मिले (जो ब्राह्मणवेषधारी भगवान् ही थे), आधा वस्त्र कबीरने उन्हें दे डाला और खाली हाथ घर लौटे। भगवान्ने उस वस्त्रका मूल्य कबीरको देना चाहा पर कबीरने उसे नहीं लिया।

नामदेवके पास जितना कपड़ा था वह उन्होंने रास्तेके पत्थरोंको भगवान् जानकर बाँट दिया तब भी ऐसी ही बात हुई थी।

एकनाथकी बात तो तुकारामजी कहते हैं कि 'प्रत्यक्ष ही है' कि आलन्दीमें तीन मास बराबर वारकरी भक्तोंको एकनाथ खिलाते-पिलाते रहे, इससे उनपर ऋण हो गया, उसे भगवान्ने ही उतारा।

भानुदासने खेतमे बोनेके लिये जो बीज रख छोड़ा था उसीको पीसकर उन्होंने सन्तोंको खिला दिया, तब भगवान्को स्वय ही उनके खेतकी बोवाई करनी पड़ी।

भक्त ससारमें विख्यात हों और उनके द्वारा जड़ जीवोंका उद्धार हो इसके लिये भगवान्ने अनेक अद्भुत लीलाएँ दिखाकर भक्तोंके काम किये हैं।

'नामदेवके लिये भगवान्ने अपना देवालय घुमा दिया, भगवान्ने उनके हाथों दुग्ध-पान किया, इससे नामदेव जगत्में विख्यात हुए।

वह कुल पवित्र है, वह देश पावन है जहाँ हरिके दास जन्म लेते हैं। वर्णाभिमानसे कोई पावन नहीं हुआ और कनिष्ठ जातियोंमें भी साधु-महात्मा हुए हैं। तुकारामजी कहते हैं—

अन्त्यजादि भी हरि-भजनसे तर गये पुराण उनके भाट बन गये। तुलाधार वैश्य था गोरा कुम्हार था चोखा और रैदास चमार थे। कबीर जुलाहा था लतीफ मुसलमान था, विष्णुदास सेनानाई था, कान्होपात्रा वेश्या थी दादू धुनिया था पर भगवान्‌के चरणोंमें—भजनानन्दमें कोई भेद नहीं। चोखामेळा और बंका महार थे, पर सर्वेश्वरके साथ उनका मेल था। नामदेवकी दासी जनाकी कैसी भक्ति थी कि पण्ढरीनाथ उनके साथ भोजन करते थे। मैराळ जनकका कुल क्या भेद था! पर उनकी भक्ति-महिमाका बखान कहाँतक करें! तात्पर्य यह है कि 'विष्णुदासोंके लिये जात-कुजात नहीं है यह वेद-शास्त्रोंका निर्णय है। तुका कहता है, आपलोग ग्रन्थोंमें देखिये कितने पतित तर गये जिनकी कोई संख्या नहीं।'

(२१) भगवान् भावके भूखे हैं ऊँच-नीच भेद उनके यहाँ नहीं है—

भगवान् ऊँच नीच नहीं देखा करते, भक्ति जहाँ देखते हैं वहीं ठहर जाते हैं। दासी-पुत्र विदुरके यहाँ उन्होंने पाहुनकी कनियाँ खायीं, दैत्यके यहाँ रहकर प्रह्लादकी रक्षा की। कबीरसे छिपकर उनके थान बुन दिया करते थे। साँवता मालीके साथ खुरपेसे खुरपते थे। नरहरि सुनारके यहाँ सुनारी करते थे। नामाकी जनाके साथ गोबर पथोरते थे और चोखाके यहाँ झाड़ते-बुहारते और पानी भरते थे। नामाके साथ निःसङ्कोच होकर भोजन करते और ज्ञानदेवकी भीत खींचते थे। सारथी बनकर अर्जुनके घोड़े हाँके और प्रेमसे सुदामाके चावल खाये। ग्वालोंके यहाँ स्वयं ही गौएँ चरायीं और बलिके द्वार पहरा दिये। एकनाथका श्राद्ध पकाया और अम्बरीषके लिये गर्भवास भोगा। मीराबाईके लिये विषका प्याला पी गये

और दामाजीका देन भरा। गोरा कुम्हारके मटके बनाये, मट्टी ढोयी और नरसी मेहताकी हुण्डी सकारी। और पुण्डलीकके लिये तो भगवान् अभीतक खड़े ही हैं। उनकी लीला धन्य है।'

(२२) 'भक्तऋणी देव बोलती पुराणें' (पुराण कहते हैं कि भगवान् भक्तोंके ऋणी हैं)। पुराणोंका यह वचन कैसे सत्य है, यह बतलाते हुए तुकारामजीने कबीर, नामदेव, एकनाथ और भानुदासके दृष्टान्त दिये हैं। कबीर एक नया बुना हुआ कपड़ा बेचनेके लिये बाजार चले। रास्तेमें एक दीन याचक मिला, आधा वस्त्र फाड़कर उन्होंने उसे दे दिया। पीछे एक ब्राह्मण मिले (जो ब्राह्मणवेषधारी भगवान् ही थे), आधा वस्त्र कबीरने उन्हें दे डाला और खाली हाथ घर लौटे। भगवान्ने उस वस्त्रका मूल्य कबीरको देना चाहा पर कबीरने उसे नहीं लिया।

नामदेवके पास जितना कपड़ा था वह उन्होंने रास्तेके पत्थरोंको भगवान् जानकर बाँट दिया तब भी ऐसी ही बात हुई थी।

एकनाथकी बात तो तुकारामजी कहते हैं कि 'प्रत्यक्ष ही है' कि आलन्दीमें तीन मास बराबर वारकरी भक्तोंको एकनाथ खिलाते-पिलाते रहे, इससे उनपर ऋण हो गया, उसे भगवान्ने ही उतारा।

भानुदासने खेतमें बोनेके लिये जो बीज रख छोड़ा था उसीको पीसकर उन्होंने सन्तोंको खिला दिया, तब भगवान्को स्वयं ही उनके खेतकी बोवाई करनी पड़ी।

भक्त संसारमें विख्यात हों और उनके द्वारा जड़ जीवोंका उद्धार हो इसके लिये भगवान्ने अनेक अद्भुत लीलाएँ दिखाकर भक्तोंके काम किये हैं।

'नामदेवके लिये भगवान्ने अपना देवालय घुमा दिया, भगवान्ने उनके हाथों दुग्ध-पान किया, इससे नामदेव जगत्में विख्यात हुए।

नरसी मेहताकी हुंडी सकारी। धना जाटके खेत बो दिये। मीराबाईके लिये विषपान किया। सावता चोखमेळका ढोर पीटा। कबीरके कपड़े बुन दिये। कुम्हारके बच्चेको जिला दिया। अब तुका आपके चरणोंमें बार-बार विनती करता है कि हे पण्ढरिनाथ! मुझपर भी दया करो।

२१ उपसंहार

यह प्रकरण बहुत बढ़ गया। परन्तु तुकारामजीके अध्ययनका यथार्थ स्वरूप हर पहलूसे पाठकोंके ध्यानमें आ जाय इसीके लिये इतना विस्तार किया है। इससे नये और पुराने दोनों प्रकारके विचारवालोंको अपने कुछ विचार बदलने पड़ेंगे। पुराने विचारके अनेक लोगोंकी यह धारणा थी कि तुकारामजीको ग्रन्थ पढ़नेकी कोई आवश्यकता नहीं थी, उन्होंने कोई ग्रन्थ पढ़े भी नहीं, इतना ही नहीं बल्कि वह लिखना-पढ़ना भी नहीं जानते थे। पर यह धारणा गलत है यह बात उपर्युक्त विवेचनसे स्पष्ट हो गयी होगी और सबके ध्यानमें यह बात आ गयी होगी कि तुकारामजी केवल लिखना पढ़ना जानते थे बल्कि उन्होंने गीता-भागवतादि संस्कृत-ग्रन्थों तथा ज्ञानेश्वरी-नाथ भागवतादि प्राकृत ग्रन्थोंका बड़ी आस्था और सूक्ष्मताके साथ अध्ययन किया था कुछ थोड़े-से ही ग्रन्थ उन्होंने देखे पर बहुत अच्छी तरहसे देखे। इस विषयमें भी अब किसीको कोई सन्देह नहीं रह जाता कि भागवत-जैसे ग्रन्थोंके पठन-पठन उन्हें संस्कृत-भाषाका इतना बोध हो गया था कि वह भागवतके श्लोकोंका भावार्थ अनायास समझ लेते थे। 'पुराण देखे, दर्शन हेरे' यह उन्हींका कथन है और इससे यह पता चलता है कि उनका अध्ययन कितनी उच्च कोटिका था। उस जमानेमें भी तुकाराम-जैसे शूद्रको समाजसे ऐसा अध्ययन करनेका अवसर मिलता था और तुकाराम-जैसे महाभाग पुरुष उससे लाभ उठाते थे। इन बातोंको देखते हुए भी जो लोग यह कहा करते हैं कि हिंदू-समाजने शूद्रादिको जान-बूझकर

श्रीतुकारामजीके हस्ताक्षर

अज्ञानमें ही रखा, उनका यह कहना केवल मिथ्या प्रलाप है * । इसी प्रकार तुकाराम महाराजकी शिष्या बहिणाबाई, समर्थ रामदास स्वामीकी शिष्याएँ आक्का और वेणू, ज्ञानेश्वरकालीन मुक्ताबाई और जनाबाई आदिके शिक्षा, अध्ययन और ग्रन्थकर्तृत्वको देखते हुए यह कैसे कहा जा सकता है कि हिन्दू-समाजने स्त्रियोंके मानसिक उत्कर्षकी ओर ध्यान नहीं दिया ? ज्ञानस्रोतस्वतीसे ज्ञानामृत लेकर पान करनेका अधिकार सबको सभी समय है । परन्तु ज्ञानगङ्गोदक पान करनेकी इच्छा और अवसर सभीको नहीं होता, इस कारण क्या ब्राह्मण और क्या शूद्र सभी जातियोंपर अविद्याका प्रभाव ही अधिक पड़ा हुआ सर्वत्र दिखायी देता है । अस्तु ।

तुकारामजीकी साक्षरता और अध्ययनके विषयमें पुराने विचारके लोगोंकी जैसी एक भ्रान्त धारणा थी वैसी उन आधुनिक विद्वानोंकी मति भी ठीक नहीं है जो तुकारामजीको ज्ञानेश्वर और एकनाथकी परम्परासे अलग कराया चाहते हैं । ज्ञानेश्वर और एकनाथकी वाक्तरङ्गिणीमें तुकाराम किस चावसे डुबकियाँ लगाते थे यह हमलोग देख चुके हैं । कोई भी ग्रन्थकार अपने पूर्वजोंसे प्राप्त सञ्चित धनको सुरक्षित रखकर ही उसकी वृद्धि करता है । इससे किसीकी प्रतिष्ठामें कोई बाधा नहीं पड़ती । बाप-दादोंसे मिली हुई सम्पत्तिको अपने

---

* तुकारामजीके पूर्व संवत् १६२१ में शिङ्गणापुरके कवि महालिङ्गदासने 'विक्रमबतीसी' नामका एक बड़ा ओवीबद्ध ग्रन्थ लिखा जो २० वर्ष पहले मैं देख चुका हूँ । संवत् १७५५ में अवचितसुत काशीने 'द्रौपदीस्वयंवर' नामक ग्रन्थ लिखा जो प्रसिद्ध ही है । ये दोनों लेखक शूद्र थे ।

[शूद्रोंको या स्त्रियोंको ज्ञान प्राप्त न हो यह लक्ष्य तो हिन्दू-समाजका कभी नहीं था, प्रत्युत अपने-अपने कर्मको करते हुए सब परमज्ञानको प्राप्त करें यही हिन्दू-समाजका प्रधान लक्ष्य रहा है ।—भाषान्तरकार]

अधिकारमें करके उसे भोगते हुए और बढ़ाना सत्पुत्रोंका तो काम है । ज्ञानेश्वर महाराजने व्यासदेवप्रणित गीताको प्राकृतकर उसे अपने प्रतिभाके आभूषण पहनाये । एकनाथ महाराजने ज्ञानेश्वरी और भागवतको आत्मसात् करके उनसे अपनी वाणी रञ्जित की और तुकाराम महाराजने ज्ञानेश्वर-एकनाथद्वारा निर्मित रत्नोंकी खानिका स्वत्वाधिकार प्राप्त किया और उनसे अपने मर्मगर्भके हीरे निकालकर उनसे संसारको चकित कर दिया । यह क्रम अनादिकालसे चला आया है और देखें विश्वमर्यादापालक पूर्वजोंके कुलमें हमलोग उत्पन्न हुए हैं, यह अपना धन्य भाग्य समझना चाहिये । परन्तु कुछ लोग जो तुकारामजीको ज्ञानेश्वर-एकनाथसे अलग करना चाहते हैं उनकी यह चेष्टा देखकर बड़ा अचरज होता है । 'ज्ञानदेव नामदेव एका तुका' श्रीपाण्डुरङ्ग भगवान्‌के कानके चार मोतियोंकी चौकड़ी है जो सर्वजनमान्य, सर्वप्रिय और सर्वपूज्य है । इसे कोई तोड़-फोड़ नहीं सकता । श्रीज्ञानेश्वर महाराज सब सन्तोंके मुकुटमणि हैं ज्ञानामृतका सुधापान कर बहुतेरे अध्यात्म-बलसे बलवान् हुए । ज्ञानेश्वरके शिष्य विसोबा खेचर नामदेवके गुरु थे अर्थात् ज्ञानेश्वर नामदेवके परम गुरु थे । एक और नामदेव विक्रमकी १६ वीं शताब्दीमें हुए हैं उन्होंने ओविबद्ध महाभारतके कुछ पर्व कुछ अभंग और कुछ सन्त-चरित्र लिखे हैं । नामदेवके अभंगोंका जो संग्रह छपा है उसमें मूल नामदेव और इन पीछेके नामदेव दोनोंकी कविताएँ एक दूसरीमें मिल गयी हैं और उनसे बड़ा भ्रम फैलता है । तथापि ज्ञानेश्वर-समकालीन नामदेव ही सर्वसम्मान्य नामदेव हैं इसमें कोई सन्देह नहीं । ज्ञानेश्वर, नामदेव और एकनाथ—इसी परम्परामें तुकारामजी आ जाते हैं । इस अध्यायमें हमलोग यह देख चुके हैं कि ज्ञानेश्वरी और एकनाथी भागवतके साथ तुकारामजीका कितना घनिष्ठ अन्तरङ्ग परिचय था । इस घनिष्ठताको कोई कैसे नष्ट

कर सकता है—कैसे तुकारामको ज्ञानेश्वर और एकनाथसे अलग कर सकता है ? नामदेव और तुकाराम ही भक्ति पन्थके प्रवर्तक हुए और ज्ञानेश्वर एकनाथका इससे कोई सम्बन्ध नहीं, यह त्रिखण्ड-पण्डितोंका मत भी भरपूर प्रमाणोंके सामने एक क्षण भी नहीं ठहर सकता।

यह भागवत-सम्प्रदाय बहुत प्राचीन है, ज्ञानेश्वर महाराजसे भी बहुत पहलेका है। इस सम्प्रदायके मुख्य प्रचारक अवश्य ही ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ और तुकाराम हुए। श्रेष्ठ पुरुषोंमें भागवत धर्मकी निष्ठा है पर व्यक्तिनिष्ठ सम्प्रदाय नहीं है, यह भगवान् श्रीकृष्णके उपासकोंका सम्प्रदाय है। श्रीकृष्णकी उपासना इस सम्प्रदायका परमधर्म है। जो कोई भी श्रीकृष्ण-भक्त होगा वह इस सम्प्रदायमें सम्मान्य है, उसकी जाति या वर्ण कुछ भी हो। ज्ञानेश्वर महाराज केवल इस कारण मान्य नहीं हैं कि वह ब्राह्मण थे, प्रत्युत इस कारणसे पूज्य हैं कि वह परम कृष्ण भक्त थे। नामदेव और तुकाराम भी इसी कारणसे मान्य हैं। भागवत सम्प्रदायमें जाति-पाँतिका बखेड़ा नहीं है और जाति द्वेष और जातिसङ्कर भी नहीं है। उपर्युक्त चार प्रधान महामान्य महन्तोंके समान ही नरहरि सुनार, रैदास चमार, सजन कसाई, सूरदास, कबीर, वेश्या कान्हूपात्रा, चोखामेला महार, भानुदास, कान्हू पाठक, मीराबाई, गोरा कुम्हार, दादू धुनिया, शेखमहम्मद, मुक्ताबाई और जनाबाई, बेदरके हाकिम दामाजी, दौलताबादके किलेदार जनार्दन स्वामी, साँवता माली, तुलाधार वैश्य आदि—सभी भगवद्भक्तोंको यह सम्प्रदाय परमपूज्य मानता है। हरि भक्तकी जाति नहीं पूछी जाती, वृत्ति नहीं पूछी जाती, पूर्व-चरित्र भी नहीं पूछा जाता। हरि-भक्तिकी कसौटीपर जो कोई बावन तोले, पाव रत्ती उतरे उसीको सन्त मानते हैं। इन सच्चे सन्तोंमें भी ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ, तुकारामको सन्तोंने ही महाराष्ट्रमें अग्रगण्य माना है। जातिके अभिमान या द्वेषसे इस चौकड़ीको कोई तोड़कर

भक्रम करना चाहे तो यह सम्भव नहीं है। 'ज्ञानदेव, नामदेव एव तुका अथवा निवृत्ति, ज्ञानदेव, सोपान मुक्ताबाई । एकनाथ नामदेव तुकाराम' ये भजन ही जो महाराष्ट्रकी सर्वसम्मतिसे बने हुए भजन हैं, इस बातके साक्षी हैं कि यह पञ्चक एक है। एकात्म मानसे इन्हें वन्दनकर हम यह प्रकरण समाप्त करते हैं।

यहाँतक तुकारामजीके ग्रन्थाध्ययनका विचार हुआ। संस्कृतग्रन्थोंमें गीता भागवत कुछ पुराण, भर्तृहरिके शतक और महिम्नादि स्तोत्र और मराठीमें ज्ञानेश्वरी नाथ-भागवत, नामदेव-कबीरादि सन्तोंके पदोंके सूक्ष्म अध्ययनका तुकारामजीके आचार-विचारपर तथा भाषापर भी बड़ा भारी प्रभाव पड़ा है यह बात पाठकोंके ध्यानमें अच्छी तरहसे आ गयी होगी। जिनके ग्रन्थोंका उन्होंने अनेक बार आदर और विश्वासके साथ पारायण किया जिनकी उक्तियों और उनके अन्तर्गत भावना-प्रधान सुविचारोंके साथ वह मनसे इतने तन्मय हो गये, जिनकी कवित भक्ति-ज्ञान-वैराग्यपूर्ण सत्कथाओंके साथ उनका पूर्ण तादात्म्य हो गया उन्हींकी विचार-पद्धति और भाषाशैलीका अनुसरण उन्हें भी हो गया, इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं। यह तो वही हुआ जो होना चाहिये था। परमार्थकी रुचि उत्पन्न होनेपर कुल-परम्पराप्राप्त तथा सहजसुलभ पण्ढरीके वारकरी सम्प्रदायका साधन-पथ तुकारामजीने हृदयकी तड़पनके साथ ग्रहण किया और इसी पथपर चलते हुए इस पन्थके ज्ञानेश्वर नामदेव एकनाथादि पूर्वाचार्योंके ग्रन्थोंका उन्होंने अध्ययन किया और इनके द्वारा निर्दिष्ट मार्गसे चलकर भगवत्कृपाके पूर्ण अधिकारी हुए और अन्तमें भक्तिके उत्कर्षसे स्वधर्मके आचरणसे तथा प्रबोधकी शक्तिसे उन्हींकी मालिकामें आ बैठे।

सातवाँ अध्याय

गुरु-कृपा और कवित्व-स्फूर्ति

सपनेमें पाया गुरु-उपदेश । नाममें विश्वास दृढ धरा ॥

—तुकाराम

१ विषय-प्रवेश

बड़ी उत्कण्ठाके साथ तुकारामजीका अभ्यास चल रहा था । वे सबसे यही जानना चाहते थे कि 'कब भगवान् मुझपर कृपा करेंगे,' 'क्या भगवान् मेरी लाज रखेंगे ।' वह यह जाननेके लिये अत्यन्त अधीर हो उठे थे कि 'क्या मेरा भी उद्धार होगा,' 'क्या नारायण मुझपर अनुग्रह करेंगे !' वे चाहते थे किसी ऐसे महात्माके दर्शन हो जायँ जिनसे यह आश्वासन मिले कि हाँ, भगवान् तुझपर कृपा करेंगे । उनका चित्त विकल था यह जाननेके लिये कि कब मेरी बुद्धि स्थिर होगी, कब भगवान्का रहस्य मैं जान लूँगा, कैसे यह शरीर छूटनेसे पहले नारायणसे भेंट होगी, कब उनके चरणोंपर लोटूँगा, कब उनके लिये गद्गदकण्ठ होकर मैं अपना देह-भाव भूलूँगा, कब वह मुझे अपनी चारों भुजाओंसे गले लगावेंगे, कब ये नेत्र उनका स्वरूप देखकर शान्ति और तृप्ति लाभ करेंगे । बस, यही एक धुन थी । वह अपने ही मनसे पूछते कि क्या मुझे ऐसे सत्पुरुष मिलेंगे जिन्होंने भगवान्के दर्शन किये हों । जिनके लिये प्रपञ्च छोड़ा, वहीखाता इन्द्रायणीमें डुबा दिया, धनको गोमास-

समान माननेकी शपथ की, पर-द्वारतक छोड़ दिया, सज्जनोंमें कुबुद्धि त्याग की, एकान्तवास किया और साधु-संगमें ग्रन्थाध्ययन तथा 'राम कृष्ण हरि'का सतत भजन किया, वह विश्वव्यापक पाण्डुरङ्ग कहाँ कैसे मिलेंगे ! वह कौन बतलायेगा ! वह सत्पुरुष कब मिलेंगे जिन्होंने पाण्डुरङ्ग-के दर्शन किये हों ! इसी प्रतीक्षामें तुकारामजीके प्राण उथल-पुथल कर रहे थे। भगवान् कल्पवृक्ष हैं, चिन्तामणि हैं चित्त जो-जो चिन्तन करे उसे पूरा करनेवाले हैं, यह अनुभव जो सभी भक्तोंको प्राप्त होता है, इस समय तुकारामजीको भी प्राप्त हुआ। उन्हें महात्माके दर्शन हुए, स्वप्नमें दर्शन हुए और उन्होंने तुकारामजीके मस्तकपर हाथ रखा, तुकारामजीको जो मन्त्र प्रिय था वही राम-कृष्णमन्त्र उन्होंने इनको दिया और तुकारामजीके जो परमप्रिय इष्ट थे पाण्डुरङ्ग, उन्हींकी निष्ठापूर्वक उपासना करनेको उन्होंने इनसे कहा। तुकारामजीको यह विश्वास हो गया कि मैं जिस रास्तेपर चल रहा था वह ठीक ही था। राम-कृष्ण-हरिका भजन पहलेसे ही हो रहा था पर वही मन्त्र अब अधिकारी महात्माके मुखसे प्राप्त हुआ, उपासनाका रास्ता खुला निश्चय दृढ़ हुआ चित्त समाहित हो गया। न्यायालयसे मामलेका क्या फैसला होगा यह तो पक्षकारोंको पहलेसे ही मालूम रहता है वकील भी बतलाते रहते हैं पर जबतक जजके मुँहसे फैसला नहीं सुना जाता तबतक चित्त स्वस्थ नहीं होता। कुछ वैसी ही बात यह भी है। अधिकारी पुरुषके मुखसे जब मन्त्र सुना जाता है अथवा सिद्ध पुरुषसे जब कोई आशीर्वाद मिलता है तब उससे जीवको शान्ति मिलती है। उसे अपना रास्ता सही होनेका विश्वास हो जाता है। ग्रन्थ पढ़कर भी जो बात समझमें नहीं आती वह एक क्षणमें ध्यानमें आ जाती है। बुद्धि जहाँ पहुँच नहीं पाती उस वस्तुका साक्षात्कार होता है। स्वानुभव-प्राप्त साक्षात्कारसम्पन्न महात्माके एक क्षण समागमसे सब काम बन जाता है। पारमार्थिक

कृतनिश्चय महापुरुषके दर्शनमात्रसे परमार्थ रोम-रोममें भर जाता है। तुकारामजीके पुण्य-बलसे उन्हें ऐसा अपूर्व शुभ संयोग प्राप्त हुआ।

२ सद्गुरु बिना कृतार्थता नहीं

सद्गुरु-प्रसादके बिना कोई भी अपना परमार्थ सिद्ध नहीं कर सका है। जो लोग यह समझते हैं कि हमने ग्रन्थोंका अध्ययन कर लिया है, परोक्ष ज्ञान हमें मिल चुका है, हमें अपनी बुद्धिसे ही ज्ञानका रहस्य अवगत हो चुका है, अब हमें किसीको गुरु बनानेकी क्या आवश्यकता है? हम जो कुछ जानते हैं उससे अधिक कोई गुरु भी क्या बतलावेंगे?—जो लोग ऐसा समझते हैं—वे अन्तमें अहङ्कारके जालमें ही फँसे हुए दिखायी देते हैं। गुरु कृपाके बिना रज तम धुलकर निर्मल नहीं होते, ज्ञान अर्थात् आत्म ज्ञानमें पूर्ण और दृढतम निष्ठा भी नहीं होती, ज्ञानका साक्षात्कार होना तो बहुत दूरकी बात है। ज्ञानेश्वर महाराज(अ० १०-१७२में)कहते हैं कि 'समग्र वेद शास्त्र पढ डाले, योगादिकोंका भी खूब अभ्यास किया, पर इनकी सफलता तभी है जब श्रीगुरुकी कृपा हो।' कमाई तो अपने ही परिश्रमकी होती है तथापि उसपर जबतक श्रीगुरु-कृपाकी मुहर नहीं लगती तब-तक भगवान्के दरबारमें उसका कोई मूल्य नहीं होता। अत्यन्त सूक्ष्म और विशुद्ध बुद्धिके द्वारा ज्ञान प्राप्त होनेपर भी दीपकसे पैदा होनेवाले काजलके समान ज्ञानसे उत्पन्न होनेवाला अहङ्कार सद्गुरुके चरण गहे बिना निःशेष नष्ट नहीं होता। श्रीराम और श्रीकृष्णको भी श्रीगुरु-चरणोंका आश्रय लेना पड़ा, तब औरोंकी तो बात ही क्या है? वेद, शास्त्र, पुराण और सन्त सब इस विषयमें एकमत हैं। श्रुतिकी यह आज्ञा है कि 'श्रोत्रिय' अर्थात् श्रुति शास्त्र निपुण और 'ब्रह्मनिष्ठ' अर्थात् स्वानुभवसम्पन्न सद्गुरुकी शरण लो, उससे ब्रह्मविद्याका अनुभव प्राप्त करोगे। 'शाब्दे परे च निष्णात ब्रह्मण्युपसमाश्रयम्' ऐसे सद्गुरुकी शरण

सेनेको भागवतकारने कहा है और गीतामें भगवान्‌ने भी 'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया' कहा है। 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' आत्मवेत्ता महापुरुषके चरण गहनेको वेदोंने कहा है और श्रीमद् शङ्कराचार्य भी यही कहते हैं—

> षडङ्गादिवेदो मुखे शास्त्रविद्या
> कवित्वादि गद्यं सुपद्यं करोति।
> गुरोरङ्घ्रिपद्मे मनश्चेन्न लग्नं
> ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम्॥

भाग्य भाग्यसे सद्गुरुके दर्शन होते हैं और जब ऐसे दर्शन हों तब अनन्य मन हो उनकी शरणमें जाना और 'यथा देवे तथा गुरौ' अर्थात् भगवान्‌के समान ही उनका पूजन और भजन करना सनातन रीति है। सद्गुरु सदा तृप्त ही रहते हैं, इससे अधिकारी जीवोंपर उन्हें करुणा आती है। कहते हैं—

'मेरा पेट तो भरा पर मन ऐसी चाह लगी है कि अन्य जीवोंकी आस पूरी करूँ। नामका भार आखिर अपार ही रहता है। यह भार चाहे हलका हो या भारी, इससे क्या?'

अपरम्पार स्वानन्द-समुद्रमें चलनेवाली गुरुरूप नौकाके लिये दो-चार पथिकोंका भार ही क्या! दो-चार चढ़ लिये या दो-चार उतर गये तो इसका उसपर बोझ ही क्या! सच तो यह है कि सद्गुरुको सत्-शिष्यके मिलनेका ही आनन्द है, इससे अद्वैतानुभवका आनन्द द्वैतरूपमें वह भोग सकते हैं। गीताज्ञानेश्वरीमें अर्जुनके प्रश्न करनेपर भगवान् यह कहकर अपना आनन्द व्यक्त करते हैं कि 'हे अर्जुन! तुम प्रश्न करके मुझे मेरा वह आनन्द दिखा रहे हो जो अद्वैतानन्दसे भी परे है।' (ज्ञानेश्वरी १५-८९) अथवा शब्द-शास्त्र, परिपूर्ण

स्वानुभव, उत्तम प्रबोध शक्ति, दैवी दयालुता और परमा-शान्ति--ये पाँचों गुण श्रीगुरुमें नित्य वास करते हैं। एकनाथी भागवत (अ० ३) में श्रीगुरुके लक्षण बतलाते हैं कि 'वह दीनोंपर तन, मन और वाणीसे बड़े दयालु होते हैं, शिष्यके भव-बन्धन काट डालते हैं, अहङ्कारकी छावनी उठा देते हैं। वह शब्द-ज्ञानमें पारङ्गत होते हैं, ब्रह्मज्ञानमें सदा झूमते रहते हैं, निज-भावसे शिष्यको प्रबोध करानेमें समर्थ होते हैं।'

गुरु प्रसादके बिना ही कोई सन्त-पदवीको प्राप्त हुआ हो, ऐसा एक भी पुरुष नहीं है। सभी संतोंने गुरु-प्रसादका महत्त्व और माधुर्य बखाना है। गुरु-भक्तिके सहस्रों अवतरण दिये जा सकते हैं, पर विस्तार-भयसे सक्षेप ही करना पड़ता है। गुरु-स्तुतिका साहित्य बहुत बड़ा है, वह अनुभवका साहित्य है और अत्यन्त हृदयङ्गम है। जिसे गुरु प्रसाद मिला हो, गुरु सेवाका परमानन्द जिसने भोग किया हो वही उसकी माधुरी जान सकता है। ज्ञानदेव और एकनाथ दोनोंने ही गुरु भक्तिकी अपूर्व और अपार माधुरी पायी थी। इन्होंने सद्गुरु-समागम और सद्गुरु-सेवाका आनन्द खूब लूटा। दोनोंके ग्रन्थोंमें सब मङ्गलाचरण श्रीगुरु स्तवन परक हैं और ये अत्यन्त मधुर हैं। श्रीमद्भगवद्गीताके १३ वें अध्यायमें ७ वें श्लोकका 'आचार्योपासनम्' पद देखते ही श्रीश्रीज्ञानेश्वर महाराजकी गुरु-भक्तिकी धारा महाप्रवाहके रूपमें जो उमड़ पड़ी है वह सौ ओवियोंको पार करके भी उनके रोके नहीं रुकी है। उनकी गुरु-भक्तिका आनन्द जिन्हें लेना हो वे श्रीज्ञानेश्वर-चरित्रमें 'उपासना और गुरु भक्ति' अध्याय पूरा पढ जायँ। उसी प्रकार एकनाथ महाराजकी गुरु-भक्तिका जिन्हें दर्शन करना हो वे एकनाथ-चरित्र देखें। गुरु-भक्तके लिये गुरु और उपास्य एक होते हैं। ज्ञानेश्वर और एकनाथने श्रीगुरु-मूर्तिमें ही भगवान्‌के दर्शन किये। तुकारामजीने भगवान्‌हीको श्रीगुरु देखा। गुरु साक्षात् परब्रह्म हैं और परब्रह्म परमात्मा ही गुरुके सगुण

रूपमें साधकको कृतार्थ करते हैं। गुरु-प्रसादके बिना कोई साधक कभी कृतार्थ नहीं हुआ। श्रीगुरु बोलते-चालते ब्रह्म हैं। उनकी चरणभूमिसे भेंटे बिना कोई भी कृतकृत्य नहीं हुआ।

३ स्वामी विवेकानन्दका अनुभव

आधुनिक कालके सुविख्यात सत्पुरुष स्वामी रामतीर्थ और स्वामी विवेकानन्द भी श्रीगुरुके शरणागत होकर ही कृतार्थ हुए। स्वामी विवेकानन्द अपने भक्ति-योग-विषयक प्रबन्धमें कहते हैं—'गुरुकी कृपासे मनुष्यकी छिपी हुई अलौकिक शक्तियाँ विकसित होती हैं उन्हें चैतन्य प्राप्त होता है और उनकी आध्यात्मिक वृद्धि होती है और अन्तमें वह नरसे नारायण होता है। आत्म-विकासका यह कार्य ग्रन्थोंके पढ़नेसे नहीं होता। जीवनभर हजारों ग्रन्थोंको उलटते-पलटते रहो, उससे अधिक-से-अधिक तुम्हारा बौद्धिक ज्ञान बढ़ेगा, पर अन्तमें यही जान पड़ेगा कि इससे अध्यात्म-बल कुछ भी नहीं बढ़ा। बौद्धिक ज्ञान बढ़ा तो उसके साथ अध्यात्म बल भी बढ़ना ही चाहिये यह कोई कहे तो वह सच नहीं है। ग्रन्थोंके अध्ययनसे इस प्रकारका भ्रम होता है पर सूक्ष्मताके साथ अवलोकन करनेसे यह जान पड़ेगा कि बुद्धिका तो खूब विकास हुआ तो भी अध्यात्म शक्ति जहाँ-की-तहाँ ही रह गयी। अध्यात्म-शक्तिका विकास करानेमें केवल ग्रन्थ असमर्थ हैं, और यही कारण है कि अध्यात्मकी बातें करनेवाले लोग बहुत मिलते हैं पर करनीके साथ रहनीका मेल हो ऐसा पुरुष अत्यन्त दुर्लभ है। किसी जीवको आध्यात्मिक संस्कार करानेके लिये ऐसे ही महात्माकी आवश्यकता होती है जो जीवग्रन्थिसे पार निकल गया हो। यह ताकत ग्रन्थोंमें नहीं है। आध्यात्मिक संस्कार जिसका होता है वह है शिष्य और संस्कार करनेवाला है गुरु। भूमि तरकर जोत-बखरकर तैयार हो और बीज भी शुद्ध हो, ऐसे उभय-संयोगसे ही

अध्यात्मका विकास होता है । ...अध्यात्मकी तीव्र क्षुधाके लगते ही अर्थात् भूमिके तैयार होते ही उसमे ज्ञान-बीज बोया जाता है । सृष्टिका यही नियम है । आत्मप्रकाश ग्रहण करनेकी क्षमता सिद्ध होते ही प्रकाश पहुँचानेवाली शक्ति प्रकट होती है । सत्यज्ञानानन्द-स्वरूप सद्गुरुको ससार ईश्वर-तुल्य मानता है । शिष्य शुद्धचित्त, जिज्ञासु और परिश्रमी होना चाहिये । जब शिष्य अपनेको ऐसा बना लेता है तब श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ, निष्पाप, दयालु और प्रबोधचतुर समर्थ सद्गुरु उसे मिलते हैं । ... सद्गुरु शिष्योंके नेत्रोंमें ज्ञानाञ्जन लगाकर उसे दृष्टि देते हैं। ऐसे सद्गुरु बड़े भावसे जब मिलें तब अत्यन्त नम्रता, विमल सद्भाव और दृढ विश्वासके साथ उनकी शरण लो, अपना सम्पूर्ण हृदय उन्हें अर्पण करो, उनके प्रति अपने चित्तमें परम प्रेम धारण करो, उन्हें प्रत्यक्ष परमेश्वर समझो; इससे भक्ति-ज्ञानका अपना समुद्र प्राप्तकर कृतकृत्य होगे । ...महात्मा सिद्ध पुरुष ईश्वरके अवतार ही होते हैं। वे केवल स्पर्शसे, एक कृपा-कटाक्षसे, केवल सङ्कल्पमात्रसे भी शिष्यको कृतार्थ करते हैं, पर्वतप्राय पापोंका बोझ ढोनेवाले भ्रष्ट जीवको भी अपनी दयासे क्षणार्धमें पुण्यात्मा बनाते हैं। वे गुरुओंके गुरु हैं । मनुष्यरूपमें प्रकट होनेवाले साक्षात् नारायण हैं । मनुष्य इन्हींके रूपमें परमात्माको देख सकता है। भगवान् निर्गुण निराकार हैं। पर हमलोग जबतक मनुष्य हैं तबतक हमे उन्हें मनुष्यरूपमें ही पूजना चाहिये। तुम जो चाहो कहो, चाहे जितना प्रयत्न करो, पर तुम्हें मनुष्यरूपी (सगुण) परमेश्वरका ही भजन करना होगा। निर्गुण-निराकारका पाण्डित्य चाहे कोई कितना ही बघारे, सगुणका तिरस्कार करे, अवतारोंकी निन्दा करे, सूर्य, चन्द्र, तारागणोंको दिखाकर बुद्धिवादसे उन्हींमें देवत्व देखनेको कहे--पर उसमें यथार्थ आत्मज्ञान कितना है यह यदि तुम देखो तो वह केवल शून्य है। हमलोग मनुष्य हैं, परमात्मा हमसे सगुणरूपमें--सद्गुरुरूपमें ही

मिलते हैं, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं ।' (स्वामी विवेकानन्दके समग्र ग्रन्थ भाग १ पृ० ५११-५१२ मूल अंग्रेजीसे)

स्वामी आगे और कहते हैं, 'भगवान्से मिलनेकी इच्छा करनेवाले मुमुक्षुके नेत्र श्रीगुरु ही खोलते हैं। गुरु और शिष्यका सम्बन्ध पूर्वज और वंशजके सम्बन्ध-जैसा ही है। श्रद्धा, नम्रता, शरणागति और आदरभावसे शिष्य गुरुका मन मोह ले तो ही उसकी आध्यात्मिक उन्नति हो सकती है। और विशेषरूपसे ध्यानमें रखनेकी बात यह है कि जहाँ गुरु-शिष्यका नाता अत्यन्त प्रेमसे युक्त होता है वहीं प्रत्यक्ष अध्यात्म शक्तिके महात्मा उत्पन्न होते हैं। स्वानुभूति ज्ञानकी परम सीमा है, यह स्वानुभूति ग्रन्थोंसे नहीं प्राप्त हो सकती। पृथ्वी-पर्यटनकर चाहे आप सारी भूमि पादाक्रान्त कर डालें हिमालय, काकेशस, आल्प्स-पर्वत लाँघ जायँ, समुद्रकी गहराईमें गोता लगाकर नीचे जायँ, तिब्बत-देश देख लें या गोबीका जंगल छान डालें, स्वानुभवका यथार्थ धर्म-रहस्य इन बातोंसे, श्रीगुरुके प्रसादके बिना, त्रिकालमें भी नहीं प्राप्त होगा। इसलिये भगवान्की कृपासे जब ऐसा भाग्योदय हो कि श्रीगुरु दर्शन दें तब सर्वान्तःकरणसे श्रीगुरुकी शरण लो, उन्हें ऐसा समझो जैसे यही परब्रह्म हों, उनके बालक बनकर अनन्यभावसे उनकी सेवा करो, इससे तुम धन्य होगे। ऐसे परम प्रेम और आदरके साथ जो श्रीगुरुके शरणागत हुए, उन्हीं को— और केवल उन्हींको—सच्चिदानन्द प्रभुने प्रसन्न होकर अपनी परमभक्ति और अध्यात्मके अलौकिक चमत्कार दिखाये हैं।

४ हीरेकी खान

तुकारामजीका परमार्थ ऊपर-ही-ऊपरका नहीं था इसलिये उन्होंने सभी सन्तोंकी नहीं की कि जो मिला उसीको उन्होंने गुरु मान लिया। बहुतोंको उन्होंने कसौटीपर कसकर देखा और दूरसे ही प्रणाम कर लिया

किया । जहाँ तहाँ ब्रह्मज्ञानकी कोरी बातें ही सुन पड़ीं, कहीं उसका मूर्त लक्षण नहीं देख पड़ा । वह सच्चा ब्रह्मज्ञान चाहते थे । हाथ पसारकर उन्होंने यही याचना की थी कि—

निरें कोणापासीं होय एक रज । तरी द्यावें मज दुर्बळासीं ॥

'निर्मल ब्रह्मज्ञान यदि किसीके पास हो तो उसका एक रजःकण मुझे दे दो ।'

बड़ी दीनताके साथ उन्होंने यही पुकार की थी । पर जहाँ-तहाँ उन्होंने दिखावके पर्वत देखे, बिना नींवकी ही दीवार देखी !' पाखण्ड और दम्भ देखकर वह चिढ़ गये । उन्होंने पाखण्डी गुरुओं और दाम्भिक संतोंकी, अपने अभगोंमें, खूब खबर ली है ।

काम क्रोध लोभ चित्तीं । वरिवरि दाविती विरक्ती ॥
तुका म्हणे शब्दज्ञानें । जग नाडियेलें तेणें ॥ १ ॥

चित्तमें तो काम-क्रोध लोभ भरा हुआ है पर ऊपरसे विरक्त बने हुए हैं । कोरे शब्दज्ञानसे संसारको धोखा दे रहे हैं ।'

* * *

डोई वाढवूनि केश । भूतें आणिती अंगास ॥ १ ॥
तरी ते नव्हती संतजन । तेथें नाहीं आत्मखुण ॥ २ ॥

'सिरपर जटा बढ़ाये हुए हैं, भूत-प्रेत बुला लेते हैं । पर वे संतजन नहीं हैं, वहाँ कोई आत्मलक्षण नहीं है ।'

* * *

रिद्धिसिद्धीचे साधक । वाचासिद्ध होती एक ।
त्याचा आम्हासी कंटाळा । पाहों नावडती डोळा ॥

'कोई ऋद्धि सिद्धिके साधक हैं, कोई वाक्-सिद्ध हैं । पर इन सबसे हमारा जी ऊबा हुआ है, इन्हें हम आँखों नहीं देखना चाहते ।'

* * *

दावुनि वैराग्याची कळा । भोगी विषयाचा सोहळा ॥
ज्ञान सांगतो जनासी । अनुभव नाहीं आपणासी ॥ १ ॥

'वैराग्यकी चमक दिखा देते हैं पर विषयोंको ही भोगते रहते हैं लोगोंको ज्ञान बतलाते हैं पर स्वयं अनुभव कुछ भी नहीं करते ।

* * *

ऐसे दाम्भिक, भवकचरे और पेटू आदमी जहाँ-तहाँ भी कौड़ी तीन-तीन मिलते हैं । तुकारामजीकी शुद्ध और सूक्ष्म दृष्टिको सच्चे-झूठेका निर्णय करते कितनी देर लगती ! साधारण मनुष्य ऊपरी दिखावेमें फँसते हैं पर तुकारामजी फँसनेवाले नहीं थे । 'कवित्वी ते संत कवितांकवित्व' वाले अभंगमें वह बतलाते हैं कि जो कविता करते हैं वे संत नहीं हैं, संतोंके घरवाले संत नहीं हैं, अपना घर भरकर दूसरोंको निराधार मान बतलानेवाले संत नहीं हैं, केवल कथा बाचनेवाले, कीर्तन करनेवाले माला-मुद्रा धारण करनेवाले भभूत रमानेवाले जंगलोंमें रहनेवाले, कर्मठ जप-तप करनेवाले संत नहीं हैं ये सब बाह्य लक्षण हैं इनसे किसी की साधुता नहीं जानी जाती ।

तुका म्हणे नाहीं निरसला देह । तंवरी हे आहे सांसारिक ॥

'जबतक देहका निरास नहीं हुआ, देहबुद्धि नष्ट नहीं हुई तबतक ये सब सांसारिक ही हैं । तुकारामजी इन्हें अपने मुखसे संत नहीं कह सकते' जबतक इनके अंदर द्रव्यका लोभ और बड़ाईकी इच्छा है । जिनका बाह्य वेष साधुका-सा है पर अन्तःकरण विषयासक्त है उन्हें तुकाराम जी दूसरे 'हीरेके समान चमकनेवाले ओले' कहते हैं । ऐसे बने हुए संत अनेक होते हैं पर इनमेंसे कोई भी तुकारामजीकी आँखोंमें धूल नहीं झोंक सका ।

सच्चे संत बहुत दुर्लभ हैं । संतोंको ढूँढ़ते ढूँढ़ते तुकारामजी थक गये ।

उनकी आशा निराशा हो गयी। उस समय उनके मुखसे ये उद्गार निकले हैं—

'ज्ञानियोंके यहाँ भगवान्‌को ढूँढना चाहा, पर देखा यही कि अहङ्कार इन ज्ञानियोंके पीछे पड़ा है। वेद-परायण पण्डितों और पाठकोंको देखा कि एक दूसरेको नीचे गिरानेमें ही लगे हुए हैं। देखनी चाही इनकी आत्मनिष्ठा, पर उलटी ही चेष्टा दिखायी दी। योगियोंको देखा, उनमें भी शान्ति नहीं, मारे क्रोधके एक-दूसरेपर गुरगुराया करते हैं। इसलिये हे विट्ठल! अब मुझे किसीका मुहताज मत करो। मैंने इन सब उपायोंको छोड़ तुम्हारे चरण दृढतासे पकड़ लिये हैं।'

५ गुरु ही मुमुक्षुको ढूँढते हैं

'संत दुर्लभ तो हैं, पर अलभ्य नहीं। चन्दन महँगा मिलता है, पर मिलता तो है। कस्तूरी चाहे जब चाहे जहाँ मिट्टीकी तरह सस्ती नहीं मिलती, पर जिसके पास उसके दाम हैं उसे मिलती ही है। हीरे-जैसे रत्नोंको गरीब बेचारे देख भी नहीं सकते, पर धनी उन्हें खरीद सकते हैं। इसी प्रकार जिसके पास प्रचुर पुण्य धन है उसे सत्सङ्ग लाभ होता है। सत्सङ्ग दुर्लभ है, पर अमोघ भी है। भाग्यश्रीका जब उदय होना होता है तभी संत मिलते हैं, इनमें जिन्हें भगवान्‌की आज्ञा होगी वे स्वयं ही चले आवेंगे और कृतार्थ करेंगे। मुमुक्षुको गुरु ढूँढना नहीं पड़ता, गुरु ही ऐसे शिष्योंको जो कृतार्थ होनेयोग्य हुए हों, ढूँढा करते हैं। फलके परिपक्व होते ही तोता बिना बुलाये ही आकर उसपर चोंच मारता है। उसी प्रकार विरक्त जीवको देखते ही दयाकुल गुरु दौड़े आते हैं और आत्म-रहस्य बतलाकर उसे कृतार्थ करते हैं। सब संत सद्‌गुरुस्वरूप ही हैं, तथापि सब स्त्रियाँ माताके समान होनेपर भी स्तनपान करानेवाली माता एक ही होती है, वैसे ही सब संत सद्‌गुरुके समान होनेपर भी स्वानुभवामृत पान

करानेवाली, ईश्वरनियुक्त सद्गुरु-माता भी एक ही होती है और मुमुक्षु शिशु जब भूखसे व्याकुल होकर रोने लगता है तब सद्गुरु-माताले एक क्षण रहा नहीं जाता और वह दौड़ी चली आती और शिशुको अमृतपान कराती है। गुरु ईश्वरनियुक्त होते हैं, गुरु-शिष्यका सम्बन्ध अनेक जन्म-जन्मान्तरोंसे चला आता है और वह गुरु निश्चित समयपर निश्चित शिष्य-को कृतार्थ किया करते हैं। तुकारामजीके सद्गुरु बाबाजी चैतन्य इसी प्रकारसे भगवदिच्छानुसार यथाकाल यथोचित रीतिसे तुकारामजीके सामने प्रकट हुए और उन्हें उन्होंने अपना प्रसाद दिया।

६ बाबाजीका स्वप्नोपदेश

तुकारामजीको गुरूपदेश प्राप्त हुआ उस प्रसङ्गके उनके दो अभंग हैं। पहला अभंग विशेष प्रसिद्ध है उसीका आशय नीचे देते हैं—

गुरुराजने सचमुच ही मुझपर बड़ी कृपा की पर मुझसे उनकी कुछ भी सेवा न बन पड़ी। स्वप्नमें, गङ्गा-स्नान (इन्द्रायणी-स्नान) के लिये जाते हुए, रास्तेमें वह मिले और उन्होंने मस्तकपर हाथ रखा। उन्होंने भोजन-के लिये एक पाव घी माँगा पर मुझे इसका विस्मरण हो गया। कुछ अन्तराय हो गया इससे उन्होंने जानेकी जल्दी की। उन्होंने गुरु परम्पराके नाम बताये 'राघव चैतन्य' और 'केशव चैतन्य'। अपना नाम बतलाया बाबाजी चैतन्य और 'राम कृष्ण हरि' मन्त्र दिया। माघ शुद्ध दशमी गुरुवारको गुरुका वार सोचकर (इस प्रकार गुरुने) मुझे अङ्गीकार किया।

इससे निम्नलिखित बातें मालूम हुईं—

(१) सद्गुरुने तुकारामजीपर अनुग्रह किया और उन्हें 'राम कृष्ण हरी' का मन्त्र दिया।

(२) यह उपदेश उन्हें स्वप्नमें इन्द्रायणीमें स्नान करनेके लिये जाते हुए प्राप्त हुआ। गुरुने उनके मस्तकपर हाथ रखा।

(३) सद्गुरुने भोजनके लिये एक पाव घी माँगा पर तुकारामजी घी लाकर देना भूल गये। जागनेपर तुकारामजीको इस बातका बड़ा दुःख हुआ कि सद्गुरुकी कुछ भी सेवा न बन पड़ी और उन्हे यही समझ पड़ा कि सेवामें प्रत्यवाय होनेसे ही सद्गुरु जल्दीसे चले गये।

(४) सद्गुरुने अपनी गुरु-परम्परा बतायी—राघव चैतन्य, केशव चैतन्य और अपना नाम बाबाजी चैतन्य बताया।

(५) यह गुरूपदेश तुकारामजीको माघ शुक्ल दशमी गुरुवारको मिला।

(६) इस प्रकार सद्गुरुने तुकारामजीको अङ्गीकार किया।

तुकारामजी फिर कहते हैं—

गुरुराज मेरे मनका भाव जानकर वैसा ही उपाय करते हैं। उन्होंने वही सरल मन्त्र बताया जो मुझे प्रिय था, जिसमें कोई बखेड़ा नहीं। इसी मार्गसे चलकर अनेक साधु-सत भवसागरसे पार उतर गये। जान-अजान जो जैसे शिष्य होते हैं गुरु उन्हें वैसा ही उपाय बतलाते हैं। शिष्योंमें कोई नदीके उतारमें तैरनेवाले, कोई सङ्गीके सङ्ग चलनेवाले, कोई जहाजपर चढनेवाले और कोई कमरबन्द कसे रहनेवाले होते हैं, जो जैसे होते हैं उन्हें उनके अधिकारके अनुसार वैसा ही उपाय बताया जाता है।'

तुका कहता है, 'गुरुने मुझे कृपासागर पाण्डुरङ्ग ही जहाज दिया।' इससे तीन बातें मिलीं—

(७) मेरे मनका भाव जानकर सद्गुरुने ऐसा प्रिय और सरल मन्त्र दिया कि कहीं कोई बखेड़ा नहीं।

गुरूपदेश पानेके पूर्वसे ही तुकारामजी बड़े प्रेमसे श्रीविठ्ठलकी उपासना करते थे और 'राम कृष्ण हरी'का ही मन्त्र जपा करते थे। विठ्ठल उनके कुलदेव थे। उपास्यदेवका ही प्रिय मन्त्र गुरुने बताया

इससे कोई क्लेश नहीं हुआ। यदि गुरुने गणेशकी उपासना और गणेश का मन्त्र दिया होता अथवा अन्य किसी देवताके मन्त्रकी दीक्षा दी होती या योग-यागादि साधन करनेको कहा होता तो अवश्य ही क्लेश होता। पहलेसे जो साधना हो रही है उसीको आगे चलानेका गुरुने उपदेश दिया, इससे तुकारामजीका उत्साह द्विगुण हो गया। ऐसा यदि न होता तो यह झगड़ा आ पड़ता कि पहलेसे जो उपासना चली आ रही है वह कैसे छोड़ दी जाय और गुरुकी बतायी उपासना भी कैसे न की जाय? इससे संशय-को आश्रय मिल सकता था मन विचलित होकर गड़बड़ा सकता था। पर गुरुने 'मुझे कृपासागर पाण्डुरङ्ग ही बतला दिया' मेरा जो प्रिय था वही 'राम कृष्ण हरी' मन्त्र दिया और जो उपासना मैं कर रहा था उसी-को निष्ठाके साथ आगे चलानेका उपदेश दिया। इससे कोई क्लेश नहीं पैदा हुआ।

(८) अनेक साधु-सन्त—ज्ञानेश्वर, नामदेव एकनाथादि—इसी मार्गसे चलकर भवसागर पार कर गये।

तुकोबारायको जैसे विठ्ठलकी उपासना प्रिय थी, 'राम कृष्ण हरी' नाम प्रिय था वैसे ही ज्ञानेश्वर, नामदेव एकनाथादिका नित्य ग्रन्थ-सत्सङ्ग भी प्रिय था क्योंकि इन्हींके ग्रन्थोंका वह नित्य पठन श्रवण और मनन किया करते थे। सद्गुरुका ऐसा अनुकूल उपदेश मिलनेसे यह क्रम भी उनका बना रहा। गुरुने उन्हें दत्तात्रेयका मन्त्र देकर श्रीगुरु-चरित्रके पारायण करनेको कहा होता तो उससे भी उनका काम बन जाता, पर पूर्व संस्कारसे जो उपासना दृढ़ हो चुकी थी वह एकदम छोड़ देनी पड़ती और नया साधन नये ढंगसे करना पड़ता। इससे भी कुछ-न-कुछ क्लेश ही होता। इस प्रकार स्वभावसे ही प्रिय उपास्य प्रिय मन्त्र और प्रिय सम्प्रदाय-परम्परा छोड़नेकी कोई आवश्यकता नहीं पड़ी प्रत्युत उसीको और दृढ़ करनेका उपदेश गुरुसे प्राप्त होनेके कारण कोई क्लेश नहीं हुआ।

(९) मुझे मेरा प्रिय मार्ग ही सद्गुरुने दिखा दिया, पर इसका यह मतलब नहीं है कि मेरे सद्गुरु यही एक मार्ग जानते थे या बतलाते थे, गुरुराज तो समर्थ हैं, वह जान-अजान सबको मार्ग बतलानेवाले हैं, जो शिष्य जिस अधिकारका हुआ उसे उसी अधिकारका उपदेश देते हैं—'उतार सागडी तापे पेटी'—'उतार, सग, जहाज, कमरबन्द।' ये सभी उपाय वह बतलाते हैं। इस चरणका, बल्कि यह कहिये कि इस अभगका रहस्य समझनेके लिये ज्ञानेश्वरीका आश्रय लेना पड़ेगा। गीताके 'दैवी ह्येषा गुणमयी' (अ० ७। १४) और 'तेषामह समुद्धर्ता' (अ० १२। ७) इन श्लोकोंपर ज्ञानेश्वर महाराजकी जो ओवियाँ हैं उन्हें सामने रखकर इस चरणका अर्थ ठीक लगता है। जान-अजान सबको अपने-अपने अधिकारके अनुसार ही मार्ग बताया जाता है। 'जो अकेले हैं (अर्थात् ब्रह्मचारी, सन्यासी आदि) उन्हें योगमार्ग दिखाते और जो परिग्रही (गृहस्थ) हैं उन्हें नाम नौकापर बिठाते हैं। माया नदीको तैरकर पार करते हुए कोई 'उतार'के रास्तेसे जाते हैं। अहभाव त्याग कर 'ऐक्यके उतार'से जाते हैं। (ज्ञानेश्वरी ७-१००), कोई 'वेदत्रयीको सगी' बनाकर उनके सग चलते हैं (८४), कोई 'यजनक्रियाका कमरबन्द कमरमें कस लेते हैं' (८९) और कोई 'आत्म-निवेदनके जहाज' पर चढते हैं। तुकारामजीके कथनका तात्पर्य भी यही है कि समर्थ सद्गुरुके पास सभी साधन मौजूद हैं, पर शिष्यकी रुचि देखकर वैसा इष्ट उसे बतलाते हैं। मुझे श्रीगुरुने ऐसा ही प्रिय मन्त्र बताया, इसलिये इन विविध साधनोंका कोई झमेला नहीं पड़ा।

और भी चार-पाँच स्थानोंमें गुरूपदेश-सम्बन्धी उल्लेख हैं। एक स्थानमें कहा है कि श्रीगुरुने 'कर-स्पर्श करके सिरपर हाथ फेरा और कहा कि चिन्ता मत करो' एक दूसरे स्थानमें कहा है कि श्रीगुरुने 'राम-कृष्ण-मन्त्र बताया, सब समय वाणीसे यही उच्चार करता हूँ।' श्रीसद्गुरुने

स्वप्नमें तुकारामजीको दर्शन देकर 'राम कृष्ण' मन्त्र बताया, इसके सिवा और कुछ भेदकी बात बतायी हो तो उसे तुकारामजीने नहीं प्रकट किया है। साम्प्रदायिक रहस्य मुखमसुख कोई बतलाता भी नहीं।

७ दिनकर गोसाईं

बाबाजी चैतन्यने तुकारामजीको स्वप्नमें जैसे उपदेश दिया ऐसी ही घटना इसके २ वर्ष बाद नगर-जिलेमें भिंगारसे उत्तर-पूर्व १४ कोसपर वृद्धेश्वरमें भी हुई थी जिसका उल्लेख मराठीसाहित्यमें मौजूद है। 'स्वानुभवदिनकर' नामक सुन्दर ग्रन्थके कर्ता दिनकर गोसावी (गोसाईं) समर्थ श्रीरामदासस्वामीके शिष्य थे। यह भिंगारके जोशी थे, इनका कुल-नाम मुळे था पर ज्योतिषी होनेके कारण यह पाठक कहलाने लगे। दिनकरका ऐन यौवनकाल था। जब उन्हें वैराग्य प्राप्त हुआ और वह अपना गाँव छोड़कर वृद्धेश्वरकी सुरम्य कन्दरामें शाके १५७४ में जा रहे। उस एकान्त स्थानमें उन्होंने एक वर्ष यथाविधि पुरश्चरण किया। शाके १५७५ की फाल्गुनी पूर्णिमाकी रातमें नाम-स्मरण करते हुए उन्हें निद्रा आ गयी। दिनकर स्वामी कहते हैं 'वह जाग्रत्स्वप्ननिद्राके तुर्या अवस्था थी मन महाभावसे विनीत था और नेत्र उन्मीलित थे। उस समय समर्थ श्रीरामदासस्वामीके वेषमें भगवान् श्रीरामचन्द्र सामने प्रकट हुए और उन्होंने उनके मस्तकपर अपना बायाँ हाथ रखा। और दिनकर गोसावी तुरंत जाग पड़े। उन्हें परम आनन्द हुआ पर वही मूर्ति जागतेमें दर्शन दे इसके लिये उनका चित्त विकल हो उठा। और स्वानुभवके आनन्दसे वह चित्त तत्काल उसी क्षणमें ध्यान-संलग्न हो गया।'

माताके न दिखायी देनेसे नन्हे बच्चेकी अथवा गौके समयपर घर न आनेसे बछड़ेकी या मन खर्च हो जानेपर कृपणकी जो हालत होती है वही हालत दिनकरकी हुई। कुछ लाभ कुछ आपत्ति कुछ युयुत्सि तीनों

ही अवस्थाएँ कुछ-कुछ थीं, तीनोंकी सन्धि थी। उस सन्धिमें चित्त तुर्यावस्थामें जहाँ-का-तहाँ विरत होकर तटस्थ हो गया और भगवान् श्रीरामचन्द्रने समर्थ श्रीरामदासस्वामीके रूपमें दिनकरके मस्तकपर बायाँ हाथ रखा। स्वप्नमें जिस मूर्तिके दर्शन हुए थे वह मूर्ति चित्तमें बैठ गयी और उन्होंने यह निश्चय किया कि जाग्रत्में उस मूर्तिके दर्शन जबतक नहीं होंगे तबतक अन्न-जल ग्रहण नहीं करूँगा। वह एक वर्षतक इस हालतमें रहे। बाह्योपाधि उनकी छूट गयी, स्वप्न मूर्ति अंदर बाहर व्याप गयी। इस प्रकार जब एक वर्ष पूरा हुआ तब संवत् १७११ फाल्गुन मास-की पूर्णिमाको साक्षात् समर्थ प्रकट हुए। तब दिनकरके आनन्दकी कोई सीमा न रही। समर्थने उनके मस्तकपर दाहिना हाथ रखा और उन्हें कृतार्थ किया। दाहिना हाथ सद्गुरुके सिवा और कोई भी नहीं रख सकता। यह सम्पूर्ण कथा 'स्वानुभवदिनकर' ग्रन्थ (कलाप १६ किरण ४)में लिखा है।

तुकारामजीके स्वप्नानुग्रह और दिनकर गोस्वामीके स्वप्नानुग्रहमें विलक्षण साम्य है। महीपतिबाबा कहते हैं कि श्रीपाण्डुरङ्गने बाबाजी चैतन्यके रूपमें तुकारामजीपर अनुग्रह किया और 'स्वानुभवदिनकर' यह बतलाया है कि श्रीरामचन्द्रने रामदासके रूपमे दिनकर गोस्वामीपर अनुग्रह किया। तुकारामजीके गुरु बाबाजी चैतन्य उनपर अनुग्रह करनेके कितने ही वर्ष पहले समाधिस्थ हो चुके थे, और सोते जागते पाण्डुरङ्गकी ओर ही तुकारामजीकी आँखें लगी थीं। इस कारण तुकारामजीको पाण्डुरङ्गके इस प्रकार दर्शन हुए, और दिनकर गोसाईंको स्वप्नमें देखी हुई मूर्तिको जागते हुए प्रत्यक्ष देखनेकी ही लगी हुई थी, इस कारण ठीक एक वर्ष पूरा होते ही श्रीगुरु-मूर्ति उनके सामने प्रत्यक्षमें प्रकट हुई। इन दोनों उदाहरणोंसे यह बात सिद्ध होती है कि जिसे जिसकी लगन लगती है उसे

उसके स्वप्नमें और जाग्रतिमें भी दर्शन होते हैं। यह क्या चमत्कार है अथवा किस प्रकार महात्मा लोग दूसरोंके स्वप्नमें प्रवेशकर उन्हें ज्ञानदान कर जाते हैं यह हमारे-जैसे प्राकृत जीव भला कैसे समझ सकते हैं? पर तुकाराम और दिनकर गोसाईं जैसे निष्काम भगवद्भक्त जब यह बतलाते हैं कि स्वप्नमें गुरुने दर्शन देकर हमें उपदेश दिया तब उसपर अविश्वास करनेका कोई कारण नहीं है। ऐसी बातोंमें विश्वासके बिना प्रतीति नहीं होती और प्रतीतिके बिना विश्वास भी नहीं होता, इसलिये मुमुक्षुजन पहले विश्वास करते हैं पीछे उनके पूर्वभाग्यसे अथवा भगवत्कृपा-बलसे प्रतीतिका समय भी कभी-न-कभी आता है। स्वप्नमें ही क्यों, जाग्रतमें उपदेश दिये जानेकी कथाएँ हमारे पुराणोंमें हैं। इन कथाओंको मिथ्या तो नहीं कह सकते। महात्मा चारों देहोंसे अलग और पूर्ण स्वाधीन होनेके कारण चारों देहोंपर उनका हुक्म चलता है। वे इन देहोंके मालिक होते हैं अर्थात् चाहे जो देह वे जब चाहें धारण कर सकते हैं और चाहे जिस देहको जब चाहें छोड़ सकते हैं। बाबाजी चैतन्यने स्थूल देहका त्याग करनेके पश्चात् मच्छाग-पर्वतपर आत्मोद्धारके लिये सतत छटपटानेवाले तुकारामको इच्छित और अधिकारी जानकर उनपर अनुग्रह किया और जो उपासना वह कर रहे थे उसीको आगे भी करते रहनेके लिये प्रोत्साहित किया। इस प्रकारका प्रोत्साहन श्रेष्ठ कोटिके जीवोंसे कनिष्ठ कोटिके जीवोंको मिला करता है। सच पूछिये तो गुरु और शिष्यके बीच ऊँच-नीचका कोई भेद-भाव बाकी नहीं रहता। जैसे दो तालाब पास-पास लबालब भरे हुए हों और इनमेंसे पहले किसी एकका पानी दूसरेमें आ जाय और उस एकको दूसरा गुरुत्वका मान प्रदान करनेकी तैयारी करे न करे इतनेमें ही दोनोंकी लहरें एक-दूसरेमें आने-जाने लगें और दोनों मिलकर एक महासरोवर बन जायँ वैसा ही कुछ गुरु-शिष्यका सम्बन्ध होता है। दोनों एक-दूसरेसे मिलकर एक हो जाते हैं। शिष्य गुरु-तत्पर

कब आरूढ होता है और कब दोनों एक हो जाते हैं यह बतलानेमें जितना समय लग सकता है उतना समय भी दोनोंके एक होनेमें नहीं लगता। 'उद्धरेदात्मनात्मानम्' ही सत्य है, तथापि सबके ऊपर मुहर गुरुकी ही लगती है। साधक जिस साधन-मार्गसे जा रहा हो उस मार्गपर चलते हुए उसे किसी ऐसे मार्गदर्शक पुरुषकी आवश्यकता होती है जिसने वह मार्ग देखा हो, जो उस मार्गके अन्तिम गन्तव्य स्थानतक हो आया हो। वही गुरु है। उसके मिलनेसे मोक्ष-मार्गके पथिकका ढाढस बँधता है, उसे यह निश्चय हो जाता है कि हम जिस रास्तेपर चल रहे हैं वह रास्ता गलत नहीं है। मोक्ष-मार्गमें ऐसे अनेक गुरु मिल जाते हैं। साधु-सत ऐसे ही मार्गदर्शक होते हैं। अन्तमें जो गुरु मिलते हैं वह इसे पूर्णकाम करके अनुभव-सुख इसके पल्ले बाँधकर इसे पूर्ण बनाते हैं, वही सद्गुरु हैं। सद्गुरुका कार्य अत्यल्प पर अत्यन्त उपकारक होता है। वह जीवात्माको शिवात्मासे मिला देते हैं।

८ गुरु-नाम बारम्बार क्यों नहीं ?

इस विषयमें अब कोई सन्देह नहीं रह गया ह कि तुकारामजीके गुरु बाबाजी चैतन्य थे। तुकारामजीने स्वय ही कहा है—'बाबाजी सद्गुरु, दास तुका।' ज्ञानदेव, नामदेव और एकनाथके ग्रन्थोंमें बार-बार जैसे गुरुका नाम आता है वैसे तुकारामके अभगोंमें नहीं आता, यह बात सही है। पर इससे किसी-किसीका जो यह खयाल होता है कि तुकारामने कोई गुरु ही नहीं किया, किसी गुरुसे उपदेश नहीं लिया अथवा भगवान्ने ही उन्हें स्वप्न देकर अपना नाम बाबाजी चैतन्य बता दिया, यह खयाल बिल्कुल गलत है। एक अभगमें तुकारामजीने कहा है, 'सद्गुरुसेवन जो है वही अमृतपान है' और एक दूसरे अभगमें उन्होंने स्पष्ट ही कहा है—'गुरु-कृपाका ही बल था जो पाण्डुरङ्गने मेरा भार उठा लिया।'

(तुका म्हणे गुरु इमेचा आधार । पांडुरंगें भार घेतला माझा ॥) गुरुकी आज्ञा और तुकारामजीके मनकी पसन्द एक रूप हुई, ध्याननिष्ठा दृढ़ हुई, नाम-सङ्कीर्तन-साधन स्थिर हुआ। गुरुपदेश उन्हें स्वप्नमें मिला, इससे अन्य सन्तोंके समान उन्हें गुरुका सङ्ग-लाभ नहीं हुआ । ज्ञानेश्वरके सामने निवृत्तिनाथकी नामदेवके सामने विसोबा खेचरकी और एकनाथके सामने जनार्दनस्वामीकी मूर्ति अहोरात्र खड़ी रहा करती थी। गुरुके साथ सम्भाषण करनेका सुख इन सन्तोंने खूब लूटा। उनके दर्शन, स्पर्शन और पद सेवनका नित्य आनन्द प्राप्त करने और उनके शुद्ध स्वरूपको जाननेका परम मङ्गल अवसर इन्हें नित्य ही मिलता था। प्रतिक्षण उन्हें प्रतीति होती थी कि निर्गुण ब्रह्म ही गुरुरूपमें सगुण होकर आये हैं। तुकारामजीको गुरूपदेश स्वप्नमें मिला। उस समय गुरुने उनसे पावभर घी माँगा था; पर तुकारामजीको उसकी सुध न रही और आगे भी गुरु-सेवाका कोई अवसर नहीं मिला। गुरु भी पाण्डुरङ्गका ही ध्यान करनेको बताकर गुप्त हो गये। इसी कारणसे तुकारामजीके अभंगोंमें गुरु-वर्णन नहीं हुआ है और गुरुका नामोल्लेख भी दो ही चार बार हुआ है। गुरूपदेशके पश्चात् उन्होंने पाण्डुरङ्गका जो ध्यान किया उन्हें जो सगुण-साक्षात्कार और निर्गुण-बोध हुआ वह सब गुरुके उपदिष्ट मार्गपर चलनेसे ही हुआ, पाण्डुरङ्ग-स्वरूपमें ही गुरुस्वरूप मिल गया और गुरुकी आज्ञासे ही पाण्डुरङ्गकी सेवा की गयी, इस कारण पाण्डुरङ्गकी भक्तिमें ही गुरु भक्ति भी हो गयी। इसीलिये तुकारामजीके अभंगोंमें गुरुका नामोल्लेख बहुत कम हुआ है। तथापि जितनेमें एसे उल्लेख हैं उनसे यही निश्चित होता है कि तुकारामजीको स्वप्नमें बाबाजी चैतन्यने गुरूपदेश दिया । गुरूपदेश स्वप्नमें ही हुआ करता है। स्वरूप जागृति होनेपर उपदेशकी आवश्यकता नहीं रहती और मोह-निद्रामें जब जीव रहता है तब उसे उपदेशकी इच्छा ही नहीं होती; अर्थात् सुषुप्तावस्था और जाग्रदवस्था ये दोनों अवस्थाएँ गुरूपदेशके लिये

उपयुक्त नहीं। गुरूपदेश उसी मुमुक्षावस्थाके लिये है जब जीव न तो आत्मस्वरूपमें जाग रहा है न विषयोंकी मोह-निद्रामें सो रहा है, अर्थात् मध्यम स्वप्नकी अवस्थामें है।

९ गुरु-चैतन्यत्रयी

जिन बाबाजी चैतन्यने तुकारामजीको स्वप्नमें उपदेश दिया उनके विषयमें और भी कुछ ज्ञात होता तो अच्छा होता पर दुर्भाग्यवश ऐसी कोई बात नहीं ज्ञात होती। दो-चार कथाएँ उनके विषयमें प्रसिद्ध हैं पर उनमें परस्पर विरोध ही अधिक है। इसलिये ऐसे टूटे फूटे, अधूरे और परस्पर-विरोधी आधारपर तर्कसे चरित्रकी हवेली उठाना ठीक नहीं। सत-चरित्र कोई कपोल-कल्पित उपन्यास नहीं है, आधारके बिना यहाँ कोई बात नहीं कही जा सकती। माघ शुक्ला दशमीको तुकारामजीको गुरूपदेश मिला, इसलिये वारकरी-मण्डल इस तिथिको विशेष पवित्र मानता है और उस दिन स्थान स्थानमें भजन-पूजन-कीर्तनादिद्वारा उत्सव मनाया जाता है, यही एक बात प्रस्तुत प्रसङ्गमें निश्चित है। तुकारामजीके गुरु कौन थे, कहाँ रहते थे, वह समाधिस्थ कब हुए, उनकी पूर्व परम्परा क्या थी ? इत्यादिके बारेमें वारकरियोंको कुछ भी ज्ञात नहीं है और इस विषयमें कोई ग्रन्थ भी नहीं मिला है। स्वप्नमें थोड़ी देरके लिये गुरुके दर्शन हुए और उन्होंने उपदेश दिया, 'राघव चैतन्य केशव चैतन्य' कहकर पूर्व-परम्पराका सङ्केत किया और अपना नाम 'बाबाजी' बताया, तुकारामजीको 'राम कृष्ण हरी' मन्त्र दिया जो उन्हें प्रिय था और फिर अन्तर्धान हो गये। बस, इतना ही बाबाजी चैतन्यके विषयमें प्रमाण है, इसके अतिरिक्त और कोई विश्वसनीय बात नहीं ज्ञात होती। 'मानियेला स्वप्नीं गुरूचा उपदेश' (स्वप्नमें गुरुका उपदेश माना), तुकारामजीके इस कथनसे यह नहीं जान पड़ता कि उनके गुरु फिर कभी उनसे स्वप्नमें या जागतेमें मिले हों, अर्थात् तुकारामजीको गुरुसे इस उपदेशके बाद और भी कुछ मिला

यह नहीं कहा जा सकता। ऐसी अवस्थामें तुकारामजीके गुरुके विषयमें चरित्रकार भी और क्या लिख सकता है ! इसके सिवा अन्य बातोंपर स्वयं मेरा विश्वास नहीं है, वारकरियोंका भी विश्वास नहीं है तथा उनकी कोई आवश्यकता भी नहीं प्रतीत होती, यह स्पष्ट बतलाकर अब उन कथाओंको भी जरा देख लें जो बाबाजी चैतन्यके विषयमें प्रसिद्ध हुई हैं।

'चैतन्यकथाकल्पतरु' नामक एक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। यह ग्रन्थ निरञ्जन बुवा नामक किसी पुरुषने संवत् १८७४ (शाके १७३९) प्रमाथी नाम संवत्सरमें लिखा और कार्तिक शुद्ध एकादशीको लिखकर पूर्ण किया। इसमें राघव चैतन्य और केशव चैतन्यके विषयमें कुछ बातें हैं। ग्रन्थके अन्तमें यह कहा है कि यह ग्रन्थ एक प्राचीनतर ग्रन्थके आधारपर लिखा है; वह प्राचीनतर ग्रन्थ संवत् १७११ (शाके १५७६) में परम भक्त कृष्णदास वैरागीने लिखा।' इन कृष्णदास वैरागीका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है जिससे यह ग्रन्थ मिलाकर देखा जाय। अस्तु, निरञ्जन बुवाके इस ग्रन्थमें ६ अध्याय और ७६ ओवियाँ हैं। इसमें तुकारामजीकी गुरु-परम्परा इस प्रकार दी है—श्रीविष्णु—ब्रह्मदेव—नारद—व्यास—राघव चैतन्य—केशव चैतन्य उर्फ बाबाजी चैतन्य—तुकाजी चैतन्य। राघव चैतन्यको स्वयं वेदव्यासने उपदेश दिया। राघव चैतन्यने 'उत्तम नाम नगरमें माण्डवीपुष्पावतीके तीरपर' बहुत कालतक तप किया। 'हाथ पैरके नखोंकी नालियाँ बन गयीं; शरीरपर धूलके तह-के-तह जमा हो गये, जटा बढ़कर पृथ्वीको छूने लगी, शरीर सूख गया। ऐसा तीव्र तप देखकर श्रीवेदव्यास प्रकट हुए और उन्होंने उनके मस्तके हाथ 'नमो भगवते वासुदेवाय' मन्त्रका उपदेश दिया। उत्तम-नगरका आधुनिक नाम ओतुर है। यह गाँव पूना-जिलेमें जुन्नरसे चार कोसपर है। यहाँसे चार मीलपर पुष्पावती उर्फ कुसुमावती और कुकड़ीनदीका संगम है। राघव चैतन्यको ओतुर ग्राममें गुरूपदेश प्राप्त हुआ। उनका राघव चैतन्य नाम गुरुका ही

दिया हुआ था। गुरूपदेशके पश्चात् राघव चैतन्यने और भी तीव्र तप किया। कुछ काल पश्चात् वहाँ तृणामल्ल (तिनेवल्ली ?) के देशपाण्डे नृसिंह भट्टके द्वितीय पुत्र विश्वनाथबाबा उनसे मिले। नृसिंह भट्ट बड़े कर्मनिष्ठ ब्राह्मण थे। तृणामल्लका शिवालय यवनोंने भ्रष्ट किया तब नृसिंह भट्ट वहाँसे चलते बने और घूमते फिरते पुनवाडी (तत्कालीन पूना) पहुँचे। वहाँ वह अपनी सहधर्मिणी आनन्दीबाईके साथ सुखपूर्वक काल व्यतीत करने लगे। इनके तीन पुत्र हुए—त्र्यम्बक, विश्वनाथ और बापू। नृसिंह भट्टका जब देहान्त हुआ तब तीनों पुत्रोंमें कलह हो गया। विश्वनाथ 'उदासीन थे, त्रिकाल स्नान-सन्ध्या करते थे, धर्ममें बड़े उदार थे। पर घरका काम कुछ भी न देखते थे।' उनके दोनों भाइयोंने सलाह करके उन्हें घरसे निकाल दिया। विश्वनाथबाबाकी सहधर्मिणी गिरजाबाई भी अपने पतिके साथ हो लीं। पति पत्नी तीर्थयात्रा करते हुए ओतुर ग्राममें आये। दोनों ही विपत्तिके मारे भटक रहे थे। प्रारब्ध-बलसे वहाँ राघव चैतन्यसे उनकी भेंट हो गयी और राघव चैतन्यने उनपर कृपादृष्टि की। विश्वनाथ-बाबा ऋग्वेदी ब्राह्मण थे। संसारमें इन्होंने बहुत दुःख उठाया। भाइयोंने इन्हें घरसे निकाल दिया। स्त्रीने भी इन्हें दरिद्र पाकर कठोर वचन सुनानेमें कुछ कमी न की। 'सोहागके पूरे अलङ्कार भी इनके जुटाये न जुटे, कभी कोई अच्छी-सी साड़ीतक नहीं ला दी, आधी घड़ी भी कभी इनके साथ सुखसे नहीं बीता।' यही उसका रोना था। सुनते सुनते विश्वनाथबाबाके कान थक गये। राघव चैतन्यके दर्शन पाकर वह उनकी शरणमें गये। उस समय उनकी आयु २५ वर्ष थी। कुछ काल बाद इनके एक पुत्र हुआ। उसका नाम नृसिंह भट्ट रखा गया। 'स्त्रीके ऋणसे इस प्रकार उद्धार हुआ और चित्त भी शुद्ध हो गया' तब विश्वनाथबाबाने गुरुसे सन्यास-दीक्षा माँगी। गुरुने उन्हें सन्यास दिया और उनका नाम केशव चैतन्य रखा। गुरु और शिष्य दोनों ही ओतुर ग्रामसे कुछ दूर एक वनमें

जा बसे और वहाँ ब्रह्मानन्द भोगने लगे। कुछ काल बाद दोनों ही तीर्थ-यात्राके लिये निकले। नासिक, त्र्यम्बकेश्वर, द्वारका, प्रयाग, काशी जगन्नाथ आदि क्षेत्रोंकी यात्रा करते हुए कलबुर्गा पहुँचे। यहाँ अपनी अतिवृष्टिसे त्रस्त होकर वे एक मसजिदमें पहुँचे। वहाँ मौलवीके एक शीशके आलेमें उन्होंने अपनी खड़ाऊँ रखीं, उस मसजिदके मुल्लाने आकर जब देखा कि खड़ाऊँ आलेमें रखी हैं तब उन यतियोंपर बेतरह बिगड़ा। उसने शहरके काजीसे इसकी फरियाद की। बात निजामशाहके कानोंतक पहुँची और उस गाँवके छोटे-बड़े सभी मुसलमानोंके आग लग गयी। और जहाँ-तहाँ बिना कारण ब्राह्मणोंपर अत्याचार होने लगे। स्वयं निजाम मसजिदमें पहुँचे। कहते हैं, उस अवसरपर उन दो यतियोंने कोई सङ्केत किया जिसके करते ही मसजिद जो उड़ी सो वहाँसे आप भीमापर जाकर ठहरी। यह चमत्कार देखकर निजाम चकित हुए और यह विश्वास हुआ कि ये दोनों फकीर कोई बड़े पीर हैं तत्काल ही दोनों यति अन्तर्धान हो गये। निजाम उनसे मिलनेके लिये बहुत व्याकुल हुए। आनन्दगुङ्कोटी नामक स्थानमें निजामको उनके दर्शन हुए। निजामने अभय-दान माँगा। यतियोंने उन्हें अभयवचन दिया। निजामने इन यतियोंके सम्मानार्थ उस मसजिदमें दो स्मारक बनवाये और उनपर राघवराज और केशवराज नाम खुदवाये। राघव चैतन्य इस घटनाके कुछ काल बाद ही [illegible] छूटनेकी इच्छा करते हुए समाधिस्थ हुए। उन्होंने अपने शिष्यको ओतुर जानेकी आज्ञा दी। राघव चैतन्यकी समाधि आनन्दगुङ्कोटीमें है। वहाँसे तीन कोसपर आम्हाळ नामक ग्राममें केशव चैतन्यने अपने लिये एक मठ बनवाया और कुछ कालतक इस मठमें रहे। यहाँ रहते हुए वह बार-बार गुरु-समाधिके दर्शनोंके लिये आनन्दगुङ्कोटी जाया करते थे। राघव चैतन्य बड़े रूपवान् पुरुष थे। उनके दिव्य रूपका कविने वर्णन किया है कि व्याघ्रके

समान सुन्दर मुख था, उसपर हेमवर्ण जटा सोहती थी, सर्वाङ्गमें भस्म रमाये रहते थे, बड़ी ही सुन्दर दिगम्बर मूर्ति थी।' केशव चैतन्य पीछे वहाँसे ओतुर चले गये। उनके शिष्योंने मान्यहाल ग्राममें उनकी पादुका स्थापित की। यही केशव चैतन्य तुकोबारायके गुरु थे। बाबाजी इनका पूर्वाश्रमका नाम था। इस ग्रन्थके तीसरे अध्यायके अन्तमें कहा है, 'सब लोग इन्हें केशव चैतन्य कहते हैं, भावुक बाबा चैतन्य कहते हैं, दोनों नाम एक ही हैं जो अति आदरके साथ लिये जाते हैं।' अन्तिम अध्यायमें पुन. यह उल्लेख है कि 'पूर्वाश्रममें बाबा भी कहते थे।' पहले तीन अध्यायोंमें यह विवरण है। इसके बाद चौथे और पाँचवें अध्यायमे केशव चैतन्यके चरित्रकी कुछ बातें कहकर छठेमें तुकारामजीको गुरूपदेश प्राप्त होनेकी बात उनके अल्प चरित्रके साथ कही गयी है। केशव चैतन्यके पुत्र नृसिंह भट्ट और नृसिंह भट्टके पुत्र केशव भट्ट हुए। केशव चैतन्यने केशव भट्टपर अनुग्रह किया और जगदुद्धारके लिये अनेक चमत्कार भी दिखाये। केशव चैतन्यने सवत् १६२८ (शाके १४९३) प्रजापतिनाम सवत्सरमें ज्येष्ठ कृष्ण द्वादशीको ओतुर ग्राममें समाधि ली। समाधि लेनेके पश्चात् भी उन्होंने अनेक चमत्कार किये। अपने पूर्वाश्रमके पोते केशव भट्टको सम्पूर्ण भागवत सुनायी। समाधि लेनेके पश्चात् ही वह काशीमें प्रकट हुए और एक ब्राह्मणपर कृपा की। इसी प्रकार कई वर्ष बाद तुकारामजीको स्वप्न देकर उन्होंने गुरूपदेश दिया। निरञ्जन बुवाने राघव चैतन्य और केशव चैतन्यके बारेमें जो कुछ लिखा है यहाँतक उसीका साराश हमने बताया है। इसके सत्यासत्यकी जाँचका और कोई साधन अबतक उपलब्ध नहीं हुआ है। कृष्णदास वैरागीके जिस ग्रन्थके आधारपर निरञ्जन बुआने अपना ग्रन्थ लिखा, वह ग्रन्थ सवत् १७३१ में लिखा होनेसे अर्थात् तुकाराम महाराजके प्रयाणके पचीस वर्ष बादका ही लिखा हुआ होनेसे बहुत कुछ प्रमाणभूत हो सकता था। पर वह आज उपलब्ध

जा बसे और वहाँ ब्रह्मानन्द भोगने लगे । कुछ काल बाद दोनों ही तीर्थ-यात्राके लिये निकले । नासिक, त्र्यम्बकेश्वर द्वारका प्रयाग, काशी, जगन्नाथ आदि क्षेत्रोंकी यात्रा करते हुए कल्बुर्गा पहुँचे । यहाँ आपकी भक्तिरससे मस्त होकर वे एक मसजिदमें पहुँचे । वहाँ भीतके एक बीचके आलेमें उन्होंने अपनी खड़ाऊँ रखी उस मसजिदके मुल्लाने आकर जब देखा कि खड़ाऊँ आलेमें रखी हैं तब उन यतियोंपर बेतरह बिगड़ा । उसने शहरके काजीसे इसकी फरियाद की । बात निजामशाहके कानोंतक पहुँची और उस गाँवके छोटे-बड़े सभी मुसलमानोंकी भीड़ लग गयी । और जहाँ-तहाँ बिना कारण ब्राह्मणोंपर अत्याचार होने लगे । स्वयं निजाम मसजिदमें पहुँचे । कहते हैं, उस अवसरपर उन दो यतियोंने कोई संकेत किया जिसके करते ही मसजिद जो उड़ी सो वहाँसे आध मीलपर जाकर ठहरी । यह चमत्कार देखकर निजाम चकित हुए और यह विश्वास हुआ कि ये दोनों फकीर कोई बड़े पीर हैं तत्काल ही दोनों यति अन्तर्धान हो गये । निजाम उनसे मिलनेके लिये बहुत व्याकुल हुए । आलन्दगुञ्जोटी नामक स्थानमें निजामको उनके दर्शन हुए । निजामने अभय-दान माँगा । यतियोंने उन्हें अभयवचन दिया । निजामने इन यतियोंके सम्मानार्थ उस मसजिदमें दो स्मारक बनवाये और उनपर राघवदरगाह और केशवदरगाह नाम खुदवाये । राघव चैतन्य इस घटनाके कुछ काल बाद ही देहोपाधिसे छूटनेकी इच्छा करते हुए समाधिस्थ हुए । उन्होंने अपने शिष्यको ओतुर जानेकी आज्ञा दी । राघव चैतन्यकी समाधि आलन्दगुञ्जोटीमें है । वहाँसे तीन कोसपर मान्यहाल नामक ग्राममें केशव चैतन्यने अपने लिये एक मठ बनवाया और कुछ कालतक इस मठमें रहे । यहाँ रहते हुए ये बार-बार गुरु-समाधिके दर्शनोंके लिये आलन्दगुञ्जोटी जाया करते थे । राघव चैतन्य बड़े रूपवान् पुरुष थे । उनके दिव्य रूपका कविने वर्णन किया है कि 'चन्द्रके

समान सुन्दर मुख था, उसपर हेमवर्ण जटा सोहती थी, सर्वाङ्गमें भस्म रमाये रहते थे, बड़ी ही सुन्दर दिगम्बर मूर्ति थी ।' केशव चैतन्य पीछे वहाँसे ओतुर चले गये। उनके शिष्योंने मान्यहाल ग्राममें उनकी पादुका स्थापित की। यही केशव चैतन्य तुकोबारायके गुरु थे । बाबाजी इनका पूर्वाश्रमका नाम था। इस ग्रन्थके तीसरे अध्यायके अन्तमें कहा है, 'सब लोग इन्हें केशव चैतन्य कहते हैं, भावुक बाबा चैतन्य कहते हैं, दोनों नाम एक ही हैं जो अति आदरके साथ लिये जाते हैं।' अन्तिम अध्यायमें पुन. यह उल्लेख है कि 'पूर्वाश्रममें बाबा भी कहते थे।' पहले तीन अध्यायोंमें यह विवरण है । इसके बाद चौथे और पॉचवें अध्यायमे केशव चैतन्यके चरित्रकी कुछ बातें कहकर छठेमें तुकारामजीको गुरूपदेश प्राप्त होनेकी बात उनके अल्प चरित्रके साथ कही गयी है । केशव चैतन्यके पुत्र नृसिंह भट्ट और नृसिंह भट्टके पुत्र केशव भट्ट हुए। केशव चैतन्यने केशव भट्टपर अनुग्रह किया और जगदुद्धारके लिये अनेक चमत्कार भी दिखाये। केशव चैतन्यने सवत् १६२८ (शाके १४९३) प्रजापतिनाम सवत्सरमें ज्येष्ठ कृष्ण द्वादशीको ओतुर ग्राममें समाधि ली। समाधि लेनेके पश्चात् भी उन्होंने अनेक चमत्कार किये। अपने पूर्वाश्रमके पोते केशव भट्टको सम्पूर्ण भागवत सुनायी । समाधि लेनेके पश्चात् ही वह काशीमें प्रकट हुए और एक ब्राह्मणपर कृपा की । इसी प्रकार कई वर्ष बाद तुकारामजीको स्वप्न देकर उन्होंने गुरूपदेश दिया । निरञ्जन बुवाने राघव चैतन्य और केशव चैतन्यके बारेमें जो कुछ लिखा है यहाँतक उसीका साराश हमने बताया है। इसके सत्यासत्यकी जॉचका और कोई साधन अबतक उपलब्ध नहीं हुआ है। कृष्णदास वैरागीके जिस ग्रन्थके आधारपर निरञ्जन बुआने अपना ग्रन्थ लिखा, वह ग्रन्थ सवत् १७३१ में लिखा होनेसे अर्थात् तुकाराम महाराजके प्रयाणके पचीस वर्ष बादका ही लिखा हुआ होनेसे बहुत कुछ प्रमाणभूत हो सकता था। पर वह आज उपलब्ध

न होनेसे 'चैतन्यविभवकल्पतरु' ग्रन्थकी कौन-सी बात कृष्णराव लिख गये हैं और कौन-सी बात निरञ्जन बुवा किसी अन्य आधारपर कह रहे हैं यह जाननेका इस समय कोई साधन नहीं है।

श्रीराघव चैतन्य सिद्ध पुरुष थे और श्रीकृष्णके परम भक्त थे। इसमें सन्देह नहीं। हमारे गोभान्तवत्सल मित्र श्रीविठ्ठलराव कामतने उनका अत्यन्त मधुर श्लोक दस वर्ष पहले हमारे पास भेजा था—

पुञ्जीभूतं प्रेम गोपाङ्गनानां
मूर्तीभूतं भागधेयं यदूनाम् ।
एकीभूतं गुप्तवित्तं श्रुतीनां
श्यामीभूतं ब्रह्म मे सन्निधत्ताम् ॥

गोपियोंके पुञ्जीभूत प्रेम, यादवोंके मूर्तिमान् भाग्य, श्रुतियोंके एकत्र घनीभूत गुप्त धन ऐसे जो मेरे साँवरे ब्रह्म हैं वह निरन्तर मेरे समीप रहें।

राघव चैतन्यकी और भी कुछ कवितायें हैं ऐसा सुना है। राघव चैतन्यका एक पद मुझे भक्तिगाथाकी गाथामें मिला। उसका आशय यह है कि विषयोंके लोभसे मन भटक रहा है, पर पुनः, कामनामें ही इस मन बैठा है। पर अब इसका दुःख मुझसे नहीं सहा जाता इसलिये हे कमलापति हरि! आपसे विनय करता हूँ। हे दीनानाथ, दीनबन्धु! आपकी शरणमें हूँ। इस भवसागरको पार करनेका कोई उपाय नहीं सोझता। साधु-सन्त या साधु-सेवा मुझसे कुछ भी न बन पड़ी, विस्तारर व्यापारके ही प्रवाहमें पड़ता रहा हूँ। अब इसमेंसे हे भगवान्! मुझे उबारो। हे दीननाथ! दीनबन्धु! मैं आपकी शरणमें हूँ। मुझे चित्त-शुद्धिका पथ दिखाओ, वेद-शास्त्र-पुराणोंकी गति सुझाओ, निरन्तर नवविधा भक्तिमें लगाओ इसीमें आपकी भी शोभा है। हे दीनानाथ! दीनबन्धु! मैं आपकी शरणमें हूँ।

१० बंगालके चैतन्य-सम्प्रदायसे सम्बन्ध नहीं

कुछ लोग बगालके श्रीकृष्णचैतन्य-सम्प्रदायके साथ श्रीतुकारामजीका सम्बन्ध जोड़ते हैं, परन्तु यह मान्यता ठीक नहीं जान पड़ती । बगालमें श्रीकृष्ण चैतन्य या गौराङ्ग प्रभु पद्रहवीं शताब्दीमें विख्यात श्रीकृष्ण-भक्त हुए । बगालभरमें उन्होंने श्रीकृष्ण-भक्तिका प्रचार किया और आज भी बंगालमें श्रीकृष्णका नाम जो इतना प्यारा है वह उन्हींके प्रभावका फल है । श्रीचैतन्य महाप्रभुका अत्यन्त प्रेम-रसभरित चरित्र अग्रेजी भाषामें स्वर्गीय शिशिरकुमार घोषने लिखा है । अग्रेजी जाननेवाले पाठक उसे अवश्य पढ़ें । उस ग्रन्थके २६२ वें पृष्ठपर (सन् १८९८ ई० का सस्करण) शिशिर बाबू लिखते हैं—'पूनाके सत तुकाराम गौराङ्ग प्रभुके अथवा उनके शिष्यके शिष्य थे, यह बतलानेकी कोई आवश्यकता नहीं अर्थात् यह बात स्पष्ट ही है ।' इस बातके समर्थनमें उन्होंने ये बातें लिखी हैं कि गौराङ्ग प्रभु पण्ढरपुर होकर गये थे, पण्ढरपुरमें तुकारामजी रहते थे, गौराङ्ग प्रभु स्वप्नमें उपदेश दिया करते थे, इत्यादि । इन बातोंसे कुछ लोगोंकी यह धारणा हो गयी है कि स्वय गौराङ्ग प्रभु अथवा उनके किसी शिष्यसे तुकारामजीने उपदेश ग्रहण किया था । परन्तु बगालके चैतन्य-सम्प्रदायके साथ तुकारामजीका कुछ भी सम्बन्ध नहीं दीख पड़ता । तुकारामजीका जिस समय जन्म हुआ उस समय कृष्ण चैतन्यको समाधिस्थ हुए ७१ वर्ष बीत चुके थे । चैतन्य प्रभुका समय सवत् १५४२–१५९०है, इसके ७५ वर्ष बाद तुकाजीका जन्म हुआ । कृष्ण चैतन्य ही बाबा चैतन्य होकर तुकारामजीको स्वप्नमें उपदेश दे गये, ऐसा कहें तो कृष्ण चैतन्यकी पूर्वपरम्परा वही होगी । जो बाबाजी चैतन्य तुकारामजीसे कह गये अर्थात् राघव चैतन्य और केशव चैतन्य । पर यह बात किसीको स्वीकार न होगी । इसलिये यह बात भी नहीं मानी जा सकती कि श्रीचैतन्य

तुकारामजीके गुरु थे। अब यदि कोई यह कहे कि राघव चैत
कृष्ण चैतन्यके शिष्य थे तो श्रीकृष्ण चैतन्यके प्रसिद्ध शिष्योंमें
चैतन्य नामके कोई भी शिष्य नहीं हैं और इस बातका कहीं कोई
नहीं है कि राघव चैतन्यके गुरु कृष्ण चैतन्य थे। इसलिये कृष्ण
अथवा उनके कोई शिष्य तुकारामजीके गुरु थे, यह बात प्रमाणित
होती। फिर दूसरी बात यह है कि बंगाल-उत्कलमें श्रीकृष्ण चैत
जो सम्प्रदाय है वह मध्वाचार्यके द्वैत-सम्प्रदायसे निकला है। इस सम्प्र
राधा-कृष्णकी भक्ति प्रधान है। तुकारामजीकी उपासनामें अथवा यह
कि महाराष्ट्रके किसी भी भक्तकी उपासनामें राधाकी विशेष महिमा नहीं
तुकारामजीका भक्तिमार्ग भी द्वैत नहीं, अद्वैत है। तुकारामजीके अभं
अद्वैत-सिद्धान्त स्पष्ट ही है। इसलिये किसी भी द्वैत-सम्प्रदायके
तुकारामजीका नाता नहीं जोड़ा जा सकता। चैतन्य-सम्प्रदाय और म
राष्ट्रीय भागवत-सम्प्रदाय दोनों ही कृष्ण-भक्तिके सम्प्रदाय हैं सही,
चैतन्य-सम्प्रदायकी कोई भी विशिष्टता तुकारामजीके अभंगोंमें नहीं
और महाराष्ट्रीय भागवत-धर्मके प्रवर्तक ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथा
कृष्ण-भक्तोंके आचार-विचारोंसे रत्तीभर भी भिन्नता तुकारामजीके चरि
और अभंगोंमें नहीं है। फिर ऐसी कौन-सी बात है जिससे यह कहा
सके कि उनके चित्तपर जो संस्कार थे वे महाराष्ट्रके नहीं महाराष्ट्र
बाहरके थे। ऐसी निराधार बात कहनेमें हेतु भी क्या हो सकता है
बंगालके श्रीकृष्ण चैतन्यके प्रति हमारा पूर्ण प्रेम और आदर है पर य
भी स्पष्ट कहना देना आवश्यक है कि चैतन्य-सम्प्रदायके साथ उनका
कुछ भी लगाव मानना सर्वथा निराधार है। कृष्ण भक्तिके वैष्णव-सम्प्रदाय
भारतवर्षमें अनेक हैं पर प्रत्येक सम्प्रदायकी अपनी कोई-न-कोई विशिष्टता
है। पण्ढरपुरके वैष्णव-सम्प्रदायकी भी कुछ विशिष्टता है। यह विशिष्टता
पहले ज्ञानेश्वरीमें प्रकट हुई और उसी कसौटीपर नामदेव एकनाथ,

तुकाराम आदि सभी संत चले हैं। इन सबकी सब बातोंमें एक मति है। महाराष्ट्रीय स्वभावमें जो एक प्रकारकी दृढता है, एक प्रकारका ऐसा अपमान है कि अपना छोड़ना नहीं और दूसरेका सहसा लेना नहीं, और तुकारामजीके स्वभावमें भी मराठोंकी जो लगन और तेजी है उसको देखते हुए भी बंगालके चैतन्य-सम्प्रदायके साथ तुकारामजीका कुछ भी मेल नहीं बैठता।

११ कवित्व-स्फूर्ति

तुकारामजीने आत्मचरितके अभंगोंमें यह कहा है कि स्वप्नमें गुरूपदेश होनेके पश्चात् ही मुझे कवित्व-स्फूर्ति हुई, यह पाठकोंको स्मरण होगा। तुकारामजीकी इस उक्तिसे ही यह स्पष्ट है कि गुरूपदेशके पूर्व उन्होंने कोई कविता नहीं की। यह कवित्व-स्फूर्ति उन्हें नामदेवकी प्रेरणासे हुई। व्युत्पत्तिके बलपर कविता करनेवाले कवि बहुत होते हैं, पर प्रसादगुण दैवी स्फूर्तिके बिना नहीं उत्पन्न होता। तुकारामजीको कवित्व-स्फूर्ति कैसे हुई, इस विषयमें उनके दो अभंग हैं। एकमें तुकाराम कहते हैं कि 'नामदेव पाण्डुरङ्गके साथ स्वप्नमें आये और यह काम बता गये कि कविता करो, वाणी व्यर्थ व्यय न करो, तुले हुए शब्दोंमे कविता किये चलो, तुम्हारा अभिमान श्रीविट्ठलनाथने ओढ लिया है। यह कहकर उन्होंने मुझे सावधान किया। नामदेवने शतकोटि अभंगोंकी संख्या पूर्ण करनेको कहा, जो अभंग उन्होंने रचे थे उनसे जो बाकी रहे वे मैंने पूरे किये।' दूसरे अभंगमें तुकारामजीने भगवान्से प्रार्थना की है कि 'हे भगवन्! आप मुझे अपनी शरणमें लेंगे तो मैं आपके सङ्ग, संतोंकी पंक्तिमें आपके चरणोंके पास रहूँगा। कामनाका ठाँव छोड़कर आया हूँ, अब मुझे उदास मत करो। आपके चरणोंमें सबके अखीरमें भी मुझे स्थान मिले तो भी सन्तोष है। मेरी चित्तवृत्ति अभी मलिन है। आपका आधार

हैं कि 'भगवान् मुझे अपने चरणोंमें शरण दें और मै ज्ञानदेव, नामदेव, एकनाथ, कबीर आदि महात्माओंका सत्सङ्ग लाभ करूँ, उनके अनुभवोंको अनुभव करूँ, उन्हींके साथ रहूँ चाहे उनकी पङ्क्तिमें मुझे सबके बाद ही स्थान मिले, क्योंकि वे पुण्यपुञ्ज सिद्ध महात्मा हैं और मेरी चित्तवृत्ति अभी मलिन है। पर भगवन् ! आपका और इन संतोंका आश्रय मिलनेसे मेरी मति शुद्ध हो जायगी और मैं आपके निजरूपमें समरस होकर परमानन्द प्राप्त करूँगा।' स्वप्नमें भगवान् मिले, इसके लिये तुकाराम नामदेवके कृतज्ञ हैं, कहते हैं कि नामदेवकी ही यह कृपा है जो स्वप्नमें भगवान् मिले। स्वप्नसे जागनेपर तुकारामजीने इस स्वप्नको अन्य स्वप्नोंके सदृश मिथ्या नहीं माना। वह सत्य-स्वप्न था, भगवान् और भक्तके मिलनकी वह एक विशेष अवस्था थी और तुकारामजीने यह अनुभव किया कि उस मिलन और भगवत्कृपाका आनन्द स्वप्नके बाद भी हृदयमें भरा हुआ है। तुकारामजीने यह जाना कि सचमुच ही भगवान्का मुझपर अनुग्रह हुआ है!

अपने हाथसे लिखे ! यह जो कुछ हो, इस समय हमारे लिये तो तुकाराम महाराजके साढ़े पाँच हजार ही अभंग बचे हैं।

परम धर्म्य है' (ज्ञानेश्वरी अ० ९। ५५) तो सब जीव उसीपर क्यों नहीं टूट पड़ते ! कौड़ी-कौड़ीके लिये जो लोग रात दिन मरा करते हैं वे अनायास मिलनेवाले इस परम सुखके पीछे क्यों नहीं पड़ते ! उससे किनारा काटकर संसार दुःखसागर है, भवनदी दुस्तर है, मायामोह दुर्घट है, विषय-वासना बड़ी कठिन है, इत्यादि रोना नित्य रोते हुए भी ये लोग संसारमें ही क्यों अटके रहते हैं ! अपना सहजसिद्ध अमरपद छोड़कर ये जन्म-मृत्युके नामको क्यों रोया करते हैं ! उन्हें मोक्ष दुर्लभ और परमार्थ दुर्गम क्यों जान पड़ता है ? जप-तप-ध्यानादि नानाविध साधनोंके कष्ट क्यों उठाते हैं ? निजका स्वानन्द-साम्राज्य छोड़ विषयकी नकली चमकवाले काँचके टुकड़े बटोरनेवाले कंगाल बने क्यों फिरते हैं !

सत्पुरुषोंको यही तो बड़ा अचरज लगता है। जीव जो ऐसी उलटी बोली बोलते हैं, उसे सुनकर उन्हें बड़ी हँसी आती है। मृत्युलोककी यह उलटी रहन-सहन देखकर वे विस्मित होते हैं। वे यह कहते हैं, 'यह भाषा छोड़ दो' इसे उलटकर बोलो, उलटकर देखो। इस समझको छोड़ो कि मैं जीव हूँ, सांसारिक हूँ, दुखी हूँ, और यह कहो कि मैं ब्रह्म हूँ, मैं मुक्त हूँ, मैं सुखी हूँ, तो तुम सचमुच ही ब्रह्म, मुक्त और सुखी हो। चाभीको दाहिने घुमा रहे हो सो बायें घुमाओ तो ताला खुल जायगा। जिधर जा रहे हो उधर पीठ फेर दो, आगे न देख पीछे देखो, बाहरकी ओर आँख लगाये हो सो अंदरकी ओर लगाओ, प्रवाह छोड़ उद्गमकी ओर मुड़ो तो सचमुच ही तुम मुक्त हो, सुखी हो, ब्रह्मस्वरूप हो। इसमें कठिनाई ही क्या है ? यही तो परमार्थ है। जीव अपने संकल्पसे ही बँधा है, संकल्पसे ही मुक्त है। मैं बद्ध जीव हूँ, यही रोना रो रहे हो, इसीसे जन्म-मरण, पाप-पुण्य, विधि निषेध और बन्ध-मोक्षके चक्करमें पड़े हो, पर पैरोंको छुड़ाकर नलिका-यन्त्रसे उड़ जानेवाले तोतेकी तरह यह जीव

यदि अहं और मम दोनों संकल्प छोड़ दे तो वह उसी क्षण मुक्त ही है। कौन किसको बाँधता है, कौन किसको छुड़ाता है! यह सब संकल्पकी माया है। मन जैसा संकल्प करता है, वैसा ही चित्र उसपर खिंच जाता है। संकल्प, कल्पना, संस्कार, वासना, वृत्ति, मन, माया—ये सारे एक रूप हैं। जिस संकल्पसे जीव बँधा है उसके छूटते ही जीव मुक्त है। अहं और ममकी दो रस्सियोंसे यह बँधा है, इन रस्सियोंके कटते ही जीव स्वभावतः ही मुक्त है। संकल्पके सारके कटते ही जीवका आवरण कट जाता है और यही उसका छूटना होता है। कल्पनासे ही बन्धन होता है और कल्पनासे ही मोक्ष होता है और जीव ज्यों-का-त्यों बन्धमोक्षरहित निर्विकल्प निरञ्जन आनन्दस्वरूप रहता है ही। परन्तु—

> अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप।
> अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥
>
> (गीता ९।३)

जीवकी ऐसी श्रद्धा हो तो तत्क्षण ही मुक्त है। पर जीवकी ऐसी श्रद्धा सहसा नहीं होती इसीलिये परमार्थके लिये उसे इतना प्रयत्न करना पड़ता है, अनेक साधन करने पड़ते हैं अनेक कष्ट उठाने पड़ते हैं।

२ चिरञ्जीव पद

यह ग्रन्थ तुकारामजीने सैकड़ों बार पढ़ा, सुना और कहा भी था। वह अपने निश्चित साधन मार्गपर चल ही रहे थे। पण्ढरीकी वारी, एकादशी व्रत, कथा-कीर्तन भजन, सद्ग्रन्थ-पाठ इत्यादि वह नियमपूर्वक करते थे। गुरुका प्रसाद उन्हें मिल चुका था। नामदेवरायने सामने उन्हें दर्शन दिये और कवित्वकी स्फूर्ति प्रदान की तबसे कीर्तन करते हुए तथा अन्य अवसरोंपर भी उनके मुखसे अभंग धाराप्रवाह निकलते ही रहते थे। श्रोता गद्गद होकर उन्हें धन्यवाद देते थे। चारों

दिशाओंमें उनकी कीर्ति फैल रही थी। बहुत लोग उन्हें संत कहकर पूजने लगे थे, उनके चरणोंमें मस्तक रखकर कोई उनके वक्तृत्वकी, कोई कवित्वकी और कोई उनके साधुत्वकी भूरि-भूरि प्रशंसा किया करते थे। इस प्रकार उनकी प्रतिष्ठा बढ़ती ही जा रही थी, उस समय उनकी २७-२८ वर्षकी आयु रही होगी। इस वयमें इतनी लोकमान्यता विरलको ही नसीब होती है। परन्तु अधकच्चरे पारमार्थिक इतनेसे ही सन्तुष्ट होकर गुरु बन जाते और शिष्य बनानेकी दूकान खोल देते हैं, गुरुपनेके आड़ स्वरपर चढ़ते हैं और अन्तमें बुरी तरहसे नीचे गिरते हैं। ऐसे उदाहरण हमारे-आपके सामने भी बहुत हैं। चार-पाँच वर्ष साधन किया, स्वप्नमें दो-चार दृष्टान्त मिल गये, साक्षात्कारकी झलक-सी मिल गयी, बस हो गये कृतकृत्य! सीधे-सादे, भोले-भाले, आस-पास, जमा होने लगे, स्तुति-स्तोत्र गाने लगे। बस, गुरुजी जम गये और ऋद्धि-सिद्धिका जरा सा चमत्कार देखकर उसीमें अटक गये, जिस रास्तेसे ऊपर चढ़े थे वह रास्ता भी भूल गये, होते-होते जितना ऊपर चढ़े थे उससे दूना नीचे जा गिरे। ऐसी विडम्बनाएँ अनेक हुआ करती हैं। जिसका परमार्थ साधन दम्भसे ही आरम्भ होता है उनकी बात छोड़ दीजिये, पर जो शुद्ध अन्तःकरणसे परमार्थ साधनेकी चेष्टा करते हैं उनमेंसे भी कितने ही इसी तरह घबराकर नीचे जा गिरते हैं। ऐसे लोगोंके लिये एकनाथ महाराजने 'चिरञ्जीव पद'के नामसे ४२ ओवियोंका एक फड़कता हुआ प्रकरण लिखा है। साधकोंके सावधान रहनेके लिये वह बड़ा ही उपकारक है। इसमें एकनाथ महाराजने यह बतलाया है कि विषय केवल सांसारिकोंका ही नाश नहीं करते, प्रत्युत साधकको भी अनेक प्रकारसे धोखा देते हैं। साधकके लिये सबसे पहले यह आवश्यक है कि उसे अनुताप और वैराग्य हुआ हो। वह देहसुखसे यदि ललचायेगा तो उसके परमार्थकी जड़ ही कट जायगी।

त्याग केला पूज्यते कारणें । सत्संग सोडूनि पूजा घेणें ।
शिष्यममता करोनि राहणें । हें वैराग्य राजस ॥

अर्थात् पूज्य होनेके लिये जो त्याग किया जाता है सत्संग छोड़कर जो पूजा की जाती है और शिष्योंकी ममता जो नहीं छूटती, वह राजस वैराग्य है । यह वैराग्य परमार्थको दुबानेवाला होता है । घर छोड़ा और मठ बनवाया स्त्री-पुत्र छोड़े और शिष्य बटोरे तो इससे क्या बना ! विषय-भोगेच्छा जिस वैराग्यसे निर्मूल हो और प्रारब्धकी गतिसे जो भोग प्राप्त हों उनमेंसे भी मनको निर्भय अथवा निष्काम छोड़ते बने, ऐसा सात्त्विक वैराग्य ही साधकके लिये आवश्यक है । विषय-भोग और लौकिक प्रतिष्ठाका साधक सर्वथा त्याग करे । शब्द स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँचों विषय किस प्रकार साधकको ठगते हैं यह देखिये । जब लोग किसीमें जरा-सा भी वैराग्य देख पाते हैं तब वे उसकी स्तुति करने और उसे पूजने लगते हैं । कभी-कभी तो यहाँतक कहने लगते हैं कि यह भगवान्के अवतार हमें तारनेके लिये आये हैं । 'महाराज' कहकर उसे सम्बोधन करते हैं । अपने ये गीत साधकको प्यारे लगते हैं, दूसरी बातें अब उसे अच्छी नहीं लगतीं । पर यह मजेकी बात यह है कि ये ही लोग पीछे उसकी निन्दा भी करने लगते हैं । पर वह स्तुतिके ही शब्दोंमें भूला रहता है और साधनसे हाथ धो बैठता है । शब्द इस प्रकार साधकको नष्ट करता है । इसके आसपास इकट्ठे होनेवाले 'भक्त' इसे बैठनेके लिये उत्तम आसन देते हैं सोनेके लिये पलंग ला देते हैं, पहननेके लिये उत्तम-से-उत्तम वस्त्र अर्पण करते हैं देवी-देवताओंके योग्य इन्हें भोग लगाते हैं नर-नारी सेवा शुश्रूषा करते हैं, हाथ पैर, सिर दबाते हैं उस मृदुस्पर्शमें यह अटक जाता है, फिर उसे देहकष्ट कठिन जान पड़ते हैं । इस प्रकार स्पर्शविषय साधककी साधनामें बाधक होता है । इसी प्रकार

लोग साधकको मेवा, मिठाई, उत्तमोत्तम पक्वान्न खिलाते हैं, उसकी जिस चीजपर इच्छा चलती है वही वे ला देते हैं, गलेमें फूलोंके हार पहनाते हैं, भालमें केसर-कस्तूरीकी खौर और चन्दनका लेप लगाते हैं, मधुर गायन सुनाते हैं इत्यादि प्रकारसे रूप, रस, गन्ध भी उसे धोखा देते हैं। और साधक सावधान न होनेसे इन 'भक्तों'की ममतामें फँसता है। कोमल काँटेके समान इसका कोमल वैराग्य ऐसी सगतसे टूटकर नष्ट हो जाता है। यह लोक-प्रतिष्ठाके पीछे पड़ता है। इस प्रकारसे सहस्रों साधक अपनी हानि कर बैठते हैं। इस प्रकार गिरे हुए साधक फिर ऊपर नहीं उठ सकते। हाँ, 'जरी कृपा उपजेल भगवंतीं। तरीच मागुता होय विरक्त ॥' 'यदि भगवान्‌की दया आ जाय तो ही वह फिरसे विरक्त हो सकता है।' सच्चा विरक्त कैसा होता है? एक नाथ महाराज उसके लक्षण बतलाते हैं—

'... 'जो स्थान प्रिय होता है उसे वह त्याग देता है। सत्सङ्गमें सदा स्थिर रहता है, प्रतिष्ठा पानेके लिये कभी बेचैन नहीं होता, अपना कोई नया पन्थ नहीं चलाता, वह समझता है कि उससे अहता बढ़ेगी, जीविकाके लिये वह किसीकी ठकुरसुहाती नहीं करता। प्रापञ्चिक लोगोंमे बैठना, व्यर्थ बातचीत करना, अपना बड़प्पन दिखाना, अच्छा खाना यह सब उसे पसन्द नहीं होता। वह लोकप्रियता नहीं चाहता, वस्त्रालङ्कार नहीं चाहता, परान्नका स्वाद नहीं चाहता, द्रव्य जोड़ना नहीं चाहता। स्त्रियोंमें बैठना या स्त्रियोंको देखना या स्त्रियोंसे पैर दबवाना या उनका बोलना उसे पसन्द नहीं। अपनी स्त्रीसे भी मतलबभरका ही वास्ता रखना चाहिये, आसक्त होकर चित्तको कदापि उसमें लगाये न रहना चाहिये। नर नारी शुश्रूषा करते हैं, भक्तिममता उपजाते हैं, पर जो शुद्ध पारमार्थिक है वह स्त्रियोंकी सोहबत कभी नहीं करता। अखण्ड एकान्तमें रहना चाहिये, प्रमदाके साथ तो कभी नहीं; जो निःसङ्ग निरभिमान है उसीका

सब्र करना चाहिये। परिवारके भरण-पोषणके लिये और कुछ न मिले न सही, सूखा अन्न ही सही। ऐसी स्थितिमें जो रहता है, वही वैराग्य है।

> ऐसी स्थिति नाहीं ज्यासी। तंव कृष्णप्राप्ति कैंची त्यासी।
> यालागीं कृष्णभक्तासी। ऐसी स्थिति अत्यंत ॥ ९८ ॥

'ऐसी स्थिति जिसकी न हो उसे कृष्ण प्राप्ति कैसी ! इसलिये कृष्ण-भक्त जो हो उनकी ऐसी स्थिति होनी चाहिये।'

एकनाथ महाराजने यह कैसा अच्छा रास्ता दिखा दिया है ! सच्चे विरक्तमें ये सब लक्षण स्वभावतः ही होते हैं। जिनका वैराग्य कच्चा हो वे इस आदर्शको सदा अपने सामने रखें। पाप-भवनमें डोलते रहनेवाले अन्तमें फँसते ही हैं और ऐसे लोगोंकी संख्या सदा-सर्वत्र ही बहुत अधिक होती है। तुकोबाराय-जैसे सच्चे आदर्श विरक्त अत्यन्त दुर्लभ होते हैं और उन्हींको कृष्ण-मिलनका आनन्द और चिरशान्ति प्राप्त होता है। तुकारामका वैराग्य अत्यन्त बलवान् था, आत्म-संशोधन सम्बन्धी उनकी सावधानता अलौकिक थी। अन्तःकरणमें कौन-कौन चोर घुस बैठे हैं उन्हें ढूँढ़-ढूँढ़कर पकड़ना और कान पकड़-पकड़कर निकाल बाहर करनेके काममें उनकी तत्परता असाधारण थी। आत्म-परीक्षण ऐसा अभ्यास ही वह चीज है जिससे चित्तशुद्धि होती है, मलिन संस्कार धुल जाते हैं, और नये जमने नहीं पाते। साधकको हाथ धोकर इसके पीछे पड़ना पड़ता है। अब हमें यह देखना है कि तुकारामजीने यह अभ्यास कैसे किया ! भगवत्कृपा हुई, गुरूपदेश हुआ तथापि आत्म-शोधनका कार्य अपने-आप ही करना पड़ता है। इसके लिये सदा चौकन्ना रहना पड़ता है। मन सरपट भागनेवाला घोड़ा है। वैराग्यके चाबुकसे उसकी चाल काबूमें करके उसे वशमें करना होगा। मनोनिग्रहके बिना सब साधन व्यर्थ होते हैं। मनोजय न होनेसे बड़े-बड़े उग्र तप भङ्ग हो

गये हैं, बड़े-बड़े वीर इसने जीत लिये हैं और बड़े-बड़े पण्डित इसके सिखाये नाचकर रसातल पहुँचे हैं। मन बड़ा बली है, दुर्जय है, दुर्धर है। तुकारामजी कहते हैं कि 'बड़े-बड़े बुद्धिमानोंको इसने चौपट किया है।' इसलिये विषयोंकी ओर दौड़ लगानेवाले इस मनोन्मत्तपर आसन जमाकर जो इसे पीछे खींचेगा वही पुरुष सबसे बड़ा कहलाता है। 'बात कुछ भी नहीं है पर मन अपने हाथमें नहीं है, यही तो बड़ा रोना है इसलिये—

मागें परतवी तो बली। शूर एक भूमंडळीं ॥

'इसे जो पीछे फिरा लेगा वही बली है, वही एक इस भूमण्डलमें शूरमा है।'

'अस्तु, तुकारामजीने मनसे कैसे-कैसे युद्ध किया, भगवान्‌की कृपा और सहायतासे उसे राहपर ले आनेके लिये क्या-क्या उपाय किये, आशा, ममता, तृष्णा, प्रतिष्ठा, गर्व, लोभ इत्यादि वृत्तियोंको सावधानतासे कैसे जीता और इस प्रकार चित्तशुद्धिका मार्ग धैर्य और निग्रहसे कैसे तय किया यही अब देखना है।

३ सिद्धको साधनसे क्या काम ?

लोकप्रियताका रहस्य

भावुकोंके चित्तमें यह शङ्का उठ सकती है कि तुकारामजी तो सिद्ध पुरुष थे, उनका तो संसार-कल्याणके लिये वैकुण्ठधामसे अवतार हुआ था, उन्हें चित्तशुद्धिके साधनोंकी क्या आवश्यकता पड़ी ? तुकारामजी जब स्वयं ही यह बतला रहे हैं कि संसारको नेकनीतिका मार्ग दिखाने, भगवद्भक्तिका डंका बजाने और संतोंका मार्ग परिष्कृत करनेके लिये हम वैकुण्ठधामसे भगवान्‌का सन्देशा लेकर आये हैं तब। सामान्य जनोंके समान उन्होंने चित्तशुद्धिके उपाय ढूँढे और उन उपायोंद्वारा साधना करके न

लोक-कल्याण-कार्य करनेमें समर्थ हुए इत्यादि बातोंमें क्या रखा है ? संसारका उद्धार करनेके लिये जिनका आगमन हुआ उनका चित्त अशुद्ध ही कब था जो उन्हें उसे शुद्ध करनेकी आवश्यकता पड़ी ? वह तो मूलतः ही मनके स्वामी थे, उन्हें मनोजय करने या मलिन वृत्तियोंको शुद्ध करनेके लिये कुछ साधना करनी पड़ी यह कहना ही विपरीत जान पड़ता है । इस प्रकरणको पढ़ते हुए भावुक पाठकोंके चित्तमें ऐसी शङ्का उठ सकती है इसलिये उसका समाधान पहले ही करना उचित है । भगवान् और भगवद् कार्यस्वरूप महात्माओंके जो चरित्र हैं वे उनकी मनुष्यरूपमें अवतीर्ण होकर की हुई लीलाएँ हैं । उनके चरित्रमें आचार्योंको विभूतिमत्त्व स्पष्ट ही दिखायी देता है । विभूतिमत्त्वके बिना उनके चरित्र इतने पावन उज्ज्वल और लोक-कल्याणकारक हो ही नहीं सकते थे । विभूतिमत्त्वके बिना ऐसी निर्विघ्न कार्यसिद्धि, इतनी तेजस्विता इतना यश उन्हें प्राप्त हो ही नहीं सकता था । मनमें जो चाहा, कर दिखाया, यह सामान्य बात नहीं है । यह सब सच है तथापि विभूतियोंको भी मनुष्यदेह धारण करनेपर मनुष्योचित लोकव्यवहार करना ही पड़ता है । ऐसा यदि न हो तो सामान्य जीवोंको उनके चरित्रसे कोई लाभ न होता—बोध ग्रहण करनेका अवसर ही न मिलता । महात्माओंके चरित्रोंके दो अङ्ग होते हैं—एक दैवी और दूसरा मानवी । दैवी अङ्ग देखकर हमलोग आश्चर्य कौतुक अनुभव करते हैं और उससे उनका विभूतिमत्त्व पहचानते हैं, और मानवी चरित्र हमारे अनुकरण करनेके लिये उदाहरणस्वरूप होता है । श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने विश्वरूप दिखाकर अपने ईश्वरत्वकी प्रतीति करा दी और—

मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥

—यह बतलाकर वर्णाश्रमादि कर्मोंके लोक-संग्रहार्थ नियम भी बाँध दिये । [illegible] इत्यादि वचनामृतोंके द्वारा

ज्ञानेश्वर महाराजने अपना ऐश्वर्य दिखा दिया और पैठणके ब्राह्मणोंसे शुद्धिपत्र प्राप्त करनेके उद्योगके द्वारा मनुष्योचित व्यवहारका दृष्टान्त भी सामने रखा। तुकोबारायने इहलोकसे चलते-चलाते अन्तमें सदेह वैकुण्ठ-गमन करके अपना विभूतिमत्त्व ससारको दिखा दिया और जीवनभर साधककी अवस्थामें रहकर ससारको भगवद्भक्तिका सीधा मार्ग भी बतला दिया। 'भूत-दया ही सतोंकी पूँजी है' इस अपनी कहनीको उन्होंने अपनी रहनीसे ही चरितार्थ कर दिखाया है। इस बातको तुकोबारायके चित्तशुद्धिके उपायोंका विवरण पढते हुए ही नहीं, उनके सम्पूर्ण चरित्रको अवलोकन करते हुए पाठक ध्यानमें रखें। तुकोबाराय जितना अपना हृदय खोलकर बोले हैं उतना और कोई नहीं बोला है। सबको एक ही जगह जाना होता है। कोई कूदता-फॉदता जाता है, कोई धीरे-धीरे चलता है। शेर एक ही छलॉगमें बारह हाथ पार करता है। कोई पिपीलिका-मार्गसे जाते हैं, कोई विहङ्गम-मार्गसे जाते हैं। कोई गणितज्ञ चार ही कड़ियोंमें हिसाब लगाकर सवालका जवाब निकाल लेता है, किसीको बारह कड़ियाँ हिसाब लगाना पड़ता है। पहलेकी बुद्धिमत्ताकी प्रशसा की जाती है, पर हिसाब फैलाकर सम्पूर्ण कर्म दिखानेकी रीति सभी विद्यार्थियोंकी समझमें आती है। चार ही कड़ीमें सवालका जवाब ले आनेकी रीति जानते हुए भी जो शिक्षक बीचकी कोई कड़ी न छोड़कर सम्पूर्ण क्रम समझाकर दिखा देता है वह अत्यन्त लोकप्रिय होता है, उसकी बतायी रीति सबकी समझमें आती है, उसीके बताये मार्गसे सब चलते हैं, और जो कोई उसके पॉव-पर-पॉव रखकर चलता है वह भी गन्तव्य स्थानको पहुँचता है। तुकारामजीका यही मार्ग था और ऐसे मार्गदर्शक होनेके कारण ही वह अत्यन्त लोकप्रिय हुए।

ससारतापें तापलों मी देवा।

'हे भगवन् ! संसारके तापसे मैं दग्ध हो चुका ।' यहाँसे लेकर—

तुका झाला पांडुरंग ।

'तुका पाण्डुरङ्ग हो गया ।'—तक बीचमें जो-जो पड़ाव हैं उन सबको तुकारामने अपने अभंगोंमें स्पष्ट दिखाया है ।

पतित मी पापी शरण आलों तुज ।

'मैं पतित पापी तेरी शरणमें आया हूँ ।' यहाँ पहला पत्थर गड़ा, और—

बीज भाजुनी केली लाही ।
आम्हा जन्ममरण नाहीं ॥

'बीज भूँजकर लाई बना डाला । अब हमें जन्म-मरण नहीं रहा ।'— यहाँ आकर यात्रा समाप्त हुई, आखिरी पत्थर गड़ा । इनके बीचमें बीच-बीचमें पत्थर गाड़कर उन्होंने भक्तिमार्गके इस रास्तेमें ऐसी सुविधा कर दी है कि तुकारामजीकी अभंगरूपी हृदयमें धारणकर कोई भी इस पन्थका पथिक बीच-बीचमें गड़े हुए पत्थरोंको देखते हुए चलता चले । आजतक बहुतोंने बहुत रास्ते बनाये होंगे, पर छोटे-बड़े, सुजान-अजान, ब्राह्मण-चाण्डाल सबल-दुर्बल, पुण्यवान्-पापी सबके लिये निर्भय चलनेयोग्य ऐसा सुगम, प्रशस्त और आनन्द देनेवाला रास्ता जैसा तुकारामजीने बना दिया वैसा और किसीने कहीं न बनाया । भूमि तो ज्ञानेश्वरमहाराजकी ही है पर तुकारामजीने कुछ पुराने और कुछ नये स्वयं खोदकर तैयार किये हुए पत्थर देकर यह राजमार्ग—राजमार्ग नहीं, संतमार्ग—तैयार किया है । इस मार्गपर किसीको जो अभीष्ट हो वह मिलता है । मार्ग भी परिचित जान पड़ता है । तुकारामजीकी बोलचालसे मनका उत्साह बढ़ता है । मार्ग लम्बा होनेपर भी सुगम जान पड़ता है । यहाँ अपने मनका संकल्प पूरा होता है, जो चाहिये वही मिलता है अनायास ही रास्ता तय हो जाता है । रास्तेमें

सुरम्य उपवन हैं, चाहे जितना रमिये और त्रिविध तापसे मुक्त होइये। स्थान-स्थानमें अभग-दर्पण लगे हुए हैं, उनमे निश्चिन्त होकर अपना रूप निहारिये और उसकी मैल निकालकर उसे स्वच्छ कीजिये। चलता रास्ता होनेसे सग-साथकी कमी नहीं। निर्भय और सुरम्य मार्ग है। तुकारामजीने जी-जान लड़ाकर, बड़े कष्ट उठाकर यह दिव्य मार्ग निर्माण किया है। उनके साथ हम-लोग यहाँतक चले आये हैं, आगे भी उन्हींका सग पकड़े चलते चलें। उन्होंने कैसे-कैसे कष्ट सहे इसकी कथा उन्हींके मुखसे सुनें। वह स्वय अनेक कष्टोंको पार कर गये हैं पर इस मार्गपर उनकी दृष्टि है। चोर डाकू इस मार्गपर बहुत कम आते हैं। चलिये तो अब तुकारामजीने कैसे मनोजय किया, लोक-लाज कैसे छोड़ी, जन-सम्बन्ध तोड़कर वह एकान्तवासमें कैसे रमे, घरमें घुसे हुए अहङ्कारादि चोरोंको उन्होंने कैसे खदेड़ा, भगवान्से कैसे सहायता माँगी और पायी, एकान्तवास और सत्सगमें कितने प्रेमके साथ उन्होंने नाम-सङ्कीर्तन किया जो सब साधनोंका सार है, यह सब उनके चरित्रका मनोरम भाग उन्हींके मुखसे निश्चिन्त होकर श्रवण करें और उन्हींकी कृपासे हमलोग भी उनके पीछे-पीछे चलें।

४ मनोजयका उपाय

तुकारामजीने अपने मनको कितना मनाया है। मनोजयके बिना परमार्थ मिथ्या है। ससारका साम्राज्य मिल सकता है, पर मनोजय करना बड़ा ही कठिन है। इसलिये सार्वभौम राज्य प्राप्त करनेवाले चक्रवर्ती राजाकी अपेक्षा मनको अपने वशमें रखनेवाले साधुकी योग्यता सभी देशोंमे बहुत बड़ी मानी जाती है। यूरोपमें ईसा और सुकरातकी जो प्रतिष्ठा हुई वह किसी राजाकी कभी न हुई। हमारे इस पुण्य-भारतवर्ष देशमें भी 'असख्य जीव पैदा हुए, पैदा होकर मर मिटे, राव भी हुए, रक भी हुए और सब आये और चले गये। पर शुकाचार्य, भीष्म, हरिश्चन्द्र, हनुमान्, भरत,

शङ्कराचार्य, तुलसीदास, मीराबाई, रामदास, एकनाथ, तुकाराम, ज्ञानदेव, छत्रपति शिवाजी, अहल्याबाई इत्यादि मनोजयी पुरुषोंका जो मान है वह दूसरोंका नहीं है। इसका कारण यही है कि मनपर जीत करकर मत्तमातङ्गों-को पछाड़नेवाले वीरकी योग्यता घोड़ेपर सवार होकर युद्धमें शत्रु-संहार करनेवाले योद्धाकी अपेक्षा कहीं अधिक है। प्रह्लादने अपने पितासे कहा—'पिताजी पहले अपने चित्तमें बैठे हुए आसुरभावको निकालिये, क्योंकि वही आपका यथार्थ शत्रु है। 'समं मनो धत्स्व न सन्ति विद्विषः' मनको समत्वमें रखिये उच्छृङ्खल और कुमार्गकी ओर सहज ही भागे चलनेवाले मनसे प्रबल और कोई शत्रु नहीं है मनकी समता बनाये रखना ही अनन्तकी पूजा है। (भागवत ७ । ८ । १) योगवासिष्ठ और भागवतमें मनो-निग्रहके उत्तम साधन बताये हैं। भागवतके (स्कन्ध ११ । २३) भिक्षुगीताको पाठक अवश्य पढ़ें। हमारे सुख-दुःखके कारण दूसरे लोग नहीं, देवता नहीं, ग्रह कर्म-काल भी नहीं, प्रत्युत हमारा ही मन है। संसार मनःकल्पित है। त्रिगुणात्मक अनन्त वृत्तियाँ मनसे उठती हैं। दान, धर्म, यम-नियम, कर्म, ज्ञान व्रत तप—इन सबका उद्देश्य मनको ही निग्रह करना है।

परो हि योगो मनसः समाधिः।

अर्थात् मनकी समाधि—समता ही परम योग है। जिसका मन समाहित है—शान्त, स्थिर है उसे दानादि करनेकी कोई आवश्यकता नहीं और जिसका मन समाहित नहीं है उसके लिये ये साधन अनुपयुक्त हैं। इन्द्र चन्द्रादि देव मनके अधीन हुए, पर मन किसीके वशमें नहीं रहता। ऐसे दुर्जय मनपर जो सवार होगा वह बलवानोंसे भी बलवान् है। मन कामसे नहीं समाता मनको रोग नहीं होता, मन बूढ़ा नहीं होता, मनको पकड़ना चाहें तो उसका ठौर-ठिकाना नहीं मिलता। ऐसे मनको कोई वशमें भी कैसे करे! एकनाथ महाराजने कहा है—

जेविं हिरेनि हिरा चिरिजे ।
तेवीं मनेंचि मन धरिजे ॥

'जैसे हीरेसे हीरा चीरा जाता है वैसे ही मनको मनसे ही धरना होता है ।' मनोजयका यह सर्वोत्कृष्ट उपाय है । हीरेसे हीरा चीरा जाता है, वैसे ही मन मनसे ही जीता जाता है । मनको पुचकारकर हरि-गुरु-भजनमें जोतना, उसीमें रमाना, स्वरूपमें लगाये रहना यही एकमात्र मनोजयका उपाय है ।

मना सज्जना भक्तिपर्थेचि जावें ।

'रे सज्जन मन ! भक्तिके ही रास्तेपर चला कर' समर्थ रामदास स्वामीका उपदेश है । इस मनोबोधके २०५ श्लोकोंद्वारा उन्होंने मनको मना-मनाकर हरिभजनका चसका लगाया है । मन चञ्चल और दुर्निग्रह है, यह अर्जुनने जब कहा तब भगवान्ने—

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥
(गीता ६ । ३५)

यही मनोजयका उपाय बताया है । इसपर ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं—

वैराग्याचेनि आधारें । जरी लाविलें अभ्यासाचिये मोहरे ॥
तरी केतुलेनि एकें अवसरें । स्थिरावेल ॥ ४१९ ॥
यया मनाचें एक निकें । जे देखिलें गोडीचिया ठाया सोके ॥
म्हणोनि अनुभवसुखचि कवतिकें । दावीत जाइजे ॥४२० ॥

'वैराग्यके सहारे यदि इस मनको अभ्यासमें लगाया जाय तो कुछ काल बाद वह अवश्य स्थिर होगा । (४१९) मनकी एक बात बड़ी अच्छी है, जिस चीजका इसे चसका लगता है उसमें वह लग ही जाता है । इसलिये इसे आत्मानुभवका सुख बराबर देते रहना चाहिये ।' (४२०)

एक ओरसे वैराग्यकी धूनी रमाकर चित्तसे विषयोंका त्याग करना और दूसरी ओरसे हरि-चिन्तनका आनन्द लेना, इस प्रकार वैराग्य और अभ्यास दोनों अस्त्र-शस्त्रोंकी मारसे मनोदुर्ग हस्तगत करना होता है। गुरुभक्त गुरुभक्तिका अभ्यास करें, प्रेमी सगुण-भक्तिका अभ्यास करें और ज्ञानी स्वरूपानुसन्धानका अभ्यास करें। सबका तात्पर्य और फल एक ही है। गुरु, सगुण और निर्गुण तीनों तत्त्वतः एक ही हैं। यथारुचि कोई भी अभ्यास दृढ़ हो जाना चाहिये। इस मनमें एक बड़ा भारी गुण यह है कि यह जहाँ जम जाता है वहीं जम ही जाता है, फिर वहाँसे हटता नहीं। उसे यदि यह प्रपञ्च ही प्यारा है तो उसे बराबर यह समझाते रहना चाहिये कि यह विश्व-रचना स्वप्नवत् है और ऐसा वैराग्य दृढ़ करना चाहिये कि मन विषयोंसे ऊब जाय और दूसरी ओरसे उसे परमार्थका चसका लगाते हुए हरि-भजनमें समाधि देनी चाहिये। मनसे ही मनको मारना, हरि-भजनमें लगाकर उन्मन करना, हरिस्वरूपमें मिलाकर मनको मनकी तरह रहने ही न देना यही तो मनोजय है। एकनाथ महाराज कहते हैं—

हा मनाची एक उत्तम गती। जरी लागे अवर्त परमार्थी।
तरी दासी करी चारी मुक्ती। दे बांधोनी हातीं परमार्थ॥

'इस मनकी एक उत्तम गति है। यदि यह कहीं परमार्थमें लग गया तो चारों मुक्तियोंको दासियाँ बना छोड़ता है और परमार्थको बाँधकर हाथमें धर देता है। ऐसे परमार्थ हस्तगत हो जाता है। इतना बड़ा काम मनके वश करनेसे होता है।'

नीच अधोगति मनाची हे युक्ति। मन करी एकांतीं साधुसंगें॥

'मनकी बड़ी अधोगति है पर इस युक्तिसे उस मनको सत्सङ्गसे एकान्तमें लगाओ।'

५ मनपर विजय

मनोजयका यह रहस्य और यह महत्त्व ध्यानमें रखकर अब यह देखें कि तुकारामजीने मनको कैसे जीता।

मन करा रे प्रसन्न। सर्वसिद्धींचें साधन ॥
मोक्ष अथवा बंधन। सुख समाधान इच्छा ते ॥

'अरे! मनको प्रसन्न करो जो सब सिद्धियोंका साधन है, जो ही मोक्ष अथवा बन्धनका कारण है। (उसे प्रसन्न कर) उस सुख-समाधानकी इच्छा करो।'

उत्तम गति अथवा अधोगति देनेवाला मन है। मन ही सबकी माता है। साधक, पाठक, पण्डित, श्रोता, वक्ता सबसे तुकाराम हाथ उठाकर यह कह रहे हैं कि 'मनको छोड़ और कोई देवता नहीं, पहले इसे प्रसन्न कर लो।' मनको प्रसन्न करना उसे विषय-प्रवाहसे खींचकर हरि-भजनके लङ्गरमें बाँधना है, मनकी बड़ी रखवाली करनी पड़ती है, यह जहाँ-जहाँ जाय वहाँ-वहाँसे इसे बड़ी सावधानीके साथ खींच लेना पड़ता है।

तुका म्हणे मना पाहिजे अंकुश। नित्य नवा दीस जागृतीचा ॥

'तुका कहता है कि मनपर अङ्कुश चाहिये, जिसमें जागृतिका नित्य नवीन दिवस उदय हो।'

नित्य जागकर इस मनको सँभालना पड़ता है, मदोन्मत्त हाथी जैसे अङ्कुशके बिना नहीं सँभलता वैसे ही यह चञ्चल मन अखण्ड सावधान रहे बिना ठिकाने नहीं रहता। तुकारामजीने मनको कभी देव कहा, कभी चञ्चल कहा, कभी दुर्जन कहा पर हर बार भगवान्‌को यादकर उसे सँभालनेका भार उन्हींपर रक्खा। मनुष्य अपनी बुद्धिसे इस चञ्चल मनको कहाँतक रोक सकता है? कितना सावधान रह सकता है? एक क्षणमें

पचासों जगह जाकर लगा आनेवाले इस मनको, भगवान् दया करें तो। रोक सकते हैं।

> आवरितां मन नावरे दुर्जन । घात करी मन माझें मज ॥
> अंतरीं संसार भक्ति बाह्यात्कार । म्हणोनि अंतर तुम्हांपायीं ॥

'मनको रोकना चाहूँ तो यह दुर्जन नहीं रुकता। मेरा मन मुझे ही हानि पहुँचाता है। इसके अन्तरमें संसार भरा हुआ है, भक्ति केवल बाहर है। इसलिये यह अन्तर आपके चरणोंमें रखता हूँ।'

यह मन संसारकी बातें ही सोचता रहता है। हे भगवन्! मेरे-तेरे बीच यही एक बड़ी भारी बाधा है। मैं तो भजन-पूजन करता हूँ पर अंदर मन संसारका ही ध्यान करता रहता है, वह ध्यान नहीं छूटता। यह तो मुझे भक्तिका ढोंग ही बनाता है। हे नारायण! आओ, दौड़ आओ, तुम्हीं इस अन्तरमें आकर भरे रहो।

> काम क्रोध आड पडिले पर्वत । राहिला अनंत पैलीकडे ॥ १ ॥
> नुल्लंघवे मज न सुचे उपाय । दुस्तर हा घाट वैरियांचा ॥ २ ॥

'काम-क्रोधके पर्वत आड़े आ पड़े हैं और भगवान् अनन्त परली तरफ रह गये। मैं इन पहाड़ोंको नहीं लाँघ सकता और कोई रास्ता नहीं मिलता। वैरियोंका यह घाट तो बड़ा ही दुस्तर है।

इस मनके कारण, हे भगवन्! मैं बहुत ही दुःखी हूँ। क्या मनके इन विकारोंको तुम भी नहीं रोक सकते।

> आवरितां तुसी तुम्हां नावरती । कोण यारे चित्तीं आवर्ण हे ॥२॥
> तुका म्हणे मात्रा कपाळाचा गुण । तुम्हा ह्रसे कोण समर्थासी ॥४॥

'तेरे (ये विकार) तेरे रोके भी नहीं रुकते, यह तो चित्तको क्या

अचरज लगता है, तुका कहता है, यह मेरे ललाटकी कर्म रेखा है, तुझे कोई क्या हँसेगा ?'

मनकी अनन्त ऊर्मियोंको देखकर कभी-कभी तुकारामजी अत्यन्त निराश हो जाते थे 'तुका म्हणे माझा न चले सायास' (अब मेरा बस नहीं चलता ।) यह भगवान्से दिल खोलकर कह देते थे ।

आता कैंचा मज सखा नारायण । गेला अतरोन पाडुरग ॥

'अब नारायण मेरे सखा कहाँ रहे ? वह तो मुझे छोड़कर चले गये !'

भगवन् ! मैं तो दुखी हुआ हूँ, पर आप दुखी मत होइये ।

'मेरा मन ऐसा चञ्चल है कि एक घड़ी, एक पल भी स्थिर नहीं रहता । अब हे नारायण ! तुम्हीं मेरी सुध लो, मुझ दीनके पास दौड़े आओ !'

इस मनको जितना ही बद रखो उतना वह बेकाबू हो जाता है—

'इसे बहुत रोको, बद कर रखो तो यह खीज उठता है, फिर चाह जिधर भागता है, इसे भजन प्रिय नहीं, श्रवण प्रिय नहीं, विषय देखकर उसी ओर भागता है ।'

सोते-जागते इसे कब-कहाँतक रोका जाय ?

मज राखे आता । तुका म्हणे पढरिनाथ ॥ ७ ॥

'हे पण्ढरीनाथ ! अब तुम्हीं मेरी रक्षा करो ।'

नित्य इस मनका विचार करता हूँ तो देखता यह हूँ कि 'यह तो बेबस विषय-लोभी है ।' अपने बलसे इसे रोक रखना चाहता हूँ पर 'इस उलझनको सुलझानेका कोई उपाय न देख' निराश होता हूँ । 'अनत उठती चित्ताचे तरग' (अनन्त उठतीं चित्तकी तरगें) यह हे भगवन् ! क्या आप नहीं जानते ?

काम तुम्हावीण मनाचा चाळक । तुजें स्तंभ एक नारायणा ॥

'आपके सिवा इस मनका दूसरा कौन चालक है, हे नारायण! यह तो बताइये।'

आपके सिवा और कोई यदि मनका चालक हो तो कृपाकर उसका पता-ठिकाना बता दीजिये, तो आपको क्यों कष्ट दें, उसीको जाकर पकड़ें!

मनका निरोध करता हूँ पर विकार नष्ट नहीं होता। ये विषय-द्वार बड़े ही दुस्तर हैं। यदि आप अन्तरमें भरे रहते तो मैं निश्चिन्त होकर तदाकार हो जाता।

मनका निरोध करनेका बड़ा यत्न किया पर मनके कुछ विकार नष्ट नहीं होते। विषयोंके द्वाररूप ये इन्द्रियाँ बड़ी कठिन हैं, ये सदा ही बाहरसे विषयोंको अंदर ले आया करती हैं। मन और इन्द्रियोंका संग बड़ा पुराना होनेसे ज्यों ही ये इन्द्रियाँ विषयोंको ले आती हैं त्यों ही यह मन श्रवण मननादि साधनोंके जमा किये हुए विचार क्षणार्धमें भुलाकर विषयाकार बन जाता है। अतएव हे नारायण! आप ही अन्तःकरणको व्यापे रहें तो ही निस्तार है। अन्तरमें आपको आसन जमाये देखकर ये विषय बाहर-के-बाहर ही रहेंगे। हे भगवन्! हे करुणाकर नारायण! अब वेगसे आओ। मेरे अन्तरमें भरकर आप ही यहाँ सदा विराजें। आप कहेंगे कि 'तुम इन इन्द्रियोंको सम्हालो हम मनको देख लेंगे।' देखिये, भगवन्! ऐसा न कहिये।

'एकका भी दमन मुझसे नहीं होता, उभयका नियमन कैसे करूँ?'

इन्द्रियोंका दमन करते बनता नहीं मन वशमें आता नहीं। सदा अन्धकार-ही-अन्धकार है।

तुका म्हणे आम्ही अंकिताची धनी। आतां मज हरी वाट दावी॥

'तुका कहता है कि अन्धेकी-सी हालत मेरी हो गयी है, हे हरे! अब मुझे (हाथ पकड़कर) रास्ता बताओ।'

* * *

बीचमें ही कभी वह मनको मीठे शब्दोंद्वारा मनाते भी थे। कहते, रे मन! तू अब पण्ढरीकी लौ लगा, फिर तू जो कहेगा, मैं मानूँगा।

मना एक करीं। म्हणे मी जाईन पढरी।
उभा विटेवरी। तो पाहेन सावळा ॥ १ ॥

'रे मन! एक काम कर—यह कह दे कि मैं पण्ढरी जाऊँगा और वहाँ ईंटपर खड़े श्यामको देखूँगा।'

रे मन! यह कह कि मैं 'राम कृष्ण हरी' कहूँगा, उल्लासके साथ हरि-कथा सुनूँगा, सतोंके पैर पकड़ूँगा। तू इतना जरूर कर कि—

'मैं रंगशिलापर (हरि-प्रेमसे) नाचूँगा तब तू भी अदरकी मैल छोड़कर तैयार रह और तालपर ताली बजाता चल।'

रे मन! इन इन्द्रियोंके पीछे भटकते-भटकते अब तू थक गया होगा। तुझे अखण्ड विश्रान्तिका स्थान दिखाता हूँ, हम-तुम वहाँ चलकर अखण्ड सुख-सम्भोग करें।

'रे मन! अब भगवान्‌के चरणोंमें लीन हो जा, इन्द्रियोंके पीछे मत दौड़। वहाँ सब सुख एक साथ हैं और वे कभी कल्पान्तमें भी नष्ट होनेवाले नहीं। जाना-आना दौड़ना-भटकना, चक्करमें पड़ना—यह सब वहाँ छूट जाता है, वहाँ पर्वतोंपर चढनेका कोई परिश्रम नहीं करना पड़ता। अब मुझे तुझसे इतना ही कहना है कि तू कनक और कान्ताको विषतुल्य मान तुका कहता है, उपकार करना तेर हाथमें है, तू चाहे तो हम-तुम भव-सिन्धुके पार उतर सकते हैं।'

* * *

मनको इस तरह समझाकर तुकाराम फिर उसकी फरियाद भगवान्‌के पास ले जाते। भगवान्‌पर ही सारा भार छोड़ते, शरणागत हो जाते। प्रेमवश भगवान्‌पर क्रोध भी करते, कहते—

तुम्ही देवा माझा करा अंगीकार ।

'भगवन्! आप मुझे अङ्गीकार कीजिये।' ऐसा अब मैं नहीं कहूँगा। जो होना था, सब तो हो चुका। आपकी और मेरी भी पत तो जाती रही—

आला दोघां पदरीं आलें अपमान । देवभक्तपण कलंकलें ॥

'अब तो दोनोंको अपमान लग ही गया। आपका देवपना और मेरा भक्तपना दोनों ही कलङ्कित हुए।

आपके लिये सब ठीक ही है, क्योंकि आप विश्वनाथ हैं, बड़े हैं। लोग यह कैसे कहें कि आपकी पत जाती रही। पर मेरी हालत जो हुई— आखिर क्या हुई? बताऊँ? सुनो—

'एकान्तमें अकेला यह मन एक पल भी एक स्थानमें स्थिर नहीं रहता। पैरोंमें महत्त्वकी बेड़ियाँ पड़ गयीं, गलेमें स्नेहकी फाँसी लगी। देहको तो ऐसी आदत पड़ गयी है कि जो सुख देखा वही उसे चाहिये। और मुँह ऐसा हो गया है कि कदन्न उसे स्वीकार नहीं। तुका कहता है कि मैं अवगुणोंकी खानि बना हूँ। निद्रा और आलस्यका तो पूछना ही क्या है।

मैं आखिर किस काम आया? लोग मुझे साधु मानने लगे, महात्मा कहने लगे, यह महत्त्व मुझे क्या मिला, मेरे पैरोंमें बेड़ियाँ पड़ गयीं! कारण हालत तो मेरी यह है कि स्त्री-पुत्र घर-द्वारके ममत्व-स्नेहकी फाँसी मेरे गलेमें लगी हुई है। यह मनका हाल हुआ, और तनका यह हाल है कि जो सुख सामने आया है वही यह माँग बैठता है। जीभ भी ऐसी

चटोरी हो गयी है कि यह कदन्न खा ही नहीं सकती, इसे उत्तम मिष्टान्न और षड्रस भोजन चाहिये। निद्रा और आलस्य दिन-दिन बढ़ते ही जा रहे हैं। इस प्रकार सब दोषोंका घर बन बैठा हूँ। थोड़ी देर एकान्तमें बैठकर स्थिर होकर तेरा ध्यान करना चाहूँ तो यह मन एक पल भी स्थिर नहीं रहता। भगवन्! बताओ, मेरा भक्तपना अब कहाँ रहा और आपका भगवान्पना भी कहाँ रहा—दोनोंहीपर तो स्याही पुत गयी।

न सुटवे अन्न। मज न सेववे वन॥ १॥
म्हणउनी नारायणा। कींव भाकितों करुणा॥ २॥

'अन्न छोड़ा नहीं जाता, मुझसे वन सेया नहीं जाता। इसलिये हे नारायण! यही कहता हूँ कि करुणा करो।'

मेरे अंदर क्या-क्या दोष हैं, उन सबको मैं जानता हूँ, पर क्या करूँ? मनपर वस नहीं चलता, इन्द्रियोंको खींचते नहीं बनता, वाणीसे कहता तो बहुत-कुछ हूँ पर कथनी-जैसी करनी नहीं बन पड़ती। ऐसी विषम अवस्थामें जब मन और इन्द्रियाँ एक तरफ हो गयी हैं और दूसरी तरफ मैं हूँ—मेरी-उनकी ऐसी तनातनी है तब आप ही मध्यस्थ होकर इस कलहको मिटाइये, इसके सिवा और कोई उपाय नहीं है।

माझे मज कळों येती अवगुण। काय करूँ मन अनावर॥ १॥
आता आड उभा राहें नारायणा। दयासिंधुपणा साच करीं॥ ध्रु०॥
वाचा वदे परी करणें कठीण। इंद्रिया आधीन झालों देवा॥ २॥
तुका म्हणे जैसा तैसा तुझा दास। न धरीं उदास मायबापा॥ ३॥

'मेरे दुर्गुण मुझे जान पड़ते हैं, पर क्या करूँ! मनपर वस नहीं चलता। अब आप ही हे नारायण! बीचमें आ जाइये, और अपने दयासिन्धु होनेको सत्य कर दिखाइये। वाणी तो कहती है पर करना कठिन

है। मैं इन्द्रियोंके इतना अधीन हो गया हूँ। तुका कहता है, मैं जैसा भी हूँ, तुम्हारा दास हूँ। मेरे माँ-बाप! मुझे उदास मत करो।'

मैं जैसा हूँ ऐसा ही तुम मुझे अपना लो और अपने दयासिन्धु होनेको सत्य कर दिखाओ। 'मनको रोको, मनको रोको' कहकर भगवान्‌से कितनी विनती की, पर मन नहीं रुकता, नहीं स्वाधीन होता और दयासिन्धु चुपचाप बैठे हैं कुछ बोलतेतक नहीं। इस भावनासे व्याकुल कर तुकाराम कहते हैं—

> काय करूं आतां या मना न संडी विषयांची वासना ।
> प्रार्थितां राहे ना । आवरें पतना नेलें बळें ॥ १ ॥
> आतां धांवें धांवें श्रीहरी । कांहीं केलें नाहीं हरी ।
> न दिसे कोणी आडवा । व्याकुळ तुका उपासी ॥ ध्रु० ॥
> न राहे एके ठायीं एक घडी । फिरे ठायठाया तोडी ।
> घाले विषय भोंवरी । पाहे घाली उडी भवडोहीं ॥ २ ॥
> आशा तृष्णा कल्पना पापिणी । घात मांडला अंतःकरणीं ।
> तुका म्हणे चक्रपाणी । काय अजूनि पाहसी ॥ ३ ॥

क्या करूँ अब इस मनको! यह विषयकी वासना तो नहीं छोड़ता, मनानेसे भी नहीं मानता, ठीक पतनकी ओर लिये जा रहा है। हे श्रीहरि! अब दौड़ो, दौड़ो नहीं तो मैं बह गया! और कोई नहीं दिखायी देता जो इस मनको रोक रखे। एक घड़ी भी एक स्थानमें नहीं रहता, बन्धन उखाड़कर भागता है। विषयोंके भँवरमें भव-सागरमें कूदा चाहता है। आशा-तृष्णा-कल्पना-पापिनी मेरा नाश करनेपर तुली हुई है और तुका कहता है हे चक्रपाणि! तुम अभी देख ही रहे हो।

पत्थरका भी कलेजा निकल पड़े ऐसे करुणा स्वरसे मनको संयत करनेके लिये तुकाराम नारायणसे इतना गिड़गिड़ाये, पर नारायण चुप!

तुकाराम इतने विकल, इतना यत्न करनेवाले, फिर भी भगवान् मौन साधे बैठे हैं ! क्यों ? क्या इसका यह मतलब है कि भगवान् यह चाहते थे कि तुकाराम ऐसे ही विकल होकर प्रयत्न करते रहें ? क्या इसी विकल प्रयत्नमें मनोजयका बीज है ? शायद भगवान् बाह्यतः इसीलिये तटस्थ थे। भगवान् यह देख रहे थे कि तुकारामजीकी लगन इतनी जबरदस्त है कि उसपर भगवत्कृपा करनी ही होगी, यही निश्चय करके भगवान् तुकारामजीके मनोजयके उद्योगको कौतुकके साथ देख रहे थे।

तुका म्हणे नाहीं चालत तातडी।
प्राप्तकाळघडी आल्यावीण॥

'तुका कहता है, अधीरतासे कुछ नहीं होगा जबतक उसका समय न आ जाय।'

अत्यन्त कोमलहृदय भक्त-वत्सल भगवान् पाण्डुरङ्ग इसीलिये मौन साधे तुकारामजीकी ओर अत्यन्त प्रेमसे देख रहे थे, बीच-बीचमे प्रसादकी झलक दिखा देते थे, पर जबतक इष्टकाल उपस्थित नहीं हुआ है तबतक तुकारामको चित्त-शुद्धिके उद्योगमें ऐसे ही लगे रहने दो, इसी विचारसे भगवान् तटस्थ बने हुए थे। चित्त-शुद्धिके पूर्ण होते ही, आस्थाकी भूमिके तपकर तैयार होते ही वह करुणा-घनश्याम बरसे, पर उस मधुर मङ्गलमय प्रसङ्गकी ओर चलनेके पूर्व अभी हमलोग यह देख लें और समझ लें कि तुकाराम अपने चित्तके सब विकारोंको दूर करके चित्तको पूर्ण शुद्ध करनेके कैसे-कैसे उपाय कर रहे थे।

६. धन, स्त्री और मान

परमार्थ पथमें धन, स्त्री और मान—तीन बड़ी खाइयाँ हैं। पहले तो इस पथपर चलनेवाले पथिक ही बहुत थोड़े होते हैं फिर जो होते हैं

उनमेंसे कुछ तो पहली पैसेकी खाईमें ही आ जाते हैं। इससे जो बचते हैं वे आगे बढ़ते हैं। इनमेंसे कुछको दूसरी खाई (स्त्री) खा जाती है। इससे बचकर जो आगे बढ़े वे तीसरी खाइ (मानकी) में जाते हैं। इन तीनों खाइयोंको जो पार कर जाते हैं वे ही भगवत्कृपाके पात्र होते हैं पर ऐसा पुरुष विरला ही होता है।

विरळा ऐसा कोणी । तुका त्याचे लोटांगणी ।
'ऐसा विरला जो कोई हो, तुका उसके चरणोंमें लोटता है।

तुकारामजीका मनःसंयम बड़ा ही प्रचण्ड था इससे पहली दो खाइयोंको तो वह अनायास पार कर गये तीसरी खाईको पार करनेमें उन्हें भी कुछ कठिनाई पड़ी, ऐसा जान पड़ता है। तुकाराम रणधीर महावैष्णव वीर थे उनका वीरताका बाना ऐसा कसा हुआ था कि कहींसे उसमें कोई ढिलाई नहीं, पहलेसे ही वह कसौटीपर कसा हुआ था इसलिये वह तीनों खाइयोंको पार कर गये। पहले धनकी खाई आती है। पर तुकारामजीने वैराग्यकी प्रथम अवस्थामें ही धनको पत्थरके समान तुच्छ माननेका निश्चय किया अपना सब बही-खाता इन्द्रायणीके दहमें डुबाकर लेन-देनके झगड़ेसे मुक्त हो गये। छत्रपति श्रीशिवाजी महाराजने उनके पास हीरे-मोती भेजे थे तुकारामजीने उन्हें देखातक नहीं और लौटा दिया। वैराग्य-धारणके पश्चात् आजतक उन्होंने धनको स्पर्शतक नहीं किया। इससे यह जान पड़ता है कि उन्हें धनका मोह कभी हुआ ही नहीं। दूसरा मोह स्त्रीका होता है। इस विषयमें भी उनका चरित्र आरम्भसे ही अत्यन्त उज्ज्वल था। अपनी स्त्रीका भी जहाँ स्मरण नहीं वहाँ पर-स्त्रीकी बात ही क्या! उनकी दिनचर्या ही ऐसी थी कि रातको श्रीविठ्ठल-मन्दिरमें कीर्तन समाप्त होनेपर पड़े-पड़े वह यदि सो ही गये तो मन्दिरमें या अपने घरमें सो लेते थे उषःकालमें उठकर स्नान करके श्रीविठ्ठल-पूजा करके

सूर्योदयके समय इन्द्रायणीके पार हो जाते थे, सो रातको फिर गाँवमें आते और आते ही कीर्तन करने लग जाते। दिनभर भण्डारा-पर्वतपर ग्रन्थाध्ययन और नाम-स्मरणमें रमे रहते थे। इस दिनचर्यामें दिनको भी, स्त्रीसे मिलनेका अवसर नहीं मिलता था। इस कारण जिजाबाईको बड़ा कष्ट था और वह घाटपर या अड़ोस-पड़ोसमें अन्य स्त्रियोंके पास अपना रोना रोती हुई प्रायः दिखायी देती थीं। जिस पुरुषमें ऐसा प्रखर वैराग्य हो उसे स्त्रीका मोह क्या? पर-पुरुषको मोहनेवाली स्त्रियाँ तो उन्हें रीछनी-सी जान पड़ती थीं।

तुका म्हणे तैशा दिसतील नारी। रिसाचिया परी आम्हा पुढें॥

'तुका कहता है, वैसी नारियाँ हमारे सामने आती हैं तो रीछनी-सी लगती हैं।' रीछनी गुदगुदी करके प्राण हरण करती हैं। वैसे ही परमार्थी पुरुष यह जाने कि स्त्रियोंका सङ्ग नाश करनेवाला है और उनसे दूर रहे। यही तुकारामजीके मनका निश्चय था। स्त्रैण पुरुषोंकी दो-चार अभङ्गोंमें उन्होंने खूब खबर ली है। साधक कैसा होना चाहिये, यह बतलाते हुए वह कहते हैं—

एकांतीं लोकांतीं स्त्रियासी भाषण। प्राण गेला जाण करूँ नये॥

'एकान्तमें या लोकान्तमें (भीड़-भड़क्केमें) भी स्त्रियोंसे भाषण, प्राण जाय तो भी, न करे।'

साधकमें इतनी दृढता होनी चाहिये, तभी तो उसका वैराग्य टिक सकता है। इस दृढताके न होनेसे नये-पुराने सैकड़ों गुरु, बाबाजी, महाराज, परम्पराभिमानी और सुधारक दयादाक्षिण्य और वनितोद्धारकी बातें करते-करते कहाँ-से-कहाँ जाकर गिरते हैं यह तो हमलोग नित्य ही देखा करते हैं! तुकाराम या समर्थ रामदास-जैसे वैराग्यशिखामणि सत्पुरुषोंका ही यह काम है कि स्त्री-जातिकी उन्नतिका उपाय करें, यह अधकचरोंका काम नहीं है। जिन्होंने अपना उद्धार नहीं किया या नहीं जाना वे दूसरोंका उद्धार

न साहावे मज, तुझें हें पतन । नको हें वचन, दुष्ट वदों ॥२॥

तुका म्हणे तुज, पाहिजे भ्रतार । तरी काय नर, थोडे झाले ॥३॥

'पर-स्त्री रुक्मिणीमाताके समान है, यह तो पहलेसे ही निश्चित है । इसलिये माँ ! तुम जाओ, मेरे लिये कोई चेष्टा न करो । हमलोग विष्णु-दास हैं—वह नहीं हैं । तुम्हारा यह पतन मुझसे नहीं सहा जाता, फिर ऐसी बुरी बात मत कहो । तुका तो यही कहता है कि यदि तुम पति चाहती हो तो संसारमें नर क्या कम हैं ?'

तुकारामजीने उसे भी रखुमाई कहा, माता कहा, अपना निश्चय बताया और विदा किया । तात्पर्य, परमार्थमें कनक और कान्ताकी जो दो बड़ी भारी बाधाएँ हैं वे तुकारामजीके चित्तमें कभी बिंध नहीं सकीं, इससे इस विषयमें उन्हें मनोनिग्रहका कोई विशेष प्रयत्न करनेका कारण ही नहीं था । जन्मते ही वे शीलवान् और विरक्त थे । पर-धन और परदाराकी इच्छा पामरोंके ही चित्तमें उठा करती है । तुकारामजीने उनके सम्बन्धमें कहा है कि 'परस्त्रीको माता कहते हुए उनका चित्त आप ही अपनेको लज्जित करता है ।' जो लोग ऐसी अशुभ वृत्तियोंसे पीड़ित हैं पर जो विवेक और वैराग्यसे उनका निरोध करते हैं उनकी वीरता भी प्रशंसनीय है । परन्तु जिनके हृदयाकाशमें ऐसी हीनवृत्तियोंके बादल उठते ही नहीं वे ही सच्चे सदाचारी हैं । जिस सदाचारमें फिसलनेका भय या संशय रहता है वह सच्चा सदाचार ही नहीं है । पापकल्पनाकी हवा भी पुण्यपुरुषोंके चित्तको लगने नहीं पाती । ऐसे पुरुष ही शुचि और पवित्र होते हैं । तुकाराम ऐसे ही पुरुष थे यह कहनेकी आवश्यकता नहीं । जिनकी निष्कलङ्क शुचितासे देहू-सा गाँव पुण्य-क्षेत्र हो गया और इन्द्रायणी पतित-पावनी हुई, जिनके दर्शनसे हजारों जीव तर गये, जिनके नाम-संकीर्तनसे प्रसिद्ध पापी पछताकर पुण्यात्मा हो गये, वह तुकोबाराय विशुद्ध शुभ्र

पुण्यराशि थे या कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं। तात्पर्य, कनक और कान्ता जिसके चक्करमें सारा संसार पड़ा हुआ है, तुकाराम उनसे सदा ही विमुक्त रहे। उनका वैराग्य अचल था।

मनुष्यमात्र मानकी इच्छा करता है। कौन नहीं चाहता कि लोग हमें अच्छा कहें लोगोंमें हमारी बात और इज्जत रहे? केवल दो ही ऐसे हैं जिन्हें मानकी परवा नहीं होती, एक वह जो किसी व्यसनमें फँसा, दुराचारमें धँसा रहता है और दूसरा वह जो सत्यासत्यमें मनको साक्षी रखकर नारियलके वृक्षके समान सीधा ही खड़ा रहता है। ये दोनों ही निःशङ्क और निर्भय बने रहते हैं। व्यसन रहता तो है उसमें ही पर व्यसन-दुराचारसे वह इतना पाषाणहृदय हो जाता है कि उसे लोक-निन्दा या लोक-स्तुतिकी कुछ भी परवा नहीं रहती। दूसरा चित्त शुद्धिके लिये तथा अपने उद्योगकी सिद्धिके लिये जान-बूझकर जनसमुदायसे अलग ही रहता है और आत्मविश्वास होनेसे निन्दा-स्तुतिकी परवा नहीं करता। दोनों ही प्रकारोंके मनुष्य संसारमें बहुत ही कम हैं बाकी सब लोग लौकिक मानके ही पीछे लगे हुए हैं। आचार-विचार, लोक-व्यवहार या वैदिक कर्मानुष्ठानमें लगभग सब यही ध्यान रखता है कि लोग हमें अच्छा कहें। इसके परे वे और कुछ नहीं देख सकते नहीं समझ सकते। सदाचार और लोकाचारका पालन प्रायः इसीलिये किया जाता है कि यदि ऐसा नहीं करेंगे तो लोग बदनाम करेंगे। सबसे हिले-मिले रहना, सबके यहाँ आना-जाना बात-चीत दावत-पार्टी आपसेरी सभा-सोसायटी व्याख्यान सर्वत्र नाम और मान जमा हुआ है, कहीं यह न हो ऐसा नहीं है। कन्या भी लोग नाक-भौं सिकोड़कर दे डालते हैं इसीलिये कि अपनी बात रहे मेल-मुलाकात बनी रहे। सामान्य लोगोंका यही लौकिक आचार है। जीवनका कोई महान् ध्येय नहीं कोई बड़ा कर्मानुष्ठान नहीं समयका कोई मूल्य नहीं, अपनी सार्थकताका कुछ ध्यान नहीं जबतक जीवन

है तबतक जी रहे हैं, न उस जीवनका कुछ मतलब है, न उस जीनेका; सिवा इसके कि एक दिन पैदा हुए और एक दिन मर जायँगे। ऐसे ही जीव लौकिक मानके बड़े भोक्ता होते हैं। जो कार्य-कर्ता पुरुष हैं उनका काम ऐसे लौकिक मानके पीछे पड़े रहनेसे नहीं चल सकता। अस्तु, तुकोबाराय सत्यासत्यमें मनको साक्षी रखकर अपने परमार्थ-मार्गपर चलते गये, लोग बात कहते हैं इसका विचार करनेकी उन्होंने आवश्यकता ही नहीं रखी—लौकिक मानका ही त्याग कर दिया। यह त्याग उन्होंने तीन प्रकारसे किया—(१) लोगोंका ही त्याग किया, (२) एकान्तमें रहने लगे और (३) निन्दा-स्तुतिकी कुछ परवा नहीं की। यह सब उन्होंने कैसे किया, यही आगे देखना है।

७ 'अरतिर्जनसंसदि'

परमार्थके साधकको चाहिये कि लोगोंके फेरमें कभी न पड़े। लोग दोमुँहे होते हैं। ऐसा भी कहते हैं, वैसा भी कहते हैं। प्रपञ्चमें रहिये तो कहेंगे कि दोषी है और प्रपञ्च छोड़ दीजिये तो कहेंगे कि आलसी है। आचार-पालन कीजिये तो कहेंगे कि आडम्बर है और आचार छोड़ दीजिये तो कहेंगे महाभ्रष्ट है। सत्सङ्ग कीजिये तो 'बड़े भगत बने हैं' कहकर उपहास करेंगे और सत्सङ्ग न करें तो कहेंगे कि बड़ा अभागा है। निर्धनको दरिद्र कहेंगे और धनीको उन्मत्त कहेंगे। बोलिये तो वाचाल और न बोलिये तो अभिमानी! मिलने जाइये तो खुशामदी और न जाइये तो अभिमानी। विवाह करें तो लम्पट, न करें तो नपुंसक! निःसन्तानको कहेंगे चाण्डाल है, और जहाँ बाल-गोपाल दिखायी देंगे, वहाँ कहेंगे यह तो पापकी जड़ है। मृदङ्ग जैसे दोनों तरफसे बजता है वैसे ही लोग दोमुँहसे बात करते हैं। तात्पर्य, 'वमनकी तरह जन भी ग्रहण करते नहीं बनते', इसलिये जो अपना हित चाहता हो वह 'जनको

पुण्यराशि थे यह कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं । तात्पर्य, कनक और कान्ता जिनके चक्करमें सारा संसार पड़ा हुआ है, तुकाराम उनसे सदा ही विमुक्त रहे । उनका वैराग्य अचल था ।

मनुष्यमात्र मानकी इच्छा करता है । कौन नहीं चाहता कि लोग हमें अच्छा कहें लोगोंमें हमारी बात और इज्जत रहे ! लोग दो ही ऐसे हैं जिन्हें मानकी परवा नहीं होती, एक वह जो किसी व्यसनमें फँसा, दुराचारमें धँसा रहता है और दूसरा वह जो अध्यात्ममें मनको लगाकर नारियलके वृक्षके समान सीधा ही चढ़ा जाता है ! ये दोनों ही निःशङ्क और निर्लज्ज बने रहते हैं । पहला रहता तो है नरकमें ही, पर व्यसन-दुराचारसे वह इतना पाषाणहृदय हो जाता है कि उसे लोक-निन्दा या लोक-स्तुतिकी कुछ भी परवा नहीं रहती । दूसरा चित्त-शुद्धिके लिये तथा अपने उद्योगकी सिद्धिके लिये जान-बूझकर जनसमुदायसे अलग ही रहता है और आत्मविश्वास होनेसे निन्दा-स्तुतिकी परवा नहीं करता । दोनों ही प्रकारोंके मनुष्य संसारमें बहुत ही कम हैं, बाकी सब लोग लौकिक मानके ही पीछे लगे हुए हैं । आचार-विचार, लोक-लाज या वैदिक कर्मानुष्ठानमें उनका बस यही ध्यान रहता है कि लोग हमें अच्छा कहें । इसके परे वे और कुछ नहीं देख सकते नहीं समझ सकते । सदाचार और लोकाचारका पालन प्रायः इसीलिये किया जाता है कि यदि ऐसा नहीं करेंगे तो लोग बदनाम करेंगे । सबसे हिले-मिले रहना, सबके यहाँ आना-जाना बात-चीत दावत-पार्टी कचहरी सभा-सोसायटी, व्याख्यान सर्वत्र नाम और मान लगा हुआ है, कहीं भय न हो ऐसा नहीं है । कितने ही लोग नाक-भौं सिकोड़कर रह जाते हैं इसीलिये कि अपनी बात रहे मेल-मिलाप बनी रहे । सामान्य जनोंका यही लौकिक आचार है । जीवनका कोई महान् ध्येय नहीं कोई बड़ा कर्मानुष्ठान नहीं समयका कोई मूल्य नहीं समयकी सार्थकताका कुछ ध्यान नहीं जबतक जीवन

मानो अपना ही चरित्र संक्षेपसे कहा है, और फिर कहते हैं---'जन्मकर वह सबसे अलग हुआ, इसीलिये वह दुर्लभ होकर भगवान्‌को प्रिय हुआ। तुका कहता है, इस संसारसे जो रूठा उसीने सिद्ध-पन्थपर पैर रखा।' तुकाराम गाँवमें केवल कीर्तनके लिये आते थे, पर इतनेसे भी उपाधि हुई। तुकाराम यह सोचते थे कि सब लोग कीर्तन-श्रवण करें, नाम-सुख भोगें और आत्मोद्धार कर लें। पर कितने ही लोग ऐसे थे कि घर ही सो रहते और कितने ऐसे भी थे कि कीर्तन सुनने आते थे पर मन लगाकर कभी सुनते नहीं थे। इसलिये तुकारामजी कहते हैं—

'मैं अपना ही विचार करूँ तो अच्छा है, इनके उद्धारका विचार करूँ तो इससे इन्हें क्या? मेरी भी इन्हें क्या परवा? अपना-अपना हित तो सभी जानते हैं, इनकी इच्छाके विरुद्ध इन्हें भगवन्नाम-कीर्तनमें लगाते दुःख होता है। हरि-कीर्तन कोई सुनें, न सुनें, या अपने घर सुखसे सो रहें, जो इच्छा हो करें। तुका कहता है, मैं अपने लिये करुणा-प्रार्थना करता हूँ। जिसकी जो वासना होगी वही उसे फलेगी।'

८ कुतर्कियोंके कारण मनःक्षोभ

इस प्रकार भगवान्‌को प्रसन्न करनेके लिये ही वह अब कीर्तन करने लगे। पर इस अवस्थामें भी अनेक प्रकारके तर्क-कुतर्क लेकर लोग उनके पास आते, कोई वाद उपस्थित करते या कोई शङ्का उठाते और उन्हें तंग करते। तुकारामजीको यह भी बड़ी उपाधि जान पड़ी।

कोणाच्या आधारें, करूं मी विचार।
कोण देईल धीर, माझ्या जीवा॥

'किसके आधारपर मैं विचार करूँ? मेरे जीको धीरज कौन देगा?' संतोंकी आज्ञासे मैं भगवान्‌के गुण गाता हूँ। मैं शास्त्री नहीं, वेदवेत्ता नहीं, सामान्य शूद्र हूँ। ये लोग आकर मुझे तंग करते हैं, मेरा बुद्धिभेद

त्याग करे' हरि भजनका सरल मार्ग आदर और प्रेमसे स्वीकार करे। संसारमें तो भगवान्‌का ही मान होता है।' अपने माता-पिता, भाई-बहिन स्त्री-पुत्रतक भी द्रव्य होनेसे ही अधिक मानते हैं, यह अनुभव तो सभीको है। इसके अपवाद भी हैं पर उनसे सिद्धान्त ही पुष्ट होता है। पर प्रश्न यह है कि धनके पीछे पड़कर उसीमें सारा जीवन लगा देनेका अन्तिम फल क्या है? 'अन्तमें तो लँगोटी भी नहीं जाती'। मृत्यु-समयमें अपने प्यारे भी तो किसी काम नहीं आते। तुकारामजी कहते हैं, 'धनको अशाश्वत भाग्य समझो।' अशाश्वतभावसे तुकारामजीका जी जैसे उचाट हुआ और शाश्वत परमात्म-सुख प्राप्त करनेका निश्चय हुआ वैसे ही धन और धनाचारमें समय और बुद्धि लगाना उनके लिये भार हो गया, सबसे जी उचटा और निःसङ्ग प्रिय होने लगा।

> नको नको मना गुंतूं मायाजाळीं।
> काळ आला जवळी ग्रासावया॥

'रे मन! मायाजालमें मत फँसो काल अब ग्रसना चाहता है।' इस प्रकार मनको उपदेश देते हुए तुकाराम श्रीपाण्डुरङ्गकी शरणमें गये। एकान्तमें हरि-नाम-संकीर्तनका सुख यथेष्ट लूटते बनता है और लोग भी वहाँ तंग करने नहीं आते इसलिये तुकाराम एकान्तमें ही रमने लगे। तुकारामजीका एक अभङ्ग है—'देवाचा भक्त तो देवासीच गोड' (भगवान्‌का भक्त भगवान्‌को ही प्यारा होता है)। इस अभंगमें तुकारामजी बतलाते हैं कि भगवान्‌का प्यारा भक्त औरोंका प्यारा नहीं होता, लोग उसे पागल समझते हैं और भी उसे अपना नहीं कहता। वह निर्जन वनमें या ऐसे ही स्थानमें रहता है जहाँ लोग नहीं रहते, वह मात-स्नान कर भूत रमाता और कण्ठमें तुलसी-माला धारण करता है, उसका यह वेष देखकर अपने-पराये सभी उसकी निन्दा करते हैं। यह सब तुकारामजीने

सन्देह नहीं कि साधकके आत्मोद्धार-साधनमें इनसे बड़ा काम निकलता है, इसलिये उसके लिये ये एक प्रकारसे गुरु-स्थानीय ही हैं । अस्तु !

'पाखण्डी मेरे पीछे पड़े हैं ! हे विट्ठल ! मैं उनसे क्या कहूँ ! जो मैं नहीं जानता वही ये मुझसे छलपूर्वक पूछते हैं । मैं इनके पाँव गिरता हूँ तो भी नहीं छोड़ते । तेरे चरणोंको छोड़ और कुछ मैं नहीं जानता । मेरे लिये सब जगह तू ही तू है ।'

* * *

नको दुष्ट संग । पडे भजनामधीं भंग ॥ १ ॥
तुज निषेधिता । मज न साहे सर्वथा ॥ २ ॥
एका माझ्या जीवें । वाद करूँ कोणासवें ॥ ३ ॥
तुझे वर्णु गुण । कीं हे राखो दुष्ट जन ॥ ४ ॥
काय करूँ एका । मुखें सांग म्हणे तुका ॥ ५ ॥

'दुष्ट-सङ्ग न हो, उससे भजन भङ्ग होता है । तुझे नीचा दिखाते हैं यह मुझसे जरा भी नहीं सहा जाता । अपने अकेले जीसे मैं किस किससे वाद करूँ ? तेरे गुण बखानूँ या इन दुष्टजनोंको रखूँ ? तुका कहता है बताओ, एक मुखसे क्या-क्या करूँ ?'

९ एकान्तवासका परम सुख

एकान्तवासमें अनुपम लाभ और अपार आनन्द है । केवल एकान्त ही आधी समाधि है । लोगोंकी भीड़से जब तुकारामजीका चित्त उचटा तब उन्हें एकान्त अधिक प्रिय हुआ । 'निरोधका वचन मुझसे नहीं सहा जाता' क्योंकि उससे जीको बड़ा कष्ट होता है । 'जन-सङ्ग छोड़कर एकान्तमें बैठ रहना मुझे अच्छा लगता है ।' सङ्ग चित्त-वृत्ति निरोधमें बड़ा बाधक है ।

लिखा जाता है, मतलब है कि भगवान् निर्गुण-निराकार हैं, इसलिये हे भगवन् ! अब तुम्हीं बताओ तुम्हारा भजन करूँ या न करूँ—

कलियुगीं बहु कुशळ हे जन । छळितील गुण तुझे गातां ॥ ३ ॥
मज हा संदेह झाला दोहींसवा । भजन करूं देवा किंवा नको ॥ ४ ॥

'कलियुगमें लोग बड़े कुशल हैं। तुम्हारे गुण जो गायेगा उसे ये सतायेंगे। इसलिये मुझे यह सन्देह हो गया है कि अब तुम्हारा भजन करूँ या न करूँ!' हे नारायण! अब यही बाकी रह गया है कि इन लोगोंसे अलग हूँ या मर जाऊँ!

'किसीके घर मैं कभी भीख माँगने नहीं जाता, फिर भी ये खोटे जबर्दस्ती मुझे कष्ट देने आ ही जाते हैं। मैं न किसीका कुछ खाता हूँ न किसीका कुछ रखता हूँ। जैसा समझ पड़ता है भगवन्! तुम्हारी सेवा करता हूँ।'[1]

नाना प्रकारके ढोंग धारण करनेवाले अहम्मन्य विद्वान् और भगवद्भजनका विरोध करनेवाले पाखण्डी मानो हाथ धोकर तुकारामजीके पीछे पड़े थे। तुकारामजीकी निष्ठाको कसौटीपर कसनेके लिये मानो उन्होंने रज-कम्प बाँधा हो। प्रायः प्रत्येक साधकको उत्पीड़न करनेके लिये ऐसे लोग सदा-सर्वदा ही तैयार रहते हैं पर इन दम्भ-अपवादियों और पाखण्डियोंका यही उपयोग होता है कि उनके द्वारा साधकका वैराग्य दृढ़ होता है। भक्तका भक्ति-प्रेम और भी बढ़ता है। साधकको अपने दोष ढूँढ़नेमें भी इनसे बड़ी सहायता मिलती है। तुकारामजीने एक अभंगमें जो यह कहा है कि 'निन्दकका घर पड़ोसमें होना चाहिये' (निन्दकाचें घर असावें शेजारी) इसका भी यही मर्म है। निन्दक, पीडक, वाचाल, कुतर्की, संशयी आदि लोगोंकी चाहे जो भी गति होती हो पर इनसे

सन्देह नहीं कि साधकके आत्मोद्धार-साधनमें इनसे बड़ा काम निकलता है इसलिये उसके लिये ये एक प्रकारसे गुरु स्थानीय ही हैं। अस्तु।

'पाखण्डी मेरे पीछे पड़े हैं। हे विठ्ठल! मैं उनसे क्या कहूँ! जो मैं नहीं जानता वही ये मुझसे छलपूर्वक पूछते हैं। मैं इनके पाँव गिरता हूँ तो भी नहीं छोड़ते। तेरे चरणोंको छोड़ और कुछ मैं नहीं जानता। मेरे लिये सब जगह तू ही तू है।'

* * *

नको दुष्ट संग। पडे भजनामधीं भंग॥ १॥
तुज निषेधिता। मज न साहे सर्वथा॥ २॥
एका माझ्या जीवें। वाद करूं कोणासवें॥ ३॥
तुझे वर्णुं गुण। कीं हे राखो दुष्ट जन॥ ४॥
काय करूं एका। मुखें सांग म्हणे तुका॥ ५॥

'दुष्ट-सङ्ग न हो, उससे भजन भङ्ग होता है। तुझे नीचा दिखाते हैं यह मुझसे जरा भी नहीं सहा जाता। अपने अकेले जीसे मैं किस किससे वाद करूँ? तेरे गुण बखानूँ या इन दुष्टजनोंको रखूँ? तुका कहता है बताओ, एक मुखसे क्या-क्या करूँ?'

९ एकान्तवासका परम सुख

एकान्तवासमें अनुपम लाभ और अपार आनन्द है। केवल एकान्त ही आधी समाधि है। लोगोंकी भीड़से जब तुकारामजीका चित्त उचटा तब उन्हें एकान्त अधिक प्रिय हुआ। 'निरोधका वचन मुझसे नहीं सहा जाता' क्योंकि उससे जीको बड़ा कष्ट होता है। 'जन सङ्ग छोड़कर एकान्तमें बैठ रहना मुझे अच्छा लगता है।' सङ्ग चित्त वृत्ति निरोधमें बड़ा बाधक है।

सवे बहु होय न घडे भजन

विविध हे जन बहु देवा ॥

'जनसमूहसे आलस्य ही बढ़ता है, भजन नहीं बनता। भगवन्! ये विविध जन ही अधिक हैं। इनके अनेक छल-छन्द देखनेमें आते हैं।' आनन्दकन्द भगवान् गोविन्दका ही छन्द जब चाहे वह इन नाना छन्दोंके फन्दोंमें न पड़े। एकान्तमें एकनिष्ठभाव स्थिर रखते बनता है हरि-प्रेम जमाते बनता है। शास्त्रियोंका अपने हितका बोध नहीं होता और जो सच्चा हरि-प्रेमी उन्हें भार जान पड़ता है। इसलिये एकान्त अकेले ही चुपचाप बैठ रहना अच्छा है। एकान्त-सुखकी माधुरी क्या बखानी जाय! स्वयं चखकर देखनेसे ही उसका स्वाद मिल सकता है। एकान्तका प्रिय होना ही ज्ञान मात्रका महालक्षण है। ज्ञानेश्वर महाराज गीता ज्ञानेश्वरीके अध्याय १३ में ज्ञानीके लक्षण बतलाते हैं—

'पवित्र तीर्थ शुद्ध भौत नदीतट रमणीय उपवन और गुहा आदि स्थानोंमें रहना जिसे अच्छा लगता है, (६१२) जो गिरिगुहाओंमें और सरोवरोंके किनारे ही आदरपूर्वक बस जाता है और नगरमें आकर रहना पसन्द नहीं करता, (६११) जिसे एकान्तवास अत्यन्त प्रिय होता है, जनसंसदसे जिसे अरुचि हो जाती है उसीको ज्ञानकी मनुष्याकार मूर्ति जानो। (६१४)

ज्ञानीका यह लक्षण तुकारामजीपर ठीक-ठीक घटता है। जनरवसे उनका चित्त हट नगरमें रहना उन्होंने छोड़ ही दिया। गोरड़ा भामनाथ या भण्डारा इन्हींमेंसे किसी पर्वतपर वह सारा दिन रहते थे। भण्डारा-पर्वतपर पश्चिम तरफ एक गुहा है और उसके पास ही एक झरना है। इसी स्थानमें वह रहते थे। पर्वतके शिखरपरसे चारों ओरका दृश्य बड़ा ही सुहावना है—दूर-दूरतक छोटे-बड़े अनेक पर्वत हैं, चारों ओर हरियाली
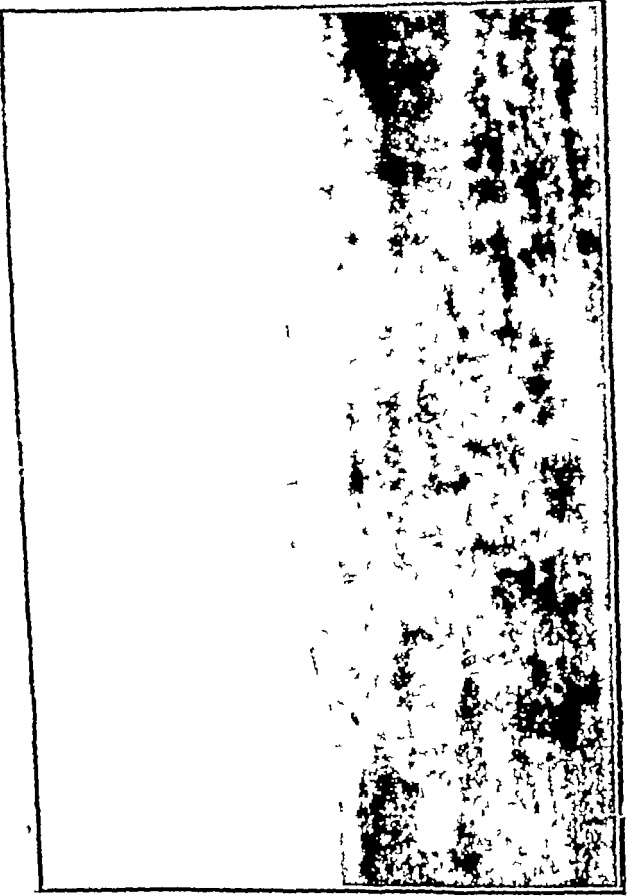
भण्डारा पहाड़

छायी हुई है, बीचमें इन्द्रायणी बह रही है और जहाँ-तहाँ छोटे-बड़े अनेक जल-प्रवाह दिखायी देते है। ऐसे सुशोभित उस भण्डारा पर्वतको तुकाराम-जीके समागमसे तपोवन होनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ। उनके हरि नाम-सङ्कीर्तनसे भण्डारा-पर्वत गूँजता था। वहाँकी तरु लताएँ और पशु-पक्षी तुकारामकी पुण्य-मूर्तिके नित्य दर्शन कर आनन्दित होते थे और उनका आनन्द तुकारामजीके हृदयमें भी प्रतिध्वनित होता था। श्रीविट्ठलरगमे रँगे हुए भण्डारा-पर्वतके इन तपोनिधिकी दिव्य मूर्तिके जिन नेत्रोने दर्शन किये होंगे वे नेत्र धन्य है, और तो और, वहाँके वृक्ष, पौधे, लताएँ, फल-फूल तथा उस पुण्य-भूमिमें विहार करनेवाले पशु पक्षी और वहाँके चिरकालसे मौन साधे हुए पाषाण भी धन्य है। तुकारामजीको एकान्तवास बहुत ही प्रिय और पथ्यकर हुआ। निर्मलीकी जड़ पानीमे डाल देनेसे पानी जैसे स्वच्छ हो जाता है, वैसे ही एकान्तवाससे उनके चित्तकी मलिन वृत्तियाँ स्वच्छ हो गयीं, उनका अन्त करण रमणीय और प्रसन्न हो गया। गीताके छठे अध्यायमें 'शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य' आसन लगानेके लिये 'शुचि देश' का जो सङ्केत किया है उसपर भाष्य करते हुए ज्ञानेश्वर महाराजने एकान्तवास-का बड़ा ही मनोरम वर्णन किया है। वह शुचि अर्थात् पवित्र देश ऐसा सुरम्य होता है कि 'वहाँ सुख-समाधानके लिये एक बार बैठनेसे फिर (जल्दी) उठनेकी इच्छा नहीं होती, वैराग्य दूना हो जाता है। सतोंने जो स्थान बसाया वह सन्तोषका सहायक, मनका उत्साहवर्धक और धैर्यका देनेवाला होता है। ऐसे स्थानमे जो अभ्यास करता है वह हृदयमें अनुभव वरण करता है। रम्यताकी यह महिमा वहाँ अखण्ड रहती है।' (१६४–१६६) तात्पर्य, एकान्तवासके शुचि प्रदेशमें ज्ञान-वैराग्यका बल दूना होता है, इच्छा हो या न हो तो भी अभ्यास स्वय ही हृदयमें प्रवेश करता है, चित्तके मलिन सस्कार नष्ट हो जाते है और चित्त प्रसन्न होता है, इतना सुख और समाधान होता है कि दिन-रात कैसे बीतते हैं सो भी नहीं जान

पड़ता, भगवत्प्रेमके तरङ्गोंमें विहार करते-करते जीव-भाव ही विलीन हो जाता और अखण्ड ब्रह्मानन्दका अनुभव प्राप्त होता है। इसीलिये तो साधु-संत गिरि-कन्दराओंमें, नगरसे दूर जलाशयके तीरपर सर्वसङ्ग परित्याग करके बैठ जाते हैं। नगरोंमें बैठे-बैठे चाहे जितने ग्रन्थ पढ़ जाइये या लिख डालिये, व्याख्यान सुनिये या दीजिये, दिन-रात चर्चा कीजिये, तो भी शब्दोंके शिल्पकारके सिवा और कुछ भी इनसे हाथ न आवेगा, अनुभव और उसका आनन्द इनसे बहुत दूर है। नर-नारियोंसे भरे हुए नगरोंमें अनेक प्रकारके संसर्ग होते हैं, उनसे गुण-दोष अपने अंदर भी आ ही जाते हैं; शब्दोंका कोलाहल खूब होता है पर निजात्मरूपका आनन्द नहीं मिलता। एकान्तके बिना मन नहीं ठहरता, अनुभवका दिव्य सुख नहीं प्राप्त होता। सभी सत्पुरुष इसीलिये अपने जीवनका कुछ काल एकान्तवासमें बिताते हैं। घर-गिरस्तीके सम्बन्धमें इस आशयकी एक कहावत भी है कि 'कमाना शहरका और खाना देहातका' इसी प्रकार परमार्थके विषयमें भी कह सकते हैं कि सत्सङ्गसे उपार्जन करे और एकान्तमें भोगे। एकान्तके बिना परमार्थ आत्मीभूत नहीं होता, मन निर्मल नहीं होता। तुकारामजीने जो कुछ अध्ययन किया, प्रायः एकान्तमें किया। देहू गाँवमें उनका आना-जाना लगा रहता था पर इतनेसे भी उनका चित्त दुःखी हुआ, और इसका पता उन्होंने एकान्तमें बैठकर ही सुलझाया। एकान्तवासके अपने अनुभवके सम्बन्धमें उनके दो अभंग हैं—

वृक्षवल्ली आम्हां सोयरीं वनचरें।
पक्षीही सुस्वरें आळविती ॥ १ ॥
येणें सुखें रुचे एकांताचा वास।
नाहीं गुणदोष अंगा येत ॥ ध्रु० ॥

आकाशमंडप पृथिवी आसन ।
रमे तेथें मन क्रीडा करूं ॥ २ ॥
कंथाकुमंडल देहउपचारा ।
जाणवीतो वारा अवसरू ॥ ३ ॥
हरिनामें भोजनप्रवडी विस्तार ।
करूनी प्रकार सेवू रुची ॥ ४ ॥
तुका म्हणे होये मनासी संवाद ।
आपलाची वाद आपल्यासी ॥ ५ ॥

इस एकान्त उपवनमें, 'वृक्षवल्ली और वनचर ही हमारे अपने लोग हैं। पक्षी भी सुस्वर गायन कर मनाते रहते हैं। इसी सुखके कारण एकान्तवास अच्छा लगता है, किसीके गुण-दोष अपनेको नहीं लगते। ऊपर आकाशका मण्डप तना है, नीचे पृथ्वीका आसन है, जहाँ मन रमता है वहीं बैठकर आनन्द करता हूँ। हरि नाम-रसके उत्तम भोजन तैयार कर यथारुचि सेवन करता हूँ। तुका कहता है, मन-ही-मन सवाद-सुख भोगता हूँ, आप ही अपनेसे वाद विवाद कर लेता हूँ।' ये सब सुख एकान्तमें प्राप्त होते हैं, इसलिये एकान्त मुझे प्रिय है।

खेळों मनासवें जीवाच्या सवादें ।
कौतुकें विनोदें निरजनीं ॥ १ ॥
पर्चीं पडिलें तें रुचे वेळोवेळा ॥
होतसे डोहळा आवडीसी ॥ ध्रु० ॥
एकाताचें सुख जडलें जिव्हारीं ।
वीट परिचारीं बरा आला ॥ २ ॥
जगाऐसी बुद्धि नव्हे आतां कदा ।
लंपट गोविंदा झालों पायीं ॥ ३ ॥

> भाविक ते पिता मनम करावी ।
> नित्य नित्य नवी आवडी हे ॥४॥
> तुका म्हणे भला रमविला पाहोन ।
> पांडुरंगी मन विसावले ॥५॥

'निरञ्जन (मायातीत) के चरणोंमें बैठकर कौतुक और विनोदके साथ अपने जीकी बातें किया करता और मनके साथ खेलता रहता हूँ। जो पद आता है वही बार-बार रचता है वह रुचि बराबर बढ़ती ही जाती है। एकान्तका सुख ही अब हृदयमें बैठ गया है अनलस और बाह्य उपाधियोंसे चित्त उचट गया है। अब अन्य-भेदी बुद्धि ही नहीं रही भगवान्‌के चरणोंका लम्पट हो गया हूँ। अब और कोई चिन्ता नहीं करनी पड़ती वह माधुर्य ऐसा है कि नित्य नया आनन्द मिलता है। तुका कहता है अब यही अभ्यास हो गया है। श्रीपाण्डुरङ्गमें मनको विश्राम मिल गया है।'

श्रीपाण्डुरङ्गके चरणोंमें आपको वह विश्राम-सुख मिला कि आपके मनकी सारी चिन्ता और व्याकुलता दूर हो गयी और श्रीपाण्डुरङ्गके चरणोंमें आपको वह आनन्द मिलने लगा जिसके निरन्तर भोगते रहनेकी इच्छा ही बढ़ती जाती है, और यही इच्छा यही रुचि नित्य-नये स्वाद ले रही है। यह नित्य नया आनन्द भोगिये खूब भोगिये। आगे आनेपर इसी आनन्दके गर्भसे श्रीकृष्णका जन्म होनेवाला है, तब हमें भी उनके जन्मपर बधाईकी मिठाइयाँ मिलेंगी। उन्हींके लिये हम अधीर हो उठे हैं।

१० अहङ्कार कैसे गला ?

जीवमें अहंकार सहज ही होता है। आत्मस्वरूपको वह ढँके रहता है इसीलिये शास्त्र कहते हैं कि अहंकार तामस है। इस तमोमय अहंकारके अनन्त प्रकार हैं। देह मैं हूँ जीव मैं हूँ ब्रह्म मैं हूँ ये सब अहंकारके

ही भेद है। देह मैं हूँ, इसे मलिन अहंकार कह सकते हैं और ब्रह्म मैं हूँ, इसे उज्ज्वल अहंकार कह सकते हैं। 'देह मैं हूँ' कहनेके साथ ही अहंकारकी लाखों चिनगारियाँ निकलती हैं। रूप, धन, विद्या, गुण, कीर्ति आदि जीवके अहंकारके विषय होते हैं। देश, भाषा, धर्म, वर्ण, जाति, कुल आदि भी अहंकारके विषय बनते हैं। वेदान्त-शास्त्र यह बतलाता है कि गुण-दोष प्रकृति-स्वभाव है इसलिये जीवको उनसे कोई हर्ष-विषाद न होना चाहिये, एककी स्तुति और दूसरेकी निन्दा करनेका भी वस्तुतः कोई कारण नहीं है, पर मजा यह है कि ज्ञानी अज्ञानी सबके सिरपर यह अहंकार सवार रहता है। प्रकृतिके परे जो परमात्मा हैं उनकी ओर जबतक आँखें नहीं लग जातीं तबतक यह अहंकार किसीको भी नहीं छोड़ता। जीव और परमात्माके बीच यह परदा लटक रहा है, जबतक यह नहीं हटता तबतक परमात्माके दर्शन भी नहीं होते। ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं कि 'बहु धन त्याग दो, अपना शब्दज्ञान भूल जाओ, सबसे छोटे बन जाओ, ऐसा करनेसे मेरे समीप आओगे।' (ज्ञानेश्वरी ९-३७८) यह सच है, पर भगवत्कृपाके बिना अहंकार सर्वथा दूर नहीं होता। जैसे-जैसे अहंकारका एक-एक परदा फटता जायगा वैसे-वैसे परमात्मा सम्मुख होते जायँगे, जब सब परदे फट जायँगे तब उनसे मिलन होगा। अहंकार विद्वानोंके पीछे तो सबसे अधिक लगता है। ज्यों ही कोई कला या विद्या प्राप्त हुई त्यों ही यह उसके आड़में अपना आसन जमाता है। कोई गुण या विद्या न होते भी अहंकारका उग्र हो उठना केवल अज्ञान और मूर्खत्वका लक्षण है। चित्तमें ऐसे अहंकारको पालते-पोसते हुए ऊपरी दिखावमें नम्रता धारण करना धूर्तोंकी एक धूर्तता है, उससे कल्याणका साधन कुछ भी नहीं होता। अहंकार मौजूद है और इसे जानकर क्लेश भी होता है, यह साधकका लक्षण है। और अहंकार 'है तो कहाँ है, इसका कोई स्मरण ही नहीं' यह

अन्दर गर्व घुस बैठना चाहता है इसलिये कि मेरा सर्वस्व हरण करे। चित्तको ऐसा जान पड़ रहा है कि मैं ही एक ज्ञाता हूँ। तुका कहता है, हे पण्ढरिनाथ! मेरा जीवन व्यर्थ नष्ट हो रहा है, अब रक्षा करो, प्रभु, रक्षा करो।'

* * *

मजपुढें नाहीं आणीक बोलता। ऐसें काहीं चित्ता वाटतसे ॥१॥
याचा काहीं तुम्हीं देखावा परिहार। सर्वज्ञ उदार पाण्डुरंगा ॥ध्रु०॥
कामक्रोधें नाहीं सांडिलें आसन। राहिले वसो न देहामध्यें ॥२॥
तुका म्हणे आता जालों उतराई। कळों यावें पाईं निरोपिलें ॥३॥

'चित्तको कुछ ऐसा जान पड़ रहा है मानो मेरे सामने और कोई वक्ता ही नहीं है। हे सर्वज्ञ उदार पाण्डुरङ्ग! इसका कुछ परिहार तो कीजिये। काम-क्रोधने अभी आसन नहीं छोड़ा, देहमें जमे ही हुए हैं। तुका कहता है, अब मेरे ऊपर कुछ भार न रहा। आप जानें, आपके चरणोंमें सब निवेदन कर दिया।'

इस प्रकार भगवान्‌के सामने अपना हृदय खोलकर रख देना और हर काममें उनसे सहायता माँगना बड़ी उत्कट भक्ति है। चित्तमें अहङ्कारकी ऐसी वृत्तियाँ उठती हैं जिनसे यह भासने लगता है कि मैं बड़ा पण्डित हूँ, मैंने बहुत पढा है, कितने ग्रन्थ देख डाले हैं, मैं उत्तम वक्ता हूँ, ज्ञाता हूँ, उत्तम कीर्तनकार हूँ इत्यादि। परन्तु भगवन्! ये वृत्तियाँ सर्वस्व छीननेवाली हैं, इसलिये आप ही दयाकर इनका परिहार कीजिये। हे नारायण! आप सर्वज्ञ हैं, उदार हैं, समर्थ हैं। आप इस अहङ्कारको मेरे चित्तसे निकाल बाहर कीजिये।

कथनीं पठणीं करुनि काय। वाचुनि रहणी वायां जाय ॥१॥

'कथनी पठनी करके क्या होगा? बिना रहनीके सब व्यर्थ ही जाता है।'

ग्रन्थाध्ययन खूब किया और लोगोंको ज्ञान भी खूब पढ़ाया, पर यह ज्ञान रहनीमें-आचरणमें यदि न आया तो उससे क्या लाभ ? मुखसे तो अमृतवाणी निकल रही है पर स्वयं भूखसे व्याकुल हैं तो ऐसी वाणी हुई तो क्या और न हुई तो क्या ? चीनीकी चाशनीमें यदि पत्थर डाल दें तो उस पत्थरको उस चाशनीसे क्या ? मधुमक्खी मधु जमा कर रखती है पर उसके छत्तेको कोई और ही मार ले जाता है । लोभी थोड़ी-थोड़ी जोड़कर द्रव्य जमा करता है और उसे जमीनमें अपने हाथसे गाड़ रखता है पर वह दूसरोंके हाथ आता है, इसके हाथ और मुँहमें मिट्टी ही लगती है । इस प्रकार अनेक मार्मिक दृष्टान्त देकर तुकारामजी कहते हैं—

आपुलें केलें आपण खाय । तुका वंदी त्याचे पाय ॥४॥

‘अपना किया जो आप खाता है तुका उसके चरण-वन्दन करता है।’

महत्प्रयास करके गुरु-शास्त्र-मुखसे ज्ञानार्जनकर जो उस ज्ञानामृतको स्वयं सेवन करता हो, अपने ज्ञानभोगसे जो आप ही तृप्त होता हो, जिसका ज्ञान आचरणमें उतर आया हो वही वक्ता धन्य है । स्वयं ज्ञान भोगकर जो दूसरोंको ज्ञान-भोग देता है वह ज्ञानदाता धन्य है ! हरिकीर्तन करते हुए ब्रह्मानन्दकी वर्षा करके श्रोताओंके अन्तःकरणोंको शान्त और निर्मल करनेवाला जो हरिभक्त कीर्तनकार उस ब्रह्मानन्दकी वृष्टिमें भीगकर शान्त हुआ हो, तुकारामजी कहते हैं कि उसके चरणोंका मैं दासानुदास हूँ, मुझमें यह सामर्थ्य नहीं लोग मेरी कथा सुनकर डोलने लगते हैं । पर मुझे अपनी वाणी नीरस ही जान पड़ती है क्योंकि भगवन् ! आपका उसमें प्रकाश नहीं आपका उसमें आसन नहीं ।

‘अब हे पाण्डुरङ्ग ! और क्या कहूँ ! कोरी बातोंसे ही इस सेवककी खातिर मत कीजिये । वह प्रेम भक्ति दीजिये जो सौभाग्यकी सीमा है । तुकाको अपना प्रसाद दीजिये ।

११ स्वदोष-निवेदन

भगवन् ! मैं नित्य आपके गुण बखानता हूँ, श्रोताओंपर भक्तिभाव
ा देता हूँ, लोग मेरी प्रशंसा करते हैं, पर मेरे अन्दर वह रस नहीं,
हनी-जैसी करनी नहीं।

'तुम्हें देखनेकी इच्छा करता हूँ, पर इसके अनुकूल आचरण नहीं
नता, जैसे कोई बाहरी वेष बना ले, सिर मुँड़ा ले, दण्ड धारण कर ले,
र मन न मुँड़ावे।'

* * *

'मैं अपने ही चतुर बन बैठा हूँ, पर हृदयमें कोई भाव नहीं है,
केवल यह अहङ्कार हो गया है कि मैं भक्त हूँ। अब यही बाकी रह गया
है कि नष्ट हो जाऊँ, क्योंकि काम क्रोध अंदर आसन जमाये हुए बैठे ही
हैं। लोगोंके गुण-दोष ढूँढते निकालते मेरे ही अंदर आकर बैठ गये,
बुद्धिमें प्राणियोंके प्रति मात्सर्य आ गया। तुका कहता है, लोगोंको मैं
उपदेश देता हूँ पर मैं तो एक दोषको भी पार नहीं कर पाया।'

मैं कीर्तन करता हूँ, नाचता हूँ, गाता हूँ, पर अन्तःकरण मेरा अभी
पत्थर-सा ही कठोर बना हुआ है, वह प्रेम ही अभी नहीं मिला जो उसे
पिघला दे। प्रेमकी बातें तो मैं बहुत कहता हूँ पर प्रेमसे चित्त अभी नृत्य
नहीं करता, नेत्रोंसे प्रेमाश्रुधारा नहीं वह निकलती। चिन्तनसुखसे हृदय
अभीतक प्रेममय नहीं हो उठता।

बोलविसी तैसें आणी अनुभवा। नाहीं तरी देवा विटंबना॥

'जैसे तुम बुलवाते हो वैसा अनुभव यदि नहीं होता तो हे भगवन् !
यह विडम्बना ही नहीं तो और क्या है ?'

मीठा हो पर उसमें मिठास न हो तो वह मीठा क्या ? शरीर-श्रृङ्गार
हो पर उसमें प्राण नहीं, स्वाँग हो पर उसमें तन्मयता नहीं, रूप हो पर

उसमें गुण नहीं, सम्पत्ति हो पर सन्तति नहीं तो इनके होनेमें क्या रखा है ! तुकारामजी कहते हैं कि ऐसा ही मेरा हाल हो रहा है और मेरा प्रेमभावका पता ही नहीं लगता कि कहाँ है । इससे अच्छा तो तुकारामजी कहते हैं कि यही है कि लोगोंमें मेरी बदनामी हो, साधु कहकर जो लोग मेरी सेवा करते हैं वे सब निन्दा करते हुए मेरा तिरस्कार करें, क्योंकि ऐसा होनेसे मैं तुम्हारी सेवा एकान्त मनसे कर सकूँगा ।

'आपकी मैं पठरी हूँ । अपने पैरोंमें मैंने अपनी परपसेवारूप चोर बैठा रखा है । रक्षा करो मुझे हे नारायण ! और मेरा मान-अभिमान उतारो । हे भगवन् ! पूज्य करके लोगोंसे मैं अपनी सेवा कराता हूँ । तुम्हारा तेरा हुआ न संसारका दोनोंसे गया केवल चोर बना रहा !'

इससे हरि-प्रेमसे अन्तरंग रँगने लगा 'सारा लोक श्रीहरिका है यहाँ वहाँ सर्वत्र है' जीवके अहंभावके लिये कहीं जरा-सी भी जगह नहीं, नरकका द्वार अभिमान भगवान्से अलग करनेका ही काम करता है, यह तत्त्व जैसे-जैसे तुकारामजीको प्रतीत होने लगा वैसे-वैसे जन-मान पानेकी इच्छा उनकी समूल नष्ट हो गयी । लोग साधु-महात्मा कहकर भजते हैं दर्शन करके पूजते हैं, स्तुतिस्तोत्र गाते हैं, प्रेम और आग्रहसे उत्तम मिष्टान्न भोजन कराते हैं, इस समूचे लोकव्यवहारसे तुकारामजीका जी ऊब गया उनके ध्यानमें यह बात आ गयी कि यह जन-मान मुझे परमेश्वरसे पटककर मेरे परमार्थका सत्यानाश करनेवाला है । जिस मान सेवा, स्तुति और गौरवके लिये ज्ञानी भी तरसा करते हैं उसके तापसे तुकारामजीका चित्त दग्ध होने लगा, जन-मानका यह ताप उनके लिये दुस्सह हो उठा !

भला म्हणे जन । परी नाहीं समाधान ॥१॥
मासें तळमळी चित्त । अंतरलें दिसे हित ॥२॥
रूपेंचा आभार । नाहीं, धर्म अधर्म पार ॥३॥

'जन कहते हैं, तुम भक्त हो, पर इससे समाधान नहीं होता। चित्त विकल रहता है, हित दूर ही रह जाता है। कृपाका आधार नहीं, केवल दम्भ बढ गया है ।'

नव्हे सुख मज न लगे हा मान। न राहे हे जन काय करूं ॥ १ ॥
देह उपचारें पोळतसे अंग। विषतुल्य चांग मिष्टान्न हें ॥ध्रु०॥
नाइकवे स्तुति वानितां थोरीव। होतो माझा जीव कासावीस ॥ २ ॥
तुज पावे ऐसी सांग कांहीं कळा। नको मृगजळा गोवूं मज ॥ ३ ॥
तुका म्हणे आतां करीं माझें हित। काढावें जळत आगींतूनी ॥ ४ ॥

'इसमें मुझे कोई सुख नहीं है, ऐसा मान मुझे नहीं चाहिये, पर ये लोग नहीं मानते, क्या करूँ ? देहके इन उपचारोंसे शरीर झुलस रहा है, यह उत्तम मिष्टान्न विष-सा लग रहा है। लोग बड़ी प्रशंसा करते हैं पर मुझसे वह सुनी नहीं जाती, जी छटपटाया करता है। तुम जिसमें मिलो ऐसी कोई कला बताओ, मृग-जलके पीछे मत लगाओ। तुका कहता है, अब मेरा हित करो, इस जलती हुई आगसे निकालो ।'

* * *

लोक म्हणती मज देव। हा तों अधर्म उपाव ॥ १ ॥
आतां कळेल तें करीं। शीस तुझे हातीं सुरी ॥ध्रु०॥
अधिकार नाहीं। पूजा करिती तैसा कांहीं ॥ २ ॥
मन जाणे पापा। तुका म्हणे मायबापा ॥ ३ ॥

'लोग मुझे (ईश्वर) बतलाते हैं, यह तो अधर्म ही पल्ले बाँध लेना है। अब जैसा समझ पड़े वैसा करो, यह शीश तुम्हारे हाथमें और कृपाण भी तुम्हारे हाथमें है। लोग मुझे जैसा पूजते हैं वैसा तो मेरा कोई अधिकार नहीं है; क्योंकि मन तो पापोंको जानता है। तुका कहता है, तुम्हीं मेरे मा-बाप हो ।'

संसार तो बाहरी रंग देखता है, उसीपर मोहित होता है, पर मनका हाल तो मन ही जानता है। लोगोंसे अपनी पूजा कराना तो अधर्म है, अधोगतिका मार्ग है और फिर मैं तो इसके योग्य नहीं। इसलिये कहते हैं कि मुझे दण्ड दीजिये अपना सिर मैंने आपके हाथोंमें दे दिया है, अधर्मका उच्छेद करनेके लिये ही तो आपका अवतार है।

'तुम्हारे गुण तो गाता हूँ, पर अन्तःकरणमें तुम्हारा भाव नहीं है, केवल संसारमें शोभा पानेका यह एक ढंग हो रहा है। पर तुम पतितपावन हो अपनी इस बातको सच करो। मुखसे मैं दास कहाता हूँ पर चित्तमें माया-लोभ-आशा भरी हुई है। तुका कहता है मैं जैसा वेष दिखाता हूँ वैसा अंदर लेश भी नहीं है।

• • •

बिना सेवा किये ही दास कहाता हूँ और भूखेंवाले अपना पेट भरता हूँ। तुम्हारे चरणोंमें शठ भी कहीं चल सकता है? हे पाण्डुरङ्ग! अंदरका हाल तो तुम जानते हो।

• • •

तुमची कृपा केली नाहीं। माझें चित्त मज ग्वाही ॥ २ ॥
तुका म्हणे देवा। मज सांगा का चाळवा ॥ ४ ॥

'तुम्हारी कृपा मैंने नहीं प्राप्त की, मेरा चित्त ही इसमें मेरा गवाह है। मुझ तुकाको हे भगवन्! क्यों नष्ट होने देते हो!

काये आम्ही मान माझा मज देवा।
पायपोस जीवा भाट करी ॥ २ ॥
बोलुनी अक्षरें केली तोंडपिटी।
न कळे शेवटीं हातीं काहीं ॥ ३ ॥
देव जोडे म्हणून सांगतसे लोकां।

माझा मीच देखा दुःख पावें ॥ २ ॥
तुका म्हणे माझे गेले दोन्हीं ठाव ।
संसार न पाय तुझे देवा ॥ ३ ॥

'मेरा भाव क्या है सो मुझे अब मालूम हो गया । हे भगवन् ! मैंने जो कुछ किया वह तुम्हारे चरणोंके विना जीवको केवल कष्ट दिया । अक्षर जोड़कर गाल बजाया, उससे अन्तमें कुछ भी हाथ न आया । लोगोंसे कहता फिरा कि भक्तको भगवान् मिलते हैं, पर मैं स्वयं ही दुःख भोग रहा हूँ'। तुका कहता है, इस तरह मेरे दोनों ठाँव गये, संसारसे हाथ धो बैठा और तुम्हारे चरण भी नसीब नहीं हुए ।'

❀ ❀ ❀

काय आता आम्ही पोटचि भरावें ।
जग चाळवावें भक्त म्हणू ॥ १ ॥
ऐसा तरी एक सांगाजी विचार ।
बहु होतों फार कासावीस ॥ध्रु०॥
काय कवित्वाची घालूनिया रूढी ।
करूं जोडाजोडी अक्षरांची ॥ २ ॥
तुका म्हणे काय गुंपोनि दुकाना ।
राहों नारायणा करूनि घात ॥ ३ ॥

'तो क्या अब पेट ही भरनेका धन्धा करूँ ? भक्त कहलाऊँ और जगके पीछे चलूँ ? और कुछ नहीं तो यही एक बात बता दीजिये, जी बहुत ही छटपटा रहा है, उसे कुछ तो शान्ति मिले । क्या कविता बनानेकी रूढि चलाकर अक्षरोंको जोड़ा करूँ ? तुका कहता है, हे नारायण ! बताओ क्या करूँ ? क्या दूकानका जाल बुनकर आत्मघात करके रहूँ ?'

❀ ❀ ❀

जूती हूँ । मुझे निजस्वरूपकी कुछ भी पहचान नहीं, भजन कर लेता सो भी दूसरोंकी देखा देखी । मुझे क्षरकी पहचान नहीं, अक्षरकी पहचान नहीं; महाशून्यकी पहचान नहीं; आत्मानात्मविवेक नहीं । तुका क्या है, कुछ भी नहीं, आपके चरणोंमें वह अपना मस्तक रखता है । इतना ही उसका अधिकार जानिये ।' इसलिये 'सत' नामसे मुझे अलङ्कृत मत कीजिये, मैं उसका पात्र नहीं । सत वही है जिसे आत्मसाक्षात्कार हुआ हो, जिसने क्षर, अक्षर और सबका अपने अदर लय करनेवाले महाशून्य-को जाना हो, जिसकी बुद्धिमें आत्मानात्मविवेक सिद्ध हुआ हो । 'सत' नामका अलङ्कार उसीको शोभा देता है, मुझे नहीं ।

महात्मा तुकाराम सतोंसे प्रार्थना करते हैं कि आप लोग कृपा कर मेरी स्तुति न करें । स्तुति अभिमानका विष पिलाकर मुझे मार डालेगी । भगवान् अभिमानको क्षमा नहीं करते ! मुझे यदि अभिमान हुआ तो मेरे श्रीविट्ठलनाथ मुझे छोड़ देंगे और आप लोग भी छोड़ देंगे ।

न करावी स्तुति माझी सतजनीं । होईल यावचनीं अभिमान ॥ १ ॥
भारें भवनदी नुतरवे पार । दूरावती दूर तुमचे पाय ॥ध्रु०॥
तुका म्हणे गर्व पुरवील पाठी । होईल माझ्या तुटी विठोबाची ॥ २ ॥

'संत-सज्जन मेरी स्तुति न करें, उनके स्तुति वचनोंसे मुझे अभिमान होगा । उस भारसे भव-नदीके पार उतरते नहीं बनेगा और आपके चरण दूरसे और दूर हो जायँगे । तुका कहता है, गर्व हाथ धोकर मेरे पीछे पड़ जायगा और मेरे विट्ठलनाथ मुझसे बिछुड़ जायँगे ।'

१२ सत्सङ्ग

अब हमलोग सत्सङ्गका विचार करें । तुकारामजीको कीर्तनके प्रसङ्ग-से सत्सङ्ग लाभ हुआ, भगवान्के गुणानुवाद सुनने और गानेका अवसर मिला ।

कथा त्रिवेणी संगम । देव भक्त आणि नाम ॥

यह आनन्द अद्भुत है। वाद करनेवाले, निन्दा करनेवाले, छलनेवाले और पाखण्ड रचनेवाले—इन सबकी बदौलत तुकारामजीको कष्ट ही हुआ; पर इसकी क्षतिपूर्ति सज्जनोंके सत्संगसे हो गयी। संसारमें प्रेमी भावुक और भक्तराज सभी स्थानोंमें सदा ही होते हैं। ऐसे लोग कीर्तन-प्रसङ्गसे तुकारामजीकी ओर खिंचे चले आये। इनके प्रसङ्गमें तुकारामजीके आनन्दका क्या पूछना है!

तुका म्हणे घरें आनंदी आनंदु । गोविंदें गोविंदु मिरविला ॥

'तुका कहता है इससे आनन्द-ही-आनन्द हो गया, गोविन्द (भक्त) से गोविन्दकी पहचान तैयार हो गयी।'

तुकाराम सत्सङ्गका लाभ बतलाते हैं—

हरिदास जब मिलते हैं तब सब पाप-ताप दैन्य और संकट दूर भागता है। तुका कहता है वैष्णवोंके चरण-दर्शन करनेसे मनका समाधान हुआ।

● ● ●

वैराग्याचें भाग्य । संतसंग हाचि लाभ ॥ १ ॥
संत कृपेचे हे दीप । करी साधका निष्पाप ॥ धु ॥
तुका प्रेमें नाचे गाये । गाणियांत विरोनि जाय ॥ २ ॥

सत्सङ्ग लाभ ही वैराग्यका सौभाग्य है। संत-कृपाके ये दीप साधकको निष्पाप कर सकते हैं। इन संतोंके बीचमें तुका प्रेमसे नाचता-गाता है और गानोंमें लीन हो जाता है।

● ● ●

जिनके हृदय सम्पुटमें नारायण भर गये अथवा जो भावुक और विश्वासी हैं तुका कहता है मैं उन्हें वन्दन करता हूँ।

● ● ●

'सत-चरणोंकी रज जहाँ पड़ती है वहाँ वासनाका बीज सहज जल जाता है। तब राम-नाममें रुचि होती है, और घड़ी-घड़ी सुख लगता है। कण्ठ प्रेमसे गद्गद होता, नयनोंसे नीर बहता और हृ नामरूप प्रकट होता है। तुका कहता है, यह बड़ा ही सुलभ सुन्दर है, पर पूर्व-पुण्यसे ही यह प्राप्त होता है।'

* * *

'सत-चरणोंकी रजका अनुभव मुझे अपने अंदर प्राप्त इसके सेवनसे वह सुख मिला जिसमें कोई दुःख नहीं होता।'

* * *

'काया, वाचा, मनसा मैं हरिदासोंका दास हुआ। कारण, दासोंके हरि-कीर्तनमें प्रेम-ही-प्रेम भरा है, करताल और मृदङ्गका है। दुष्टबुद्धि सब नष्ट हो जाती है और हरि-कीर्तनमें समाधि लग जात

* * *

'सत-मिलनकी बड़ी इच्छा थी, बड़े भाग्यसे वह मिलन तुका कहता है, इससे सब परिश्रम सफल हो गया।'

* * *

यहाँ 'सत' शब्दका अर्थ अच्छी तरहसे समझ लेना च तुकारामजीने इन अभंगोंमें हरिदास (हरि-कीर्तन करनेवाले), प्रेमी वारकरी इन सबको ही सत कहा है। 'सत' शब्दका इतना प्रयोग जो तुकारामजीने किया, इससे क्या समझा जाय ? क्या उ सतोंकी इतनी भरमार हो गयी थी या तुकाराम अपनी सिधाईसे स सत समझते और कहते थे ? नहीं, ये दोनों कल्पनाएँ गलत है सत तो सदा ही दुर्लभ होते हैं। ऐसे सत तुकारामजीके समयमें तुकारामजीका उनसे समागम भी हुआ था। चिन्तामणि देव अनगढशाह, नगरके शेख महम्मद, बोधले बाबा और दैठणकर साथ उनकी भेंट-मुलाकात थी और वृद्धावस्थामें समर्थ रामदाससे भी

भेंट हुई थी। पर ऐसे संत तो विरले ही होते हैं। सच्चे संतोंके लक्षण तुकारामजीने अपने अभंगोंमें दिये हैं। तुकाराम संत किसको मानते थे, संतोंकी उनकी कसौटी क्या थी इसका वर्णन पहले आ चुका है। संतोंके सम्बन्धमें उनकी कसौटी सामान्य नहीं थी। फिर यह बात भी नहीं है कि तुकाराम किसीको अज्ञानसे या भोलेपनसे संत कहते। उन्होंने बने हुए भेषधारी साधुओं पाखण्डियों और दाम्भिकोंकी खूब खबर ली है। तुकारामजीकी सत्यनिष्ठा इतनी अत्यन्त, भक्ति इतनी आन्तरिक और सच्ची न्यायसे ऐसी निठुर थी कि ढोंग उनमें जरा भी लेश नहीं था। उनके समयमें न तो संतोंकी ही रेलपेल थी और न तुकाराम ही भोले-भाले थे। तब उन्होंने 'संत' शब्दका प्रयोग इतना ढीला-ढाला क्यों किया है? इसका समाधान यह है कि कई स्थलोंमें तो उन्होंने इस शब्दका प्रयोग गौरवार्थ किया है। सब वारकरी तुकाराम नहीं थे। किसी भी सम्प्रदायमें सामान्य जन-समूह जैसा होता है वैसे ही वारकरी भी थे। पर सम्प्रदाय-प्रवर्तकोंको अपना सम्प्रदाय बढ़ानेके लिये सामान्योंमें भी जो कुछ विशेष हुए, जिनमें उत्साह, दृढ़ता आदि गुण कुछ अधिक मात्रामें दीख पड़े उन्हें गौरवान्वित कर और अधिक कार्यक्षम बनानेके हेतु उन्हें सम्मान देकर उत्साहित करना होता है। इसमें कोई धूर्तता या ढोंग हो ऐसी बात नहीं है। जो लोग यह समझते हैं कि हमारा सम्प्रदाय जनसमाज और राष्ट्रके लिये कल्याणकारक है, इसका प्रचार होना आवश्यक है इससे लोगोंका उद्धार होना चाहिये वे हर उपायसे उस सम्प्रदायको बढ़ानेका उपाय करते हैं।* इसके लिये उन्

* इस समय भी ऐसा हो रहा है। देशका काम करनेवालोंको देश-भक्त कहकर गौरवान्वित किया जाता है। तिलक महाराजकी-सी देश-भक्ति जिसमें हो वही सच्चा देश-भक्त है, पर देशकी विविध-सी सेवा करनेवालोंको भी देश-भक्त कहकर गौरवान्वित करना अनुचित नहीं कहा जा सकता।

उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ सब प्रकारके लोगोंको सम्हाले रहना पड़ता है। इस न्यायसे नामदेव-एकनाथके समयसे यह रिवाज-सा चला आया था कि गलेमें माला डाले नियमपूर्वक पण्ढरीकी वारी करनेवालोंको, कथा-कीर्तन भजनमें रमनेवालोंको, श्रीविट्ठलनाथकी प्रेमसे उपासना करनेवाले वारकरियोंको, विशेषकर कीर्तनकारोंको तथा भजनमण्डलियोंके नेताओंको 'सत' ही कहकर गौरवान्वित किया जाता था। तुकारामजीने भी इसी प्रकारसे अनेक स्थानोंमें 'सत' शब्दका प्रयोग गौरवार्थ ही किया है। जो श्रीविट्ठलके दास हैं, भजन करनेवाले वारकरी भक्त हैं, भजन-कीर्तनमें जिनका साथ होनेसे कीर्तनका आनन्द सबको प्राप्त होता है, लोक-कल्याण-साधक कीर्तन-सम्प्रदायकी वृद्धिमें जिनसे सहायता मिलती है, उन्हें कृतज्ञताके साथ गौरवान्वित करना सौजन्यका ही लक्षण है। तुकारामजीके सङ्ग करताल बजाते हुए भजन करनेवाले भक्त या उनका कीर्तन सुननेवाले श्रोता सभी तो तुकाराम नहीं थे। देश-भक्तोंमें शिवाजी-जैसा कोई विरला ही होता है वैसे ही वारकरियोंमें भी तुकाराम कोई विरला ही हो सकता है! इसके अतिरिक्त अपना भक्ति-प्रेमानन्द जिनका सङ्ग होनेसे बढ़ता है, ज्ञान-वैराग्य प्रज्वलित हो उठता है, जिनके मिलनेसे हृदयमें भक्ति-रसकी बाढ आती है, उनमें कोई दोष भी हो तो भी उन दोषोंकी उपेक्षा करना या काल पाकर ये दोष नष्ट होनेवाले हैं यह जानकर उनका प्रेम बनाये रहना सज्जनोंका तो स्वभाव ही है। समुदायमें सब प्रकारके लोग होते ही हैं। तुकारामजी कहते हैं—

'हरि-भक्त मेरे प्यारे स्वजन हैं। उनके चरण मैं अपने हृदयपर धरूँगा। कण्ठमें जिनके तुलसीकी माला है, जो नामके धारक हैं वे मेरे भव-नदीमें तारक हैं। आलस्यके साथ हो, दम्भसे हो अथवा भक्तिसे हो, जो हरिका नाम गाते हैं वे मेरे परलोकके साथी हैं। तुका कहता है, मैं उनके उपकारोंसे बँधा हूँ, इसलिये सतोंकी शरणमें आया हूँ।'

* * *

हो का दुराचारी। वाचे नाम उच्चारी॥ १॥
त्याचा दास मी अंकित। कायावाचामनेसहित॥ ध्रु॥
नसो भाव चित्ती। हरिचे गुण गातां गीतीं॥ २॥
करी अनाचार। वाचे हरिनाम उच्चार॥ ३॥
हो का मतें कुळ। शुचि अथवा चांडाळ॥ ४॥
म्हणवी हरिचा दास। तुका म्हणे धन्य त्यास॥ ५॥

चाहे वह दुराचारी ही क्यों न हो, पर यदि वाणीसे हरि-नाम लेता है तो मैं काया-वाचा-मनसा उसका दास हूँ। सर्वथा उसके अधीन हूँ। उसके चित्तमें भक्तिका कोई भाव न हो बिना भावके हरि-गुण गाता हो, अनाचार करता हो पर हरिनाम उचारता हो, चाहे किस कुलमें उत्पन्न हुआ हो—शुचि हो या चाण्डाल हो पर अपनेको हरिका दास कहता हो तो तुका कहता है, वह धन्य है।

कोई कैसा भी हो—दुराचारी अनाचारी अभक्त, अकुलीन जैसा भी हो वह यदि हरि-नाम लेनेवाला है तो तुकारामजी उसे धन्य कहते हैं, कहते हैं मैं उसका दास हूँ। इसमें तत्त्वकी तीन बातें हैं। एक तो यह कि हरि-नाममें इतनी सामर्थ्य है कि कोई कितना भी पतित क्यों न हो वह इसके द्वारा उद्धार पाता है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

(गीता ९। ३०)

कोई मनुष्य पहले दुराचारी रहा हो पर पीछे जब वह हरिभजनके मार्गपर आ जाय तब उसे साधु ही समझना चाहिये। कारण, उसका निश्चय पवित्र है वह सन्मार्गपर आरूढ़ है, अर्थात् यथाकाल उसका उद्धार होना ही है। इसलिये यदि वह दुराचारी भी रहा तो भी वह अब अनुताप-तीर्थमें

नहा चुका, नहाकर वह सर्वभावसे मेरे अंदर आ गया ।' (ज्ञानेश्वरी ९-४२०) दुराचारीके लिये दुराचारीके नाते यह बात रही। तुकारामजी कहते हैं कि हरिका नाम लेने और गानेवाला मुझे अपनी ही जातिका प्रतीत होता है। हरि-भक्त ही क्यों, हरिके मार्गपर जो आ गया वह भी, तुकारामजी कहते हैं कि मेरा सगा है। तीसरी बात यह है कि दूसरोंके दोप देखनेमें मेरा कोई लाभ नहीं। बनियेकी दूकानसे गुड़ लेना है तो गुड़ ले लो, उसकी जात-पाँत पूछनेसे क्या मतलब ? 'दूसरोंके गुण-दोप मैं क्यों कहता फिरूँ', 'उनमें कोई दोप भी हो तो मुझे उससे क्या ?' दूसरोंके दोप देखूँ भी तो 'वे दोष मेरे अंदर उनसे भी अधिक हैं।' मुझसे अधिक दुष्ट और लबार और कौन है ? मै दोपोंकी राशि हूँ, अपने ही घरमें जब इतना कूड़ा भरा हुआ है तब उसे साफ न कर दूसरेके घर झाड़ू देने जाना कौन-सी बुद्धिमानी है ? अपने भी और दूसरोंके भी गुण-दोप देखनेसे तुकारामजीका जी ऊब गया था। 'अब मेरे गुण-दोष मत बखानिये' यह वह दूसरोंसे भी कहा करते थे। कीर्तनके प्रसङ्गसे यदि कोई गुण-दोष-चर्चा निकल ही पड़ी तो वह किसी व्यक्तिकी निन्दाके रूपमें नहीं, ईर्ष्या-द्वेष नहीं, बल्कि इसी आन्तरिक प्रेमसे होती थी कि वे दोष निकल जायँ। 'मानके लिये या दम्भके लिये मैं किसीकी छलना नहीं करता, यह श्रीविठ्ठलके इन चरणोंकी शपथ करके कहता हूँ।'

अस्तु, तुकारामजीने अपनी अन्तःशुद्धिके द्वारा अपने भजन-कीर्तन-प्रेमी सङ्गियोंको पूज्य मानकर उनके सङ्गसे अपना भगवत्-प्रेम बढानेका काम लिया। इनमें कोई साधारण भक्त रहे होंगे तो कोई बड़े अधिकारी पुरुष भी रहे होंगे। तुकारामजीको अनेक ऐसे सज्जन मिले जिनसे उन्होंने कोई-न-कोई गुण सीखा। उनसे हरि-चर्चा और सत्सङ्गका उन्हें बड़ा लाभ हुआ। विश्रामके स्थान, प्रेम-मूर्ति, सत् शील, ब्रह्मनिष्ठ हरि-भक्तोंके साथ उनका समागम उनके घरपर, भण्डारा-पर्वतपर, कीर्तनके अवसरपर तथा

मन्दिरोंमें छमक-छमककर होता ही रहा । जो संत नहीं थे उन्हें भी संत मानकर तथा उनमें जो कोई गुण होता उसे ग्रहणकर वह अपना मयानप्रेम बढ़ानेका अभ्यास अन्तःकरणपूर्वक बराबर करते ही रहते थे। 'संतोंके यहाँ प्रेम-ही-प्रेम रहता है', दुःखका नाम भी नहीं रहता; क्योंकि उनका मन स्वयं प्रीतिरूप है। संत प्रेम-सुख ही कैसे-कैसे रहते हैं। 'संतोंका भोजन क्या है अमृत-पान है, वहाँ कीर्तन ही करते रहते हैं', तुकारामजी कहते हैं ऐसे दयालु संत मुझे 'निरन्तर सावधान रखते हैं उनके उपकार' कहाँतक बखानूँ। इस प्रकार संतोंकी महिमा तुकारामजीने बार-बार गायी है। हरि-कथा-माताका अमृत-क्षीर जिनके स्तनसे, तुकाराम कहते हैं कि मैं सेवन कर पाता हूँ उन मेरे दयालु हरि-भक्तोंके हाथका मैं दास हूँ। दीन और दुर्बलके लिये सुख-राशिस्वरूप हरि-कथा, माता संतोंके समागममें ही पन्हाती हैं। अस्तु, इस प्रकार संतोंके संगसे तुकारामजीने अपने अन्तरङ्गमें संत होकर जन्म उठाया।

१३ नाम-स्मरणानन्द

यहाँतक हमलोगोंने यह देखा कि तुकारामजीने अत्यन्त सावधान रहकर किस प्रकार मनोनिग्रहका अभ्यास किया मनसे कैसे-कैसे झगड़े किये और निपटे कनक-कान्ताके विषयमें उनका कैसा उत्कट वैराग्य था वाद और अन्य अनेकोंकी उपाधियों तथा अनर्थकरसे उकताकर उन्होंने एकान्त-वास कैसे स्वीकार किया एकान्त-सुखसे उनका चित्त कैसे शान्त हुआ अहङ्कार कैसे नष्ट हुआ अपने दोष वह कैसे भगवान्‌के चरणोंमें निवेदन करते थे और उनका कैसा स्वभाव था। अब आत्म-प्राप्तिके प्रकरणों-का जो विवेचन है उस नाम-सङ्कीर्तनके विषयमें कुछ लि कर यह प्रकरण समाप्त करेंगे।

एकान्तसे उन्हें जो आनन्द मिला वह एकान्तका फल तो था ही पर इसमें सन्देह नहीं कि जो अंश था वह नाम-स्मरणके अभ्यासका ही फल

था । केवल एकान्तसे जन-ससर्ग या बाह्योपाधियोंसे होनेवाले दु'खका नाश हो सकता है और उससे शान्तिका सुख मिल सकता है। पर यह सुख अप्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष सुखका जो झरना तुकारामजीके हृदयमे झरने लगा वह नाम-सङ्कीर्तनके अभ्यासका ही फल हो सकता है । कीर्तन-भजनादिमें समशील साधु-सतों और भावुक भक्तोंके सत्सङ्गसे तो वह नाम-स्मरणका लाभ उठाते ही थे, पर जब एकान्त मिला तब उससे सारा समय नाम-स्मरणके लिये ही खाली मिला। हरि-कीर्तनमें सत-समागमका तथा करताल, वीणा, मृदङ्गादिकी सहायतासे होनेवाले नाद-ब्रह्मका आनन्द तो अपूर्व है ही, पर उतनेसे काम नहीं चलता। अखण्ड नाम-स्मरणका आनन्द अहर्निश प्राप्त हुए बिना चित्त शुद्धिका साक्षात्कार नहीं हो सकता। एक पहर कीर्तन हुआ, उतने कालतक तन्मयता हो गयी, पर बाकी समयमें भी मनको कहीं-न-कहीं समाधि दिये बिना उसके छल-छन्दसे छुटकारा नहीं मिल सकता। तुकाराम विष्णुसहस्रनामके पाठ तो किया ही करते थे, पर इससे भी अधिक उन्होंने यह किया कि अखण्ड नाम-स्मरणका चसका लगा लिया। यही उनका साधनसर्वस्व है। नाम स्मरणका चसका लगना बड़ा ही कठिन है, पर जहाँ एक बार यह चसका लगा वहाँ फिर एक पल भी नामसे खाली नहीं जाता। नाम-स्मरण यह है कि चित्तमें रूपका ध्यान हो और मुखमें नामका जप हो। अन्तःकरणमें ध्यान जमता जाय, ध्यानमें चित्त रँगता जाय, चित्तकी तन्मयता हो जाय, यही वाणीमें नामके बैठ जानेका लक्षण है। 'चित्तमें (ध्यान) न हो तो न सही, पर वाणीमें तो हो' यह नाम स्मरणकी पहली सीढी है। तुकारामजीका नामाभ्यास यहींसे आरम्भ हुआ और जिस अवस्थामें उसकी पूर्णता हुई उस अवस्थामें तुकारामजी कहते हैं कि 'वाणीने इस नामका ऐसा चसका लगा लिया है कि मेरी वाणी अब नामोच्चारसे मेरे रोके भी नहीं रुकती। इस बीचके अभ्यासका जो आनन्द है वह अनुभवसे ही जाना जा सकता है। उसे

कहकर बतलाना असम्भव है। कुलाचार, सम्प्रदाय-परम्परा, पुराण और साधु-संतोंके ग्रन्थ, गुरूपदेश सबने तुकारामजीको यही बतलाया कि नाम-स्मरण ही श्रेष्ठ साधन है, यह हमलोग पहले देख ही चुके हैं। केवल कहनेसे क्या होगा, उसे करके दिखाना होगा। तुकारामजीने नामका अभ्यास किया और वह धन्य हुए। श्रीपाण्डुरङ्गका रूप देखने या ध्यानमें लानेसे तुकारामजीके चित्तमें प्रेमानन्द हिलोरें मारने लगता था और वह स्वयं उस आनन्दमें नाचते-गाते हुए तल्लीन हो जाते थे।

'कटिपर कर धरे तुम्हारी मूर्तिको देखकर मेरा जी ठण्ढा होता है, ऐसी इच्छा होती है कि इन चरणोंको पकड़े रहूँ। मुखसे गीत गाता हूँ, हाथसे ताली बजाता हूँ, प्रेमानन्दसे तुम्हारे मन्दिरमें नाचता हूँ। तुका कहता है, तुम्हारे नामके सामने ये सब बेचारे मुझे तुच्छ जान पड़ते हैं।'

* * *

'यह मूर्ति देखी जो मेरे हृदयकी विश्रान्ति है।

* * *

तुम्हारे प्रेम-सुखके सामने बैकुण्ठ बेचारा क्या है?'

* * *

धन्य है यह काल जो गोविन्दके सद्गुण वर्णन करता हुआ आनन्दरूप होकर बहा जा रहा है।

* * *

गुण गाते हुए, नेत्रोंसे रूप देखते हुए तृप्ति नहीं होती। पाण्डुरङ्ग मेरे कितने सुन्दर हैं, सुवर्णश्यामकान्ति कैसी शोभा देती है। सब मङ्गलोंका यह सार है मुख सिद्धियोंका भण्डार है। तुका कहता है यहाँ सुखका कोई ओर-छोर नहीं।

श्रीविठ्ठलरूपमें चित्त-वृत्ति जब इतनी तन्मय हुई हो, पाण्डुरङ्गको हृदय-सम्पुटमें स्थिर करनेका जब ऐसा दृढ़ अभ्यास हो गया हो तब इस

अभ्यासके लिये अखण्ड नाम स्मरण और ध्यानसे बढकर और भी कोई उपाय कभी किसीने बतलाया है ? नाम स्मरण सबके लिये सब समय अत्यन्त सुलभ है।

नाम घेता न लगे मोल। नाममंत्र नाहीं खोल॥

'नाम लेते कुछ मूल्य नहीं देना पड़ता और नाम-मन्त्रमें कोई गूढ बात भी नहीं है' और यह साधन भी ऐसा है कि तुरत फल देनेवाला है, नकद व्यवहार है। 'मुखीं नाम हातीं मोक्ष। ऐसी साक्ष बहुतांसी' (मुखमें नाम हो तो हाथमें मुक्ति रखी हुई है, बहुतोंको इसकी प्रतीति मिल चुकी है।) पर दूसरोंका हवाला क्यों ? 'तुकारामजी कहते हैं, राम-नामसे हम कृतकृत्य हुए।' यह तुकाराम अपना अनुभव बतलाते हैं। जीभको एक बार नामकी चाट लग जानी चाहिये, फिर 'प्राण जानेपर भी नामको वह नहीं छोड़ती।' नाम-चिन्तनमें ऐसा विलक्षण माधुर्य है। चीनी और मिठास जैसे एक हैं वैसे ही नाम और नामी भी एक ही हैं, पर यह अनुभव नाम-स्मरणानन्द भोगनेवालोंको ही प्राप्त होता है। नाम केवल साधन नहीं है, नाम-छन्द से साध्य साधनकी एकता प्रत्यक्ष होती है। तुकारामजीने अपार नाम-सुख लूटा, बल्कि यह कहिये कि अखण्ड नाम-सुख भोगनेके लिये और यह सुख दूसरोंको दिलानेके लिये ही उनका अवतार हुआ था। उठते-बैठते, खाते पीते, सोते जागते चलते फिरते उनका नाम-चिन्तन चला ही करता था और 'चिन्तनसे तद्रूपता' का अनुभव भी उन्हे होता था। नाम चिन्तनसे जन्म-जरा भय व्याधि सब छूट जाते हैं। 'भव-रोग जैसा रोग भी जाता है, फिर और चीज ही क्या है ?' तुकारामजीने नामका आनन्द कैसे लिया, उससे उनके ससार-पाश कैसे कट गये, हरि-प्रेमका चसका बढनेसे रसना कैसी रसीली हो गयी, इन्द्रियोंकी दौड़ कैसे थमी, अनुपम सुख स्वय कैसे घर ढूँढता हुआ चला आया, इस विषयमे

सहस्रों अवसरोंपर उन्होंने अपने मधुर अनुभव अनुपम माधुरीके साथ वर्णन किये हैं। भगवान्‌की छविको देखते, चित्तमें उसका ध्यान करते हुए नाम-रस चित्तपर आ जाते थे और नाम-रसमें चित्तके रँगते-रँगते श्रीहरि अन्तःकरणमें आकर प्रकट होते और नाम-नामीकी एकरूपतामें तुकाराम डूब जाते थे। एक विट्ठलके सिवा तब और कुछ नहीं रह जाता था। तुकारामजीके यहाँका यह परमामृत भोजन देखकर जिसके लार न टपके ऐसा भी कोई अभागा हो सकता है? अब तुकारामजीके श्रीमुखसे नामामृत-माधुरीका किञ्चित् आस्वादन हमलोग भी कर लें—

> नाम घेतां मन निवे। जिव्हे अमृतचि स्रवे।
> होताती बरवे। ऐसे शकुन लाभाचे॥ १॥
> मन रंगलें रंगा। तुझ्या चरणीं स्थिरावलें।
> केशिराज विठ्ठलें। कृपा केली आम्हांसी॥ २॥

'नाम लेते मन शान्त होता है, जिह्वासे अमृत झरने लगता है और लाभके बड़े अच्छे शकुन होते हैं। मन तुम्हारे रंगमें रँग गया, तुम्हारे चरणोंमें स्थिर हो गया। श्रीविठ्ठलरायने ऐसी कृपा की इसलिये ऐसा हुआ।'

* * *

> बैसूं खेळूं जेवूं। तेथें नाम तुझें गावूं॥ १॥
> रामकृष्णनाममाळा। घालूं ओवुनियां गळां॥ २॥

'जहाँ भी बैठें खेलें, भोजन करें वहाँ तुम्हारा नाम गायेंगे। राम-कृष्णके नामकी माला गूँथकर गलेमें डालेंगे।'

* * *

> संग सज्जनीं हसनी। तें भोजनीं मननी॥ ३॥
> तुका म्हणे काळ। अवघा गोविन्दें सुकाळ॥ ४॥

'आसन, शयन, भोजन, गमन सर्वत्र सब काममें श्रीविठ्ठलका सङ्ग है। तुका कहता है, गोविन्दसे यह अखिल काल सुकाल है।'

* * *

इन्द्रियांची हाव पुरे। परि हें उरे चिंतन ॥

'इन्द्रियोंकी हवस मिट जाती है। पर यह चिन्तन सदा बना रहता है।'

* * *

काळ ब्रह्मानन्दें सरे। उरलें उरे चिंतन ॥

'ब्रह्मानन्दसे काल समाप्त हो जाता है। जो कुछ रहता है वह चिन्तन ही रहता है।'

* * *

समर्पिली वाणी। पांडुरंगीं घेते धणी ॥ १ ॥
धार अखंडित। ओघ चालियेला नित्य ॥ २ ॥

'यह समर्पित वाणी पाण्डुरङ्गकी ही इच्छा करती है। इस रसकी धारा अखण्ड है, इसका प्रवाह नित्य है।'

* * *

बोलणेंचि नाहीं। आतां देवाविणें कांहीं ॥ १ ॥
एकसरें केला नेम। देवा दिले क्रोध काम ॥ २ ॥

'अब भगवान्‌को छोड़ और कुछ बोलना ही नहीं है। बस, यही एक नियम बना लिया है। काम-क्रोध भी भगवान्‌को दे चुका।'

* * *

पवित्र तें अन्न। हरिचिंतनीं भोजन ॥ १ ॥
तुका म्हणे चवी आलें। जेंका मिश्रित श्रीविठ्ठलें ॥ २ ॥

'वही अन्न पवित्र है जिसका भोग हरि-चिन्तनमें है। तुका कहता है, वही भोजन स्वादिष्ट है जिसमें श्रीविठ्ठल मिश्रित हैं।'

लागलें भरतें। ब्रह्मानन्दाचें वरतें ॥ १ ॥

तुका म्हणे धन्य । करती सोयरी भेंटि ॥ ४ ॥

ब्रह्मानन्दकी बाढ़ आ गयी। तुका कहता है यह अच्छा रास्ता मिला।'

• • •

मुझमें इतनी बुद्धि नहीं जो मैं तुम्हारे उस ध्यानका वर्णन करूँ जिसका वर्णन करते-करते वेद भी मौन हो गये। अपनी भक्तिके अनुसार गढ़कर तुम्हारे सुन्दर चरणकमल चित्तमें धारण कर लिये हैं। तुम्हारा यह श्रीमुख ऐसा दीखता है जैसे सुखका ही बना हुआ हो, इसे देख मेरी भूख-प्यास हर जाती है। तुम्हारे गीत गाते-गाते रसना मीठी हो गयी, चित्तको समाधान मिला। तुका कहता है, मेरी दृष्टि इन चरणोंपर कुङ्कुमके इन सुकुमार पदोंपर गड़ी है।

• • •

इसके समान सुख त्रिभुवनमें नहीं है, इससे मन यहीं स्थिर हो गया। तुम्हारे कोमल चरण चित्तमें धारण कर लिये, कण्ठमें एकावलि नाम-माला डाल ली। काया शीतल हुई, चित्त पीछे फिरकर निजानन्द-स्थानमें पहुँच गया, अब वह आगे (संसारकी ओर) नहीं आता है। तुका कहता है, मेरे सब हौसले पूरे हुए। सब कामनाएँ श्रीपाण्डुरङ्गने पूरी कीं।'

• • •

नाम लेनेसे कण्ठ आर्द्र और शरीर शीतल होता है, इन्द्रियाँ अपना व्यापार भूल जाती हैं। यह मधुर सुन्दर नाम अमृतको भी मात करता है, इसने मेरे चित्तपर अधिकार कर लिया है। प्रेम-रससे शरीरकी कान्तिको प्रसन्नता और पुष्टि मिली। यह नाम ऐसा है कि इससे क्षणमात्रमें त्रिविध ताप नष्ट होते हैं।'

यह नाम-स्मरण ऐसा है कि इससे श्रीहरिके चरण चित्तमें, रूप नेत्रोंमें और नाम मुखमें आ जाता है और यह जीवको हरि-प्रेमका

आनन्दामृत पान कराकर उसका जीवत्व हर लेता है, तब 'विट्ठल ही रह जाते हैं' अद्वयानन्दका भोग ही रह जाता है। तुकाराम स्वानुभवसे बतलाते हैं कि नाम-स्मरणसे वह चीज ज्ञात होती है जो अज्ञात है, वह दिखायी देने लगता है जो पहले नहीं देख पड़ता, वह वाणी निकलती है जो पहले मौन रहती है, वह मिलन होता है जो पहले चिरविरहमें छिपा रहता है और यह सब आप ही-आप होने लगता है।

तुका म्हणे जों जों भजनासी वळे।
अंग तों तों कळे सन्निधता॥

'तुका कहता है, भजनकी ओर चित्त ज्यों-ज्यों झुकता है त्यों-त्यों भगवत्सान्निध्यका पता लगता है।' पर यह अनुभव उसीको मिल सकता है जो इसे करके देखे। नामको छोड़ उद्धारका और कोई उपाय नहीं है, यह तुकारामजीने श्रीविट्ठलनाथकी शपथ करके कहा है। कहनेकी हद हो गयी। अस्तु, तुकारामजीके तीन अभंग इस प्रसङ्गमें और देकर यह प्रकरण समाप्त करते हैं।

'विषयका निःशेष विस्मरण हो गया, चित्तमें ब्रह्मरस भर गया। मेरी वाणी मेरे वशमें न रही, ऐसा चसका उसे नामका लग गया। लाभकी अभिलाषा लिये वह मनके भी आगे चली, जैसे कृपण धनके लोभसे चलता है। तुका कहता है गङ्गासागर-सगममें मेरी सब उमङ्गें एकामयी हो गयीं।'

* * *

'प्रेमामृतसे मेरी रसना सरस हो गयी, और मनकी वृत्ति चरणोंमें लिपट गयी। सभी मङ्गल वहाँ आकर न्योछावर हो गये, आनन्द-जलकी वहाँ वृष्टि होने लगी। सब इन्द्रियाँ ब्रह्मरूप हो गयीं, उसीमें स्वरूप ढला।

तुका कहता है, जहाँ भक्त रहते हैं वहाँ भगवान् भी विराजते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं।'

* * *

अनन्त प्रकारके आनन्द हमारे अंदर समा गये। प्रेमका प्रवाह चला नामनिर्झर झरने लगे। राम-कृष्ण नारायणरूप अखण्ड जीवनमें कोई खण्ड नहीं। तुका कहता है इह-परलोक उसी जीवनके दो तीर हैं।

नामकी महिमा अनेकोंने अनेक स्थानोंमें गायी है। पर तुकारामजीने सबका सार कर दिया। तुकारामजीकी सी अमृतरस-तरंगिणी अन्यत्र कहीं नहीं मिलेगी। तुकारामजीके गोमुखसे सुमधुर गम्भीर नादके साथ बहनेवाली नाम-मन्दाकिनीमें सारा विश्व समा गया है। नामामृत-सेवनसे तुकारामजी-की रसना रसमयी हो गयी, वाणी मनके आगे बढ़ चली, सब इन्द्रियाँ ब्रह्मरूप हो गयीं, तुकाराम और नाम एक हो गये। इन नाम-भक्तोंको छोड़कर भगवान् अन्यत्र कहाँ रह सकते हैं ! भक्त, भगवान् और नामका त्रिवेणी-संगम हुआ। तुकारामजीका असीम नाम-प्रेम देखकर भगवान् मुग्ध हो गये और उन्हें तुकारामजीके सामने तुकारामजीने जिस रूपमें चाहा उसी रूपमें आकर प्रकट होना पड़ा। अच्युताचा योग नामाचेनि (नाम-के छन्दसे अच्युतसे मिलन होता है।) यह उन्हींका वचन है और इसी वचनके अनुसार अच्युत भगवान्‌को नाम-रूप धारण करके तुकारामजीसे मिलने आना पड़ा। तुकारामजीको श्रीपाण्डुरङ्गका साक्षात् दर्शन हुआ, सगुण-साक्षात्कारका महायोग प्राप्त हुआ। यह दिव्य चरित्र पाठक आगेके तीन प्रकरणोंमें देखेंगे। साधनोंकी इति होनेपर साध्य आप ही साधकके पास चला आता है। कैसे, सो पाठक चित्तको स्थिर करके देखें, भोग करें और स्वानन्दको प्राप्त हों।

नवाँ अध्याय

सगुण भक्ति और दर्शनोत्कण्ठा

१ तीन अध्यायोंका उपोद्घात

पिछले अध्यायमें यह देखा गया कि तुकारामजीने चित्त-शुद्धिके लिये कौन-कौन-से उपाय किये, किन साधनोंसे जीवात्मा-परमात्माके बीचका परदा हटाया, और कैसे अखण्ड नाम-स्मरणके द्वारा साधनोंकी परमावधि की। पहले कहे अनुसार सत्सङ्ग, सत्-शास्त्र और सद्गुरु-कृपा ये तीन मजिलें पार करके, अब साक्षात्कारकी चौथी मजिलपर पहुँचना है। 'बही-खाता डुबाकर, धरना देकर, तुकाराम बैठ गये, तब उस ध्यानावस्थामें 'नारायणने आकर समाधान किया' यह जो कुछ तुकारामजी कह गये हैं वही प्रसङ्ग अब हमलोग देखें। इस प्रसङ्गमें भक्तिमार्गकी श्रेष्ठता, सगुण-निर्गुण-विवेक, तुकारामजीकी सगुणोपासना, श्रीविठ्ठलके दर्शनोंकी लालसा, इस लालसाके साथ भगवान्से प्रेम कलह, भगवान्से मिलनेकी छटपटाहट इत्यादि बातें बतलानी हैं। भगवान्के सगुण-दर्शन होनेके पूर्व भक्तके अन्तःकरणकी क्या हालत होती है यह हम इस अध्यायमें देख सकेंगे। इसके बादके प्रकरणमें तुकारामजीके प्राणप्यारे पण्ढरिनाथ श्रीविठ्ठलभगवान्के स्वरूपका पता लगानेका प्रयत्न करना होगा। श्रीविठ्ठलस्वरूपका बोध होनेपर उसके बादके प्रकरणमे वह दिव्य कथा-भाग हमलोग देखेंगे जिसमें रामेश्वर भट्टके कहनेसे तुकारामजीने बही-खाता डुबा दिया, तेरह दिन और तेरह रात श्रीविठ्ठलके चिन्तनमे निमग्न होकर एक शिलापर पड़े रहे और फिर उन्हे श्रीविठ्ठलके जगदुर्लभ दर्शन हुए। यथार्थमें ये तीनों

प्रकरण एक 'सगुणसाक्षात्कार' प्रसंगके अंदर ही आ सकते थे। पर साक्षात्कारका वास्तविक स्वरूप पाठकोंके ध्यानमें अच्छी तरह आ जाय इसके लिये एक प्रकरणके तीन प्रकरण करके इस विषयका साङ्गोपाङ्ग विचार करनेका संकल्प किया है। पहले दर्शनकी उत्कण्ठा फिर जिनके दर्शनकी उत्कण्ठा है उन श्रीविठ्ठलनाथके स्वरूपकी ढूँढ़-खोज, और इसके पश्चात् अत्युत्कट भक्तिकी अवस्थामें उसी स्वरूपमें भगवान्‌के दर्शन, इस क्रमसे होनेवाली ये तीन बातें तीन प्रकरणोंमें क्रमसे ही ले आती हैं। पाठक सावधान होकर ध्यान दें यह विनय करके अब हमलोग सगुण-साक्षात्कारके प्रसङ्गका पूर्व रंग देखना आरम्भ करें।

२ भक्ति-मार्गकी श्रेष्ठता

नर-जन्मकी सार्थकता भगवान्‌के मिलनेमें ही है। संतोंके मुखसे तथा शास्त्र-वचनोंसे यह जानकर मुमुक्षु भगवत्प्राप्तिका मार्ग ढूँढ़ता है। मार्ग तो अनेक हैं। मुमुक्षु यह सोचता है कि अपनी भगवत्प्राप्तिके लिये कौन-सा मार्ग सहज सुगम और अनुकूल है और जो मार्ग ऐसा दिखायी देता है उसीपर वह आरूढ़ होता है। भगवत्प्राप्तिके चार मार्ग मुख्य हैं—योग-मार्ग कर्म-मार्ग ज्ञान-मार्ग और भक्ति-मार्ग। श्रुति काण्डत्रयात्मिका है अर्थात् कर्म उपासना और ज्ञान—ये तीन मार्ग बतानेवाली है और चौथा योग-मार्ग पतञ्जलि ऋषिने स्पष्ट करके बताया है। आजतक सहस्रों मुमुक्षु इन्हीं चार मार्गोंमेंसे अपनी सुगमता और प्रियताके अनुसार कोई-न-कोई मार्ग चुनकर उसपर चले हैं और कृतार्थ हुए हैं। साध्य एक ही है और वह परमात्मपद है। साधनोंमें सबने अपनी पसंदका उपयोग किया है। चारों मार्ग अच्छे हैं तथापि इस कलियुगके लिये शास्त्रकारोंने भक्ति-मार्गको ही श्रेष्ठ बताया है और सहस्रों संत-महात्मा भी यही कह गये हैं। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें और भागवतमें भी भक्ति-मार्गका उपदेश

मुख्यतः किया है । गीता और भागवत भक्ति-भवनके आधार स्तम्भ हैं । भगवान्‌ने गीतामें कर्म, ज्ञान और योग इन तीनों मार्गोंको भक्ति मार्गमें ही लाकर मिला दिया है । भगवान्‌ने अर्जुनको अपना जो विश्वरूप दिखाया वह 'न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः' (अ० ११ । ४८) चारों वेदोंके अध्ययनसे, यथाविधि यज्ञोंके अध्ययनसे, दानसे, श्रौतादि कर्मोंसे या घोर तपादि साधनोंसे कोई भी नहीं देख सका था, वह केवल अर्जुनकी भक्तिसे ही भगवानने प्रसन्न होकर दिखाया । भगवानकी भक्तिसे ही भगवान्‌का रूप दिखायी देता है । गीताके उपसंहारमें भी भगवानने जो 'गुह्याद्गुह्यतरं ज्ञानम्' बताया वह भी यही था कि—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।

सबके हृदयमें जो विराजते हैं उन ईश्वरकी शरणमें जानेका ही यह उपदेश है और सब कुछ कह चुकनेके पश्चात् 'सर्वगुह्यतमं भूयः' कहकर जो अन्तिम मधुर और अर्जुनके मुँहमें और अर्जुनके निमित्तसे सबके मुँहमें डाला है वह मधुरतम भक्ति-रसका ही है—

'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।'

'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।'

'अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥'

अर्थात् यह लोक अनित्य है, दुःखका देनेवाला है, यहाँ आकर मेरा भजन करो । यही गीताका उपदेश है । यही गीताका रहस्य है । सब सन्तोंने भगवद्वचनको सामने रखकर स्वानुभवसे भूतहितके लिये इसी भक्ति-मार्गका निर्देश किया है । तुकारामजीका हृदय भक्तिके अनुकूल था और भागवत-सम्प्रदायके सत्सङ्गसे उनकी भक्ति प्रवण चित्त-वृत्ति और भी भक्तिमय हो गयी । उनका यह विश्वास अत्यन्त दृढ हो गया कि भगवान् भक्तिसे ही मिलेंगे और उससे हम कृतकृत्य होंगे । 'भगवान्‌में निष्काम

निश्चल विश्वास हो औरोंकी कोई आस न हो।' उन्हें यह निश्चय कैसे हुआ यह हम उन्हींकी वाणीसे सुनें—

योगाभ्यास करना अच्छा है पर योग-साधनकी क्रिया मैं नहीं जानता, और उतनी सामर्थ्य भी मुझमें नहीं है। और फिर मुख्य बात यह है कि भगवान्‌के सिवा मेरे चित्तमें और कुछ भी नहीं है।

'योगाभ्यास करनेकी सामर्थ्य नहीं साधनकी क्रिया मालूम नहीं। अन्तरङ्गमें केवल तुमसे मिलनेका प्रेम है ……।'

दूसरी बात यह कि 'भक्तिका भेद' जो जानता है 'उसके द्वारपर आठ महासिद्धियाँ बैठा करती हैं भगाये भगानेसे भी नहीं भगतीं।' योगकी सिद्धियाँ भक्त न भी चाहे तो भी उसके अंदर आकर बैठ जाती हैं। जब यह बात है तब योगाभ्यास मचाया करनेकी आवश्यकता ही क्या रही? 'योग-भाग्य अपनी सब शक्तियोंसमेत आप ही घर बैठे, चला आता है।' अस्तु, योगकी केवल क्रिया करनेसे चित्त-शुद्धि नहीं होती। ऐसे किसी योगीके पास जाइये तो 'आह मारे क्रोधके गुर्राते ही' दिखायी देते हैं! सच्चा योग तो जीव-परमात्म-योग है—भक्त-भगवान्‌का ऐक्य है जो भक्तियोगसे सिद्ध होता है।

अन्य मार्ग उन युगोंके लिये ठीक थे पर कलियुगमें तो भक्ति-मार्ग ही सबसे अधिक कल्याणकारक है। कर्म-मार्गके विधि-विधान ठीक समझमें नहीं आते और उनका आचरण तो और भी कठिन है।

'सब रास्ते बेकार हो गये, कलिमें कोई साधन नहीं बनता। उचित विधि-विधान समझमें नहीं आता और हाथसे तो होता ही नहीं।'

भक्ति-पन्थ सबसे सुगम है। इस पन्थमें सब कर्म श्रीहरिके समर्पित

होते हैं, इससे पाप-पुण्यका दाग नहीं लगता और जन्म-मृत्युका बन्धन कट जाता है।

'भक्ति-पन्थ बड़ा सुलभ है। यह पाप-पुण्योंका बल हर लेता है, इससे आने-जानेका चक्कर छूट जाता है।'

और फिर यह भी बात है कि योग या ज्ञान या कर्मके मार्गपर चलनेवालेको अपने ही बलपर चलना पड़ता है। भक्तिमार्गमें यह बात नहीं। इस मार्गपर चलनेवालेके सहाय स्वय भगवान् होते हैं।

उभारोनि बाहे। विठो पालवीत आहे।
दासा मीच साहे। मुखें बोले आपुल्या ॥ २ ॥

'दोनों हाथ उठाकर भगवान् पुकारकर कहते हैं कि मेरे जो भक्त हैं उनका मैं ही सहाय हूँ।' 'न मे भक्त' प्रणश्यति' (गीता ९। ३१) 'तेषामह समुद्धर्ता मृत्युससारसागरात्' (गीता १२। ६) यह भगवान्ने स्वयं ही कहा है। तात्पर्य, भक्तिमार्ग सबसे श्रेष्ठ मार्ग है। अन्य उपाय हैं पर उनके अनुपान कठिन हैं। और भक्तिमार्ग ही ऐसा मार्ग है कि जीव अनन्यभावसे भगवान्की शरणमें जब जाता है तब भगवान् उसे (गोदमे) उठा लेते हैं। मन्त्र, तन्त्र, जप, तप, व्रत—ये सब विकट मार्ग हैं, इनमें सफलता अनिश्चित है।

तपें इंद्रिया आघात। क्षणें एक वाताहात ॥ ३ ॥
मत्र चळे थाडा। तरी घडचि होय वेडा ॥ ४ ॥
व्रतें करिता साग। तरी एक चुकतां भग ॥ ५ ॥

* * *

तैसी नव्हे भोळी सेवा। एक भावचि कारण देवा ॥ २ ॥

'तपसे इन्द्रियोंपर आघात होता है, एक क्षणमें न जाने क्या हो

जाय। मन्त्रमें यदि जरा भी इधर उधर हो गया कि मन्त्र-वाला आदमी भी पागल हो जाय। याग यज्ञ करो पर यदि एक भी भूल हुई तो सब गुड़ गोबर हो जाय।' * * * पर यह भोली-भाली सेवा ऐसी नहीं है इसमें तो भगवान्‌को बस, हृदयका भाव चाहिये।

इससे कोई यह न समझे कि तुकारामजी जप, तप, उपासनाको बुरा बतलाते हैं। इनमें कुछ भी बुरा नहीं है। ये साधन भी भगवान्‌में चित्त लगाकर किये जायँ तो ये भक्तिरूप ही हैं। ओवी-छन्दके अभङ्गोंमें उन्होंने कहा है—

करा जप तप अनुष्ठान याग। संतीं जे मारग स्थापियेले॥
सत्य मानूनियां संतांच्या वचना। जारे नारायणा शरण तुम्ही॥

'जप करो, तप करो, अनुष्ठान करो, यज्ञ-याग करो। संतोंने जो-जो मार्ग बताये हैं उन सबको चलाओ। संतोंके वचनोंको सत्य मानकर तुम-लोग नारायणकी शरणमें जाओ।'

ज्ञान-मार्ग देखिये तो दुर्लभ ज्ञानकी बातें करना चाहे सुलभ हो पर इससे अनुभव तो कुछ भी नहीं होता। शुद्ध ज्ञान तो अत्यन्त दुर्लभ है। किसी भी वासनाका छूत न लगा हो, ऐसा शुद्ध ज्ञान जब मैं ढूँढ़ने चला तब यह देखा कि ज्ञानकी पीठपर प्रायः अहङ्कारका भूत सवार रहता है। इसलिये आठों पहर चिन्तनमें ही मङ्गल जानकर मैंने भजनका मार्ग ही स्वीकार किया।

मनोवाचातीत जो तुम्हारा स्वरूप है वह, जीवके ध्यानमें कैसे उतरे, इसका विचार करते हुए तुकाराम कहते हैं 'इस देहके द्वारा योग, याग तप करनेसे या ज्ञानके पीछे पड़नेसे तुम नहीं मिलते इसलिये भोली-भाली भक्तिके द्वारा तुम्हारी सेवा करनेमें ही कल्याण है यही मैंने निश्चय किया। भक्तिके नाते मैं भगवान्‌को जानता हूँ और किसी नातेसे भगवान् नहीं

नापे जा सकते।' भगवान् अनन्त हैं, उनका अन्त, उनका पार वेदोंसमेत कोई भी नहीं पा सका; योग, ज्ञान, कर्म उसे नहीं जान सके, इसलिये मैंने भक्तिको ही पकड़ा है।

'ज्ञातापनसे मैं बहुत डरता हूँ'—ज्ञानसे ज्ञानका अभिमान कहीं सिर-पर न चढ़ बैठे, इस भयसे मैंने ज्ञानका मार्ग ही छोड़ दिया। मुझे प्रेम-निर्झर चाहिये, तुम्हारी भक्तिका रस चाहिये। इस प्रेमामृतकी—इस भक्ति-रसकी बराबरी और कौन कर सकता है!

यासी तुळे ऐसे काहीं। दुजें त्रिभुवनीं नाहीं।
काला भात दही। ब्रह्मादि कां दुर्लभ॥ २॥

'त्रिभुवनमें कोई दूसरी चीज ऐसी नहीं जिसकी इसके साथ तुलना की जा सके। हरि-कीर्तनके इस दही और भातके काँदौका जो आनन्द है वह ब्रह्मादिके लिये भी दुर्लभ है।' फिर तुकारामजी कहते हैं, आजतक अद्वैत-ज्ञानकी बातें मैंने बहुत कह डालीं पर हे प्यारे पण्ढरिनाथ! तुम भगवान् हो और मैं भक्त हूँ, यह जो नाता है यह कभी न टूटे और भक्तिका रंग कभी फीका न पड़े यही तुम्हारे चरणोंमें मेरी विनती है।

तुका म्हणे हेंचि देईं। मीतूपणा खंड नाहीं॥
बोलिलों त्या नाहीं। अभेदाची आवडी॥ ४॥

'तुका कहता है, मुझे बस यही दो कि तुम तुम बने रहो और मैं मैं बना रहूँ, इसमें खण्ड न पड़े। जिस अभेदको मैंने बखाना उसमें मेरी रुचि नहीं है।'

३ कर्म-ज्ञान-योग भक्तिमें समाये

'अभेदकी रुचि नहीं' यह बात तुकारामजीने अभेदको अनुभव किये बिना कदापि न कही होगी। भक्तिका आसन नीचा और ज्ञानका

आसन ऊँचा ज्ञानमार्गी लोग भले ही कहा करें, पर ज्ञानेश्वर, एकनाथ, तुकाराम जैसे ज्ञानी भक्त 'मुक्तिके परेकी भक्ति' अर्थात् परा-भक्तिका ही आनन्द केवल ब्रह्मानन्दसे अधिक मानते हैं। मोक्षकी हमें इच्छा नहीं, उसे हमने गठरीमें गठिया रखा है भक्त मोक्ष नहीं चाहते, मोक्ष हमारे द्वारका खिलौना है, मोक्ष भक्तोंके द्वारपर भिक्षुक बनकर भिक्षा पानेके लिये खड़ा है इत्यादि उद्गार तुकारामजीके मुखसे अनेक बार निकले हैं पर इसका यह मतलब नहीं है कि मोक्षसे उनका कुछ वैर था। मोक्ष तो सहज स्थिति है, इसका निश्चय होनेपर ही उन्होंने भक्तिके आनन्दकी इतनी महिमा बखानी है। ज्ञानसम्मिश्र भक्ति या ज्ञानोत्तर-भक्ति—या कहिये परा-भक्ति—ज्ञानके द्वारा स्वरूपबोध होनेके पश्चात्की ही स्थिति है। इस स्थितिको प्राप्त होनेपर ही तुकारामजीने भक्तिके परमानन्दका सुख-विलास-भोग करनेकी इच्छा की। तुकारामजी-जैसे महाभागवत परम भक्तोंने योग, ज्ञान और कर्मके मार्गोंको तिरस्कृत नहीं किया है। ये सब मार्ग उत्तम हैं पर भक्ति-मार्गपर चलनेसे इन सब मार्गोंपर चलनेका फल मिल जाता है और प्रेमका अलौकिक आनन्द भी प्राप्त होता है। योग कहते हैं चित्त वृत्ति निरोधको और इसका उपाय पातञ्जलयोगमें ही 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा'* भी कहा है। ईश्वरप्रणिधानके द्वारा तुकारामजीकी चित्तवृत्तियोंका कितना निरोध हुआ था यह देखा जाय तो तुकारामजी योगी नहीं थे, यह कौन कह सकता है! इसी प्रकारसे राग और कामना छोड़कर कर्म करना

---

* इस सूत्रका अर्थ तुकारामजी यों बतलाते हैं—

योगाचें तें भाग्य क्षमा । आधीं दमा इंद्रियें ॥ १ ॥
अवघीं भूतें वैसी करा । देव लीनता आंगीं ॥ २ ॥

'योगका भाग्य है क्षमा। इसके लिये पहले इन्द्रियोंका दमन करो। लघुतारूपी अवस्था हो तो सब भाग्य घर बैठे चले आवेंगे।

ही यदि निष्काम कर्मयोगका सार है तो केवल भगवान्‌को प्रसन्न करनेके लिये कर्म करनेवाले तुकाराम कर्मयोगी नहीं थे, यह भी कोई कह सकता है ? जीव-परमात्मा-योग ही यदि ज्ञान-योगका अन्तिम साध्य है तो 'तुका विठ्ठल दुजा नाहीं' (तुका और विठ्ठल दो नहीं हैं।) यह अनुभव बतलानेवाले, ज्ञानके इस शिखरपर पहुँचे हुए तुकाराम ज्ञानी नहीं थे, यह भी कौन कह सकता है ? तात्पर्य, कर्म, ज्ञान और योगका भक्तिसे कोई विरोध नहीं। ये शब्द अलग-अलग हैं और भगवान्‌से इनका अलगाव हो तो ये मार्ग भी अलग-अलग हो जाते हैं, पर यथार्थमें ये सब मार्ग एक ही अनुभवके निदर्शक हैं। तुकाराम योगी थे, कर्मी थे और ज्ञानी थे और सबसे बड़ी बात यह कि यह सब होते हुए वह परम भक्त थे। इसी कारण उनके चित्त और वाणीमें इतना गाढा प्रेमरग भरा हुआ है। इस भक्तिका स्वरूपवर्णन शब्दोंद्वारा नहीं हो सकता। प्रेमका स्वरूप अनिर्वचनीय है।

'प्रेम नये बोलता सागता दाविता। अनुभव चित्ता चित्त जाणे॥

'प्रेम बोला नहीं जा सकता, बताया नहीं जा सकता, उठाकर हाथपर रखा नहीं जा सकता। यह चित्तका अनुभव है, चित्त ही जान सकता है।' कर्म-ज्ञान-योगको जिस भक्तिसे पूर्णता प्राप्त होती है, जिससे कर्म, ज्ञान, योग सार्थक होते हैं, वह भक्ति—वह प्रेम तुकारामजीके हृदयमें परिपूर्ण था। 'हेंचि माझें तप' अभङ्गमें उन्होंने यह बताया है कि भगवान्‌का चिन्तन करना, उनका नाम लेना, उनके रूपमें तन्मय हो जाना ही मेरा तप है, यही मेरा योग, यही मेरा यज्ञ, यही मेरा ज्ञान, यही मेरा जप-ध्यान, यही मेरा कुलाचार और यही मेरा सर्वस्व है। कर्मके 'आदि, मध्य, अन्तमें' भगवान्‌का अखण्ड चिन्तन ही उन्होंने अपना स्वधर्म बताया है। कर्म-ज्ञान-योगमें जो-जो कमी हो उसकी पूर्ति हरि-प्रेमसे हो जाती

है इसलिये भक्ति-योग ही सबसे श्रेष्ठ योग है। तुकारामजीने आजन्म भक्ति-सुख-भोग किया और भक्तिका झण्डा बनाकर भक्तिकी महिमा गायी, भक्तिका ही प्रचार किया। नारायण भक्तिके वश होते हैं।

प्रेम सूत्र दोरी। नेतो तिकडे जातो हरी॥

प्रेम-सूत्रकी डोरसे जिधर ले जाते हैं उधर ही भगवान् जाते हैं। भक्ति-मार्गको श्रेष्ठ माननेके जो कारण तुकारामजीने बताये हैं हो सकता है कि किसी-किसीको वे न जँचें। ऐसे जो लोग हों उन्हें तुकारामजी यह उत्तर देते हैं कि 'यह मार्ग मुझे जँचा इसलिये मैंने इसे स्वीकार किया। मत तो जहाँ-तहाँ बिखरे पड़े हैं, मेरे लिये जो उपयुक्त थे उन्हींको मैंने उठा लिया। भिन्न-भिन्न रुचिके लोग हैं, उनके संग हम कहाँ-कहाँ नाचते फिरें! अच्छा तो यही है कि अपना जो विश्वास हो उसीका मनन करें — अपनी ईश्वर-निष्ठा बनाये रहे, दूसरोंके रास्ते न जाय। भक्ति-सुख कभी बासी होनेवाला नहीं, उसका सेवन नित्य-नया स्वाद और सुख देनेवाला है।

'भक्ति-प्रेम-सुख औरोंसे नहीं जाना जाता, चाहे वे पण्डित बहुपाठी या ज्ञानी हों। आत्मनिष्ठ जीवन्मुक्त भी हों तो भी उनके लिये भी भक्ति-सुख दुर्लभ है। तुका कहता है कि नारायण यदि कृपा करें तो ही यह रहस्य जाना जा सकता है।'

४ सगुण-निर्गुण-विवेक

सर्वोत्तम सिद्धान्त यही है कि सगुण निर्गुण एक है। तथापि उन्होंने भक्तिकी महिमा बहुत बखानी है। अद्वैतमें द्वैत और द्वैतमें अद्वैत है जो निर्गुण है वही सगुण है और जो सगुण है वही निर्गुण है, यही निश्चय और स्वानुभव होनेसे उभयविध आनन्द उनकी वाणीमें भरा हुआ है। संत

द्वैतवादी नहीं और अद्वैतवादी भी नहीं, वे द्वैताद्वैतशून्य शुद्ध ब्रह्मके साथ समरस बने रहते हैं। ज्ञानेश्वर महाराजने कहा है, तुम्हें सगुण कहें या निर्गुण ? सगुण-निर्गुण दोनों एक गोविन्द ही तो हैं।' तुकारामजीने भी वही कहा है—

सगुण निर्गुण जयाचीं हीं अंगें। तोचि आम्हांसगें क्रीडा करी॥

'सगुण और निर्गुण दोनों जिसके अङ्ग हैं वही हमारे सङ्ग खेला करता है।' जो निर्गुण है वही भक्तजनोंके लिये अपना निर्गुण भाव छोड़े बिना सगुण बना है। परब्रह्म तो मन वाणीके अतीत है, ऐसा नहीं है 'जो अक्षरोंमें दिखायी दे या कानोंसे सुन पड़े' ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं, 'वहाँ पहुँचनेसे पहले शब्द लौट आते हैं, सकल्पकी आयु समाप्त हो जाती है, विचारकी हवा भी वहाँ नहीं चलती। वह उन्मनावस्थाका लावण्य है, तुर्याका तारुण्य है, वह अनादि अगण्य परमतत्त्व है। विश्वका वह मूल है और योगद्रुमका फल है, वह केवलानन्दका चैतन्य है। वहाँ आकारका प्रान्त और मोक्षका एकान्त, आदि और अन्त सबका लय हो जाता है। वह महाभूतोंका बीज और महातेजका तेज है। वही हे अर्जुन ! मेरा निजस्वरूप है।' (ज्ञानेश्वरी अ० ६। ३१९—३२३) ऐसा जो अचिन्त्य, अरूप, अनाम, अगुण, सर्वरूप सर्वगत परमात्मतत्त्व है वही निराकार, निर्विकार, निर्गुण परब्रह्मस्वरूप 'चतुर्भुज होकर प्रकट हुआ जब नास्तिकोंने भक्तोंको सताना आरम्भ किया; उसीकी शोभा इस रूपको प्राप्त हुई है।' (ज्ञानेश्वरी अ० ६। ३२४) 'हुआ है' या 'हुई है' कहना भी कुछ खटकता ही है। 'हुआ है' नहीं, बल्कि वह वही 'है'।

'योगी एकाग्र दृष्टि करके जिसकी झलक पाते हैं वह हमें अपनी दृष्टिके सामने दिखायी देता है। सुन्दर श्याम अङ्ग कान्तिकी प्रभा छिटकाते हुए

वही कटिपर कर धरे सामने खड़े हैं। तुका कहता है, यह अचेत भक्तिसे प्रसन्न होकर निज कौतुकसे खेल रहा है।

भगवान् स्वयं कहते हैं 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्' (गीता १४।२७ अर्थात् मेरे अतिरिक्त ब्रह्म और कुछ नहीं है (ज्ञानेश्वरी)। 'सगुण निर्गुण है और गुण ही अगुण है ऐसा विलक्षण श्रीहरिका स्वरूप' इसलिये 'ध्यानमें मनमें श्याम-कृष्ण' की ही भक्तजन भक्ति किया करते हैं। स्वयं भगवान्ने ही गीताके बारहवें अध्यायमें बताया है कि अव्यक्त उपासना मोक्षकी देनेवाली है पर उसमें कष्ट बहुत है (क्लेशोऽधिकतरस्तेषाम् और व्यक्तकी उपासना सुलभ और श्रेष्ठ है। 'व्यक्त और अव्यक्त—तुम्हीं एक निर्भ्रान्त' अर्थात् एकके ही ये दो रूप हैं, दोनों मिल एक ही हैं, पर भक्त भक्ति-सुखके लिये व्यक्तकी ही उपासना करते हैं। अव्यक्त अर्थात् निर्गुण निराकार, निरुपाधिक विश्वरूप ब्रह्म। व्य अर्थात् सगुण-साकार सोपाधिक राम-कृष्णादि रूप। भगवान् शङ्कराचा व्यक्ताव्यक्तका विवरण इस प्रकार किया है कि अव्यक्त वह जो किसी प्रमाणसे व्यक्त न किया जा सके (न केनापि प्रमाणेन व्यज्यते) और व्य वह जो इन्द्रिय-गोचर हो। व्यक्तकी उपासना सुलभ, सुखकर और सुग होनेके साथ मोक्षरूप फल देनेके साथ साथ भक्ति-प्रेमानुभवका आनन्द देनेवाली है। आचार्य उपासनाका लक्षण बतलाते हैं, 'उपास्य मुपास्यस्य सामीप्यमुपगम्य तैलधारावत्समानप्रत्ययप्रवाहेण दीर्घकालं यदा सनमुपासनम्' अर्थात् 'अखण्ड समानरूपसे गिरनेवाली तैल-धाराके सम एकाग्र होकर उपास्यकी ओर दीर्घकालतक लगे रहना ही उपासना है' देहवान् जीवोंके लिये व्यक्तकी उपासना ही सुखकर होती है। विश्व देखकर भी अर्जुन चतुर्भुज सौम्य श्रीकृष्णरूप देखनेके लिये व्याकु हो उठे—'किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव

'उपनिषदोंकी जिससे भेंट नहीं हुई' उस विश्वरूपको देखकर अर्जुन कहते हैं—

'विश्वरूपके ये जलसे देखकर नेत्र तृप्त हो गये, अब ये कृष्णमूर्ति देखनेके लिये अधीर हो उठे हैं। उस साकार कृष्णरूपको छोड़ इन्हें और कुछ देखनेकी रुचि नहीं, उस रूपको देखे बिना इन्हे कुछ अच्छा नहीं लगता। भुक्ति-मुक्ति सब कुछ हो पर श्रीमूर्तिके बिना उसमे कोई आनन्द नहीं। इसलिये इस सबको समेटकर अब तुम वैसे ही साकार बनो।' (ज्ञानेश्वरी ११—६०४—६०६)

सब भक्तोंकी चित्त-वृत्ति ऐसी ही होती है। यदि कोई कहे कि अव्यक्त सर्वव्यापक है और व्यक्त तो एकदेशीय है तो ज्ञानेश्वर महाराज बतलाते हैं कि सोनेका छड़ हो या एक रत्ती ही सोना हो दोनोंमें सोनापन तो समान ही है अथवा अमृतका कुम्भ हो या एक घूँट अमृत हो, दोनोंमें अमृतका गुण तो एक ही है, वैसे ही विश्वरूप और चतुर्भुज दोनों ही जीवको अमर करनेके लिये एक-से ही हैं। गीताके बारहवें अध्यायमें स्वय निज-जनानन्द जगदादिकन्द भगवान् श्रीमुकुन्दने ही कहा है कि व्यक्तकी उपासना ही श्रेयस्कर है। एकनाथ महाराजने भागवतमें (स्कन्ध ११ अध्याय ११ श्लोक ४६ की टीकामें) कहा है कि सगुण-निर्गुण दोनों समान हैं तो भी निर्गुणका बोध होना कठिन है, मन, बुद्धि और वाणीके लिये वह अगम्य है, वेद-शास्त्रोंको उसकी पहचान नहीं है, पर सगुणकी यह बात नहीं। सगुणका स्वरूप देखते ही भूख-प्यास भूल जाती है और मन प्रेममय हो जाता है। सोना और सोनेके अलकार एक ही चीज हैं, पर सोनेकी एक ईंट नववधूके गलेमें लटका दी जाय तो क्या वह भली मालूम होगी ? या उसी सोनेके विविध अलकार उसके अङ्ग-प्रत्यङ्गपर शोभा दे सकेंगे ? इनमेंसे शोभा किसमें है ? दूसरी बात यह कि घी पतला हो या जमा हुआ

हो, है वह भी ही। पर पतके भीकी अपेक्षा जमा हुआ दानेदार घी ही जीभमर रखनेसे स्वादिष्ट मालूम होता है। इसी प्रकार 'निर्गुणके समान ही सगुणको समझो और उसका स्वानन्द अनुभव करो। भगवान्‌के सगुण ध्यान-भजन-पूजनमें जो परम आनन्द है वह अन्य किसी साधनसे मिलनेवाला नहीं। सगुण-भजनके द्वारा अद्वैत आप ही सिद्ध होता है। समर्थ रामदास स्वामीने कहा है 'रघुनाथकी भजनसे मुझे ज्ञान हुआ।' 'भक्त्या मामभिजानाति' यह भगवान्‌ने भी कहा है। इस सम्बन्धमें एकनाथ महाराजने बड़ा अच्छा सिद्धान्त बताया है जो सदा ध्यानमें रखना चाहिये—

दीपकलिका हातीं घेके। तें धरामीतरी प्रकाश स्फुरे॥
माझी मूर्ति जे ध्यानीं ओके। ते चैतन्य अवघे भरोनि॥

'दीपक हाथमें ले लेनेसे घरमें सब जगह उजाला हो जाता है। वैसे ही मेरी मूर्ति जब ध्यानमें बैठ जाती है तब समग्र चैतन्य दृष्टिमें समा जाता है।'

भगवान्‌की मूर्तिका दर्शन स्पर्शन भजन-पूजन कथा-कीर्तन ध्यान-चिन्तन करते रहनेसे चित्त उपास्य देवकी जो मूर्ति है वह उपास्य देव ध्यानमें बैठकर चित्तपर लेखने लगते हैं सामने होकर आदेश सुनाते हैं ऐसी प्रतीति होती है कि वह पीठपर हैं और उनका प्रेम बढ़ता जाता है, तब उनसे मिलनेके लिये जी छटपटाने लगता है तब प्रत्यक्ष दर्शन भी होते हैं और यह अनुभूति होती है कि वह निरन्तर हमारे समीप हैं और अन्तमें यह अवस्था आती है कि अंदर-बाहर वही हैं और वही सब भूतोंके हृदयमें हैं उन्हें छोड़ ब्रह्माण्डमें और कोई नहीं मेरे अंदर वही हैं और मैं भी वही हूँ। तब सगुण-निर्गुणका कोई भेद नहीं रहता सगुण भक्तिमें ही निर्गुणानुभव होता है और सब भेद-भाव मिट जाते

हैं । ऐसे समरस हुए भक्त भक्तिका आनन्द लूटनेके लिये भगवान् और भक्तका द्वैत केवल मनकी मौजसे बनाये रहते हैं । ऐसे भक्तको देखिये तो उसका कर्म भक्तका-सा होता है पर स्वय परमात्मा ही होता है यह देखनेवाले देख लेते हैं । इसी अभिप्रायसे तुकारामजीने यह कहा है कि–

अभेदूनि भेद राखियला अर्गी । वाढावया जगीं प्रेमसुख ॥

'अभेद करके भेदको बना रक्खा, इसलिये कि ससारमें प्रेमसुखकी वृद्धि हो ।' महाराष्ट्रके सभी सत ऐसे ही हुए जिन्होंने सगुणमें निर्गुण और निर्गुणमें सगुण, द्वैतमें अद्वैत और अद्वैतमें द्वैत देखा और देखकर तदाकार हुए । आप उन्हें द्वैती कहें तो कोई हर्ज नहीं, अद्वैती कहें तो भी कोई उजुर नहीं । सगुणोपासक भी कह सकते हैं और निर्गुणानुभवी भी कह सकते हैं, क्योंकि वे हैं ऐसे ही जो अद्वैतानुभवमें द्वैत-सुखका भी आनन्द लिया करते हैं । अद्वैत और भक्तिका समन्वय करनेवाला ही तो यह भागवतधर्म है । ज्ञानेश्वर, समर्थ और तुकाराम तीनोंका अनुभव एक-सा ही है ।

(१) ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं–

हवाको हिलाकर देखनेसे वह आकाशसे अलग जान पड़ती है, पर आकाश तो ज्यों-का-त्यों ही रहता है । वैसे ही भक्त शरीरसे कर्म करता हुआ भक्त-सा जान पड़ता है पर अन्तःप्रतीतिसे वह भगवत्स्वरूप ही रहता है । (ज्ञानेश्वरी अ० ७–११५, ११६)

(२) समर्थ रामदास स्वामी कहते हैं–

देहको उपासना लगी रहती है पर विवेकतः उसका आपा नहीं रहता । सतोंके अन्तःकरणकी ऐसी स्थिति होती है । (दासबोध दशक ६ समास ७)

(३) तुकाराम महाराज कहते हैं—

भक्ती होता भेदसंगें । तुका झाला पांडुरंग ॥
त्याचें भजन राहीना । मूळ स्वभाव जाईना ॥

'पहले तत्संग था। पीछे तुका स्वयं ही पाण्डुरंग हो गया। पर इस अवस्थामें भी उसका भजन नहीं छूटता; जिसका जो मूल स्वभाव है वह कहाँ जायगा!'

इन तीनों उद्गारोंसे यही स्पष्ट होता है कि शुद्ध ब्रह्मज्ञान और निष्कपट भजन दोनोंका पूर्ण एकत्व भक्तमें होता है। भक्तिका अद्वैतसे कोई झगड़ा नहीं यही नहीं बल्कि उनकी एकरूपता है। द्वैताद्वैत, सगुण निर्गुण, भगवान् और भक्त, जीव और ब्रह्म ये सब भेद केवल समझके हैं, तत्त्वतः ये नहीं हैं। इसलिये साधु-संतोंने जिस भावसे सगुणोपासनाकी महिमा बखानी है उसी भावसे हमलोग भी सगुण-प्रेमकी कथा श्रवण करनेके लिये प्रस्तुत हों। तुकारामजीने भगवान्‌से विनोद किया है कहीं स्तुतिके साथ-साथ व्याजसे निन्दा भी की है, विलक्षण कल्पनाएँ की हैं, प्रेमसे गालियाँ भी सुनायी हैं अवश्य ही मूलतः भगवान्‌के साथ अपना जो ऐक्य है उसे भूलकर वे गालियाँ न दी होंगी। महाप्रभुके सभी संतोंके समान तुकारामजीको अद्वैत सिद्धान्त सर्वथा स्वीकार था, यह बात जिनके ध्यानमें नहीं आती उनको इस बातका बड़ा आश्चर्य होता है कि तुकारामजीने भगवान्‌से इतनी घनिष्ठता कैसे बरती। सिद्धान्त अद्वैतका और मजा भक्तिका यही तो भागवतधर्मका रहस्य है। इसे ध्यानमें रखते हुए अब हमलोग सगुणभक्तिका आनन्द लेनेके लिये तुकारामजीका ढंग पकड़ें।

५ विट्ठल-शब्दकी व्युत्पत्ति

विट्ठल-शब्दकी व्युत्पत्ति विदा ज्ञानेन ठान् शून्यजन् लाति गृह्णाति

विट्ठलः' अर्थात् ज्ञानशून्य याने भोले-भाले अज्ञजनोंको जो अपनाते हैं वही विट्ठल है, यह व्याख्या विट्ठल शब्दकी 'धर्मसिन्धु' कार काशीनाथ बाबा पाध्येने की है। तुकारामजीके अभंगका एक चरण है—'वीचा केला ठोबा। म्हणोनि नाव विठोबा॥' ('वी' का ठोबा (वाहन) किया, इसलिये नाम विठोबा हुआ।) 'वी' याने पक्षी—गरुड़, गरुड़को जिसने अपना वाहन बनाया उसका नाम विट्ठल हुआ। कुछ लोग ऐसा भी अर्थ करते हैं कि वी (विद्) याने ज्ञान उसका 'ठोबा' याने आकार अर्थात् ज्ञानका आकार, ज्ञान-मूर्ति, परब्रह्मकी सगुण साकार मूर्ति। व्युत्पत्ति-शास्त्रसे 'विष्णु' से 'विठु—विठोबा' होता है। प्राकृत भाषाके व्याकरणमें 'विष्णु' का 'विठु' रूप होता है। जैसे मुष्टिसे मूठ (मुट्ठी), पृष्ठसे पाठ (पीठ)' वैसे ही 'विष्णु' से 'विठु' हुआ। 'ल' प्रत्यय प्रेमसूचक है और 'बा' आदरसूचक। कोई विट्ठलको 'विटस्थल' याने वीट (ईंट) जिसका स्थल है याने जो ईंटपर खड़ा है ऐसा भी अर्थ लगाते हैं। सफेद मिट्टी होनेसे उस स्थानको पण्ढरपुर कहते हैं, वहाँ ईंटके भट्ठे रहे होंगे। पुण्डलीकने भगवान्‌के बैठनेके लिये उनके सामने जो ईंट रख दी, इसका कारण भी यही हो सकता है कि चारों ओर ईंटके भट्ठे होनेसे जहाँ-तहाँ ईंटें पड़ी रहती होंगी और लोग बैठनेके लिये भी उनका उपयोग करते होंगे। विठोबा शब्दका धात्वर्थ कुछ भी हो, पर विठोबा कहनेसे पण्ढरीमें ईंटपर खड़े भगवान् श्रीकृष्णकी मूर्तिका ही ध्यान होता है। श्रुतिने परमात्माका 'ॐ' नाम रखा, उसी प्रकार भक्तोंने उन्हीं परमात्माके व्यक्त रूपको—श्रीकृष्णको—'विट्ठल' नाम प्रदान किया है। ज्ञानेश्वर महाराजने 'ॐ तत्सदिति निर्देश' का व्याख्यान करते हुए प्रणवके सम्बन्धमें जो कुछ कहा है वही भगवान्‌के विट्ठल नामपर भी घट सकता है।

'उस ब्रह्मका कोई नाम नहीं, कोई जाति नहीं, पर अविद्यावर्गकी

इसमें उसे पहचाननेके लिये वेदोंने एक संकेत बनाया है। जब बालक पैदा होता है, तब उसका कोई नाम नहीं होता, पीछे उसका जो नाम रखा जाता है उसी नामपर वह 'हाँ' कहकर उठता है। संसार-दुःखसे दुःखी जीव जो अपना दुखड़ा सुनानेके लिये जाते हैं वे जिस नामसे पुकारते हैं वह यह नाम—यह संकेत है। ब्रह्मका मौन भङ्ग हो, अद्वैत-भावसे वह मिले ऐसा मन्त्र वेदोंने कृपा करके निकाला है। उस एक संकेतसे आनन्दके साथ जिसने ब्रह्मको पुकारा, तहाँ उसके पीछे रहनेवाला वह ब्रह्म उसके सामने आ खड़ा होता है।' (ज्ञानेश्वरी अ० १७ । ३२९-३३३)

अनाम-अव्यक्त ब्रह्मकी पहचान संसार-दुःखसे दुःखी जीवोंको हो, इसके लिये श्रुतिने जो नाम संकेत किया वह प्रणव-शब्दसे जाना जाता है, वैसे ही संतोंने जीवोंको श्रीकृष्णकी पहचान करानेके लिये उसीको 'विट्ठल' नामसे निर्देश किया है और इस नामसे जो कोई पुकारता है श्रीकृष्ण भी उसके सामने प्रकट होते हैं। श्रीहरिवंश या श्रीमद्भागवतमें श्रीकृष्णको इस नामसे न भी पुकारा हो और भक्तोंने चाहे उनका यह एक नया ही नाम रखा हो तो भी नामकी नवीनतासे अच्युत श्रीकृष्णका कृष्णपन तो च्युत नहीं होता। कई पुराणोंमें पण्ढरपुरके श्रीविट्ठलके उल्लेख हैं। पद्मपुराणमें (उत्तरखण्ड—गीतामाहात्म्यमें)—

विट्ठलं विट्ठलं विष्णुं भुक्तिमुक्तिप्रदायकम्।

—यह उल्लेख है। गरुडपुराणमें 'विठ्ठलं पाण्डुरङ्गं च ब्रह्मादयो रमाश्रयम्' अर्थात् पण्ढरपुरमें विष्णुको विठ्ठल कहते हैं ऐसा कहा है। स्कन्दपुराणमें भीमामाहात्म्यके अंदर 'पाण्डुरङ्ग इति ख्यातो विष्णुर्विपुलभूतिदः' यह उल्लेख है और फिर उसी पुराणके चन्द्रभागा-माहात्म्यमें श्रीविट्ठलका समचरणत्वको देख 'करचरणशोभित' कहकर वर्णन किया है। इस प्रकार ब्रह्माण्डपुराण, मार्कण्डेयपुराण इत्यादि पुराणोंमें और श्रीमत् शङ्कराचार्यकृत

पाण्डुरङ्गस्तोत्रादिमें भी श्रीपण्ढरपुरनिवासी पाण्डुरङ्ग भगवान्‌का वर्णन आया है। पण्ढरी-क्षेत्र और श्रीविट्ठल देवता अत्यन्त प्राचीन हैं। पुराणोंके जो अवतरण ऊपर दिये उनसे यह स्पष्ट है कि विष्णु ही विट्ठल हैं।

६ ज्ञानेश्वरीमें विट्ठल-नाम क्यों नहीं ?

श्रीविट्ठल-स्वरूपका विचार अगले अध्यायमें किया जायगा, यहाँ विट्ठल अर्थात् विष्णु और सो भी श्रीविष्णुके पूर्णावतार श्रीकृष्ण हैं इस बातको ध्यानमें रखते हुए एक आक्षेपका विचार कर लें और आगे बढ़ें। कुछ आधुनिक विद्वानोंका यह तर्क है कि ज्ञानेश्वरीमें कहीं भी विट्ठल-नाम नहीं आया है, इससे यह जान पड़ता है कि ज्ञानेश्वर महाराज विट्ठलके उपासक नहीं प्रत्युत निर्गुण ब्रह्मके ही उपासक थे। ज्ञानेश्वर और एकनाथ दोनों ही अत्यन्त गुरुभक्त थे और ग्रन्थ-प्रणयनके समय उनके गुरु भी उनके सम्मुख उपस्थित थे। इसी कारण उनके ग्रन्थोंके मङ्गलाचरण गुरु-स्तुतिसे ही भरे हुए हैं। तथापि उनके ग्रन्थोंमें श्रीकृष्ण-प्रेमके जो अनुपम निर्झर हैं उनकी ओर ध्यान देनेसे एक अन्धा भी यह जान सकेगा कि उनका सगुण-प्रेम कितना अलौकिक था। श्रीकृष्णार्जुन-प्रेमका वर्णन करते हुए ज्ञानेश्वर महाराजने अपनी श्रीकृष्ण-भक्ति व्यक्त करनेकी लालसा पूरी कर ली है (ज्ञानेश्वर-चरित्र पाठक देखें)। और फिर जहाँ जहाँ श्रीकृष्णकी स्तुति करनेका अवसर मिला है वहाँ-वहाँ ज्ञानेश्वर महाराजकी वाणी कितनी प्रेममयी हो गयी है यह ज्ञानेश्वरीके पाठक समझ सकते हैं। विस्तार बढ़नेके भयसे अवतरण यहाँ नहीं देते। जो लोग देखना चाहें वे ज्ञानेश्वरीमें चौथे अध्यायकी १४ ओवियाँ और नवें अध्यायकी ४२५ से ४७५ तककी ओवियाँ अवश्य देखें। नवें अध्यायकी ५२१ वीं ओवीमें महाराज श्रीकृष्णका 'श्यामसुन्दर परब्रह्म भक्तकाम कल्पद्रुम श्रीआत्माराम' कहकर वर्णन करते हैं। ग्यारहवें अध्यायके उत्तरार्धमें और बारहवें अध्यायमें

रातमें उसे पहचाननेके लिये वेदोंने एक संकेत बनाया है। जब बालक पैदा होता है, तब उसका कोई नाम नहीं होता, पीछे उसका जो नाम रखा जाता है उसी नामपर वह 'हाँ' कहकर उठता है। संसार-दुःखसे दुखी जीव जो अपना दुखड़ा सुनानेके लिये आते हैं वे जिस नामसे पुकारते हैं वह सब नाम—यह संकेत है। ब्रह्मका मौन भङ्ग हो, अद्वैत-भावसे वह मिले, ऐसा मन्त्र वेदोंने करुणा करके निकाला है। उस एक संकेतसे आनन्दके साथ जिसने ब्रह्मको पुकारा सदा उसके पीछे रहनेवाला वह ब्रह्म उसके सामने आ जाता है।' (ज्ञानेश्वरी अ० १७। १९९–२११)

अनाम-अजात ब्रह्मकी पहचान संसार-दुःखसे दुखी जीवोंको हो, इसके लिये श्रुतिने जो नाम संकेत किया वह प्रणव-शब्दसे जाना जाता है, वैसे ही संतोंने जीवोंको श्रीकृष्णकी पहचान करानेके लिये उन्हींका 'विठ्ठल' नामसे निर्देश किया है और इस नामसे जो कोई पुकारता है, श्रीकृष्ण भी उसके सामने प्रकट होते हैं। श्रीहरिवंश या श्रीमद्भागवतमें श्रीकृष्णको इस नामसे न भी पुकारा हो और भक्तोंने चाहे उनका यह एक नया ही नाम रखा हो तो भी नामकी नवीनतासे अच्युत श्रीकृष्णका कृष्णपन तो च्युत नहीं होता। कई पुराणोंमें पण्ढरपुरके श्रीविठ्ठलके उल्लेख हैं। पद्मपुराणमें (उत्तरखण्ड—गीतामाहात्म्यम्)—

द्विभुजं विठ्ठलं विष्णुं भुक्तिमुक्तिप्रदायकम्।

—यह उल्लेख है। गरुडपुराणमें 'विठ्ठलं पाण्डुरङ्गे च [illegible] रमानाथम्' अर्थात् पण्ढरपुरमें विष्णुको विठ्ठल कहते हैं ऐसा कहा है। स्कन्दपुराणमें भीमामाहात्म्यके अंदर 'पाण्डुरङ्ग इति ख्यातो विष्णुर्विपुल-भूतिद' यह उल्लेख है और फिर उसी पुराणके [illegible] माहात्म्यमें श्रीविठ्ठलका '[illegible] देव वरदाभयदोऽपि' कहकर वर्णन किया है। इस प्रकार ब्रह्माण्डपुराण, मार्कण्डेयपुराण इत्यादि पुराणोंमें और श्रीमत् शङ्कराचार्यकृत

पाण्डुरङ्गस्तोत्रादिमें भी श्रीपण्ढरपुरनिवासी पाण्डुरङ्ग भगवान्‌का वर्णन आया है। पण्ढरी क्षेत्र और श्रीविट्ठल देवता अत्यन्त प्राचीन हैं। पुराणोंके जो अवतरण ऊपर दिये उनसे यह स्पष्ट है कि विष्णु ही विट्ठल हैं।

६ ज्ञानेश्वरीमें विट्ठल-नाम क्यों नहीं ?

श्रीविट्ठल-स्वरूपका विचार अगले अध्यायमें किया जायगा, यहाँ विठ्ठल अर्थात् विष्णु और सो भी श्रीविष्णुके पूर्णावतार श्रीकृष्ण हैं इस बातको ध्यानमें रखते हुए एक आक्षेपका विचार कर लें और आगे बढ़ें। कुछ आधुनिक विद्वानोंका यह तर्क है कि ज्ञानेश्वरीमें कहीं भी विठ्ठल नाम नहीं आया है, इससे यह जान पड़ता है कि ज्ञानेश्वर महाराज विट्ठलके उपासक नहीं प्रत्युत निर्गुण ब्रह्मके ही उपासक थे। ज्ञानेश्वर और एकनाथ दोनों ही अत्यन्त गुरुभक्त थे और ग्रन्थ-प्रणयनके समय उनके गुरु भी उनके सम्मुख उपस्थित थे। इसी कारण उनके ग्रन्थोंके मङ्गलाचरण गुरु-स्तुतिसे ही भरे हुए हैं। तथापि उनके ग्रन्थोंमें श्रीकृष्ण-प्रेमके जो अनुपम निर्झर हैं उनकी ओर ध्यान देनेसे एक अन्धा भी यह जान सकेगा कि उनका सगुण-प्रेम कितना अलौकिक था। श्रीकृष्णार्जुन-प्रेमका वर्णन करते हुए ज्ञानेश्वर महाराजने अपनी श्रीकृष्ण-भक्ति व्यक्त करनेकी लालसा पूरी कर ली है (ज्ञानेश्वर-चरित्र पाठक देखें)। और फिर जहाँ जहाँ श्रीकृष्णकी स्तुति करनेका अवसर मिला है वहाँ-वहाँ ज्ञानेश्वर महाराजकी वाणी कितनी प्रेममयी हो गयी है यह ज्ञानेश्वरीके पाठक समझ सकते हैं। विस्तार बढ़नेके भयसे अवतरण यहाँ नहीं देते। जो लोग देखना चाहें वे ज्ञानेश्वरीके चौथे अध्यायकी १४ ओवियाँ और नवें अध्यायकी ४२५ से ४७५ तककी ओवियाँ अवश्य देखें। नवें अध्यायकी ५२१ वीं ओवीमें महाराज श्रीकृष्णका 'श्यामसुन्दर परब्रह्म भक्तकाम कल्पद्रुम श्रीआत्माराम' कहकर वर्णन करते हैं। ग्यारहवें अध्यायके उत्तरार्धमें और बारहवें अध्यायमें

पनमें उसे पहचाननेके लिये वेदोंने एक संकेत बनाया है। जब बालक पैदा होता है, तब उसका कोई नाम नहीं होता, पीछे उसका जो नाम रखा जाता है उसी नामपर वह 'ओं' कहकर उठता है। संसार-दुःखसे दुखी जीव जो अपना दुखड़ा सुनानेके लिये आते हैं वे जिस नामसे पुकारते हैं वह यह नाम—यह संकेत है। ब्रह्मका मौन भङ्ग हो, अद्वैत भावसे वह मिले, ऐसा मन्त्र वेदोंने करुणा करके निकाला है। उस एक संकेतसे आनन्दके साथ जिसने ब्रह्मको पुकारा, सदा उसके पीछे रहनेवाला वह ब्रह्म उसके सामने आ जाता है।' (ज्ञानेश्वरी अ० १७। १२९–१३३)

अनाम-अव्यक्त ब्रह्मकी पहचान संसार-दुःखसे दुखी जीवोंको हो, इसके लिये श्रुतिने जो नाम संकेत किया वह प्रणव-शब्दसे कहा जाता है, वैसे ही संतोंने जीवोंको श्रीकृष्णकी पहचान करानेके लिये उन्हींका 'विट्ठल' नामसे निर्देश किया है और इस नामसे जो कोई पुकारता है, श्रीकृष्ण भी उसके सामने प्रकट होते हैं। श्रीहरिवंश या श्रीमद्भागवतमें श्रीकृष्णको इस नामसे न भी पुकारा हो और भक्तोंने चाहे उनका यह एक नया ही नाम रखा हो तो भी नामकी नवीनतासे अच्युत श्रीकृष्णका कृष्णत्व तो च्युत नहीं होता। कई पुराणोंमें पण्ढरपुरके श्रीविट्ठलके उल्लेख हैं। पद्मपुराणमें (उत्तरखण्ड—गीतामाहात्म्यमें)—

त्रिभुवं विट्ठलं विष्णुं भुक्तिमुक्तिप्रदायकम्।

—यह उल्लेख है। गरुडपुराणमें 'विट्ठलं पाण्डुरङ्गे च ब्रह्मरूपी रमापतिम्' अर्थात् पण्ढरपुरमें विष्णुको विट्ठल कहते हैं ऐसा कहा है। स्कन्दपुराणमें भीमामाहात्म्यके अंदर 'पाण्डुरङ्ग इति ख्यातो विष्णुर्विपुल-भूतिदः' यह उल्लेख है और फिर उसी पुराणके पाण्डुरङ्ग माहात्म्यमें श्रीविट्ठलका 'प्रसन्नवदनो देवः करन्यस्तकटोऽधिः' कहकर वर्णन किया है। इस प्रकार ब्रह्माण्डपुराण भार्गवपुराण इत्यादि पुराणोंमें और श्रीमत् शङ्कराचार्यकृत

पाण्डुरङ्गस्तोत्रादिमें भी श्रीपण्ढरपुरनिवासी पाण्डुरङ्ग भगवान्‌का वर्णन आया है। पण्ढरी-क्षेत्र और श्रीविट्ठल देवता अत्यन्त प्राचीन हैं। पुराणोंके जो अवतरण ऊपर दिये उनसे यह स्पष्ट है कि विष्णु ही विट्ठल हैं।

६ ज्ञानेश्वरीमें विट्ठल-नाम क्यों नहीं ?

श्रीविट्ठल-स्वरूपका विचार अगले अध्यायमें किया जायगा, यहाँ विट्ठल अर्थात् विष्णु और सो भी श्रीविष्णुके पूर्णावतार श्रीकृष्ण है इस बातको ध्यानमे रखते हुए एक आक्षेपका विचार कर लें और आगे बढ़ें। कुछ आधुनिक विद्वानोंका यह तर्क है कि ज्ञानेश्वरीमें कहीं भी विट्ठल-नाम नहीं आया है, इससे यह जान पड़ता है कि ज्ञानेश्वर महाराज विट्ठलके उपासक नहीं प्रत्युत निर्गुण ब्रह्मके ही उपासक थे। ज्ञानेश्वर और एकनाथ दोनों ही अत्यन्त गुरुभक्त थे और ग्रन्थ-प्रणयनके समय उनके गुरु भी उनके सम्मुख उपस्थित थे। इसी कारण उनके ग्रन्थोंके मङ्गलाचरण गुरु-स्तुतिसे ही भरे हुए हैं। तथापि उनके ग्रन्थोंमें श्रीकृष्ण-प्रेमके जो अनुपम निर्झर हैं उनकी ओर ध्यान देनेसे एक अन्धा भी यह जान सकेगा कि उनका सगुण-प्रेम कितना अलौकिक था। श्रीकृष्णार्जुन-प्रेमका वर्णन करते हुए ज्ञानेश्वर महाराजने अपनी श्रीकृष्ण-भक्ति व्यक्त करनेकी लालसा पूरी कर ली है (ज्ञानेश्वर-चरित्र पाठक देखें)। और फिर जहाँ-जहाँ श्रीकृष्णकी स्तुति करनेका अवसर मिला है वहाँ-वहाँ ज्ञानेश्वर महाराजकी वाणी कितनी प्रेममयी हो गयी है यह ज्ञानेश्वरीके पाठक समझ सकते हैं। विस्तार बढ़नेके भयसे अवतरण यहाँ नहीं देते। जो लोग देखना चाहें वे ज्ञानेश्वरीमें चौथे अध्यायकी १४ ओवियाँ और नवें अध्यायकी ४२५ से ४७५ तककी ओवियाँ अवश्य देखें। नवें अध्यायकी ५२१ वीं ओवीमें महाराज श्रीकृष्णका 'श्यामसुन्दर परब्रह्म भक्तकाम कल्पद्रुम श्रीआत्माराम' कहकर वर्णन करते हैं। ग्यारहवें अध्यायके उत्तरार्धमें और बारहवें अध्यायमें

भागवत श्रीकृष्ण—श्रीविट्ठलके परम भक्त थे फिर भी नाथ-भागवतमें श्रीविट्ठलका नाम एक ही ओवीमें आया है, और ज्ञानेश्वरीमें तो विट्ठलका नाम ही नहीं है, इस बातको बड़ा तूल देकर अनेक आधुनिक पण्डित यह कहा करते हैं कि ज्ञानेश्वरी तो तत्त्व-ज्ञान और निर्गुणोपासनका ग्रन्थ है, वारकरी-सम्प्रदायसे उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं। यह बड़े आश्चर्यकी बात है। ज्ञानेश्वरीको कोई केवल तत्त्व-ज्ञानका ग्रन्थ भले ही समझ ले, पर वारकरियोंके लिये तो ज्ञानेश्वरी और एकनाथी भागवत ये दोनों ग्रन्थ उपासना-ग्रन्थ हैं। वारकरी श्रीकृष्णके उपासक हैं और ये ग्रन्थ श्रीकृष्णके परम भक्तोंके ग्रन्थ होनेसे उनके लिये प्रमाणस्वरूप हैं। ज्ञानेश्वर और एकनाथ श्रीकृष्ण-श्रीविट्ठलके पूर्णभक्त और उनके ग्रन्थ श्रीकृष्ण—श्रीविट्ठलकी भक्तिसे ओतप्रोत हैं इसीसे वारकरियोंको अत्यन्त प्रिय और मान्य हैं। ज्ञानेश्वर-एकनाथको नामदेव-तुकारामसे अलग करनेकी इनकी चेष्टा व्यर्थ है, यह पहले सप्रमाण सिद्ध किया जा चुका है। रुक्मिणी—रखुमाई श्रीकृष्णकी पत्नी थीं उनकी चित्-शक्ति—उनकी आदिमाया थीं यह सर्वश्रुत ही है। श्रीकृष्ण-रुक्मिणी ही श्रीविट्ठल-रखुमाई हैं 'विट्ठल-रखुमाई' ही वारकरियोंका नाम-मन्त्र है। ज्ञानेश्वरी और नाथ-भागवत श्रीकृष्ण (श्रीविट्ठल) भक्तिप्रधान ग्रन्थ हैं यह बात आधुनिक विद्वान् ध्यानमें रखें तो ज्ञानेश्वर-एकनाथसे पण्ढरीके भक्ति-पन्थको अलग करना असम्भव है यह बात उन्हें भी स्वीकार करनी पड़ेगी। ज्ञानेश्वर नामदेव जनाबाई, एकनाथ तुकाराम—ये सभी विट्ठल-भक्त हैं। श्रीविट्ठलकी उपासना तुकाराम महाराज आजीवन करते रहे।

७ मूर्ति-पूजा-रहस्य

श्रीविट्ठल मूर्ति अत्यन्त प्राचीन मानी है। पण्डित भगवानलालके मतसे पण्ढरपुरकी यह मूर्ति छठी शताब्दीसे पहलेकी है। निर्गुण ब्रह्म और

सगुण भगवान् दोनों इस श्रीविट्ठल-मूर्तिमें हैं । यह मूर्ति भक्तोंको चैतन्यघन प्रतीत होती है । इस मूर्तिके भजन-पूजनसे तथा ध्यान-धारणासे भावुक भक्तोंको भगवान्के सगुणरूपके दर्शन होते और अद्वयानन्दका अनुभव भी प्राप्त होता है। पहले हुआ है और अब भी होता है । श्रीविट्ठल-भक्ति योग ज्ञानकी विश्राम-भूमिका है । यह भी कोई पूछ सकते हैं कि अद्वैतानन्दके लिये मूर्तिकी क्या आवश्यकता ? पर मैं उनसे पूछता हूँ कि मूर्ति-पूजासे भक्तिरसास्वाद मिला और अद्वयानन्दमें भी कुछ कमी न हुई तो इस मूर्ति-पूजासे क्या हानि हुई ? भगवान्, भक्त और भजनकी त्रिपुटी अद्वयानन्दके स्वानुभवपर खड़ी की गयी तो इसमें क्या बिगड़ा ?

देव देऊळ परिवारू । कीजे कोरूनी डोंगरू ।
तैसा भक्तीचा वेव्हारू । का न व्हावा ॥

(अमृतानुभव प्र० ९—४१)

'देव, देवल और देव-भक्त पहाड़ खोदकर एक ही शिलापर खुदवाये जा सकते हैं । वैसा व्यवहार भक्तिका क्यों नहीं हो सकता ?'

एक ही चित्र-शिलापर श्रीशङ्कर, मार्कण्डेय और शिव-मन्दिर या श्रीविष्णु, गरुड़ और विष्णु-मन्दिर यदि चित्रित हों तो क्या एकके अंदरकी इस त्रिविधतासे हरि-हर-भक्ति-रसास्वादनमें कुछ बाधा पड़ती है ? सुवर्णके ही श्रीराम, सुवर्णके ही हनुमान् और उनपर सुवर्णके ही फूल बरसानेवाला सुवर्ण शरीर भक्त हो तो इस त्रिपुटीसे अद्वैत सुखकी क्या हानि होती है ? यह सब तो उपासकके अधिकारपर निर्भर करता है ! मूलका मूल बना रहे और ऊपरसे व्याज भी मिले तो इसे कौन छोड़ दे ? वजन और कसमें कोई कसर न हो और अलङ्कारकी शोभा भी प्राप्त हो तो इस आनन्दको छोड़कर केवल सोनेका पासा छातीसे चिपकाये रहनेमें कौन सी बुद्धिमानी है ? भक्तके अद्वैतबोधमें कुछ कमी न हो और वह

भागवत श्रीकृष्ण—श्रीविट्ठलके परम भक्त थे फिर भी नाथ-भागवतमें श्रीविट्ठलका नाम एक ही ओवीमें आया है, और ज्ञानेश्वरीमें तो विट्ठलका नाम ही नहीं है इस बातको बड़ा तूल देकर अनेक आधुनिक पण्डित यह कहा करते हैं कि ज्ञानेश्वरी तो तत्त्व-ज्ञान और निर्गुणोपासनाका ग्रन्थ है वारकरी-सम्प्रदायसे उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं। यह बड़े आश्चर्यकी बात है। ज्ञानेश्वरीको कोई केवल तत्त्व-ज्ञानका ग्रन्थ भले ही समझ ले पर वारकरियोंके लिये तो ज्ञानेश्वरी और एकनाथी भागवत ये दोनों ग्रन्थ उपासना-ग्रन्थ हैं। वारकरी श्रीकृष्णके उपासक हैं और ये ग्रन्थ श्रीकृष्णके परम भक्तोंके ग्रन्थ होनेसे उनके लिये प्रमाणस्वरूप हैं। ज्ञानेश्वर और एकनाथ श्रीकृष्ण-श्रीविट्ठलके पूर्णभक्त और उनके ग्रन्थ श्रीकृष्ण—श्रीविट्ठलकी भक्तिसे ओतप्रोत हैं इसीसे वारकरियोंको अत्यन्त प्रिय और मान्य हैं। ज्ञानेश्वर-एकनाथसे नामदेव-तुकारामको अलग करनेकी इनकी चेष्टा व्यर्थ है यह पहले सप्रमाण सिद्ध किया जा चुका है। रुक्मिणी—रखुमाई श्रीकृष्णकी पट्टरानी थीं उनकी चित्-शक्ति—उनकी आदिमाया थीं यह सर्वस्व ही है। श्रीकृष्ण-रुक्मिणी ही श्रीविट्ठल-रखुमाई हैं 'विट्ठल-रखुमाई' ही वारकरियोंका नाम-मन्त्र है। ज्ञानेश्वरी और नाथ-भागवत श्रीकृष्ण (श्रीविट्ठल)-भक्तिप्रधान ग्रन्थ हैं यह बात आधुनिक विद्वान् ध्यानमें रखें तो ज्ञानेश्वर-एकनाथसे पण्ढरीके भक्ति-पन्थको अलग करना असम्भव है यह बात उन्हें भी स्वीकार करनी पड़ेगी। ज्ञानेश्वर नामदेव जनाबाई एकनाथ तुकाराम—ये सभी विट्ठल-भक्त हैं। श्रीविट्ठलकी उपासना तुकाराम महाराज आजीवन करते रहे।

७ मूर्ति-पूजा-रहस्य

श्रीविट्ठल-मूर्ति भक्तोंके प्राणोंका प्राण है। पवित्र भगवानभक्तके भक्तके पुण्यपुञ्जकी यह मूर्ति उसी महात्मीसे पहचानी है। निर्गुण ब्रह्म और

सगुण भगवान् दोनों इस श्रीविठ्ठल-मूर्तिमें हैं । यह मूर्ति भक्तोंको चैतन्यघन प्रतीत होती है । इस मूर्तिके भजन-पूजनसे तथा ध्यान-धारणासे भावुक भक्तोंको भगवान्के सगुणरूपके दर्शन होते और अद्वयानन्दका अनुभव भी प्राप्त होता है। पहले हुआ है और अब भी होता है । श्रीविठ्ठल-भक्ति योग ज्ञानकी विश्राम-भूमिका है । यह भी कोई पूछ सकते हैं कि अद्वैतानन्दके लिये मूर्तिकी क्या आवश्यकता ? पर मैं उनसे पूछता हूँ कि मूर्ति-पूजासे भक्तिरसास्वाद मिला और अद्वयानन्दमें भी कुछ कमी न हुई तो इस मूर्ति-पूजासे क्या हानि हुई ? भगवान्, भक्त और भजनकी त्रिपुटी अद्वयानन्दके स्वानुभवपर खड़ी की गयी तो इसमें क्या बिगड़ा ?

देव देऊळ परिवारू । कीजे कोरूनी डोंगरू ।
तैसा भक्तीचा वेव्हारू । कां न व्हावा ॥

(अमृतानुभव प्र० ९—४१)

'देव, देवल और देव भक्त पहाड़ खोदकर एक ही शिलापर खुदवाये जा सकते हैं । वैसा व्यवहार भक्तिका क्यों नहीं हो सकता ?'

एक ही चित्र-शिलापर श्रीशङ्कर, मार्कण्डेय और शिव-मन्दिर या श्रीविष्णु, गरुड़ और विष्णु-मन्दिर यदि चित्रित हों तो क्या एकके अदरकी इस त्रिविधतासे हरि-हर-भक्ति-रसास्वादनमें कुछ बाधा पड़ती है ? सुवर्णके ही श्रीराम, सुवर्णके ही हनुमान् और उनपर सुवर्णके ही फूल बरसानेवाला सुवर्ण शरीर भक्त हो तो इस त्रिपुटीसे अद्वैत-सुखकी क्या हानि होती है ? यह सब तो उपासकके अधिकारपर निर्भर करता है ! मूलका मूल बना रहे और ऊपरसे व्याज भी मिले तो इसे कौन छोड़ दे ? वजन और कसमें कोई कसर न हो और अलङ्कारकी शोभा भी प्राप्त हो तो इस आनन्दको छोड़कर केवल सोनेका पासा छातीसे चिपकाये रहनेमें कौन सी बुद्धिमानी है ? भक्तके अद्वैतबोधमें कुछ कमी न हो और वह

उस 'चतुर्भुज-रूप' का मधुर वर्णन भी पढ़नेयोग्य है। नारदजीके उपदेशमें भगवान्‌का ध्यान इस प्रकार गाते हैं—

'ऐसे वह निजानन्द, जगदादिकन्द श्रीमुकुन्द बोले। नारद युधिष्ठिरसे कहते हैं, राजन्! वह मुकुन्द कैसे हैं?—निर्मल हैं, निष्कलङ्क हैं, लोककृपालु हैं, शरणागतके स्नेहमय हैं, शरण्य हैं। सुरसन्तसहायशील और लोकलालनलील हैं। प्रणतप्रतिपालन उनका खेल है। वे भक्तजनवत्सल प्रेमीजनप्राञ्जल हैं। सत्यसिन्धु और सकल कलानिधि हैं। वैकुण्ठके वह श्रीकृष्ण निज भक्तोंके चक्रवर्ती हैं।' (२३९–२४१, २४३, २४४)

ऐसी सुधा-रससानी प्रेम-मधुरवाणी सगुण-प्रेमीके सिवा और किसकी हो सकती है? निर्गुण-बोध और सगुण-प्रेम दोनों एक साथ उसी पुरुषमें मिलते हैं जो पूर्ण भक्त हो। चन्दनकी सुगन्धि या चन्द्रकी चाँदनी-जैसी अद्वैत-भक्ति है पर 'यह अनुभव करनेकी चीज है, कहनेकी नहीं' (ज्ञानेश्वरी १८–११५०)। वसुदेवसुत देवकीनन्दन (ज्ञाने ४–८) ही सर्वव्यापक, सर्वसाक्षी और सर्वदेशनिवास (ज्ञाने १८–१४१०) परमात्मा हैं और 'भक्तोंकी प्रीतिके वश अमूर्त होकर भी व्यक्त हुए हैं। भक्त-प्रीतिसे भगवान् व्यक्त हुए, इसीसे जगत्‌का कार्य बना। नहीं तो भला इन्हें कोई पकड़ सकता है? ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं कि यदि भगवान् प्रीत होकर व्यक्त न हों तो योगी उन्हें पा नहीं सकते, वेदार्थ उन्हें जान नहीं सकते ध्यानके नेत्र भी उन्हें देख नहीं सकते' (ज्ञानेश्वरी ४–११)। परमात्मा सगुण-साकार प्रकट हुए यह बहुत ही अच्छा हुआ। यही परमात्मा पुण्डलीककी भक्तिसे प्रसन्न होकर पण्ढरीमें ईंटपर कटिपर कर धरे खड़े हैं। भक्तोंने अपनी रुचिके अनुसार उनका नाम विठ्ठल रखा है। जैसा जिसका भाव हो भगवान् वैसे ही हैं। भक्तोंका यह भाव रहता है कि यह सच्चिदानन्द परमात्मा हैं। उसी रूपमें उन्हें परमात्माकी प्रतीति होती

है। वह सर्वव्यापक हैं, आकाशसे भी अधिक व्यापक और परमाणुसे भी अधिक सूक्ष्म हैं। अखिल विश्वमें व्यापकर भक्तोंके हृदयमें विराज रहे हैं। समर्थ रामदास स्वामी कहते है—

जगीं पाहता सर्वही कोंदलेंसे।
अभाग्या नरा हढ पाषाण भासे॥

'ससारमें देखिये तो वह सर्वत्र समाये हुए हैं। पर अभागे मनुष्यको यह सब कड़ा पत्थर-सा लगता है।' नामदेवराय, जनाबाई आदि सब सत श्रीविठ्ठलके उपासक थे। नाथ महाराज श्रीकृष्ण अर्थात् श्रीविठ्ठलके ही भक्त थे। ज्ञानेश्वरीमें जैसे श्रीविठ्ठलका नामोल्लेख नहीं है वैसे ही एकनाथी भागवतमे भी एक ओवीको छोड़ और कहीं भी विठ्ठल-नामका उल्लेख नहीं है। जिस ओवीमें यह नामोल्लेख है वह ओवी इस प्रकार है—

पावन पाडुरगक्षिती। जे का दक्षिणद्वारावती।
जेथ विराजे विठ्ठलमूर्ति। नामें गर्जती पढरी॥
(२९—२४५)

'वह पाण्डुरङ्ग-पुरी पावन है, वह दक्षिणकी द्वारका है। वहाँ श्रीविठ्ठल-मूर्ति विराज रही है। पण्ढरीमें उनका नाम गूँजता रहता है।' एकनाथी भागवतमें बस यही एक बार श्रीविठ्ठलका नाम आया है तथापि क्या ज्ञानेश्वरी और क्या एकनाथी भागवत दोनों ही ग्रन्थ श्रीकृष्ण-प्रेमसे ओतप्रोत हैं और जो श्रीकृष्ण हैं वही श्रीविठ्ठल हैं, इस कारण ही वारकरी-मण्डलमें ये दोनों ग्रन्थ वेद-तुल्य माने जाते हैं। एकनाथ महाराजके परदादा भानुदास महाराज विख्यात विठ्ठल-भक्त हुए, पैठणमें उनका बनवाया विठ्ठलमन्दिर है। इसी मन्दिरमें एकनाथ महाराज कथा बाँचते थे, यहीं श्रीविठ्ठलमूर्तिके सामने उनके कीर्तन होते थे, श्रीविठ्ठलकी स्तुतिमें एकनाथ महाराजके सकड़ों अभग हैं। नाथ महाराज परम

उस 'सगुर्गुण-रूप' का मधुर वर्णन भी पढ़नेयोग्य है। ग्यारहवेंके उपसंहार भगवान्‌का ध्यान इस प्रकार गाते हैं—

'ऐसे वह निजजनानन्द, जगदादिकन्द श्रीमुकुन्द बोले। यह शुकाचार्य कहते हैं, राजन्! वह मुकुन्द कैसे हैं?—निर्मल हैं, निष्काम हैं, लोककृपालु हैं, शरणागतके स्नेहमय हैं, शरण्य हैं। सुरसहायशासनकी और लोकपालनलीला है। प्रणतप्रतिपालन उनका खेल है। भक्तजनवत्सल, प्रेमिजनप्राञ्जल हैं। सत्यसेतु और सकल कलानिधि हैं वैकुण्ठके वह श्रीकृष्ण निज भक्तोंके चक्रवर्ती हैं।' (२११-२४ २४१, २४४)

ऐसी सुधा-रससानी प्रेम-मधुरवानी सगुण-प्रेमीके सिवा और किस हो सकती है? निर्गुण-बोध और सगुण-प्रेम दोनों एक साथ उसी पुरु मिलते हैं जो पूर्ण भक्त हो। चन्दनकी सुगन्धि या चन्द्रकी चाँदनी-से महेश-भक्ति है, पर यह अनुभव करनेकी चीज है, कहनेकी ना (ज्ञानेश्वरी १८-११५)। वसुदेवसुत देवकीनन्दन (ज्ञाने ४-८) सर्वरूपाकार, सर्वातीत और सर्वदेशनिवास (ज्ञाने १८-१४१० परमात्मा हैं और 'भक्तोंकी प्रीतिके वश, अमूर्त होकर भी व्यक्त हुए हैं भक्त-प्रीतिसे भगवान् व्यक्त हुए, इसीसे जगत्का धर्म बना। नहीं तो भ इसे कोई पकड़ सकता है? ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं कि यदि भगव प्रीत होकर व्यक्त न हों तो योगी उन्हें पा नहीं सकते, वेदार्थ उन्हें ब नहीं सकते, ध्यानके नेत्र भी उन्हें देख नहीं सकते' (ज्ञानेश्वरी ४-११ परमात्मा सगुण-साकार प्रकट हुए यह बहुत ही अच्छा हुआ। प परमात्मा पुण्डलीककी भक्तिसे प्रसन्न होकर पण्ढरीमें ईंटपर कटिपर धरे खड़े हैं। भक्तोंने अपनी रुचिके अनुसार उनका नाम विट्ठल रखा है जैसा जिसका भाव हो भगवान् वैसे ही हैं। भक्तोंका यह भाव रहता कि यह सच्चिद्घन परमात्मा हैं। उसी रूपमें उन्हें परमात्माकी प्रतीति हो

है। वह सर्वव्यापक है, आकाशसे भी अधिक व्यापक और परमाणुसे भी अधिक सूक्ष्म है। अखिल विश्वमें व्यापकर भक्तोंके हृदयमें विराज रहे हैं। समर्थ रामदास स्वामी कहते हैं—

> जगीं पाहता सर्वही कोंदलेंसे।
> अभाग्या नरा दृढ पाषाण भासे॥

'संसारमें देखिये तो वह सर्वत्र समाये हुए हैं। पर अभागे मनुष्यको यह सब कड़ा पत्थर-सा लगता है।' नामदेवराय, जनाबाई आदि सब संत श्रीविठ्ठलके उपासक थे। नाथ महाराज श्रीकृष्ण अर्थात् श्रीविठ्ठलके ही भक्त थे। ज्ञानेश्वरीमें जैसे श्रीविठ्ठलका नामोल्लेख नहीं है वैसे ही एकनाथी भागवतमें भी एक ओवीको छोड़ और कहीं भी विठ्ठल-नामका उल्लेख नहीं है। जिस ओवीमें यह नामोल्लेख है वह ओवी इस प्रकार है—

> पावन पांडुरंगक्षिती। जे का दक्षिणद्वारावती।
> जेथ विराजे विठ्ठलमूर्ति। नामें गर्जती पंढरी॥
>
> (२९—२४५)

'वह पाण्डुरङ्ग-पुरी पावन है, वह दक्षिणकी द्वारका है। वहाँ श्रीविठ्ठल-मूर्ति विराज रही है। पण्ढरीमें उनका नाम गूँजता रहता है।' एकनाथी भागवतमें बस यही एक बार श्रीविठ्ठलका नाम आया है तथापि क्या ज्ञानेश्वरी और क्या एकनाथी भागवत दोनों ही ग्रन्थ श्रीकृष्ण-प्रेमसे ओतप्रोत हैं और जो श्रीकृष्ण हैं वही श्रीविठ्ठल हैं, इस कारण ही वारकरी-मण्डलमें ये दोनों ग्रन्थ वेद-तुल्य माने जाते हैं। एकनाथ महाराजके परदादा भानुदास महाराज विख्यात विठ्ठल-भक्त हुए, पैठणमें उनका बनवाया विठ्ठलमन्दिर है। इसी मन्दिरमें एकनाथ महाराज कथा बाँचते थे, यहीं श्रीविठ्ठलमूर्तिके सामने उनके कीर्तन होते थे, श्रीविठ्ठलकी स्तुतिमें एकनाथ महाराजके सकड़ों अभंग हैं। नाथ महाराज परम

भागवत, श्रीकृष्ण—श्रीविट्ठलके परम भक्त थे फिर भी नाथ-भागवतमें श्रीविट्ठलका नाम एक ही ओवीमें आया है, और ज्ञानेश्वरीमें तो विट्ठलका नाम ही नहीं है इस बातको बड़ा तूल देकर अनेक आधुनिक पण्डित यह कहा करते हैं कि ज्ञानेश्वरी तो तत्त्व-ज्ञान और निर्गुणोपासनका ग्रन्थ है, वारकरी-सम्प्रदायसे उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं। यह बड़े आश्चर्यकी बात है। ज्ञानेश्वरीको कोई केवल तत्त्व-ज्ञानका ग्रन्थ भले ही समझ ले, पर वारकरियोंके लिये तो ज्ञानेश्वरी और एकनाथी भागवत ये दोनों ग्रन्थ उपासना-ग्रन्थ हैं। वारकरी श्रीकृष्णके उपासक हैं और ये ग्रन्थ श्रीकृष्णके परम भक्तोंके ग्रन्थ होनेसे उनके लिये प्रमाणस्वरूप हैं। ज्ञानेश्वर और एकनाथ श्रीकृष्ण—श्रीविट्ठलके पूर्णभक्त और उनके ग्रन्थ श्रीकृष्ण—श्रीविट्ठलकी भक्तिसे ओतप्रोत हैं इसीसे वारकरियोंको अत्यन्त प्रिय और मान्य हैं। ज्ञानेश्वर-एकनाथसे नामदेव-तुकारामको अलग करनेकी इनकी चेष्टा व्यर्थ है, यह पहले सप्रमाण सिद्ध किया जा चुका है। रुक्मिणी—रखुमाई श्रीकृष्णकी पटरानी थीं उनकी चित्-शक्ति—उनकी आदिमाया थीं यह सर्वश्रुत ही है। श्रीकृष्ण-रुक्मिणी ही श्रीविट्ठल-रखुमाई हैं, विट्ठल-रखुमाई ही वारकरियोंका नाम-मन्त्र है। ज्ञानेश्वरी और नाथ भागवत श्रीकृष्ण (श्रीविट्ठल)-भक्तिप्रधान ग्रन्थ हैं यह बात आधुनिक विद्वान् ध्यानमें रखें तो ज्ञानेश्वर-एकनाथसे पण्ढरीके भक्ति-पन्थको अलग करना असम्भव है यह बात उन्हें भी स्वीकार करनी पड़ेगी। ज्ञानेश्वर नामदेव जनाबाई, एकनाथ तुकाराम—ये सभी विट्ठल-भक्त हैं। श्रीविट्ठलकी उपासना तुकाराम महाराज यावज्जीवन करते रहे।

७ मूर्ति-पूजा-रहस्य

श्रीविट्ठल मूर्ति अत्यन्त प्राचीन प्राय है। पण्डित भगवानलालके मतमें पण्ढरपुरकी यह मूर्ति छठी शताब्दीसे पहलेकी है। निर्गुण ब्रह्म और

सगुण भगवान् दोनों इस श्रीविठ्ठल-मूर्तिमें हैं। यह मूर्ति भक्तोंको चैतन्यघन प्रतीत होती है। इस मूर्तिके भजन-पूजनसे तथा ध्यान-धारणासे भावुक भक्तोंको भगवान्‌के सगुणरूपके दर्शन होते और अद्वयानन्दका अनुभव भी प्राप्त होता है। पहले हुआ है और अब भी होता है। श्रीविठ्ठल-भक्ति योग-ज्ञानकी विश्राम-भूमिका है। यह भी कोई पूछ सकते हैं कि अद्वैतानन्दके लिये मूर्तिकी क्या आवश्यकता? पर मैं उनसे पूछता हूँ कि मूर्ति-पूजासे भक्तिरसास्वाद मिला और अद्वयानन्दमें भी कुछ कमी न हुई तो इस मूर्ति-पूजासे क्या हानि हुई? भगवान्, भक्त और भजनकी त्रिपुटी अद्वयानन्दके स्वानुभवपर खड़ी की गयी तो इसमें क्या बिगड़ा?

देव देऊळ परिवारू। कीजे कोरूनी डोंगरू।
तैसा भक्तीचा वेव्हारू। का न व्हावा॥

(अमृतानुभव प्र० ९—४१)

'देव, देवल और देव-भक्त पहाड़ खोदकर एक ही शिलापर खुदवाये जा सकते हैं। वैसा व्यवहार भक्तिका क्यों नहीं हो सकता?'

एक ही चित्र-शिलापर श्रीशङ्कर, मार्कण्डेय और शिव-मन्दिर या श्रीविष्णु, गरुड़ और विष्णु-मन्दिर यदि चित्रित हों तो क्या एकके अदरकी इस त्रिविधतासे हरि-हर-भक्ति-रसास्वादनमें कुछ बाधा पड़ती है? सुवर्णके ही श्रीराम, सुवर्णके ही हनुमान् और उनपर सुवर्णके ही फूल बरसानेवाला सुवर्ण शरीर भक्त हो तो इस त्रिपुटीसे अद्वैत-सुखकी क्या हानि होती है? यह सब तो उपासकके अधिकारपर निर्भर करता है। मूलका मूल बना रहे और ऊपरसे व्याज भी मिले तो इसे कौन छोड़ दे? वजन और कसमें कोई कसर न हो और अलङ्कारकी शोभा भी प्राप्त हो तो इस आनन्दको छोड़कर केवल सोनेका पासा छातीसे चिपकाये रहनेमें कौन-सी बुद्धिमानी है? भक्तके अद्वैतबोधमें कुछ कमी न हो और वह

धन्य हैं भाग्यशील जिनका हृदय निर्मल है। प्रतिमाको देखता जो पूज्य है संत कहते हैं कि उसीमें भाव है। तुका कहता है, भक्तोंका जो भाव है भगवान्‌को वैसा ही होना पड़ता है।'

श्रीविट्ठल-मूर्तिमें तुकारामजीकी निष्ठा ऐसी अविचल थी कि वह कहते हैं—

म्हणे विठ्ठल पाषाण । त्याच्या तोंडावरी वहाण ॥

जो विट्ठलको पत्थर कहता है उसके मुँहपर जूता।

म्हणे विठ्ठल ब्रह्म नव्हे । त्याचे बोल नायकावे ॥

जो कहता है विट्ठल ब्रह्म नहीं, उसकी बात कोई न सुने।

ये सब उत्कट प्रेमके उद्गार हैं। एकनाथी भागवत (अ० ११ श्लोक ४९) में कहते हैं—

'निर्गुणका बोध कठिन है। मन-बुद्धि-वाणीके लिये अगम्य है। शास्त्रोंके संकेत समझ नहीं पड़ते। वेद तो मौन साधे हैं। सगुण-मूर्तिकी यह बात नहीं। यह सुगम है सुलभ है उसके दर्शनसे भूख-प्यास भूल जाती है मन प्रेमसे भरकर शान्त हो जाता है। जो नित्यसिद्ध सच्चिदानन्द हैं प्रकृति-परेके परमानन्द हैं, वही स्वानन्द-कन्द स-जीवनसे सगुण-गोविन्द बने हैं। मेरी मूर्तिके दर्शनोंसे नेत्र कृतार्थ होते हैं जन्म-मरणका धरना उठ जाता है विषयोंके पाश कट जाते हैं।

प्रेममय अन्तःकरणसे मूर्ति-पूजा करनेवाले भक्तोंके लिये भगवान् मूर्तिमें ही प्रकट होते हैं इस बातके अनेक उदाहरण हैं। एकनाथ महाराज कहते हैं—

अब भी इस बातका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि दासके वचनसे पाषाण प्रतिमासे आनन्दघन भगवान् स्वयं प्रकट हुए।

(भाव-भागवत अ० ७—४८१)

एकनाथ महाराजने अपने अभंगोंमें भी कहा है—

मी तेंचि माझी प्रतिमा । तेथें नाहीं आन धर्मा ॥१॥
तेथें अस माझा वास । नको भेद आणि सायास ॥२॥
कलियुगीं प्रतिमेपरतें । आन साधन नाहीं निरुतें ॥३॥
एका जनार्दनीं शरण । दोनीं रूपें देव आपण ॥४॥

'मैं जो हूँ वही मेरी प्रतिमा है, प्रतिमामें कोई अन्य धर्म नहीं। वहीं मेरा वास है। इसमें कोई भेद मत मानो और व्यर्थ कष्ट मत उठाओ। कलियुगमें प्रतिमासे बढ़कर और कोई साधन नहीं। एका (एकनाथ) जनार्दनकी शरणमें है, ये दोनों रूप आप भगवान् ही हैं।'

देव सर्वाठायीं वसे । परि न दिसे अभाविका ॥१॥
जलीं स्थलीं पाषाणीं भरला । रिता ठाव कोठें उरला ॥२॥

'भगवान् सब ठौर हैं, पर अभक्तोंको वह नहीं देख पड़ते। जलमें, थलमें, पत्थरमें सर्वत्र वह भरे हुए हैं, उनसे रिक्त कोई स्थान नहीं बचा है।'

* * *

अस्तु, तुकारामजीके तथा उनके सदृश अन्य संतोंके सगुणोपासन और मूर्तिपूजनके सम्बन्धमें जो विचार हैं उन्हें संक्षेपमें यहाँतक सूचित किया। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि उनके आचार भी इन्हीं विचारोंके अनुसार थे। पण्ढरीकी श्रीविट्ठलमूर्तिके उपासक विश्वम्भरबाबाके समयसे कुल देव श्रीविट्ठलकी नित्य पूजा-अर्चा करनेवाले, विट्ठल मन्दिरका जीर्णोद्धार करनेवाले और अन्ततक विट्ठल-मन्दिरमें हरि-कीर्तन करनेवाले तुकारामजी मूर्ति-पूजक नहीं थे, ऐसा कौन कह सकता है? तुकारामजीके पुत्र नारायण बोवाकी देहूकी सनदमें भी ये स्पष्ट शब्द हैं—'तुकोबा गोसाईं श्रीदेवकी मूर्तिकी पूजा अपने हाथों करते थे।'

भगवान्‌की प्रतिमाके सामने बैठकर भजन-पूजनादिके द्वारा भक्ति-सुधामृत भी पान करे तो इससे वह क्या कभी अद्वयानन्दसे वञ्चित होगा ? भक्ति सुखके लिये भक्त हो भगवान् और भक्त बनकर पूजनादि उपासना-कर्म करता है। परन्तु यह कौशल सत्सङ्गमें बिना दिक्षमिल गये नहीं समझ पड़ता और यह बोध न होनेसे सगुणोपासना और प्रतिमा-पूजनका रहस्य भी कभी ध्यानमें नहीं आता। मूर्ति-पूजाका यह रहस्य न जाननेके कारण ही बहुत-से लोग 'मूर्ति-पूजा' का नाम लेते ही चौंक उठते हैं और यह पूछ बैठते हैं कि क्या तुकाराम-से ज्ञानी-महात्मा भी मूर्तिपूजक थे ? उनके इस प्रश्नका यही उत्तर है कि 'हाँ वह मूर्तिपूजक थे और सचराचर मूर्तिपू— ही थे। हमारा आपका यह समाज मूर्तिपूजक ही है, यही क्यों, मनुष्य-समाज ही यथार्थमें मूर्तिपूजक है। वेदोंमें वरुण सूर्य, उषा देवताओंकी मूर्तियोंके स्तोत्र हैं। निराकारवादी जब ईश्वर-प्रार्थना हैं तब उनके चित्त-चित्रपटपर कोई-न-कोई रूप ही चित्रित होता और यदि नहीं होता तो उनका प्रार्थना करना ही व्यर्थ है। भगवान् हैं और मूर्त भी भक्त ही अपने अनुभवसे इस बातको जानते हैं। यदि सर्वत्र है तो मूर्तिमें क्यों नहीं ? तुकारामजी पूछते हैं—

> व्यर्थ भ्रम कर रिता नहीं ठाम। प्रतिमा तो देव कसा नव्हे॥

'जब कुछ ब्रह्ममय है कोई स्थान उससे रिक्त नहीं, तब प्रति ईश्वर नहीं यह कैसे हो सकता है ?'

ईश्वर सर्वव्यापी है पर प्रतिमामें नहीं यह कहना तो प्रतिम ईश्वरसे भी बड़ा मानना है ! चाहे जिस पत्थरको तो भगवान् कहकर नहीं पूजते। ब्राह्मणोंद्वारा वेद-मन्त्रोंसे जिसमें प्राण-प्रतिष्ठा की गयी हो उ मूर्तिको भगवान् कहकर हम पूजते और भजते हैं। भाव ही तो भगव है और भक्तका भाव जानकर भगवान भी पत्थरमें प्रकट होते हैं। उन

पत्थरपन नष्ट होता है और सच्चिदानन्दघन परमात्मा वहाँ प्रकट होते हैं। तुकारामबाबा कहते हैं—

पाषाण देव पाषाण पायरी। पूजा एकावरी पाय ठेवो ॥१॥
सार तो भाव सार तो भाव। अनुभवी देवतेचि झाले ॥२॥

'पत्थरकी ही भगवन्मूर्ति है और पत्थरकी ही पैडी है। पर एकको पूजते हैं और दूसरेपर पैर रखते हैं। सार वस्तु है भाव, वही अनुभवमें भगवान् होकर प्रकट होता है।'

गङ्गाजल और अन्य सामान्य जलोंके बीच कौन-सा बड़ा भारी अन्तर है? पर भावनासे ही तो गङ्गाका श्रेष्ठत्व है। तुकारामजी कहते हैं, भावुकोंकी तो यही बात है, धर्माधर्मके पचड़ेमें और लोग पड़ा करें। जिसके निमित्त जो पूजनादि किया जाता है वह किसी भी मार्गसे, किसी भी रीतिसे किया जाय वह प्राप्त उसीको होता है। पत्र पुष्प फल तोय कुछ भी, कोई भी, कहीं भी, कैसे भी—पर विमल अन्तःकरणसे—अर्पण करे तो वह मुझे ही प्राप्त होता है—'तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः' (गीता९।२६) यह स्वयं भगवान्का ही वचन है। 'शिव-पूजा शिवासि पावे। माती मातीशीं सामावे ॥' (शिवकी पूजा शिवको प्राप्त होती है और मिट्टी मिट्टीमें समा जाती है।) अथवा 'विष्णु-पूजा विष्णूसि अर्पे। पाषाण राहे पाषाणरूपें ॥' (विष्णुकी पूजा विष्णुके अर्पित होती है और पत्थर पत्थरके रूपमें रह जाता है।) यह तुकारामजी कह गये हैं। भगवान्की सुलभ सुडौल सुन्दर सुमधुर मूर्ति देख सहस्रों भक्त आनन्दित हुए और मूर्ति चैतन्यघन होकर उन्हें प्राप्त हुई।

धन्य भावशीळ। ज्याचें हृदय निर्मळ ॥ १ ॥
पूजी प्रतिमेचा देव। सन्त म्हणती तेथें भाव ॥ध्रु०॥
तुका म्हणे तैसे देवा। होणें लागे त्याच्या भावा ॥ ३ ॥

'धन्य हैं भाग्यशील जिनका हृदय निर्मल है । प्रतिमाको देवता जो पूजता है, संत कहते हैं कि उसीमें भाव है । तुका कहता है भक्तोंका जो भाव है भगवान्‌को वैसा ही होना पड़ता है ।'

श्रीविठ्ठल-मूर्तिमें तुकारामजीकी निष्ठा ऐसी अविचल थी कि वह कहते हैं—

म्हणे विठ्ठल पाषाण । त्याच्या तोंडावरी वहाण ॥

'जो विठ्ठलको पत्थर कहता है उसके मुँहपर जूता ।'

म्हणे विठ्ठल ब्रह्म नव्हे । त्याचे बोल नायकावे ॥

'जो कहता है विठ्ठल ब्रह्म नहीं, उसकी बात कोई न सुने ।'

ये सब उत्कट प्रेमके उद्गार हैं । एकनाथी भागवत (अ० ११ श्लोक ४९) में कहते हैं—

'निर्गुणका बोध कठिन है । मन-बुद्धि-वाणीके लिये अगम्य है । शास्त्रोंके संकेत समझ नहीं पड़ते । वेद तो मौन साधे हैं । सगुण-मूर्तिकी यह बात नहीं । यह सुलभ है सुखरूप है उसके दर्शनसे भूख-प्यास भूल जाती है, मन प्रेमसे भरकर शान्त हो जाता है । जो नित्यसिद्ध सच्चिदानन्द हैं प्रकृति-परेके परमानन्द हैं वही स्वानन्द-कन्द स्व-लीलासे सगुण-गोविन्द बने हैं । मेरी मूर्तिके दर्शनोंसे नेत्र कृतार्थ होते हैं जन्म-मरणका बन्धन छूट जाता है विषयोंके पाश कट जाते हैं ।

प्रेममय अन्तःकरणसे मूर्ति-पूजा करनेवाले भक्तोंके लिये भगवान् मूर्तिमें ही प्रकट होते हैं इस बातके अनेक उदाहरण हैं । एकनाथ महाराज कहते हैं—

अब भी इस बातका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि दासके वचनसे पाषाण प्रतिमामें चक्रपाणि भगवान् स्वयं प्रकट हुए ।

(नाथ-भागवत अ० ७—४८१)

एकनाथ महाराजने अपने अभंगोंमें भी कहा है—

मी तेचि माझी प्रतिमा। तथें नाहीं आन धर्मा ॥१॥
तेथें अस माझा वास। नको भेद आणि सायास ॥२॥
कलियुगीं प्रतिमेपरतें। आन साधन नाहीं निरुतें ॥३॥
एका जनार्दनीं शरण। दोनीं रूपें देव आपण ॥४॥

'मैं जो हूँ वही मेरी प्रतिमा है, प्रतिमामें कोई अन्य धर्म नहीं। वहीं मेरा वास है। इसमें कोई भेद मत मानो और व्यर्थ कष्ट मत उठाओ। कलियुगमें प्रतिमासे बढकर और कोई साधन नहीं। एका (एकनाथ) जनार्दनकी शरणमें है, ये दोनों रूप आप भगवान् ही हैं।'

देव सर्वांठायीं वसे। परि न दिसे अभाविका ॥१॥
जळीं स्थळीं पाषाणीं भरला। रिता ठाव कोठें उरला ॥२॥

'भगवान् सब ठौर हैं, पर अभक्तोंको वह नहीं देख पड़ते। जलमें, थलमें, पत्थरमें सर्वत्र वह भरे हुए हैं, उनसे रिक्त कोई स्थान नहीं बचा है।'

* * *

अस्तु, तुकारामजीके तथा उनके सदृश अन्य संतोंके सगुणोपासन और मूर्तिपूजनके सम्बन्धमें जो विचार हैं उन्हें संक्षेपमें यहाँतक सूचित किया। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि उनके आचार भी इन्हीं विचारोंके अनुसार थे। पण्ढरीकी श्रीविठ्ठलमूर्तिके उपासक विश्वम्भरबाबाके समयसे कुल देव श्रीविठ्ठलकी नित्य पूजा-अर्चा करनेवाले, विठ्ठल मन्दिरका जीर्णोद्धार करनेवाले और अन्ततक विठ्ठल-मन्दिरमे हरि-कीर्तन करनेवाले तुकारामजी मूर्ति-पूजक नहीं थे, ऐसा कौन कह सकता है? तुकारामजीके पुत्र नारायण बोवाकी देहूकी सनदमें भी ये स्पष्ट शब्द हैं—'तुकोबा गोसाईं श्रीदेवकी मूर्तिकी पूजा अपने हाथों करते थे।'

८ तुकारामजीकी दर्शनोत्कण्ठा

श्रीविट्ठल-मूर्तिकी पूजा-अर्चा, ध्यान-धारणा और अखण्ड नाम-स्मरण करते-करते तुकारामजीको भगवान्‌के साक्षात् दर्शनकी बड़ी तीव्र लालसा हुई। जिनकी मूर्तिकी नित्य पूजा करते हैं उनके दर्शन कब होंगे! दर्शनोंके लिये उनका चित्त व्याकुल हो उठा। प्रह्लाद और ध्रुव-जैसे बाल-भक्तोंको बचपनमें ही सगुण भगवान्‌के दर्शन हुए, नामदेवसे भगवान् प्रत्यक्षमें बातचीत करते थे, जनाबाईके साथ चक्की चलाते थे, ऐसे भक्तवत्सल मेरे प्यारे पण्ढरिनाथ मुझे कब मिलेंगे! प्रत्यक्ष दर्शनके बिना ब्रह्म-ज्ञान उन्हें रूखा-सा लगने लगा। ब्रह्म-ज्ञानकी बातें कहने और सुननेमें अब उन्हें आनन्द नहीं आता था। उनकी बाँहें भगवान्‌से मिलनेके लिये आगे बढ़ना चाहती थीं नेत्र उन्हींकी ओर टकटकी बाँधे रहना चाहते थे। नेत्रोंसे यदि भगवान् न दिखायी देते हों तो इनकी आवश्यकता ही क्या है! नेत्र यदि भगवान्‌के चरणोंको न देख सकते हों तो ये फूट जायँ। ऐसे-ऐसे भाव ही उनके चित्तमें उठा करते थे। दिन-दिन मिलनकी यह लगन यह विकलता बढ़ती ही गयी। उस समयकी उनकी मनोऽवस्था बतानेवाले कुछ अभंग हैं—

'हे पण्ढरिनाथ! तुमसे मिलनेके लिये जी व्याकुल हो उठा है। इस दीनकी इस दौड़पर कब कृपा करोगे मालूम नहीं। मेरा मन तो थक गया राह देखती-देखती आँखें भी थक गयीं। तुम्हें पता है, मुझे तुम्हारा मुख देखनेकी ही भूख लगी है।

* * *

मार्गकी प्रतीक्षा करते-करते नेत्र थक गये। इन नेत्रोंको अपने चरण कब दिखाओगे! तुम माता मेरी मैया हो दयामयी छाया हो। हे [illegible]! [illegible] और [illegible]

कर दिया; ऐसा कठोर हृदय तुम्हारा क्यों हुआ ? तुका कहता है, मेरी बाहें हे पाण्डुरङ्ग ! तुमसे मिलनेको फड़क रही हैं।'

* * *

'तुम्हारे ब्रह्मज्ञानकी मुझे इच्छा नहीं, तुम्हारा यह सुन्दर सगुण रूप मेरे लिये बहुत है। पतितपावन ! तुमने बड़ी देर लगायी, क्या अपना वचन भूल गये ! संसार (घर-गिरस्ती) जलाकर तुम्हारे आँगनमें आ बैठा हूँ, इसकी तुम्हें कुछ सुध ही नहीं है। तुका कहता है, मेरे विठ्ठल ! रिस मत करो, अब उठो और मुझे दर्शन दो।'

* * *

'जीकी बड़ी साध यही है कि तुम्हारे चरणोंसे भेंट हो। इस निरन्तर वियोगसे चित्त अत्यन्त विकल है।'

* * *

'आत्मस्थितिका विचार क्या करूँ ? क्या उद्धार करूँ ? चतुर्भुजको देखे बिना धीरज ही नहीं बँध रहा है। तुम्हारे बिना कोई बात हो यह तो मेरा जी नहीं चाहता। तुका कहता है, अब चरणोंके दर्शन कराओ।'

* * *

'तुका कहता है, एक बार मिलो और अपनी छातीसे लगा लो।'

* * *

'ये आँखें फूट जायँ तो क्या हानि है जब ये पुरुषोत्तमको नहीं देख पातीं ! तुका कहता है, अब पाण्डुरङ्गके बिना एक क्षण भी जीनेकी इच्छा नहीं।'

* * *

'तुका कहता है, अब अपना श्रीमुख दिखाओ, इससे इन आँखोंकी भूख बुझेगी।'

* * *

८ तुकारामजीकी दर्शनोत्कण्ठा

श्रीविट्ठल-मूर्तिकी पूजा-अर्चा, ध्यान-धारणा और अखण्ड नाम-स्मरण करते-करते तुकारामजीको भगवान्‌के साक्षात् दर्शनकी बड़ी तीव्र लालसा हुई। जिनकी मूर्तिकी नित्य पूजा करते हैं उनके दर्शन कब होंगे! दर्शनोंके लिये उनका चित्त व्याकुल हो उठा। प्रह्लाद और ध्रुव-जैसे बाल-भक्तोंको बचपनमें ही सगुण भगवान्‌के दर्शन हुए, नामदेवसे भगवान् प्रत्यक्षमें बातचीत करते थे, अनाथरक्षक नाम यही बतलाते थे ऐसे भक्तवत्सल मेरे प्यारे पण्ढरिनाथ मुझे कब मिलेंगे! प्रत्यक्ष दर्शनके बिना ब्रह्म-ज्ञान उन्हें शुष्क-सा लगने लगा। ब्रह्म-ज्ञानकी बातें कहने और सुननेमें अब उन्हें आनन्द नहीं आता था। उनकी बाँहें भगवान्‌से मिलनेके लिये आगे बढ़ना चाहती थीं नेत्र उन्हींकी ओर टकटकी बाँधे रहना चाहते थे। नेत्रोंसे यदि भगवान् न दिखायी देते हों तो इनकी आवश्यकता ही क्या है! नेत्र यदि भगवान्‌के चरणोंका न देख सकते हों तो ये फूट जायँ। ऐसे-ऐसे भाव ही उनके चित्तमें उठा करते थे। दिन-दिन मिलनकी यह लगन यह विकलता बढ़ती ही गयी। उस समयकी उनकी मनोऽवस्था बतलानेवाले कुछ अभङ्ग हैं—

हे पण्ढरिनाथ! तुमसे मिलनेके लिये जी व्याकुल हो उठा है। इस दीनकी इस दीनपर कब कृपा करोगे मालूम नहीं। मेरा मन तो थक गया राह देखती देखती आँखें भी थक गयीं। तुका कहता है मुझे तुम्हारा मुख देखनेकी ही भूख लगी है।

• • •

मार्गकी प्रतीक्षा करते-करते नेत्र थक गये। इन नेत्रोंको अपने चरण कब दिखाओगे? तुम माता मेरी मैया हो, दयामयी छाया हो। हे विट्ठल! कितनोंको तुमने उबार लिया और कितनोंको कितने सुपुर्द

कर दिया; ऐसा कठोर हृदय तुम्हारा क्यों हुआ ? तुका कहता है, मेरी बाहें हे पाण्डुरङ्ग ! तुमसे मिलनेको फड़क रही हैं ।'

* * *

'तुम्हारे ब्रह्मज्ञानकी मुझे इच्छा नहीं, तुम्हारा यह सुन्दर सगुण रूप मेरे लिये बहुत है । पतितपावन ! तुमने बड़ी देर लगायी, क्या अपना वचन भूल गये ? संसार (घर-गिरस्ती) जलाकर तुम्हारे आँगनमें आ बैठा हूँ, इसकी तुम्हें कुछ सुध ही नहीं है । तुका कहता है, मेरे विठ्ठल ! विलम्ब मत करो, अब उठो और मुझे दर्शन दो ।'

* * *

'जीकी बड़ी साध यही है कि तुम्हारे चरणोंसे भेंट हो । इस निरन्तर वियोगसे चित्त अत्यन्त विकल है ।'

* * *

'आत्मस्थितिका विचार क्या करूँ ? क्या उद्धार करूँ ? चतुर्भुजको देखे बिना धीरज ही नहीं बँध रहा है । तुम्हारे बिना कोई बात हो यह तो मेरा जी नहीं चाहता । तुका कहता है, अब चरणोंके दर्शन कराओ ।'

* * *

'तुका कहता है, एक बार मिलो और अपनी छातीसे लगा लो ।'

* * *

'ये आँखें फूट जायँ तो क्या हानि है जब ये पुरुषोत्तमको नहीं देख पातीं ? तुका कहता है, अब पाण्डुरङ्गके बिना एक क्षण भी जीनेकी इच्छा नहीं ।'

* * *

'तुका कहता है, अब अपना श्रीमुख दिखाओ, इससे इन आँखोंकी भूख बुझेगी ।'

* * *

'तुका कहता है कि अब आकर मिलो । पीठपर हाथ फेरकर अपनी छातीसे लगा लो ।

* * *

'विरहसे सूखकर सूख गया हूँ; अस्थिपञ्जर रह गया है । अब तो हे पण्ढरिनाथ ! अपने दर्शन दो ।'

* * *

'मुझसे आकर मिलोगे, दो-एक बातें करोगे तो इसमें तुम्हारा क्या खर्च हो जायगा ? तुका कहता है, तुम्हारी बड़ाई मुझे न चाहिये; पर दर्शनोंकी तो उत्कण्ठा है ।

* * *

'जो लोग अरूपकी इच्छा करते हों उनके लिये आप अरूप बनिये । पर मैं तो सरूपका प्रेमी हूँ ।

भगवन् ! आपके निराकार रूपसे जिन्हें प्रेम हो उनके लिये आप निराकार ही बने रहिये पर मैं तो आपके सगुण साकार रूप-रसका प्यासा हूँ । आपके चरणोंमें मेरा चित्त लगा है । मैं तो अज्ञानी ही हूँ । एक बच्चा भी कहीं आपसे दूर रहनेयोग्य बननेके लिये सयानोंकी बराबरी कर सकता है ? ज्ञानी पुरुषोंकी बराबरी मैं अज्ञान होकर कैसे कर सकता हूँ ? बच्चा जब सयाना हो जाता है तब माता उसे दूर रखती है अज्ञान शिशु तो माताकी गोद कभी नहीं छोड़ता । जो ब्रह्मज्ञानी हों उन्हें मोक्ष (छुटकारा) दे दो पर मुझे मत छोड़ो मुझे मोक्ष न चाहिये । तुम्हारे नामका जो नेह लगा है वह अब छूटनेवाला नहीं । रसना तुम्हारे ही नामकी रसिक हो गयी है आँखें तुम्हारे ही चरणोंके दर्शनकी प्यासी हैं । यह भाव मन मेरा बदलनेवाला नहीं । इसलिये तुम अब मेरे इस प्रेम-रसको छीनने मत दो । अपनेसे मुझे अब दूर मत करो । मैं तुम्हारा मोक्ष नहीं चाहता तुम्हींको चाहता हूँ ।

मौन का धरिलें विश्वाच्या जीवन । उत्तर वचना दई माझ्या ॥ ३ ॥

'हे विश्वजीवन ! ऐसे मौन साधे क्यों बैठे हो ? मेरी बातका जवाब दो।'

मेरा पूर्वसञ्चित सारा पुण्य तुम हो—

तू माझें सत्कर्म तू माझा स्वधर्म । तूचि नित्यनेम नारायणा ॥ ४ ॥

'तुम्हीं मेरे सत्कर्म हो, तुम्हीं मेरे स्वधर्म हो, तुम्हीं नित्य-नियम हो, हे नारायण !' मै तुम्हारे कृपा-वचनोंकी प्रतीक्षा कर रहा हूँ ।

तुका म्हणे प्रेमळाच्या प्रियोत्तमा । बोल सर्वोत्तमा मजसवें ॥ ५ ॥

'तुका कहता है, प्रेमियोंके हे प्रियोत्तम ! हे सर्वोत्तम ! मुझसे बोलो।'

'शरणागतको, महाराज ! पीठ न दिखाओ, यही मेरी विनय है । जो तुम्हें पुकार रहे हैं, उन्हें चट उत्तर दो, जो दुखी हैं उनकी टेर सुनो—उनके पास दौड़े आओ, जो थके हैं उन्हें दिलासा दो और हमें न भूलो, यही तो हे नारायण ! मेरी तुमसे प्रार्थना है ।'

कम-से-कम एक बार यही न कह दो कि 'क्यों तग कर रहे हो, यहाँसे चले जाओ ।' 'हे नारायण ! तुम ऐसे निठुर क्यों हो गये ? 'साधु-सतोंसे तुम पहले मिले हो, उनसे बोले हो, वे भाग्यवान् थे, क्या मेरा इतना भाग्य नहीं ?' आजतक किसीको तुमने निराश नहीं किया, और मेरे जीकी लगन तो यही है कि तुमसे मिलूँ, इसके विना मेरे मनको कल न पड़ेगी ।

भगवन् ! 'हम यह क्या जानें कि तुम्हारा कहाँ क्या भेद है ?' वेद बतलाते हैं कि तुम अनन्त हो, तुम्हारा कोई ओर-छोर नहीं, तब किस ठौर हम तुम्हें ढूँढें ? सप्त पातालके नीचे और स्वर्गसे भी ऊपर तुम रहते हो, यह मच्छर तुम्हें इन आँखोंसे कैसे देखे ? हे पण्ढरिनाथ ! हे विठ्ठलनाथ !

तुका म्हणे होई । कधीं ठेवीन हे पाई ॥ २ ॥

'दौड़ी आओ, मेरी मैया ! अब क्या देखती हो ? अब धीरज नहीं रहा, वियोगसे व्याकुल हो रहा हूँ । अब जीको ठण्डा करो, अबतक रोते ही बीता है । कब यह मस्तक तुम्हारे चरणोंमे रखूँगा, यही एक ध्यान है ।'

९ भगवान्‌से प्रेम-कलह

भगवान्‌के दर्शनोंके लिये जी छटपटा रहा है, ऐसी अवस्थामे तुकारामजी भगवान्‌पर कभी गुस्सा होते, कभी प्रेम-भिक्षा माँगते, कभी बड़ा ही विचित्र युक्तिवाद करते, कभी उन्हें निठुर कहते, कभी कहते, मेरे स्वामी बड़े भोले, बड़े कोमल हृदयवाले हैं, कहकर उसी प्रेम-ध्यानमें मग्न हो जाते, कभी कहते 'देखो, पाण्डुरङ्ग कैसे खीज उठे हैं । पर नामकी चुटिया हम पकड़े हुए हैं' और यह कहते हुए अपनी विजय मनाते और कभी अपनेको पतित समझकर लज्जासे सिर नीचा कर लेते, कभी भगवान्‌को सतोंकी पञ्चायतमें खींच लाते और उन्हें छली-कपटी, दरिद्री, दिवालिया ठहराते और कभी 'क्यों मैंने घर-गिरस्तीपर लात मार दी ?' 'क्यों ससार-सुखकी होली जला दी ?' इत्यादि कहकर दीन होकर बैठ जाते, कभी गालियोंकी झड़ी लगाते और कभी कहते 'तुम मातासे भी अधिक ममता रखनेवाले हो, चन्द्रसे भी अधिक शीतल हो, प्रेमके कल्लोल हो' और इस प्रकार उनकी दयालुताका ध्यान करते करते उसीमें लीन हो जाते, कभी अपनेको पतित कहते, कभी भगवान्‌से बराबरी करते, कभी भगवान्‌को निर्गुण कहते, कभी सगुण कहते, कभी द्वैतकी भावना करते, कभी अद्वैतरगमें रँग जाते । इस प्रकार तुकारामजी भगवान्‌का प्रेम-सुख अनन्त प्रकारसे भोग करते, उनके भगवत्प्रेमके अनेक रग थे, अनेक ढग थे ! उनके हृदयके वे प्रेम कल्लोल कुछ उन्हींके शब्दोंमें देखें—

'जिनसे हे भगवन् ! तुम्हें नाम और रूप प्राप्त हुआ' वे हम पतित

ही तुम्हारे नामसे भगवान् हैं। हमलोग हैं इसीसे तो तुम्हारी महिमा है। अँधेरेसे हीरेकी शोभा है, रोगोंके होनेसे धन्वन्तरिकी ख्याति है विषके होनेसे अमृतका महत्त्व है और पीतलके होनेसे ही सोनेका मूल्य है।

हम तुम्हारे कहाते हैं—पर तुम हमारा यह उपकार नहीं मानते कि हमारी ही बदौलत तुम्हें नाम-रूपका ठिकाना है। क्या कभी इस उपकारको याद करते हो!

एक जगह तुकारामजी कहते हैं—'भगवन्! हम भक्तोंने तुम्हारी इतनी ख्याति बढ़ायी, नहीं तो तुम्हें कौन पूछता!

सोलह हजार तुम बन सकते हो—सोलह हजार नारियोंके लिये तुम सोलह हजार रूप धारण कर सकते हो पर इस तुकाके लिये एक रूप धारण करना भी तुम्हारे लिये इतना कठिन हो रहा है!

भगवन्! मेरी जागृति और स्वप्नका मेल नहीं है! हाँ, तुम्हारी उदारता मैं समझ गया! मैं तो तुम्हारे चरणोंपर मस्तक रखूँ और तुम अपने गलेका हार भी मेरी अञ्जलिमें न डालो! हाँ, समझा! जो कुछ मैं नहीं दे सकता वह भोजन क्या करायेगा!

भगवन्! पहले जो भक्त तर गये वे अपने पुरुषार्थसे तर गये उन्होंने अपना सर्वस्व तुम्हें दिया तब तुमने अपना हृदय उन्हें दिया। पर ऋण चुकानेमें कौन सा बड़ा भारी धर्म है! मेरे-जैसे पुरुषार्थहीन पतितको तुम तारोगे तभी उदार कहानेयोग्य होओगे!

भगवन्! आज तुमने मेरा प्रेम-भङ्ग किया अब मेरी जीभ यदि क्षुब्ध हुई तो मैं सन्तोंमें तुम्हारी फजीहत करूँगा! तुम ऐसे निठुरपनेका बर्ताव करोगे तो तुम्हारा विश्वास कोई कैसे करेगा!

जिसका स्वामी दुर्बल हो उस सेवकका जीना अपमानजनक है। देव

विदेशमें जिसकी बातकी धाक है उसका कुत्ता भी अच्छा है। जिसका नाम लेते संसार थरथर काँपने लगता है उसके द्वारपर कुत्ता होकर रहनेमें भी इज्जत है। यह विचार हे भगवन्! मेरे चित्तमें क्यों उठा, यह तुम्हीं जानो—जिसकी बात वही जाने!

सचमुच ही इस बड़प्पनको धिक्कार है। इस महिमाका मुँह काला! द्वारपर खड़ा मैं कबसे पुकार रहा हूँ, पर 'हाँ' तक कहनेकी जरूरत आप नहीं समझते। शिष्टाचारकी इतनी-सी बात भी आपको नहीं मालूम? 'कोई अतिथि आ जाय तो शब्दोंसे उसको सन्तोष दिलानेमें क्या खर्च हुआ जाता है?' हे श्रीहरि! यह सब तुम्हींको शोभा देता है। हम मनुष्य तो इतने बेहया नहीं हैं।

जबतक तुम्हारे मुँहसे दो बातें मैं न सुन लूँगा तबतक ऐसे ही बकता-झकता रहूँगा। पर तुम्हें पुण्डलीककी शपथ है, जरा भी जबान हिलायी तो।

भगवन्! तुम भरमाने-भटकानेमें बड़े कुशल हो और मैं भी बड़ा लतखोर हूँ। हमारा भाग्य ऐसा जो तुम्हें मौन साधे बैठ रहना ही अच्छा लगता है। हमारे साथ तुमने दुराव किया इसलिये हमने यह विनोद किया।

'सचमुच ही, भगवन्! तुमसे ही तो मैं निकला हूँ। तब तुमसे अलग कैसे रह सकता हूँ?' मुझमें कौन सी कमी है वही बता देते। चलो, संतोंके सामने वहीं तुमसे निपटूँगा।

'तुम अमर हो यह सही है, पर तुका कब अमर नहीं है? तुम्हारा यदि कोई नाम नहीं तो मेरा भी नामपर कोई दावा नहीं। तुम्हारा यदि कोई रूप नहीं तो मेरा भी रूपपर कोई हक नहीं। और जब तुम लीला करते हो तब मैं क्या अलग रहता हूँ? तो क्या, तुम झूठे हो? तुका कहता है, तो मैं भी वैसा ही हूँ।'

भगवन्! तुम्हारे प्रेमकी खातिर, तुम्हारी एक बातके लिये, तुम्हारे

दर्शन पानेके लिये। मैंने इन्द्रियोंका होलिका-दहन किया, संसार-सुखका परित्याग किया। यह जानकर तो दर्शन दो।

भगवन्! तुम बड़े या मैं बड़ा यह अब भी देख लूँ। मैं पतित हूँ यह बात तो जनी-जनायी है और तुम भी पतित-पावन हो सो तुमने साबित करके अभीतक नहीं दिखाया। मैं भेद-भावको अपने प्राणोंसे छिपाये बैठा हूँ, पर तुमसे भी उसका छेदन नहीं बन पड़ता है। मेरे दोष इतने बलवान् हैं कि उनके सामने तुम्हारी कुछ नहीं चलती। मेरा मन दसों दिशाओंमें भटकता रहता है पर तुम उसके भयसे बहुत दूर (मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः) जा छिपे हो। अब बताओ तुम बड़े हो या मैं बड़ा?

भगवन्! मेरे सब स्वजन-मित्रजन मर गये और तुम कैसे नहीं मरे? तुम्हें देखते ही मेरे पिता गये, दादा गये, परदादा गये। तुम्हीं हे विठो! कैसे बचे हो? यह बात मुझे बताओ। मेरे पीछे बचपन, यौवन, बुढ़ापा लगा है। पर विठो! इन सबसे तुम कैसे बचे हो, यह मुझे बताओ।

भगवन्! तुम वैसे अच्छे हो पर इस मायाकी सुरङ्गमें आकर स्त्री-पुरुषवाले बन गये हो, इसकी सोहबतसे तुमने ये सब रंग-ढंग सीखे हैं।

तुम तो बड़े अच्छे थे, पर इस रॉडने तुम्हें बिगाड़ा। जिसकी जो चीज है उसे वह, वह देने नहीं देती। तुम्हें कहता है, जाने रोकती है।

भगवन्! मैंने आजतक तुम्हारी कितनी स्तुति की, कितनी निन्दा की पर तुम पूरे हो! बात ही नहीं करते नामतक नहीं लेते। तो लो अब मैं तुमसे कहे देता हूँ—

मलों देवी देव मेला। मलो स्वामी अकेला॥ १॥

मेरे लिये तो भगवान् मर गये जिनके लिये जब हों उनके लिये हुआ करें।

'क्या किसी पर्वकाल, तिथि, नक्षत्रका विचार कर रहे हो?'—साइत देख रहे हो? मेरा चित्त तुमसे मिलनेके लिये छटपटा रहा है। मैं अन्यायी हूँ, दोषोंकी खानि हूँ, इसलिये मुझपर क्रोध मत करो। इस अनजान बालकको रुलाओ मत!

भगवन्! तुम घरके लेनेवाले हो। 'जहाँ-तहाँ लेनेकी ही बात है,' कोई बिना कुछ लिये देता नहीं, तब तुम्हीं अकेले उदार क्यों बनो?

आधीं वरी हात या नावें उदार। उसण्याचे उपकार फिटाफिट॥

'पहले ही जिसका हाथ ऊपर रहता है उसको उदार कहते हैं। उधार लियेका उपकार क्या? वह तो पटेपाट है।' सच्ची उदारता दिखाओ, मुझसे जो सेवा बन पड़ती है वह तो मैं करता ही हूँ।

भगवन्! मैं क्या सचमुच ही पापी हूँ?

पापी म्हणों तरी आठवितों पाय। दोष बळी काय तयाहूनी?॥

'पापी कहूँ तो आपके चरणोंका स्मरण करता हूँ। मेरा पाप क्या आपके चरणोंसे भी अधिक बलवान् है?'

'उपजना-मरना' तो हमारी बपौती है, इससे छुड़ाओ तब तुम्हारी बड़ाई जानें!

भगवन्! आप सदाके बली और हम सदाके दुर्बल, यह क्या? हमने क्या दुर्बल बने रहनेका पट्टा लिख दिया है? हम याचक और आप दाता, ऐसा ही नाता सदा क्यों रहे? 'हमारे भी कुछ उपकार रहने दो, अकेले बने रहनेमें क्या बड़ाई है?'

भगवन्! हम विष्णुदास हैं, हमारा सब बल-भरोसा तुम हो पर इस कालको देखते हैं, हमारे ही ऊपर हुकूमत चला रहा है।

मैं अनन्य हूँ। भला, एक भी ऐसा गवाह मेरे विरुद्ध खड़ा कीजिये जो यह कहे कि 'तुम्हारे सिवा और भी कहीं तुकारामका मन रमता है!'

भला, मेरे-जैसे किसीको भी आपने तारा है? 'हाथके कंगनको आरसी क्या? मैं तो जैसे-का-तैसा ही बना हुआ हूँ।'

हातींच्या काकणा कासया आरसा। अलों मी जैसा-तैसा आहे॥

हम भक्तोंके कारणसे तुम्हें देवत्व प्राप्त हुआ, यह बात क्या तुम भूल गये? पर उपकार भूल जाना तो बड़ोंकी एक पहचान ही है।

समर्थासी नाहीं उपकारस्मरण। दिल्या आठवण वाचोनिया॥

'समर्थोंको, स्मरण कराये बिना उपकार स्मरण नहीं होता।'

मैं अब ऐसे माननेवाला भी नहीं! प्रेम-दान कर मुझे मना लो।

भगवन्! मैं पतित हूँ और आप पतितपावन। पहले मेरा नाम है, पीछे आपका।

जरी मी नव्हतों पतित। तरी तू कैचा पावन येथ॥४॥
म्हणोनि माझें नाम आधीं। मग तू पावन कृपानिधि॥२॥

'यदि मैं पतित न होता तो आप कहाँसे पावन होते? इसलिये मेरा नाम पहले है, और पीछे आप हैं हे पावन कृपानिधे!'

भगवन्! इस क्रमको अब मत बदलिये—

नवें करूं नये जुनें। सांभाळावें ज्याचें त्यानें॥१॥

'नया कुछ न करे, सनातनसे जिसके जिम्मे जो काम है उसे वह सम्हाले।'

भगवन्! मैंने आपकी बड़ी निन्दा की, पर 'वह जीकी छटपटाहट है, झगड़नेकी मुझे बान पड़ गयी है, कोई शब्द छूट गये हों तो क्षमा करें। मेरा सच्चा धर्म क्या है सो मैं जानता हूँ—

'आपके चरणोंमें मैं क्या जोर आजमाऊँ ? मेरा तो यही अधिकार है कि दास होकर करुणाकी भिक्षा माँगूँ ।'

तुम्हारे श्रीमुखके दो शब्द सुन पाऊँ, तुम्हारा श्रीमुख देख लूँ, बस यही एक आस लगी है । भगवन् ! आप जल्दी क्यों नहीं आते ?

> विठाबाई । विश्वम्भरे । भवच्छेदके ।
> कोठें गुंतलीस अम विश्वव्यापके ॥ १ ॥
> न करीं न करीं न करीं आता । आळस अनंत
> व्हावया प्रगट कैसें दुरी अंतर ॥ २ ॥

विठाबाई ! विश्वम्भरे ! भवच्छेदके ! हे विश्वव्यापके ! तुम कहाँ उलझ पड़ी हो ? अब आलस्य न करो न करो न करो, तिरस्कार न करो । प्रकट होनेके लिये दूर-पास क्या ?

भगवन् ! मुझसे आप कुछ बोलते नहीं क्यों इतना दुखी कर रहे हैं ? प्राण कण्ठमें आ गये हैं मैं आपके वचनकी बाट जोह रहा हूँ । मैं भगवान्‌का कहाता हूँ और भगवान्‌से ही भेंट नहीं इसकी मुझे बड़ी लज्जा आती है ।

भगवन् ! मेरे प्रेमका तार मत तोड़ो । आपकी कृपा होनेपर मैं ऐसा दीन-हीन न रहूँगा । पेड़ लगनेपर क्या ऊपरसे यह कहना पड़ता है कि मेरा पेड़ लगा ! वह पत्तोंसे ही मालूम हो जाती है । चेहरेकी प्रसन्नता ही उसकी पहचान है ।

अस्तु इस प्रकार तुकारामजी प्रेमावेशमें भगवान्‌से उत्तर-प्रत्युत्तर और विनोद-परिहास किया करते थे । कभी कोई-कोई शब्द वाक्य भी कठोर होते थे पर उनके अंदर आन्तरिक प्रेमका जो गहरा रंग भरा रहता था वह उन विरुद्ध कल्पनाओंसे थोड़े ही छिपा रहता था ! भगवान् तो अंदरकी जानते हैं ! तुकाराम उनसे जैसे झगड़ते थे वैसे भगवान् प्रेमके

बिना थोड़े ही बनता है ? उत्कट प्रेमके बिना झगड़नेकी भी हिम्मत कहाँसे हो सकती है ? तुकारामजीने भगवान्‌से हुज्जत की, हँसी-मजाक किया, अपनी दीनता भी दिखायी और बराबरीका दावा भी किया। उनके हृदयके ये विविध उद्गार उनका उत्कट भगवत्प्रेम ही व्यक्त करते हैं। उनके जीकी बस यही एक लगन थी कि भगवान् अपने सगुण रूपका दर्शन दें। जबतक भगवान्‌के प्रत्यक्ष दर्शन नहीं होते, 'केवल सुनते हैं कि वेद ऐसा कहते हैं, प्रत्यक्ष अनुभव कुछ भी नहीं, तबतक केवल इस कहने सुननेमें क्या रखा है ? सतीको वस्त्रालङ्कार पहनाकर चाहे जितना सिंगारिये पर जबतक पतिका सङ्ग उसे नहीं मिलता तबतक वह मन-ही-मन कुढा करती है। वैसे ही भगवान्‌के दर्शन बिना तुकारामजीको कुछ भी अच्छा नहीं लगता था।

पत्रीं कुशलता भेटीं अनादर। काय तें उत्तर येईल मानूं ॥ १ ॥

आलों आलों ऐसी दाऊनियाँ आस। बुडों बुडतयास काय द्यावें ॥ २ ॥

'चिट्ठी पत्रीमें तो कुशल-क्षेमका समाचार लिखते हैं पर स्वय आकर मिलनेकी इच्छा नहीं करते। ऐसे कुशल-समाचारको मैं क्या समझूँ ? अब आता हूँ और तब आता हूँ, ऐसी आशा दिलाना और जो डूब रहा है उसे डूबने देना क्या उचित है ?' यह उन्होंने भगवान्‌से पूछा है।

केवल नानाविधि पक्वान्नोंका नाम ले लेनेसे ही भोजन नहीं होता; इसलिये भगवन् ! अपने दर्शन दो ! प्रभु ! दर्शन दो ! यही एक पुकार वह मचाये हुए थे।

भगवन् ! तुमसे यदि मेरी प्रत्यक्ष भेंट नहीं हुई और कोरी बातें ही करते रहे तो ये सत मुझे क्या कहेंगे ! इसको भी तनिक विचारो।

मज ते हासतील सत। जिन्हीं देखिलेति मूर्तिमंत।

म्हणोनि उद्वेगिलें चित्त। आहाच भक्त ऐसा दिसे ॥

'ये संत मुझे हँसेंगे जिन्होंने तुम्हें मूर्तिमन्त देखा है कहेंगे—यह भक्त ऐसा ही है (केवल भक्तिकी बातें करता है भगवान्‌ने इसको भेंट कहाँ दी!), इससे चित्त और भी उद्विग्न होता है।'

'मेरे यश और कीर्तिका डंका बजनेसे ही मुझे सन्तोष नहीं हो सकता। जबतक मैं तुम्हारे चरण नहीं देखूँगा तबतक मेरे चित्तको कल न पड़ेगी और लोगोंका भी चित्त सुखी न होगा।'

कळलियावें समाधान। नव्हे देखिल्यावांचून॥१॥
रूप दाखवीं रे आतां। सहस्र भुजांच्या मंडिता॥२॥

आपके दर्शन बिना मनको समाधान न होगा। इसलिये हे सहस्रभुज! अब अपना रूप दिखाओ।

तुम्हारा रूप जब मैं एक बार देख लूँगा तब मैं उसीको अपने चित्तपर सदाके लिये खींच लूँगा और तब संत भी मुझे मानेंगे। जिसने भगवान्‌के साक्षात् दर्शन नहीं किये संतोंमें उसकी मान्यता नहीं। संत और भक्त वही है जिसे भगवान्‌का सगुण-साक्षात्कार हुआ हो। तुका कहता है भोजनके बिना तृप्ति कहाँ!

१० मिलन-मनोरथ

भगवन्मिलनकी व्याकुलता इस प्रकार बढ़ती ही गयी तब जागनेमें भी तुकारामजी उसी मिलनके मधुमय सुख-स्वप्न देखने लगे। 'जब मैं मका (माताकी भी माता) वाले अभंगमें यह कहते हैं—

'भगवान् आलिङ्गन देकर प्रीतिसे इन अङ्गोंको शान्त करेंगे और अमृतकी दृष्टि डालकर मेरे जीको ठंडा करेंगे। गोदमें उठा लेंगे और भूख प्यासकी पूछेंगे और पीताम्बरसे मेरा मुँह पोंछेंगे। प्रेमसे मेरी ओर देखते हुए मेरी ठुड्डी पकड़कर मुझे सान्त्वना देंगे। तुका कहता है मेरे

माँ-बाप हे विश्वम्भर ! अब ऐसी ही कुछ कृपा करो ।' ऐसे-ऐसे मीठे विचारोंमें उनका मन मग्न होने लगा । प्रत्यक्ष मिलनकी अपेक्षा उस मिलनके प्रसङ्गकी पूर्व आशाओंमें कुछ और ही सुख होता है । मिलनमें एक बार ही आकण्ठ प्रेमोत्कण्ठा स्थिर हो जाती है ! पर -मिलनके पूर्वके मनोरथ बड़े बड़े मनोहर दृश्य दिखाकर विलक्षण सुख-वेदनाओंका अनुभव कराते हैं । बच्चोंके लिये खिलौने खरीदने चलिये उस क्षणसे खिलौने बच्चोंके हाथोंमें आनेके क्षणतक बच्चोंके मुख कैसे-कैसे सुखोंकी कल्पनाओंमे आनन्दोत्फुल्ल हो उठते हैं । खिलौने हाथमे आ जानेके पीछे वह आनन्द नहीं रहता । उस आनन्दमें बच्चे कैसी कैसी उछल-कूद मचाते हैं, पीछे वह बात नहीं रहती—फिर तो शान्ति आ जाती है । कहते हैं, वस्तु-लाभके सुखकी अपेक्षा उसकी प्रतीक्षाका सुख अधिक है–विलक्षण है । अब यह आनन्द देखिये—

'पहलेके सत वर्णन कर गये हैं कि भगवान् भक्तिके वश छोटे बन गये सो कैसे बने वह हे केशव ! मेरे माँ-बाप ! मुझे प्रत्यक्ष बनकर दिखाइये । आँखोंसे देख लूँगा, तब तुमसे बातचीत भी करूँगा, चरणोंमें लिपट जाऊँगा । फिर चरणोंमें दृष्टि लगाकर हाथ जोड़कर सामने खड़ा रहूँगा । तुका कहता है, यही मेरी उत्कण्ठ-वासना है, नारायण ! मेरी यह कामना पूरी करो ।'

पहले यह बता गये कि भगवान् मिलेंगे तब वह क्या करेंगे और इस अभगमें यह बतलाया कि मैं क्या करूँगा । मैं भगवान्‌को आँखें भरकर देखूँगा, प्रेमसे हृदय भरकर उनके पैर पकड़ूँगा, चरणोंपर दृष्टि रखकर हाथ जोड़ सामने खड़ा रहूँगा और भगवान्‌से हृदय खोलकर, जी भरकर बातें करूँगा । तुकारामजीके अनेक अभग हैं जिनमें उनकी भगवन्मिलनकी यह उत्कण्ठा लालसा व्यक्त हुई है । एक स्थानमें वह कहते

पाहेन श्रीमुख देईन आलिंगन । जीवें लिंबलोण उतरीन ॥ २ ॥
पुसता सांगेन हितगुजमात । बैसोनि एकान्त सुखगोष्टी ॥ ३ ॥
तुका म्हणे यामी न लावी उशीर । माझें अभ्यंतर जाणोनिया ॥ ४ ॥

'ब्रह्मज्ञान—आत्मस्थितिभाव मुझे न चाहिये । ऐसा करो कि मैं भक्त बना रहूँ और आप भगवान् बने रहें । हे गोपिकारमण ! अब मुझे अपना रूप दिखाओ जिसमें मैं अपना मस्तक आपके चरणोंपर रखूँ । तुम्हारा श्रीमुख देखूँगा, तुम्हें आलिङ्गन करूँगा, तुम्हारे ऊपरसे राई-नोन उतारूँगा। तुम पूछोगे तब अपनी सब बात कहूँगा, एकान्तमें बैठकर तुमसे सुखकी बातें करूँगा । तुका कहता है, मेरे हृदयका हाल जानकर अब देर मत करो ।'

'मुझ अनाथके लिये' हे नाथ ! अब तुम एक बार चले ही आओ । क्या कहूँ !

'तुम्हारे लिये जी तड़प रहा है, हृदय अकुला रहा है । चित्त तुम्हारे चरणोंमें लगा है । तुम्हारे बिना अब रहा नहीं जाता है ।'

भगवान्‌से मिलनेकी ऐसी लालसा लगी कि अब उसके बिना एक क्षण भी चैन नहीं । 'पुकारते-पुकारते कण्ठ सूख गया !' आयु तो बीत चली, इस सोचसे भगवान्‌के सिवा अब चित्तमें और कोई सङ्कल्प ही न रहा । सब सकल्प जब नष्ट हो गये, अकेले भगवान् रह गये, तब वह शेष, वह माता लक्ष्मी और वह गरुड ध्यानमें स्थिर हो गये । तब तुकारामजी उनसे प्रार्थना करते हैं ।

'गरुडके पैरोंपर बार-बार मस्तक रखता हूँ, हे गरुडजी ! उन हरिको शीघ्र ले आइये, मुझ दीनको तारिये । भगवान्‌के चरण

है कि भगवान्‌की जो सेवा मैं आजतक करता रहा वह सही थी या उसमें कुछ गलती थी यह मैं उन्हींसे पूछूँगा। और उनसे कहूँगा कि अब आप अपने मुखसे मुझे सेवा बतावें, यह मैं चाहता हूँ। और अभिलाषा मेरी यह है कि—

बैसों परस्परें भाषणासि सुख। पाहूँ श्रीमुख डोळेभरी ॥ ३ ॥
तुका म्हणे सत्य बोलतों वचन। धरूनी चरण साक्ष तुझे ॥ ४ ॥

आपकी-मेरी बातचीत हो और उससे सुख बढ़े। आँखें भरकर आपका श्रीमुख देखूँ। तुका कहता है यह मैं आपके चरणोंको साक्षी रखकर सच-सच कहता हूँ। याने और कुछ मैं नहीं चाहता।

भगवन्! आप कहेंगे कि तुमने शास्त्रोंको पढ़ा है, पुराणोंको देखा है, संतोंका संग किया है, कीर्तन-प्रवचन सुनकर तथा ब्रह्मविद्याके ग्रन्थोंका अध्ययनकर तुमने यह जाना है कि ब्रह्मका स्वरूप क्या है, फिर उस व्यापक रूपको छोड़ अब मेरी छोटी-सी मूर्ति किसलिये देखना चाहते हो? सुनिये—

ब्रह्मज्ञानी आम्हीं व्हावें जीवन्मुक्त। साधुनियां चित्त प्रेमसुख ॥ १ ॥
सुख अनुभवासी केलें हें निर्माण। निर्गुणीं तो कोण हाती लागा ॥ २ ॥

यह प्रेम-सुख छोड़कर हम जीवन्मुक्त किसलिये हों! आपने हमारे लिये यह सुख निर्माण किया है। कौन ऐसा अभागा होगा जो इसे लात मार दे!

मेरी उत्कण्ठा-कामना क्या है सो एक बार स्पष्ट शब्दोंमें तुमसे कहे देता हूँ—

नको ब्रह्मज्ञान आत्मस्थितिभाव। मी भक्त तूं देव ऐसें करीं ॥ १ ॥
दावीं रूप मज गोपिकारमणा। ठेवूं दे चरणावरी माथा ॥

दसवाँ अध्याय

श्रीविट्ठल-स्वरूप

धरिलें रूप कृष्ण नामधेयीं । परब्रह्म क्षितीं उतरलें ॥ १ ॥
उत्तम हें नाम रामकृष्ण जगीं । तरावयालागीं भवनदी ॥ २ ॥

श्रीकृष्ण-नामके भीतर भगवान्‌ने निज रूप धारण किया। परब्रह्म भूमण्डलपर उतर आया। भव-नदी पार करनेके लिये जगत्‌में यह राम-कृष्ण-नाम उत्तम है।

* * *

देवकीनन्दनें । केलें अपुल्या चिंतनें ॥ १ ॥
मज आपुलिया ऐसें । मना लावूनिया पिसें ॥ २ ॥

देवकीनन्दनने अपने चिन्तनसे, मनको पागल बनाकर मुझे अपना जैसा बना लिया।

१ विठ्ठल अर्थात् श्रीकृष्णका बाल-रूप

पिछले अध्यायमें हमलोगोंने यह देखा कि तुकारामजी भगवान्‌के सगुण रूपके दर्शन करना चाहते थे। अब यह देखें कि वह भगवान्‌के किस रूपका दर्शन चाहते थे किस रूपके प्रेमी थे। जिसके चित्तमें जिस रूपका ध्यान होता है उसी रूपमें भगवान् उसे दर्शन देते हैं यह सिद्धान्त है। इसलिये वह किस रूपका ध्यान करते थे कौन-सा रूप उन्हें अत्यन्त प्रिय था, किस रूप [illegible] हैं आगे-पीछे

उठते-बैठते, जागते सोते, घर-बाहर तथा समाधि व्युत्थानमें भगवान्‌के किस रूपकी ओर उनकी लौ लगी थी, यह देखें। लोग कहेंगे कि तुकारामजी श्रीपाण्डुरङ्ग (श्रीविट्ठल) के भक्त थे, यह तो प्रसिद्ध ही है, इसमें ढूँढ-खोज करनेकी कौन-सी बात है ? इसपर मेरा उत्तर यह है कि, यह बात सचमुच ही ढूँढ-खोज करनेकी है। कम-से-कम मुझे जिस दिन इसका पता लगा उस दिन एक बड़ी उलझन सुलझ गयी वह क्या बात है सो आगे लिखते हैं। तुकारामजीके कुलदेव विट्ठल थे, बचपनसे ही वह विट्ठलकी उपासनामें थे, उनके अभङ्गोंमें भी सर्वत्र पाण्डुरङ्ग (विट्ठल) का ही नाम-कीर्तन है जिससे यह स्पष्ट है कि वह विट्ठलका ही ध्यान करते थे। 'विट्ठल' पदसे (विष्णु—विठु—विट्ठल—विठोबा) श्रीविष्णुका ही बोध होता है। 'विष्णु' पदका अर्थ है 'व्यापक'— 'व्याप्नोतीति विष्णुः'—सर्वव्यापी 'अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्' भगवान् महाविष्णु। महाविष्णुकी उपासना वेदोंमें भी है। वेदोंका विष्णुसूक्त प्रसिद्ध है। महाराष्ट्रमें भगवद्भक्तोंको विष्णुदास, वैष्णव कहते हैं। 'हम विष्णुदासोंको अपने चित्तमें भगवान्‌का चिन्तन करना चाहिये,' 'विष्णुमय जग देखना वैष्णवोंका धर्म है,' 'वैष्णव वही है जो भगवान्‌पर ही ममत्व रखता है' इत्यादि वचन तुकारामजीके प्रसिद्ध ही हैं। तुकारामजीने 'विठोबा' नामकी व्युत्पत्ति 'गरुडवाहन,' 'गरुडध्वज' लगायी है, यह हम पहले देख ही चुके हैं। अब—

'तुम क्षीर-सागरमें थे। पृथ्वीमें असुर भर गये, इसलिये ग्वालोंके घर तुम्हारा अवतार हुआ। पुण्डलीक तुम्हें पण्ढरीमें ले आये। भक्तिसे तुम हाथ लगते हो।'

भगवान् विष्णुने युग-युगमें असख्य अवतार धारण किये हैं। यह पाण्डुरङ्ग 'बुद्धिके जाननेवाले और लक्ष्मीके पति हैं। इन्होंने अनेक

अवतार लिये पर 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' (श्रीमद्भागवत १।३।२८) इस वचनके अनुसार श्रीविष्णुके पूर्णावतार श्रीकृष्ण ही हैं। श्रीविष्णु युद्ध-स्थलके क्षीर-सागरमें शयन कर रहे थे और एक बार दम्भीदर बंसादि असुरोंने बड़ा उत्पात मचाया तब गोकुलमें ग्वालोंके घर अवतार जिन्होंने लिया उन श्रीकृष्ण परमात्माको ही पुण्डलीकने अपनी माँकिके बलसे पण्ढरीमें ईंटपर खड़ा किया है। वरोंने जिन भगवान्की स्तुति की है वही नन्दके यहाँ अवतरे—

निमग्नाचें वन। नक्रा शार्ङ्गधर शीण ॥१॥
घर गौळियांचें करी। चक्रदेतेस हस्तिरी ॥२॥

'निमग्नके वनमें भटकते-भटकते क्यों थके जा रहे हो? ग्वालोंके घर चले आओ वहाँ यह रत्नीप बँधे हैं।

भगवान् विष्णुके पूर्णावतार श्रीकृष्ण ही श्रीविठ्ठल हैं।

गीता जेणें उपदेशिली। ते हे विटेवरी माउली ॥

'गीताका जिन्होंने उपदेश किया वही मेरी मैया इस ईंटपर खड़ी हैं।'

श्रीतुकारामजीके हृदयकी प्रियमूर्ति यह थी—यही श्रीविठ्ठल श्रीकृष्णकी मूर्ति। उनीके दर्शनोंकी लालसा उन्हें सदा थी।

'उद्धव और अक्रूरको अम्बरीषको, रुक्माङ्गद और प्रह्लादको जो रूप तुमने दिखाया वही मुझे दिखाओ। तुम्हारा श्रीमुख और श्रीचरण मैं देखूँगा, जरूर देखूँगा, इसीमें मन बड़ा अधीर हो उठा है। पाण्डवोंको जब-जब कष्ट हुआ तब-तब स्मरण करते ही तुम आ गये। द्रौपदीके लिये तुमने उसकी चोलीमें गाँठ बाँध दी। गायियोंके साथ कौतुक करते हो गौओं और ग्वालोंको सुख देते हो। अपना वही रूप मुझे दिखा दो। तुम

तो अनाथके नाथ और शरणागतोंके आश्रय हो। मेरी यह कामना पूरी करो।'

उद्धव और अक्रूरको नित्य दर्शन देनेवाले, पाण्डवोंको दुःखमें दर्शन देनेवाले, द्रौपदीकी लाज रखनेवाले, गोपियोंकी मनोवाञ्छा पूरी करनेवाले, गौ-ग्वालोंको सङ्ग-सुख देनेवाले श्रीकृष्णके ही दर्शनोंके लिये तुकाराम तरस रहे थे। स्पष्ट ही कहते हैं, 'श्यामरूप चतुर्भुज-मूर्ति श्रीकृष्ण नाम ही चित्तका सङ्कल्प है।' वह श्रीमुख और श्रीचरण मुझे दिखाओ, उन्हें देखनेके लिये मेरा मन उतावला हो गया है।

विठ्ठल आमुचें जीवन। आगमनिगमाचें स्थान॥

'विठ्ठल ही हमारे जीवन हैं। विठ्ठल ही आगम-निगमके स्थान हैं।'

कृष्ण माझी माता कृष्ण माझा पिता।

'कृष्ण ही मेरी माता हैं, कृष्ण ही मेरे पिता हैं।

विठ्ठल और श्रीकृष्ण दोनों नाम जहाँ-तहाँ एक ही लक्ष्यके बोधक हैं। जीके जीवन एक श्रीकृष्ण ही हैं। तुकारामजी श्रीकृष्णका ध्यान करते थे और अब हम यह देखेंगे कि वह ध्यान बालरूप बालकृष्णका था। बाल्यकालके तीन मुख्य भाग होते हैं, सात वर्षतक केवल बाल, चौदह वर्षतक कौमार और इक्कीस वर्षतक पौगण्ड। श्रीकृष्णकी जिन प्रेममय लीलाओंके पीछे भक्तजन पागल हो जाते हैं वे लीलाएँ प्राय पहले सात वर्षकी ही हैं।

एक अभङ्गमें तुकारामजीने गूलरके 'कीड़े' का दृष्टान्त देकर पुरुषोत्तम श्रीअनन्तकी विराट्ता दिखायी है। गूलर-फलमें असख्य कीड़े होते हैं। उन कीड़ोंको उतना सा गूलर फल ही ब्रह्माण्ड प्रतीत होता है। ऐसे असख्य फल गूलरके वृक्षमें होते हैं। ऐसे असख्य वृक्ष इस नव खण्ड

पृथ्वीपर हैं। हम जिसे ब्रह्माण्ड समझते हैं ऐसे असंख्य ब्रह्माण्ड उस विराट् पुरुषके एक रोमपर हैं और ऐसे असंख्य रोम उस विराट् पुरुषके शरीरपर हैं और ऐसे अनन्तकोटि विराट् पुरुष जिसके पेटमें समाये हुए हैं उन परमपुरुषको हम कहाँ देखें, कहाँ देखें !

तो हा नंदाचा बाळमुकुंद । तान्हा भक्तांचा परमानंद ॥

'वही वह नन्दके बालमुकुन्द हैं। वही परमानन्द यहाँ दुधमुँहे नन्हे बालक बने हैं।

'अनन्त ब्रह्माण्ड जिसके एक रोमपर हैं ऐसा वह महाकाय (परमपुरुष) वह देखिये ग्वालोंके यहाँ ग्वालोंके घर देहली लाँघते हुए हाथोंको देहलीपर टेककर चलते हैं और वही बड़े-बड़े दैत्योंको चुटकीपर मार गिराते हैं पुराण उन्हींके गीत गाते हैं। तुका कहता है, उनमें सब समर्थ हैं।

तत्त्वज्ञानके भूखे विद्वानोंके लिये श्रीकृष्णने गीता गायी है। कथाओंके प्रेमियोंके लिये महाभारत मौजूद है। पर भावुक भोले-भाले भगवद्भक्त और साधु-संत श्रीकृष्णपर मुग्ध हुए वे उनके दिव्य प्रेममय बाल-चरित्रोंपर ही मुग्ध हुए हैं। नन्द-नन्दन कहानेवाले वह नन्हे कन्हैया बंसीके बजानेवाले, गोप-गोपियोंको प्रेमके खिलौने बनानेवाले गोपालोंकी छाछ खानेवाले वह दही दूध माखन-चोर—

बियेली वनिता । म्हणे यशोदेसी माता ॥
(बियाया वनिता । कहते यशोदाको माता ॥)

* * *

'अनन्त ब्रह्माण्ड जिसके उदरमें हैं वह हरि नन्दके घर बालक हैं। कैसी अचरजकी बात है कन्हैयाकी पहेली कुछ समझमें नहीं आती।

पृथ्वीको जिसने सन्तुष्ट किया, यशोदा उसे खिलाती हैं। विश्वव्यापक जो कमलापति हैं उन्हें ग्वालिनें गोदमें उठा लेती हैं। तुका कहता है, वह ऐसे नटवर हैं कि भोग भोगकर भी ब्रह्मचारी हैं।'

* * *

'सुन्दर नवल-नागर बालरूप है और फिर वही कालीय सर्पको नाथनेवाला कालरूप है। वही गौओं और ग्वालोंके साथ पुण्डलीकके पास आ गये। वही यह दिगम्बर ध्यान है, कटिपर कर धरे शोभा पा रहे हैं। मूढजनोंको तारनेकी उन्होंने पुण्डलीकसे शपथ की है। तुका कहता है, वैकुण्ठवासी भगवान् भक्तोंके पास आकर रहे हैं।'

बालरूप भक्तोंको बड़ा ही प्यारा लगता है। गौ-ग्वालोंके सङ्गका बालरूप ही तुकारामजीके जीका जीवन था। कालीयदहमें कालीयके काल बननेवाले यह 'बाल' कृष्ण ही भक्तोंके प्राण-धन बन बैठे हैं। वह 'भोले-भाले-बाल-पाण्डुरङ्ग' जिन्होंने 'काग-बक आदि दैत्योंको बचपनमें ही मार डाला उन्हें मुझे दिखाओ। वह नन्द-नन्दन मेरे जीवनके आनन्द हैं।'

इन्हीं 'भोले बाल-पाण्डुरङ्ग' की ओर तुकारामजीकी लौ लगी थी।

पांडुरंग ध्यानीं पांडुरंग मनीं। जागृतीं स्वप्नीं पांडुरंग॥

* * *

आंत हरि बाहेर हरि। हरिनें घरीं कोंडिलें॥

'अंदर हरि बाहर हरि, हरिने ही अपने अंदर बंद कर रखा है।'

बाल कृष्णने ही उन्हें अपना चसका लगा रखा था। तुकारामजीके निदिध्यास और कीर्तनके विषय भी श्रीबालकृष्ण ही थे।

दीन आणि दुर्बळासी । सुखरासि हरिकथा ॥ १ ॥
चरित्रें आपुले । केलें देवें गोकुळीं ॥ २ ॥
सावळें रूपडें चोजटें चितातें । उभें पंढरीतें विटेवरी ॥ १ ॥
दोळियांची भूक पाहतां न पुरे । तयाआंगीं पुरे मन माझें ॥ ध्रु ॥
प्राण तिजो पाहे कुडी हे सांडोनी । श्रीमुख नयनीं न देखतां ॥ २ ॥
चित्त मोहियेलें नंदाच्या नंदनें । तुका म्हणे येणें गरुडध्वजें ॥ ३ ॥

दीन और दुर्बलके लिये हरि-कथा ही सुखका संचय है। वही चरित्र-कीर्तन करना चाहिये जो भगवान्‌ने गोकुलमें किया।

प्यारे श्यामरूप चित्त-चोर पण्ढरीकी ईंटपर खड़ा है। उसको देखते हुए नेत्र कभी तृप्त नहीं होते उसीके लिये मेरा जी छटपटा रहा है। उन श्रीमुखको इन आँखोंसे न देखते हुए प्राण इस कलेवरको छोड़कर निकलना चाहते हैं। इस गरुडध्वज नन्दनन्दनने चित्त मोह लिया है।

इन सब उक्तियोंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि इन 'नन्दनन्दन श्याम' ने ही तुकारामजीका मन मोह लिया था और तुकाराम उन्हींके दर्शनोंके लिये व्याकुल हो रहे थे।

२ ज्ञानेश्वर-नामदेवादिकी सम्मति

विट्ठल नाम श्रीकृष्णके बालरूपका ही है इस बातको ध्यानमें रखनेसे यह समझमें आ जाता है कि हमारे साधु-सन्तोंने श्रीकृष्णकी केवल बाल लीलाओंको ही ऐसे विलक्षण प्रेमसे क्यों गाया है। सूरदास मीराबाई नरसी मेहता आदि उत्तरापथके श्रीकृष्ण-भक्त और ज्ञानेश्वर, नामदेव एकनाथ तुकाराम निळोबाराय प्रभृति महाराष्ट्रके श्रीकृष्ण भक्त श्रीकृष्ण की बाल-लीलाओंका ही बड़े प्रेमसे वर्णन करते हैं। महाराष्ट्रके कृष्ण भक्तोंके श्रीकृष्णकी बाललीलाके वर्णन भिन्न-भिन्न भाषाओंमें छपे हुए

हैं । ज्ञानेश्वर और एकनाथने अध्यात्मदिक् दिखाते हुए बाललीलाका वर्णन किया है । इन्होंने तथा नामदेव, तुकारामजी और निलाजीने श्रीकृष्णका बाल-चरित्र कंस-वधतक वर्णन करके तथा यह सूचित करके कि श्रीकृष्ण द्वारकाधीश हुए, बाललीला-वर्णन समाप्त किया है । श्रीहरि-हरकी एकात्मता और श्रीविष्णुके सब अवतारोंकी—विशेषकर राम और कृष्णकी—भक्तिका यद्यपि इन सबने ही वर्णन किया है, तथापि एकनिष्ठ सगुणोपासनकी दृष्टिसे देखा जाय तो ये पाँचों संत श्रीकृष्णके उपासक थे और श्रीकृष्णके भी बाळरूप—बालचरित (श्रीविठ्ठल) के ही उपासक थे, यह बात निर्विवाद है । क्या ज्ञानेश्वरीमें और क्या एकनाथी भागवतमें श्रीकृष्ण-चरित-सम्बन्धी जो-जो उल्लेख हैं वे उनकी बाललीलासे ही सम्बन्ध रखते हैं । इसके कुछ उदाहरण यहाँ देते हैं—

(वि) ज्ञानेश्वर महाराजके अभगोंमें श्रीविठ्ठलभगवान्की स्तुतिके प्रसङ्गमें 'वसुदेव-कुँवर देवकी-नन्दन' 'वृन्दावन-विहारी ब्रह्मनन्द-नन्दन' ऐसे ही विशेषण आये हैं और वर्णन भी इसी प्रकारका है कि, 'उपनिषदों-के अन्तर्यामी हैं पर सशरीर चरणोंपर खड़े हैं,' 'कैसा सुन्दर गोपवेष है,' 'पेड़के पत्तोंके गुच्छे सिरपर खड़े किये, अधरोंपर बंसी रखे, नन्दलाल ग्वालकी शोभा क्या बखानूँ,' 'इन्दु-वदन-मेला लगा है, वहाँ वृन्दावनमें आप रासक्रीडा कर रहे हैं' यह मनोहर वर्णन श्रीकृष्णके बालरूपके ध्यानसे निकला है । ज्ञानेश्वरीमें भी 'वृष्णीना वासुदेवोऽस्मि' (गीता १० । ३७) पर भाष्य करते हुए ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं—

'जो वसुदेव-देवकीके कारण पैदा हुआ, जो यशोदाकी कन्याके बदलेमें गोकुल गया वह मैं हूँ । पूतनाको प्राणोंसमेत जो पी गया वह मैं हूँ । बचपनकी कली अभी खिली भी नहीं कि पृथ्वीके दानवोंका जिसने संहार किया, जिसने अपने हाथपर गोवर्धन-गिरिको उठाकर महेन्द्रका

गर्व हरण किया; जिसने कालीयका दमनकर कालिन्दीके हृदयका दुःख दूर किया; जिसने मस्तक उठी हुई आगसे गोकुलकी रक्षा की; जिसने ब्रह्माको बछड़े हर ले जानेके कारण, दूसरे बछड़े निर्माणकर, नादान बना दिया; बचपनके भोरमें ही जिसने कंस-जैसे बड़े-बड़े दैत्योंको देखते-ही-देखते सहज ही मार डाला, वह मैं ही हूँ।' (ज्ञानेश्वरी अ० १० । १८८–१९१)

ज्ञानेश्वरीमें 'विट्ठल' नाम नहीं' कहनेवालोंको चाहिये कि इस अवतरणको अच्छी तरह पढ़कर मनन करें। 'यादवोंमें जो वासुदेव हैं वह मैं ही हूँ' इसका व्याख्यान करते हुए ज्ञानेश्वर महाराज बचपनकी ही श्रीकृष्ण-लीलाका वर्णन करते हैं और 'आगेका हाल तो तुम जानते ही हो' यह कहकर आगे कुछ कहना टाल देते हैं। इससे भी क्या यह स्पष्ट नहीं होता कि ज्ञानेश्वर महाराज मुख्यतः बाल-कृष्णकी ही भक्ति करते थे? जो वर्णन उन्होंने किया है वह श्रीविट्ठलका है और श्रीविट्ठल ही उनके उपास्य थे इस बातके प्रमाणस्वरूप यह अवतरण पर्याप्त है।

(ख) नामदेवरायके अभंगोंमें भी विट्ठल-स्वरूपका ऐसा ही स्पष्ट बोध होनेयोग्य अनेक प्रमाण हैं। 'अनिर्वचनीय ब्रह्म' कहकर निगम जिसका वर्णन करते हैं, जो उपनिषदोंको मथकर निकाला हुआ अर्थ है, वेद जिसे तारका तार, श्रवणोंका श्रवण, नयनोंका नयन, मनका दर्पण और सब भूतोंका व्यापक, चित्तको चेतानेवाला, बुद्धिका चालन करनेवाला, मन और इन्द्रियोंको चलानेवाला, निर्विकल्प, निराकार, निरालम्ब, निराधार, निर्गुण, अपरम्पार कहते हैं वह परमात्मा नामदेव कहते हैं कि

गोकुल-ग्वाल बनकर यशोदाका बालक कहाता है—वही जो चिन्मय चिद्रूप अक्षय अपार परात्पर कहा जाता है।

'उन्हींको देखो, भीमाके तटपर समचरण विठ्ठलरूप होकर ईंटपर खड़े हैं। ज्ञानियोंका ज्ञेय और योगियोंका ध्येय वहाँ कैसे पहुँचा? वेणु-नादसे प्रसन्न होकर भगवान् पण्ढरीमें इस रेतके मैदानमें आये। उस चतुर्भुज-मूर्तिको पुण्डलीकने जब देखा तब एक ईंट उनके सामने रख दी। उसी ईंटपर विठ्ठल खड़े हुए। वह छवि त्रिभुवनपर छा गयी।'

* * *

'निर्गुणका वैभव भक्तिके भेषमें आ गया, वही यह विठ्ठल-वेष बन गया। पुण्डलीकने अपनी साधनाके द्वारा जो भक्ति-सुख दिया उससे भावमय भगवान् मोहित हो गये।'

* * *

वह भगवान् कौन हैं?—

'वह भगवान् हरि हैं, गोकुलके, वसुदेव-कुलके, यशोदाकी गोदके बाल-कृष्ण हैं।'

नामदेवरायके स्तुति-स्तोत्रमें भी—

श्रीधरा अनंता गोविंदा केशवा। मुकुंदा माधवा नारायणा॥
देवकीतनया गोपिकारमणा। भक्तउद्धरणा केशिराजा॥

* * *

गोवर्धनधरा गोपीमनोहरा। भक्तकरुणाकरा पांडुरंगा॥

भगवान् 'पाण्डुरङ्ग' को इन्हीं बाल-कृष्ण नामोंसे पुकारा है।

श्रुतिके लिये जो परब्रह्म दुर्बोध है वह सगुण कैसे हुआ? इसका उत्तर यह है कि 'जलमें जैसे जलके ओले होते हैं, वैसे निराकारमें साकार होता है। सगुण-निर्गुण-भेद केवल समझानेके लिये है, यथार्थमें पाण्डुरङ्ग 'पूर्णताके साथ सहज-में-सहज हैं। वही भक्तोंके लिये ईंटपर खड़े हैं।

उनके नाम-सङ्कीर्तनसे, नामदेव कहते हैं कि, मेरा मनस्ताप नष्ट हुआ, चित्तको शान्ति मिली। परब्रह्म अविनाशी और आनन्दघन है पर हमें तो प्रेमसे पन्हानेवाली विठामाई ही प्यारी लगती है।

(ख) एकनाथ महाराजने बाल-कृष्ण भक्तिकी हद कर दी है। पहले ही अध्यायमें वह कहते हैं—

भगवान् अनेक अवतार धरते। पर इस अवतारकी नवलता कुछ और ही है। इसका अभिप्राय देवता भी नहीं जानते। उस अनन्य हरिलीलाको देखते ही बनता है। पैदा होते ही मैयासे अलग हुए, अपनी लीलासे आप ही लालित-पालित होकर बढ़े। बचपनमें ही मुक्तिका आनन्द दिखाने लगे। पूतनादि सबको स्वशरीरसे मुक्ति अर्पण की। बालक होकर बलवानोंको ही मारा, कंसको देखते सिंह-जैसे महान् पराक्रमी थे पर भक्तजनके बाहर तिलभर भी नहीं रहे। स्त्री-पुत्र सबके रहते, थे ब्रह्मचारी। यह कौतुक भी उन्होंने दिखायी। भक्ति मुक्ति और युक्ति तीनोंको एक पंक्तिमें बिठाया। इनकी कीर्ति मैं क्या बखानूँ। मिट्टी खाकर इन्होंने विश्वरूप दिखाया।

जो चरित्र मनुष्यको अत्यन्त प्रिय होता है उसका जी खोलकर वर्णन किये बिना रहते नहीं रहा जाता। श्रीकृष्णके बालपन और यौवनका अनुपम वर्णन एकनाथी भागवतके इसी अध्यायमें (११८ से २७१ तक और २८९ से ३१९ तक) अवश्य पढ़नेयोग्य है। उनका अवलोकन बाल-कृष्ण जिनकी भक्ति-सङ्गमासे संसारको शोभा प्राप्त हुई, तुकाराम पराया ही हैं।

घी जमा हुआ हो या पिघला हुआ वह है घी ही। उसका घीपन तो कहीं नहीं गया, वैसे ही ब्रह्म जो अव्यक्त है वही साकार बन गया, इससे उसका ब्रह्मत्व तो कहीं नहीं गया। उसीकी बनी मूर्ति है,

परब्रह्म तो उसमें भरा हुआ है। परब्रह्मके सगुणरूप यह श्रीकृष्ण सकल सौन्दर्यके अधिवास, मनोहर नटवेष धारण किये लावण्य-कलान्यास और स्वय जगदीश हैं। इनके इस नित-नवल सौन्दर्य और तेजको देखकर इनके सर्वाङ्गमें लोगोंकी ऑखें गड़ जाती हैं और मन कृष्णस्वरूपको आलिङ्गन करता है। नेत्र आतुर हो उठते हैं, उस लोभसे ललचाते हैं, नेत्रोंके जिह्वाएँ निकल पड़ती हैं। ऐसी उन स्वानन्दगर्भ साकार श्रीकृष्णकी शोभा है। जिस दृष्टिने उन श्रीकृष्णको देखा वह दृष्टि फिर पीछे फिरकर नहीं देखती, श्रीकृष्णरूपको ही अधिकाधिक आलिङ्गन करती है, सारी सृष्टि श्रीकृष्णमय ही देखती है।'

* * *

'कटिमें सुवर्णाम्बर सुशोभित हो रहा है और गलेमें पैरोंतक वनमाला लटक रही है। उन सुन्दर मधुर घनश्यामको देखते हुए नेत्रोंसे मानो प्राण निकल पड़ते हैं।'

श्रीकृष्ण लीलाविग्रह हैं। उनका शरीर लोकाभिराम और ध्यान-धारण मङ्गल है। वेदोंका जन्मस्थान, षट्शास्त्रोंका समाधान, षड्दर्शनोंकी पहेली—ऐसा यह श्रीकृष्णका पूर्णावतार है। (नाथ-भागवत ३१-३६८) और 'उसमें भी बालचरित्र ही सबसे अधिक मधुर, सुन्दर और पवित्र है' (८२) और वही सब भक्तोंको प्रिय है। वही श्रीकृष्णकी बालमूर्ति पण्ढरीमें विठ्ठल-नाम-रूपसे ईटपर खड़ी है। यही हमारे महाराष्ट्रके सतोंके उपास्य देव हैं।

श्रीकृष्ण ही श्रीविठ्ठल हैं, यह बात सतोंके वचनोंसे प्रमाणित हो चुकी। पर इसी सम्बन्धमें एक ऐतिहासिक प्रमाण भी मिला है। श्रीकृष्णावतारको हुए पिछली याने सवत् १९९० की जन्माष्टमीको पूरे ५०१८ वर्ष बीते। श्रीकृष्णका जन्म विक्रम सवत्के ३०२८ वर्ष पूर्व

भाद्रकृष्ण ८ को रोहिणी नक्षत्रपर मध्यरात्रिमें हुआ । रावबहादुर चिन्तामणि विनायक वैद्यने अपने 'श्रीकृष्ण-चरित्र' के परिशिष्ट-भागमें ज्योतिष-गणनाके आधारपर यह लिखा है कि उस दिन बुधवार था । इसको पढ़ते ही यह बात ध्यानमें आ गयी कि वारकरी बुधवारको इतना पवित्र और पूज्य क्यों मानते हैं कि उस दिन पण्ढरीसे प्रस्थान नहीं करते और विठ्ठलका वार कहकर वह दिन श्रीविठ्ठलके भजन-पूजनमें ही बिताते हैं । वह दिन श्रीकृष्णका जन्म-दिन है, यह बात ज्ञात होनेपर बड़ा आनन्द हुआ । पण्ढरीके वारकरी सम्प्रदायके आदिप्रवर्तकको यह बात निश्चय ही ज्ञात रही होगी कि बुधवारके दिन श्रीकृष्णका जन्म हुआ है, अन्यथा बुधवार ही खास तौरपर भगवान्‌का दिन न निश्चित किया जाता ।

२ श्रीकृष्णकी बाललीलाएँ

ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ, तुकाराम और निळोबाद्वारा वर्णित श्रीकृष्णलीलाओंमें श्रीकृष्णके बालचरित्र अर्थात् बाल्य और कौमार अवस्थाके चरित ही गाये गये हैं । कंसादि असुरोंके अत्याचार-भारसे दुःखी हुई पृथ्वी क्षीरसागरमें शयन करनेवाले श्रीविष्णुकी शरणमें गयी, विष्णुने उसे अभय-दान दिया वसुदेव-देवकीके विवाह-समयमें आकाशवाणी हुई और कंसको यह मालूम हुआ कि देवकीका आठवाँ पुत्र मेरा काल होगा, उसने उसके सात बच्चे मार डाले कारागारमें ही श्रीकृष्ण प्रकट हुए । वसुदेवने उन्हें गोकुल नन्दके घर पहुँचा दिया मार्गमें लोहेकी शृंखलाएँ तड़ातड़ टूट गयीं और यमुना मैयाने रास्ता दिया, कृष्णके मनोहर बालरूपने सब गोप-गोपियोंका चित्त मोह लिया कृष्णको मारनेके लिये कंसके भेजे पूतना शकटासुर, तृणावर्त वत्सासुर प्रलम्ब अघासुर, बक केशी, धेनुकासुर आदि असुरोंको श्रीकृष्णने बचपनमें ही सहज ही मार डाला उँगलीपर गोवर्धन गिरि उठाया यशोदाको अपने मुँहमें

ब्रह्माण्ड दिखाया, ब्रह्माका गर्व उतारा, वृन्दावनमें गौओंके सङ्ग अनेक प्रकारके खेल खेले, दूध-दही-मक्खन चुराकर गोपियोंका चित्त चुराया, श्रीकृष्ण प्रेमसे वे पति पुत्र, घर-द्वार भूल गयीं, गोकुल और वृन्दावनकी लीलाओंसे आबाल-वृद्ध वनिता सभी कृष्ण-प्रेममें पागल हो गये, पीछे कृष्णने मथुरामें आकर चाणूर-मुष्टिकादि मल्लोंको मारकर अन्तमें कंसका भी अन्त किया, कुछ काल बाद श्रीकृष्ण द्वारकाधीश हुए। इन सब घटनाओंको श्रीकृष्ण भक्त सन्त कवियोंने बाल-लीलामें अत्यन्त प्रेमसे बखाना है। काँदोंके अभङ्ग, ग्वालिन, दण्डोंका खेल, आजी पाती, कबड्डी इत्यादि खेलोंपर जो अभङ्ग हैं उनका भी बाल-लीलावर्णनमें ही समावेश होनेसे इसमें कुछ भी सन्देह नहीं रह जाता कि गोकुल-वासी वृन्दावन विहारी श्रीकृष्ण ही हमारे भक्त सन्तोंके भगवान श्रीविठ्ठल हैं। श्रीकृष्णका उत्तर-चरित सबको विदित ही है। तुकारामजीके ही वचनके अनुसार 'जिन्होंने गीताका उपदेश किया वही यह मेरी माता है जो ईंटपर खड़ी है,' अर्जुनको भगवद्गीता और उद्धवगीता बतलानेवाले, पाण्डवके सहायक, द्वारकाधीश श्रीकृष्ण कौरव पाण्डव युद्धके कारण महाभारतके द्वारा परम राजनीतिज्ञके रूपमें संसारपर प्रकट हुए तथापि हमारे भक्तों और सन्तोंको जो श्रीकृष्ण परम प्यारे हैं वह गोकुलके ही श्रीकृष्ण हैं। गोकुलके ही श्रीकृष्ण कुरुक्षेत्रके गीता-वक्ता हैं। श्रीकृष्ण एक ही हैं। तथापि श्रीकृष्णने जगदुद्धारके लिये गोकुल वृन्दावनमें जो भक्ति रस-परिप्लावित परमानन्ददायिनी लीलाएँ कीं वे ही भक्तोंके प्रेमकी वस्तु हैं। इस कारण गोकुलके श्रीकृष्ण ही उनके उपास्य हैं। स्वामी विवेकानन्दने* कहा है—'श्रीकृष्ण सब मनुष्योंका उद्धार करनेके लिये अवतार लिये हुए परमात्मा हैं और गोपी लीला मानवधर्मान्तर्गत भगवत्प्रेमका सारसर्वस्व है। इस प्रेममें जीव-भावका लय होकर परमात्मामें तादात्म्य हो जाता है। श्रीकृष्णने

* 'प्रबुद्ध भारत' सन् १९१५ जनवरी मासका अङ्क।

गीतामें 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' का उपदेश दिया है उसकी प्रतीति इसी लीलामें होती है। भक्तिका रहस्य जानना हो तो आओ और वृन्दावन-लीलाका आश्रय करो। श्रीकृष्ण दीन-दुखियोंके, भिखारी-कंगालोंके, पापी-पामरोंके, बाल-बच्चोंके, स्त्री-पुरुषोंके, सबके परम उपास्य हैं। व्युत्पन्न पण्डित और धार्मिक तत्त्वोंसे वह दूर हैं, भोले-भाले भक्तोंके समीप हैं। उन्हें ज्ञानका शौक नहीं, वह शुद्ध प्रेमके भूखे और भोक्ता हैं। गोपियोंके लिये श्रीकृष्ण और प्रेम एकरस हो गये थे। द्वारकामें श्रीकृष्णने कर्मयोग सिखाया और वृन्दावनमें भक्ति-प्रेमकी शिक्षा दी। श्रीकृष्ण प्रेम दया और क्षमाके सागर हैं।

४ श्रीतुकारामद्वारा लीला-वर्णन

तुकारामजीने अपने उपास्य भगवान् श्रीविठ्ठलकी जो बाललीलाएँ गायी हैं उनमें भी ग्वाल-बालिनोंकी अलौकिक भक्ति और श्रीकृष्णकी भक्तवत्सलता अत्यन्त प्रेमसे बखानी है।

भक्तिमयी भव आकर अवतारकर दैत्योंका संहार करने आ गया। भक्तजनोंका पालन करनेके लिये गोकुलमें राम और कृष्ण आ गये। गोकुलमें आनन्द-सुख प्रकट हुआ। घर-घर लोग उत्सवका आनन्द मानने लगे।

गोपियोंकी अगाध कृष्ण-भक्ति देखिये—

'उनके पूर्व पुण्यका हिसाब कौन लगा सकता है जिन्होंने मुरारीको देखा—मन्त्रमुग्धसे देखा और साथ खेले भी, और उन्हें पाकर मुखका चुम्बन किया! ममतासे उन्हें अन्तःसुख दिया जिन्होंने एकनिष्ठ भावसे उन्हें जाना। श्रीकृष्णमें जिनका तन-मन लग गया, जो घर-द्वार और पति-पुत्रादिको भूल गयीं उनके लिये धन मान और जन विषसे हो गये।

'चारों वेद जिसकी कीर्ति बखानते हैं वह ग्वालिनोंके हाथों बँध जाता है। मक्खन चुराने उनके घरोंमें घुमता है।.........अन्दर-बाहर एक-सा है, इससे चोरी पकड़ी नहीं जाती। यह भेद वे जानती हैं कि यह अकेला ही, और सब रास्तोंको बंद करके हमें बैठा लेगा। इसलिये वे निश्चिन्त एकान्तमें निःसङ्ग होकर कृष्णके ही ध्यानमें अचल लगी रहीं। योगियोंके ध्यानमें जो एक क्षणके लिये भी नहीं आता, भावुक ग्वालिनें उसे पकड़ रखती हैं। उन भक्तिनोंके पास वह गिड़गिड़ाता हुआ आता है, और सयाने कहते हैं कि वह तो मिलता ही नहीं।'

* * *

'देहकी सारी भावना विसार दी तब वही नारायणकी सम्पूर्ण पूजा-अर्चा है। ऐसे भक्तोंकी पूजा भगवान् भक्तोंके जाने बिना ले लेते हैं और उनके माँगे बिना उन्हें अपना ठाँव दे देते हैं।'

* * *

'मनसे सारी इच्छाएँ हरिरूपमें लग गयीं। ग्वालिनोंकी ये वधुएँ उन्हींके लिये व्यग्र देख पड़ती हैं। सबके चित्तमें एक भाव नहीं है। इसलिये जैसा प्रेम वैसा रूप। बच्चेको छोटे-बड़ेका ख्याल नहीं होता, नारायण भी वैसे ही कौतुकके साथ खेलते रहते हैं।'

* * *

अब ग्वालोंका भक्ति-भाग्य देखिये—

'राम और कृष्णने गोकुलमें एक कौतुक किया। ग्वालोंके सङ्ग गौएँ चराते थे। सबके आगे चलते हुए गौएँ चराते थे और पीठपर छावें बाँधे रहते थे। उनकी वह लाठी और कामरी धन्य हुई। ग्वालिनों-का भी कैसा महान् पुण्य था, वे गाय-भैंस और अन्य पशु भी कैसे भाग्यवान् थे।'

* * *

इन ग्वालिनोंके मख-याग आदि अनेक संचित पुण्य-कर्म थे जो ऐसे फले। ग्वालिनोंको जो सुख मिला वह दूसरोंके लिये, ब्रह्मादिके लिये भी दुर्लभ है।

* * *

नन्द और यशोदाका कृष्ण भक्ति-भाग्य देखिये। परिश्रम करके धन उपार्जन किया वह भी उन्होंने कृष्णार्पण किया। सब गौएँ, घोड़े, भैंसें, दासियाँ प्रेमसे कृष्णको समर्पित कर दीं। क्षणभर भी यदि कृष्णका वियोग होता तो उनके प्राण तड़पने लगते। उनके ध्यानमें मनमें सब विधि हरि ही थे। शरीरसे काम करते थे पर चित्त भगवान्में ही लगा रहता था। उन्हींका चिन्तन करते थे। बस यही एक पुकार होती थी कि कृष्ण कहाँ गया अभी उसने खाया नहीं कहाँ चला गया! वे 'कृष्ण' नाम ही रटा करते थे। माता यशोदा कूटते-पीसते-पछोरते कृष्णके 'पछोरिया' गाती थीं, भोजनमें नन्द-यशोदा कृष्णको पुकारते थे, ध्यानमें, आसनमें, शयनमें, स्वप्नमें कृष्णरूप ही देखते थे। कृष्ण उन्हें दिखायी देते थे, दुर्भागियोंको नहीं दिखायी देते। तुका कहता है, नन्द-यशोदा-जैसे माता पिता धन्य हैं।

* * *

अब वहाँकी ग्वालिनोंकी कृष्ण भक्ति देखिये और अन्तःकरणमें उस सुखको अनुभवकर प्रेमाश्रु बहाइये—

एक सखी दूसरी सखीसे कहती है, कृष्ण हमारा परिवारी है, कृष्ण ग्वालोंमें है अरी सखी कृष्णको उठा ले। कृष्णके बिना तुम्हें कैसे चैन मिलता है? कैसे समय कटता है? तुम्हारा [illegible] बातें किया करती हो, समय व्यर्थ खोती हो, इस [illegible] उठा क्यों नहीं लेती! उठा ले और इस सुखका भी तो भोग देख लो। इस सुखका अब तुम अनुभव करोगी तब बार बार न भटका करोगी। एक कृष्णके बिना यह सारा [illegible] दुःख प्रतीत होगा। सखी नाच-गोरसक तब तुम

छोड़ दोगी और अनन्तको सङ्ग लेकर वनमें जाओगी। इसे फिर अपने प्राणोंसे अलग न करोगी। दूसरोंसे भी इस बच्चेको लेनेके लिये कहोगी। इस बालकको जो अपने घर ले जाती है उसकी-सी वही है।'

* * *

'तुका कहता है, जो कृष्णको ले जाती हैं वे फिर लौटकर नहीं आतीं। कृष्णके साथ खेलते ही सारा दिन बीतता है। कृष्णके मुँहकी ओर निहारते हुए, चाहे दिन हो या रात, उन्हें और कुछ नहीं सूझता। सारा शरीर तटस्थ हो जाता है, इन्द्रियाँ अपना व्यापार भूल जाती हैं। भूख-प्यास, घर-द्वार वे सब ही भूल जाती हैं। यह भी सुध नहीं रहती कि हम कहाँ हैं। हम किस जातिकी हैं, यह भी भूल गयीं। चारों वर्णोंकी गोपियाँ एक हो गयीं। कृष्णके साथ खेल खेलती हैं, चित्तमें उनके कोई शङ्का नहीं उठती। बस, एक ठाँवमें, तुका कहता है कि श्रीगोविन्द-चरणोंमें भावना स्थिर हो गयी।'

* * *

इन्होंने अपने आपको जाना। जाना कि यह संसारी खेल जो खेल रहे हैं वह झूठा है। असलमें हमारे सगे-सम्बन्धी, भाई-दामाद, जो कुछ कहिये, सबमें एक वही हैं। उन्हींमें हम सब एक हैं। इसलिये निःशङ्क होकर खेल सकती हैं। हम किसके सङ्ग क्या खाती हैं और मुँहमें उसका क्या स्वाद मिलता है, यह सब कुछ नहीं जानतीं। दूसरोंकी आवाज भी कान नहीं सुनते। क्योंकि ध्यानमें मनमें हरि बैठे हैं।

* * *

काँदोके अभङ्गोंमें भी यही अनुपम रस भरा हुआ है। श्रीगोपाल-कृष्ण अपने सखाओंके साथ गौएँ चरानेके लिये मधुवनमें जाया करते थे। वहाँ अपनी-अपनी छाकें खोलकर सबने जो भोजन किये तथा जो-जो खेल खेले उनका बड़ा ही चित्तरञ्जक वर्णन तुकारामजीने किया है। भगवान्

फिर सब अपनी लकुटी और कम्बल उठा गौएँ चराने गये। उनमें कई टेढ अङ्गवाले, तोतले, नाटे, लँगड़े, लूले आदि भी थे, पर श्रीकृष्ण उन सबके प्रिय थे और भगवान् भी उनके भावसे प्रसन्न थे। गौएँ चराते हुए ग्वाल-बाल श्रीकृष्णको मध्यमें किये डंडोंके खेल आदि खेलते जा रहे हैं।

बालक्रीड़ाके अभङ्गोंमें तुकारामजीने आध्यात्मिक भाव ध्वनित किये हैं। गोपियाँ राम-रङ्गमें समरस हुईं, उसी प्रकार हमारी चित्त-वृत्तियाँ श्रीकृष्ण-प्रेममें सराबोर हो जायँ और तन्मयताका आनन्द-लाभ करें, यही इन अभङ्गोंका आध्यात्मिक भाव है। भक्तोंके पूर्व-सञ्चितको देखकर भगवान् उसमें अपना प्रसाद डालकर उनके जीवनको मधुर बनाते हैं और 'नीचेका द्वार बद करते हैं' याने अधोगतिका रास्ता बद करते हैं। अस्तु, श्रीकृष्ण प्रेममें तुकारामजी रमे हुए थे यह कहनेकी आवश्यकता नहीं।

५ श्रीपण्ढरीके विट्ठलनाथ

पण्ढरपुरमें श्रीविठ्ठलनाथकी जो मूर्ति है उसे अच्छी तरह देखनेसे भी यह मालूम हो जाता है कि यह भगवान्की बाल मूर्ति ही है। कुछ आधुनिक पण्डितोंने जो यह तर्क लड़ाया है कि यह मूति बौद्धों या जैनोंकी है उसमें कुछ भी दम नहीं है। यह मूर्ति श्रीमहाविष्णुके अवतार श्रीगोपालकृष्णकी ही है। भगवान् ईंटपर खड़े हैं। ईंटपर भगवान्के बड़े ही कोमल पद-कमल है। इन पादपद्मोंमें कोटि-कोटि भक्तोंने अपने मस्तक नवाये हैं, प्रेमाश्रुओंसे सहस्रश. इन्हें नहलाया है, अपने चित्तको निवेदन किया है। इन चरणोंने लाखों जीवोंके हृत्ताप हरण किये हैं, उनके नेत्रोंको कृतार्थ किया है, उनका जीवन धन्य बनाया है। सहस्रों पापात्माओं और मुक्तोंने, बद्धों और मुमुक्षुओंने, सिद्धों और साधकोंने, रकों और रावोंने, पतितों और पतित-पावनोंने इन चरणोंके ध्यान और भजनसे अपना जीवन सफल किया है। लाखों जीवोंके लिये यह दुस्तर

भवसागर इन चरणोंके चिन्तन चमत्कारसे गोष्पद-जितना छोटा-सा हो गया है। ऐसे ये इस ईंटपर श्रीविट्ठलभगवान्‌के चरण स्थिर हैं। भगवान्‌के बायें पैरपर एक व्रण है। भगवान्‌की मुक्ताबाई नामकी कोई दासी थी। भगवान्‌पर उसका अत्यधिक प्रेम था। वह दासी बड़ी सुकुमार थी और उसे अपनी सुकुमारताका बड़ा गर्व था। उसने अपने दाहिने हाथकी उँगली भगवान्‌के बायें पैरपर रखी सो भगवान्‌के अति सुकुमार पैरमें गड़ी। भगवान्‌के चरणोंकी यह सुकुमारता देखकर अपनी सुकुमारता उसे तुच्छ प्रतीत हुई और वह बहुत लज्जित हुई। उसका गर्व उतर गया। भगवान्‌के दोनों पैरोंके बीचमें पीताम्बरका झब्बा-सा लटक रहा है, वह मालरूपोपचित ही है। यही अवस्था करतानी होती तो पाँवोंसे पीताम्बर का किनारा कामदेसे भिन्न होता। कर्मेन्द्रियके स्थानमें करधनीका एक झब्बा-सा लटक रहा है। सोनेकी करधनीपर कृत्रिम चिह्न-सा सोनेका ही टिकड़ा है जो मदनेका नहीं है अर्थात् मूर्ति नग्न नहीं है यह शङ्का करनेका कोई कारण नहीं है कि मूर्ति जैन है। पीताम्बरके ऊपर करधनी है। दाहिने हाथमें शङ्ख और बायेंमें पद्म है। छातीपर दाहिनी ओर भृगुलाञ्छन है—भृगुके अँगूठेका चिह्न है। कण्ठमें कौस्तुभमणि लटकता हुआ छातीपर आ गया है। भुजाओंमें भुजबन्द हैं और दोनों कानोंमें कानोंसे कन्धोंतक मकराकृति कुण्डल हैं। भगवान्‌के मुख, नासिका और नेत्र प्रसन्न हैं, मस्तकपर शिवलिङ्गाकार मुकुट है। भालप्रदेशमें मुकुटके बीचमें एक बारीक फीता-सा बँधा है जो पीछे पीठपर लटकती हुई छाककी झोलीका है। पण्ढरीका गोपालपुर, गौओंकी सब चीजें और ग्वालोंके समारम्भ सब गोकुलके हैं। ऐसे श्रीविट्ठलरूपी श्रीबालकृष्ण भगवान्‌को मेरे अनन्त प्रणाम हैं।*

---

* 'ओवी-नेम' का विषय विशेषरूपसे जानना हो तो गीताप्रेससे प्रकाशित 'ज्ञानेश्वरचरित्र' भाग १ [प्रस्तावना] अवश्य पुस्तक पढ़िये। —सम्पादक

ग्यारहवाँ अध्याय

सगुण-साक्षात्कार

भक्तसमागमें सर्वभावें हरी । सर्व काम करी न सांगता ॥ १ ॥
सांठविला राहे हृदयसंपुटीं । बाहेर धाकुटी मूर्ति उभा ॥ २ ॥

'भक्तसमागमसे सब भाव हरिके हो जाते हैं, सब काम बिना बताये हरि ही करते हैं। हृदय-सम्पुटमें समाये रहते हैं और बाहर छोटी-सी मूर्ति बनकर सामने आते हैं।'

१ सत्यसङ्कल्पके दाता नारायण

'भगवान्‌के सगुण दर्शनोंकी कैसी तीव्र लालसा तुकारामजीको लगी थी यह हमलोग नवें अध्यायमें देख चुके हैं। अब उस लालसाका उन्हें क्या फल मिला सो इस अध्यायमें देखेंगे। जीवमात्रको उसीकी इच्छाके अनुरूप ही फल मिला करता है। 'जैसी वासना वैसा फल।' मनुष्यकी इच्छा-शक्ति इतनी प्रबल है, उसके सङ्कल्पके कर्म-प्रवाहकी गति इतनी अमोघ है कि वह जो चाहे कर सकता है। 'नर जो करनी करे तो नरका नारायण होय' यह कबीरसाहबका वचन प्रसिद्ध ही है। जो कुछ करनेकी इच्छा मनुष्य करे उसे वह कर सकता है, जो होनेकी इच्छा करे वह हो सकता है, जो पानेकी इच्छा करे वह पा सकता है। पर होना यह चाहिये कि उस इच्छा-शक्तिको शुद्ध आचरण, दृढ निश्चय, सद्भावना और निदिध्यासका पूरा सहारा हो। सङ्कल्पका पूरा होना सङ्कल्पकी शुद्धता और तीव्रतापर निर्भर करता है। मनकी शक्ति असीम है पर निष्ठाके साथ उसका पूर्ण उपयोग कर लेनेवालेके लिये। बूँद-बूँद पानी बाँध-बाँधकर इकठ्ठा

किया जाय तो लखपति बन सकता है। एक-एक पैसा जमा करके व्यापारी लखपति बनते हैं। सूर्य-किरणोंको एक जगह केन्द्रीभूत करें तो अग्नि तैयार हो जाती है और ऐसे ही भापको इकट्ठा करनेसे रेलगाड़ियाँ चलती हैं। इसी प्रकार मनकी शक्ति भी सामान्य नहीं है, बड़ी प्रचण्ड है। हजारों रास्तोंसे यदि उसे दौड़ने दिया जाय तो वह दुर्बल हो जाता है पर एक जगह यदि स्थिर किया जाय तो वही ब्रह्मपद प्राप्त करा देनेतककी सामर्थ्य रखता है। मन ही मनुष्यके बन्धन और मोक्षका कारण है। विषयोंमें चरनेके लिये उसे छोड़ दिया जाय तो वह भटककर दुर्बल हो जाता है परमात्मामें लगाया जाय तो वही परमात्मस्वरूप बन जाता है। मन अपनी इच्छा-शक्तिको इतस्ततः बिखरने न देकर एकाग्र करनेसे, एक ब्रह्मपदपर स्थिर करनेसे उसकी शक्ति बेहद बढ़ती है। परमात्मा सब भूतोंमें रम रहे हैं; जल, थल, काठ पत्थर सबमें विराज रहे हैं भू, जल, तेज समीर, गगन—इन पञ्च महाभूतोंको और स्थावर-जङ्गम सब पदार्थोंको व्यापे हुए हैं। उनके सिवा ब्रह्माण्डमें दूसरी कोई वस्तु ही नहीं, यही शास्त्र सिद्धान्त है और यही संतोंका अनुभव है। 'या उपाधिमाजि गुप्त चैतन्य असे सर्वगत' अर्थात् इस उपाधिमें गुप्तरूपसे चैतन्य सर्वत्र भरा हुआ है। (ज्ञानेश्वरी अ० २-१२९) प्राचीन ऋषि-मुनियों और संत-महात्माओंको इसकी प्रतीति हुई है और इस जमानेमें भी कलकत्तेके विज्ञानाचार्य श्रीजगदीशचन्द्र वसु महाशयने नवीन यन्त्रोंकी सहायतासे यही सिद्धान्त संसारके सामने प्रत्यक्ष करके दिखा दिया है। पेड़ोंमें और पत्थरोंमें भी चैतन्य भरा हुआ है। संत उसी चैतन्यका निदिध्यासन करते हैं और निदिध्यासनसे ही उन्हें उसका साक्षात्कार होता है। विश्वमें इससे पुनीत, प्रिय और श्रेय विश्वास और नहीं है। उसी चैतन्यमें सम्पूर्ण इच्छाशक्ति घनीभूत होनेसे पुण्यात्मा पुरुष ब्रह्मपदलाभ करते हैं। वेदोंने उसीका वर्णन किया है। ज्ञानी योगी और संत उसीमें रममाण होते हैं। अन्य

नश्वर पदार्थोंपर मनको जाने न देकर अर्थात् वैराग्यसम्पन्न होकर वे उसीके मननमें लग जाते हैं। मन, वाणी और इन्द्रियोंसे उसका पता नहीं चलता पर मनको उसीकी लौ लग जानेसे मन उसे चाहे जिस रंगमें रँग लिया करता है। शास्त्र उसे चैतन्य कहते हैं, वेद आत्मा कहते हैं और भक्त उसीको नारायण कहते हैं।

वेदपुरुष नारायण। योगियाचें ब्रह्म शून्य॥
मुक्ता आत्मा परिपूर्ण। तुका म्हणे सगुण भोळ्याँ आम्हा॥

वेदोंके लिये जो नारायण पुरुष हैं, योगियोंके लिये शून्य ब्रह्म हैं, मुक्तात्माओंके लिये जो परिपूर्ण आत्मा हैं, तुका कहता है कि हम भोले-भाले लोगोंके लिये वह सगुण-साकार नारायण हैं।'

तुकोबारायने उस अनाम-अरूप-अचिन्त्य परमात्माको नाम और रूप प्रदानकर चिन्त्य बना डाला। गोकुलमें गोप-गोपियोंको रमानेवाली वह सुरम्य श्यामल बालमूर्ति तुकारामजीके चित्त-चिन्तनमें आ गयी, तुकारामजीका चित्त उसीको समर्पित हुआ, इन्द्रियोंको उसीके ध्यान-सुखका चसका लग गया, शरीर भी उसीकी सेवामें लगा। इस प्रकार मन, वचन और कर्मसे वह कृष्णमय हो गये। ऐसी अवस्थामें वह यदि कृष्णरूप इन्हीं आँखोंसे देखनेकी लालसा रखें तो वह कैसे न पूरी हो ?

निश्चयाचें बळ। तुका म्हणे तेंचि फळ॥

तुका कहता है, निश्चयका बल ही तो फल है।' निश्चयके बलका मतलब ही फलकी प्राप्ति है। अहंकारकी हवा कहीं न लग जाय, इसलिये भक्तलोग कहा करते हैं—

सत्यसंकल्पाचा दाता नारायण। सर्व करी पूर्ण मनोरथ॥

'सत्यसंकल्पके देनेवाले नारायण हैं, वही सब मनोरथ पूर्ण करते हैं।'

भक्तोंका यह कहना सच भी है। जीवोंका शुद्ध संकल्प या निश्चयका बल

और नारायणकी कृपा इन दोनोंके बीच बहुत ही थोड़ा अन्तर है ! तुकारामजीने श्रीकृष्णको प्रसन्न करके प्रकटानेके लिये ध्रुव और दीन सबरूप धारण किया और नारायणको प्रकट होना ही पड़ा । यह भक्तकी महिमा है या भगवान्‌की भक्तवत्सलताकी या इन दोनोंके एक-दूसरेके प्यार और दुलारकी । ऐसे भक्त और भगवान्‌के अन्योन्य प्रेमसे संसारको एक कौतुक देखनेको मिला । ऐसे निश्चयसे हर कोई अपनी रुचिके अनुसार अपना जीवन सफल कर सकता है । तुकारामजीकी जैसी आकांक्षा थी तद नुसार भगवान्‌ने उन्हें कब और कैसे दर्शन दिये यह अब देखना चाहिये ।

२ रामेश्वर-तुकाराम-विरोध

भगवान्‌को तुकारामजीकी दर्शन-आकांक्षा पूरी करनी ही थी पर इसे उन्होंने एक प्रसङ्गका निमित्त करके किया । रामेश्वर भट्टने तुकारामजीसे सब बहीखाता डुबा देनेको कहा और तुकारामजीने ब्राह्मणकी आज्ञा सिर आँखों उठाकर बहीखाता डुबा दिया और फिर भगवान्‌ने उन सब कागजोंको जलसे बचा लिया यह बात लोकप्रसिद्ध है । इसी प्रसङ्गसे तुकारामजीको भगवान्‌के साक्षात् दर्शन हुए, इसलिये हमलोग अब इसी प्रसङ्गको देखें । रामेश्वर भट्ट कोई साधारण आदमी नहीं थे । यह बड़े सदाचार और महाविद्वान् ब्राह्मण पूनेसे ईशान्यमें नौ मीलपर वाघोली नामक स्थानमें रहते थे । बड़े धीमान्, कर्मनिष्ठ और उपासक तथा धर्माधिकारी भी थे । तुकारामजीका नाम चारों ओर हो रहा था उसे उन्होंने भी सुन रखा था । जब उन्होंने सुना कि तुकाराम शूद्र है और ब्राह्मण भी उसके पैर छूते हैं तथा उसके भजनोंमें वेदार्थ प्रकट होते हैं तब तुकारामजीके विषयमें और सामान्यतः वारकरी सम्प्रदायके विषयमें भी उनकी धारणा प्रतिकूल हो गयी थी । पर यह बात नहीं थी कि तुकारामजीकी कीर्ति उनसे न सही गयी या उन्हें उनसे डाह हुआ और

किसी तरहसे उन्हें कष्ट पहुँचानेके लिये क्षुद्र बुद्धिसे उन्होंने कोई काम किया हो। हम आप तुकारामजीपर सादर और सप्रेम गर्व करते हैं, पर जो कोई तुकारामजीके समयमें कुछ कालतक तुकारामके प्रतिपक्षी होकर सामने आये उनके विषयमें हम-आप कोई गलत धारणा न कर बैठें। जब वाद-विवाद चलता है तब प्रतिपक्षीके सम्बन्धमें अपना मन कलुषित कर लेना सामान्य जनोंका स्वभाव सा हो गया है। पर यह पक्षपात है। इसे चित्तसे हटाकर प्रतिपक्षीके भी अच्छे गुणोंको मान लेना विचारशील पुरुषोंका स्वभाव होता है। प्रतिपक्षीके कथनमें क्या विचार है और क्या अविचार है यह देखकर अविचारवाले अंशभरका ही खण्डन करना होता है और सो भी आवश्यक हो तो। रामेश्वर भट्ट, कोई सम्बाजी बाबा नहीं थे। उनके विचार करनेकी दृष्टि भी विचारने योग्य है। तुकारामजी जिस भागवतधर्मके झण्डेके नीचे खड़े होकर भगवद्भक्तिका प्रचार कर रहे थे उस भागवत-धर्मकी कुछ बातोंसे उनका प्रामाणिक विरोध था। यह विरोध बहुत पहलेसे ही कुछ न-कुछ चला आया है और आज भी वह सर्वथा निर्मूल नहीं हुआ है। आलन्दी और पैठणके ब्राह्मणोंने जिन कारणोंसे ज्ञानेश्वर महाराजका और एकनाथसुत पण्डित हरिशास्त्रीने अपने पिता एकनाथ महाराजका विरोध किया उन्हीं कारणोंसे रामेश्वर भट्ट तुकाराम महाराजके विरुद्ध खड़े हुए। स्पष्ट बात यह है कि ज्ञानेश्वर महाराजके समयसे वैदिक कर्ममार्गी ब्राह्मणोंकी यह धारणा-सी हो गयी है कि यह भागवतधर्म वर्णाश्रमधर्मको मिटानेपर तुला हुआ एक बागी सम्प्रदाय है। भागवतधर्म वस्तुत. वैदिक कर्मका विरोधी नहीं है यही नहीं प्रत्युत वैदिक धर्मका अत्यन्त उज्ज्वल, व्यापक और लोकोद्धारसाधक स्वरूप भागवतधर्ममें ही देखनेको मिलता है। वैदिक कर्म और भागवतधर्मके बीच जो वाद-सा छिड़ गया उसका उत्तर सतोंने अपने चरित्रासे ही दिया है। वारकरी सम्प्रदायके भगवद्भक्त जाति पाँति पूछे बिना एक दूसरेके पैर छूते हैं, सस्कृत

भाषामें संचित ज्ञान-राशि प्राकृत भाषामें प्रकट करते हैं और उससे देशभाषा लाञ्छित होती है, कर्मको गौण बताकर भक्ति और भगवन्नामकी ही महिमा सबसे अधिक मानी जाती है। ये बातें हैं जो पुराने ढंगके अनेक शास्त्री पण्डितोंको तथा वैदिक कर्मनिष्ठोंको ठीक नहीं जँचतीं। सभी शास्त्री पण्डित इसी विचारके पहले थे या अब हैं ऐसी बात नहीं। तथापि ऐसे विचारके लोगोंद्वारा भागवतधर्म-प्रचारक ज्ञानेश्वर और एकनाथको जैसे कष्ट पहुँचाया गया वैसे ही तुकारामजीके समयमें तुकारामजीको रामेश्वर भट्ट कष्ट पहुँचानेके लिये मिले। ये दो अलग-अलग पन्थ हैं। संस्कृत भाषामें ही सम्पूर्ण ज्ञान और धर्म बना रहे और वह ब्राह्मणोंके मुखसे अन्य सब वर्णोंके लोग सुनें यह संस्कृताभिमानी वैदिक कर्ममार्गियोंका दावा है और—

> माझा संस्कृता अथवा प्राकृता । भाषा जाली जे हरि-कथा ॥
> ते पावनचि तत्त्वतां । सत्य सर्वथा मानली ॥

अर्थात् भाषा संस्कृत हो या प्राकृत, जिसमें भी हरि-कथा हुई वही भाषा तत्त्वतः पवित्र, सर्वथा सत्य मानी गयी है। यह भागवतधर्मवालोंका कथन है। (नाथ-भागवत १-११९) एकनाथ महाराज संस्कृत भाषाभिमानियोंसे पूछते हैं कि केवल संस्कृत भाषा ही भगवान्ने निर्माण की तो क्या प्राकृत भाषाको दस्युओंने निर्माण किया? संस्कृतको धन्य और प्राकृतको निन्द्य कहना यो अभिमानवाद है यह कहकर एकनाथ महाराज सिद्धान्त बतलाते हैं—

> देवासि नाहीं वाचाभिमान । संस्कृत प्राकृत त्या समान ॥
> ज्या वाणी जाहले ब्रह्मकथन । त्या भाषा श्रीकृष्ण संतोषे ॥

(एकनाथी भागवत अ० ११-१ । २९)

अर्थात् भगवान्‌को भाषाका अभिमान नहीं है, संस्कृत-प्राकृत दोनों उनके लिये समान हैं। जिस वाणीसे ब्रह्म-कथन होता है उसी वाणीसे श्रीकृष्णको सन्तोष होता है। दूसरी बात जात-पाँतकी। वैदिक कर्ममार्गी जाति-बन्धनके विषयमें कड़े कट्टर होते हैं। अन्त्यजसे लेकर ब्राह्मणतकके सब ऊँच-नीच भेदोंकी ही उनके समीप विशेष प्रतिष्ठा है। भागवतधर्मने जात-पाँतको न तो बढाया है न उसपर खड्ग ही उठाया है। भागवत-धर्मका यह सिद्धान्त है कि मनुष्य किसी भी वर्ण या जातिमें पैदा हुआ हो वह यदि सदाचारी और भगवद्भक्त है तो वही सबके लिये वन्दनीय और श्रेष्ठ है। एकनाथ महाराज कहते हैं—

हो का वर्णामाजी अग्रणी। जो विमुख हरिचरणीं॥
त्याहूनि श्वपच श्रेष्ठ मानी। जो भगवद्भजनी प्रेमळु॥
(नाथ-भागवत ५—६०)

अर्थात् कोई वर्णसे यदि अग्रणी याने श्रेष्ठ हो (ब्राह्मण हो) पर वह यदि हरि-चरणोंसे विमुख है तो उससे उस चाण्डालको श्रेष्ठ मानो जो भगवद्भजनका प्रेमी है। इस कारण श्रेष्ठता केवल जातिमें ही नहीं रह गयी, बल्कि यह सिद्धान्त हुआ कि जो भगवद्भक्त है वही श्रेष्ठ है। कसौटी जाति नहीं रही, कसौटी हुई सत्यता—साधुता—भगवद्भक्ति। इस कारण प्राचीन मताभिमानियोंकी यह धारणा हो गयी कि यह भागवतधर्म-सम्प्रदाय ब्राह्मणोंकी मान-प्रतिष्ठा नष्ट करनेके लिये उत्पन्न हुआ है। ज्ञानेश्वर महाराजको तंग करनेके लिये ये दो ही कारण थे। तुकारामजीको तंग करनेके लिये तीसरा और एक कारण उपस्थित हुआ। संत ही जब श्रेष्ठ हुए तब यह श्रेष्ठत्व केवल ब्राह्मणोंमें न रहा, संत जो कोई भी हुआ वही श्रेष्ठ माना जाने लगा। तुकारामजीका संतपना जैसे-जैसे सिद्ध होकर प्रकट होने लगा, उनके शुद्ध आचरण, उपदेश और भक्ति-प्रेमका जैसे-

जैसे लोगोंपर प्रभाव पड़ने लगा वैसे-वैसे ही लोग उन्हें मानने और पूजने लगे। तुकारामजीके इन भक्तोंमें अनेक ब्राह्मण भी थे जैसे देहूके कुलकर्णी महादाजीपन्त, चिखलीके कुलकर्णी मल्हारपन्त पूनेके कोंडोपन्त लोहोकरे, तलेगॉवके गङ्गाराम मवाळ इत्यादि। तुकारामजीकी अमृतवाणी सुनकर ये उनके चरणोंमें भ्रमर-से लीन हो गये। जिसे जिसकी अपनी इच्छित वस्तु मिलती है उसका उसके पीछे हो लेना स्वाभाविक ही है। लोग चाहते थे विशुद्ध धर्मज्ञान और सच्चा प्रेमानन्द! ऐसा गुरु चाहते थे जो भगवान्‌की कथा आन्तरिक प्रेमसे बतावे। उन्हें ऐसे गुरु तुकाराम मिले और इसलिये तुकारामजीको वे पूजने लगे। लोगोंको सच्चे झूठेकी पहचान होती है। तुकारामजीके ही पड़ोसमें मम्बाजी अपनी महन्तीकी दूकान लगाये बैठे थे। पर लोग जो कुछ चाहते थे वह उनके पास नहीं था इसलिये लोग भी उनकी वैसी ही कदर करते थे। मम्बाजी और तुकाराम—एक नकली सिक्का और दूसरा असली। लोगोंने दोनोंको ठीक परखा। तुकारामजीका स्वभाव और प्रेम उन्हें प्रिय हुआ। तुकारामजी जातिके शूद्र थे पर यदि वे ब्राह्मण होते तो भी इतने ही प्रिय होते और यदि अति शूद्र होते तो भी इतने ही प्रिय होते! मम्बाजी ब्राह्मण थे पर स्वयं ब्राह्मणोंने भी उनको नहीं माना। तब तुकारामजीको तंग करनेके लिये तीसरा कारण जो उत्पन्न हुआ वह यह था कि तुकाराम शूद्र हैं, ब्राह्मण इनके पैर छूते हैं और ये गुरु बनते हैं ब्राह्मणोंके यह बात तो सनातन-धर्मके विपरीत है। रामेश्वर भट्टने तुकारामजीको जो कष्ट दिया वह इसी कारणसे कि एक तो यह शूद्र होकर प्राकृत भाषामें धर्मका रहस्य प्रकट करते हैं और दूसरे ब्राह्मण इनके पैर छूते हैं। प्राचीन मतामिमानसे प्रेरित होकर रामेश्वर भट्ट यदि तुकारामजीके विरुद्ध खड़े न होते तो और कोई वैदिक शास्त्री पण्डित इस कामको करता। ज्ञानेश्वर महाराजने सब कष्ट सहकर यह बात सिद्ध कर दी कि धर्म-रहस्य प्राकृत भाषामें

प्रकट करनेमें कोई दोष नहीं है और तबसे यह रास्ता खुल गया। अब यह होना बाकी था कि शूद्र भी धर्म-रहस्य * कथन कर सकता है। कारण, धर्म-रहस्य चाहे जिस जातिके शुद्धचित्त मनुष्यपर प्रकट हो जाता है। इसके लिये तुकारामजीका तपाया जाना और उस तापसे उनका उज्ज्वल होकर निकलना आवश्यक था। सुवर्णको इस प्रकार तपाकर देखनेका मान रामेश्वर भट्टको प्राप्त हुआ। ज्ञानेश्वर और एकनाथकी अलौकिक शक्तिसे आलन्दी, पैठण और काशीके ब्राह्मणोंपर उनका पूरा प्रभाव पड़ा और महाराष्ट्रमे सर्वत्र भागवत-धर्मका जय-जयकार और प्रचार हुआ। इस जय-जयकारका स्वर और भी ऊँचा करके प्रचारका कार्य और आगे बढ़ाकर भागवत-धर्मके रथको एक कदम और आगे बढ़ानेका यश भगवान् तुकारामजीको दिलाना चाहते थे। इसी प्रसङ्गको अब देखें।

३ देहूसे निर्वासन!

रामेश्वर भट्टको तुकारामजीके भागवत-धर्मके सिद्धान्त अस्वीकृत हुए। पर इन सिद्धान्तोंके विरोधका जो सीधा रास्ता हो सकता था उस रास्तेको छोड़कर यह टेढ़े रास्ते चलने लगे। उन्होंने सोचा यह कि देहूमें यह व्यक्ति कीर्तन करता है और अपना रङ्ग जमाता है और यहीं इसके विठ्ठलदेवका भी मन्दिर है, यही जड़ है। इसलिये यही अच्छा होगा कि यहींसे इसको जिस तरहसे हो भगा दो, ऐसा कर दो कि यहाँ यह रहने ही न पावे। महीपतिबाबा भक्तलीलामृत अध्याय ३५ मे कहते हैं—

'मनमें ऐसा विचारकर गाँवके हाकिमसे जाकर कहा कि तुका शूद्र जातिका है और शूद्र होकर श्रुतिका रहस्य बताया करता है। हरि-

---

* मनुस्मृति अध्याय २ श्लोक २३८–२४१ देखिये। मनुका यह वचन है कि विद्या, रत्न, धर्म, शिल्पज्ञान 'समादेयानि सर्वतः' जहाँसे भी मिले, ग्रहण करे।

कीर्तन करके इसने भोले-भाले अज्ञान लोगोंपर जादू डाला है। आदरपूर्वक उसको नमस्कार करने लगे हैं। यह बात तो हमलोगोंके लिये अपमानजनक है। सब धर्मोंको इसने उठा दिया है और केवल नामकी महिमा बताया करता है। लोगोंमें इसने ऐसा भक्ति-पन्थ चलाया है कि भक्ति-शक्ति कर्मको केवल पाखण्ड मान पड़ता है।

देहूके ग्रामाधिकारीको रामेश्वर भट्टने चिट्ठी लिखी कि तुकारामको देहूसे निकाल दो। ग्रामाधिकारीने वह चिट्ठी तुकारामजीको पढ़ सुनायी तब वह बड़ी मुसीबतमें पड़े। उस समयके उनके उद्गार हैं—

'क्या करूँ अब कहाँ जाऊँ! गाँवमें रहूँ किसके भरोसे! पाटील नाराज गाँवके लोग भी नाराज! अब भीख मुझे कौन देगा! कहते हैं अब यह उच्छृङ्खल हो गया है मनमानी करता है। हाकिमने भी यही फैसला कर डाला भले आदमीने जाकर शिकायत की आखिर मुझ दुर्बलको ही मार डाला। तुका कहता है ऐसोंका संग अच्छा नहीं चलो अब विठ्ठलको ढूँढ़ते चल चलें।'

४ अभंगोंकी बहियाँ दहमें!

तुकारामजी वहाँसे चले तो सीधे वाघोली पहुँचे। वहाँ रामेश्वर भट्ट रहा करते थे। इस समय रामेश्वर भट्ट स्नान करके सन्ध्या-पूजामें बैठे थे। तुकारामजी उनके समीप गये और उन्हें दण्डवत् किया और बड़े प्रेमसे भगवान्‌का नामोच्चार करके हरिकीर्तन करने लगे। कीर्तन करते हुए उनके मुखसे धाराप्रवाह अभंगवाणी निकलती जाती थी। उसके प्रतापकी बात क्या कही जाय! वह प्रासादिक निर्मल और अभंग

'भला आदमी' यहाँ तुकारामजीने रामेश्वर भट्टको कहा है यह वचन साधारण-सीधापन है। इसमें एक तीव्र-व्यङ्ग्य भी है सो स्पष्ट है।

इन्द्रायणीका दह और सोमनाथ

वाणी सुनकर रामेश्वर भट्ट बोले 'तुम बड़ा अनर्थ कर रहे हो ! तुम्हारे अभंगोंसे श्रुतिका अर्थ प्रकट होता है और तुम हो शूद्र ! इसलिये ऐसी वाणी बोलनेका तुम्हें कोई अधिकार नहीं है। यह तुम्हारा काम शास्त्रके विरुद्ध है, श्रोता-वक्ता दोनोंको नरक देनेवाला है। आजसे ऐसी वाणी बोलना तुम छोड़ दो।'

इसपर तुकारामजीने कहा—पाण्डुरङ्गकी 'आज्ञासे मैं ऐसी बानियाँ बोलता रहा हूँ। यह वाणी व्यर्थ ही खर्च हुई। आप ब्राह्मण ईश्वर-मूर्ति हैं। आपकी आज्ञासे अब मैं कविता करना छोड़ दूँगा पर अबतक जो अभंग रचे गये उनका क्या करूँ ?'

रामेश्वर भट्टने कहा—'तुम अपने अभंगोंकी सब बहियाँ जलमें ले जाकर डुबा दो।'

तुकारामजीने कहा—'आपकी आज्ञा शिरोधार्य है।'

यह कहकर तुकारामजी देहू लौट आये और अभंगोंकी सब बहियोंको पत्थरोंमें बाँधकर और ऊपरसे रुमाल लपेटकर इन्द्रायणीके किनारे गये और बहियोंको दहमें डाल दिया ! अभंगोंकी बहियोंके इस तरह डुबाये जानेकी वार्ता कानों कानों चारों ओर तुरत फैल गयी। भक्तजनोंको इससे बड़ा दुःख हुआ और कुटिल खल-निन्दक इससे बड़े सुखी हुए, मानो उन्हें कोई बड़ी सम्पत्ति मिल गयी हो। दूसरोंका कुछ भी हीनत्व देखकर जिनकी जीभ निन्दा करनेके जोशमें आ जाती है, ऐसे लोग तुकारामजीके पास आकर उनका तरह-तरहसे उपहास करने लगे। कहने लगे—'पहले भाईसे लड़कर सब बही-खाता डुबाया और अब रामेश्वर भट्टसे भिड़कर अभग डुबा दिये। दोनों तरफ अपनी फजीहत ही करायी ! और कोई होता तो ऐसी हालतमें किसीको फिर अपना मुँह न दिखाता, चुल्लूभर पानीमें डूब मरता।' ऐसी-ऐसी बातें

सुनकर तुकारामका हृदय दो टूक हो गया। *मन-ही-मन उन्होंने नाना* प्रकारके तर्क किये। लोग तो ठीक ही कहते हैं। प्रपञ्चके लिये मैं तो नालायक था ही, भाग्यने मुझे उसमेंसे बाहर निकाल भगाया। इसलिये प्रपञ्चमें जो कुछ मेरी नाम-हँसाई हुई हो उससे मुझे क्या? प्रपञ्च है ही ऐसा। पर इतना सब करके भी यदि भगवान् नहीं मिले, इन भावुकोंका निवारण यदि उन्होंने नहीं किया, दुर्जनोंके मुँह बंद नहीं किये और अपने भक्तवत्सल होनेके विरदकी लाज नहीं रखी तो भी करके भी क्या होगा? इसलिये भगवान्‌के ही चरणोंमें अन्न-जल छोड़कर चरण-चिन्तन करता पड़ा रहूँ, यही *उचित है। आगे उन्हें जो पसन्द हो करेंगे।* इस प्रकार विचार करके तुकारामजी श्रीविठ्ठल-मन्दिरके सामने तुलसीके पेड़के समीप एक शिलापर तेरह दिन अन्न-जल त्यागे भगवत्-चिन्तनमें पड़े रहे।

५ उस अवसरके उन्नीस अभङ्ग

शिलापर स्थित हुए उनके मुखसे उन्नीस अभंग निकले। उस समयकी उनकी मनःस्थिति इन अभंगोंमें अच्छी तरहसे प्रतिबिम्बित हुई है—

हमें भूल क्यों गये तो भगवन्! बड़े आश्चर्यकी बात है। भक्तिकी यह परिसीमा हुई जो लोगोंकी बस्ती कायम हो गयी! समर्पण किया तो उसका फल यह मिला कि छटपटाहट ही पल्ले पड़ी! तुम्हें कहता हूँ भगवन्! अब समझमें आया कि मेरी सेवा कितनी निरर्थक थी।

हे भगवन्! भूतमात्रमें भगवद्भाव रखते हुए, किसी भी प्राणीसे ईर्ष्या-द्वेष न करके, भूतपति भगवन्! आपका ही सदा चिन्तन करते रहनेपर भी (हमारे ऊपर भूत आवें) हमें पीड़ा पहुँचावें यह बड़े आश्चर्यकी बात है। हमने आजतक आपकी जो भक्ति की उसकी अच्छी यही परिसीमा हुई कि हमारे अंदर ऐसे रोग आकर बस गये कि रोम

उनके कारण निन्दा और द्वेष करने लगे। एकादशी और हरि-कीर्तनके आजतक जो जागरण किये उनका यह फल हाथ लगा कि चित्त छटपटाने लगा। पर आपको मैं क्या दोष दूँ, मुझसे सेवा ही कुछ न बन पड़ी।

'सम्पूर्ण जीव-भाव जबतक तुम्हारी सेवामें समर्पित नहीं करता हूँ तबतक तुम्हारा क्या दोष ?

'अब, या तो तुम्हें जोड़ूँगा या इस जीवनको छोड़ूँगा।'

अब फैसलेका दिन आया है, मैं कविता करूँ या न करूँ, लोगोंको कुछ बताऊँ या न बताऊँ, यह सब तुम्हें स्वीकार है या अस्वीकार, इसका फैसला अब तुम्हीं करनेवाले हो। बरबस तो कविता मैं नहीं करूँगा। तुम कहो तो तुम्हारी ही आज्ञासे तुम्हारे लिये ही कविता करूँगा। 'तुका कहता है, अब मुझसे नहीं रहा जाता!' तुम सुनो, इसलिये तो मैं कविता करता रहा। तुम नहीं सुनते तो शब्दोंका यह भूसा मैं किसलिये व्यर्थ पछोरूँ ? अब तो यही करूँगा कि एक ही जगह बैठा रहूँगा, तुम स्वय आकर उठाओगे तब उठूँगा। तुम्हारे दर्शनोंके लिये बहुत उपाय किये! अब और कबतक प्रतीक्षा करूँ ? आशाका तो अन्त हो चला। अब इस पार या उस पार, जो करना हो कर डालो। भगवन्! मेरे ये शब्द आपको अच्छे नहीं लगते। तो अब किसलिये जीभ चलाता फिरूँ ? 'शब्दोंमें जब तुम्हारी रुचि नहीं तब तुकाके लिये इनका उपयोग ही क्या रहा ? तुम मिलो, यही तो मेरा सत्यसङ्कल्प है, इसे पूरा न करके प्रसन्नताकी जरा-सी झलक दिखाकर छिप जाते हो। यही आजतक करते रहे हो। अब ऐसा करो कि—

'तुम प्रसन्न होओ! इसीलिये ये कष्ट उठाये। अभग रचकर तुम्हारी प्रार्थना की। पर उन सब शब्दोंको तुमने व्यर्थ कर दिया।

अब मुझे यह अभय-दान दो कि मेरा शब्द नीचे धरतीपर न गिरे—वह व्यर्थ न हो। अब दर्शन दो और प्रेम-संलाप होने दो।'

तुम्हारे प्रेमका शब्द सुननेके लिये मैं कान लगाये बैठा हूँ। और सब छन्द छोड़कर मैंने अब तुम्हारा ही छन्द पकड़ा है। तुम उदार हो भक्तवत्सल हो, तुम्हारे इन सब गुणोंका डंका बजानेकी ही दूकान मैंने खोल रखी है, पर तुम्हीं अब मुझसे घृणा करते हो तब तो मुझे अपनी दूकान उठा ही देनी पड़ेगी। अकेले एक जीवका उद्धार तो तुम्हारे नामसे हो ही जायगा पर इन सब लोगोंका उद्धार हो इसीलिये तो मैंने यह फैलाव फैला रखा है। मैं अपने कर्मोंसे थका नहीं हूँ, पर मस्तकपर आये हुए संकटका तुम नहीं निवारण करोगे तो तुम्हारे नामकी लाज नहीं रह जायगी, तुम्हारी निन्दा होगी और उसे मैं नहीं सुन सकूँगा।

तुम्हारी और तुम्हारे नामकी दुनियामें हँसी न हो और तुम्हारे प्रति लोगोंकी श्रद्धा न घटे, बस इतना ही—इतना ही तो—मैं चाहता हूँ। 'कुछ माँगना तो हमारे लिये अनुचित है। माँगना तो हमारी कुल-रीति ही नहीं है। पहले भी अनेक ज्ञानी भक्त हो गये हैं। उन्होंने निष्काम भजनका सुन्दर आदर्श सामने रख दिया है। उसे मैं देख रहा हूँ। उसीको देखकर चल रहा हूँ इसलिये मैं कुछ माँगता नहीं हूँ वेदादि सब उपाधियोंको तुच्छ करके मुखको आपकी सेवामें लगा दिया है।' तुका कहता है 'इस देहको बाँटकर (छत्तीस तत्त्वोंकी देहको उन उन तत्त्वोंमें बाँटकर) मैं अलग हो गया हूँ और केवल उपकारके लिये रह गया हूँ।

आपके नाम और रूपादिमें कोई बट्टा न लगे और आपके प्रति लोगोंकी श्रद्धा बढ़े इसीलिये आपसे यह प्रार्थना है कि आप प्रकट होकर दर्शन दें और मेरी कवितापर जो आपत्ति आयी है उससे उसकी रक्षा

करें । आपको मैं इतना कष्ट दूँ, क्या यह अधिकार मेरा नहीं है ? मैं क्या आपका दास नहीं हूँ ?'

'हे पण्ढरीश ! यह विचारकर बताइये कि मैं आपका दास कैसे नहीं हूँ ? बताइये, प्रपञ्चकी होली मैंने किसके लिये जलायी ? इन पैरोंको छोड़कर और भी कोई चीज मेरे लिये थी ? सत्यता है, पर धैर्य नहीं है तो वहाँ आपको धीरज बँधाना चाहिये । उलटे बीजको ऐसे नहीं जलाना चाहिये कि वह जमे ही नहीं । तुका कहता है, मेरे लिये इह-परलोक और कुल-गोत्र तुम्हारे चरणोंके सिवा और कुछ भी नहीं है ।'

तुम्हारे चरणोंमें ऐसी अनन्य प्रीति रखते हुए भी 'मुझे देशनिकाला मिले, क्या यह उचित है ?' बच्चोंका भार तो माताके ही सिरपर होता है । क्या माता अपने बच्चेको कभी अपने पाससे दूर करती है ? इसलिये मेरे माँ-बाप श्रीपाण्डुरङ्ग ! 'अब दर्शन देकर मेरे जीको ठण्डा करो । मैं तुम्हारा कहाता हूँ, पर इस कहानेकी कोई पहचान मेरे पास नहीं है ।' इसीसे मेरी नाम हँसाई होती है । इसीसे मेरी समझमें यह नहीं आता कि 'तुम्हारी स्तुति भी किससे और कैसे करूँ, तुम्हारी कीर्ति भी कैसे सुनाऊँ ।' कारण, इसकी पहचान ही कुछ नहीं कि मैं जो कुछ कहता हूँ, वह सत्य है । आजतक जो कुछ बकवाद की वह सब व्यर्थ हो गयी । 'शब्द मुँहसे निकला और आकाशमें मिल गया' यह देख मैं चकित हो गया हूँ । मेरा चित्त तो तुम्हारे चरणोंमें है, इसलिये भगवन् ! आओ और ऐसे दर्शन दो कि भव-बन्धकी ग्रन्थि खुल जाय ।

'तुम्हारे रूपने चित्तको वशमें कर लिया है । चित्त अब निश्चिन्त होकर तुम्हारे ही चरणोंमें है । भगवन् ! तुम अशेष सुन्दर हो । तुम्हारा मुख देखनेसे दुःखसे भेंट नहीं होती, इन्द्रियोंको विश्रान्ति मिलती है ।

तुमसे अलग होकर भटकनेवालोंको पीड़ा होती है। इसलिये भगवन्! मुझे दर्शन दो जिससे भवबन्धकी ग्रन्थि खुल जाय।

इस प्रकार श्रीपाण्डुरङ्ग भगवान्के साक्षात् दर्शनोंकी लालसा लगाये तुकारामजी देहूमें श्रीपाण्डुरङ्ग-मन्दिरके सामने उस शिलापर चिन्तन करते हुए, आँखें बंद किये तेरह दिन पड़े रहे। इन तेरह दिनोंमें उन्हें अन्न-जलकी सुध भी नहीं रही। हृदयमें श्रीपाण्डुरङ्गका मङ्गलमय ध्यान बालक ध्रुवके समान जम गया था।

६ भट्टजीपर दैवी कोप

उधर वाघोलीमें भट्ट रामेश्वरजीपर दैवी कोप हुआ। भगवान्का कुछ ऐसा स्वभाव है कि उनसे कोई द्वेष करे तो उसे वह सह ले सकते हैं पर अपने भक्तका द्रोह उनसे नहीं सहा जाता। कंस-रावणादि हरि-द्रोही अन्तमें मुक्ति पा गये पर भक्तका द्रोह करनेवाला यदि समय रहते सावधान होकर पश्चात्तापको न प्राप्त हो और उसी भक्तकी शरण न ले तो वह निश्चय ही नरकगामी होता है। सब प्राणियोंके हितमें रत रहनेवाले मन-वच-कर्मसे सबका हित साधनेवाले महात्माओंका अन्तःकरण उनके अन्दर व्यापे रहता है। इस कारण उन्हें कष्ट हुआ तब भूतपति भगवान्को ही जाकर लगता है और उससे क्षोभ होता है। इसलिये साधु-द्वेषके समान कोई पाप नहीं। रामेश्वर भट्ट वाघोलीसे पूनेमें नागनाथके दर्शन करने चले। नागनाथ बड़े जाग्रत् देवता हैं और रामेश्वर भट्टकी उनमें बड़ी श्रद्धा थी। रास्तेमें ही एक स्थानमें अनगढ़शाह नामक कोई औलिया रहते थे। उन्होंने अपने बगीचेमें एक बावली बनवायी थी। यह बावली और अनगढ़शाहका तकिया अब भी वहाँ मौजूद हैं। ज्यों ही इस बावलीमें रामेश्वर भट्ट नहाये त्यों ही उनके सारे शरीरमें जलन होने लगी। किसीने कहा कि यह उस पीरका कोप है और किसीने कहा कि तुकारामजीसे द्वेष

तुलसीवन और शिला

पास पूर्व भंडारपर पड़ा । वह तेरह दिन लगातार अन्न-जल त्याग और प्राणोंकी ओर परवा न कर भगवन्मिलनकी परम उत्कण्ठासे प्रतीक्षा करते हुए उस शिलापर आँखें बंद किये पड़े रहे । अब भगवान्‌के लिये प्रकट होनेके सिवा और उपाय नहीं था । भक्तिकी यथार्थकी परीक्षा होनेको थी; तुकारामजीकी भक्ति कसौटीपर कसी जानेको थी; भगवान्‌की यह प्रतिज्ञा कि 'तब मैं अपनोंका पक्ष लेकर साकार होकर उतर आता हूँ' (ज्ञानेश्वरी ४–५१) संसारको सत्य करके दिखायी जानेको थी; और तो क्या, स्वयं भगवान्‌के ही भगवान्‌पनेकी परीक्षा होनेको थी । वेद, शास्त्र, पुराण सन्त-वचन और भक्तचरित्रकी लाज रखना भगवान्‌के लिये अनिवार्य होनेसे भगवान् सगुण-साकार होकर इस समय तुकारामजीके सामने प्रकट हुए । तुकारामजीको उन्होंने दर्शन दिये और दहमें फेंकी हुई बहियोंको उबारा । फिर एक बार, बार-बार सिद्ध हुई यह बात प्रत्यक्ष हुई कि भक्त-कार्यके लिये भगवान् अपने अजत्वको हटाकर गुण और आकारसे आकर भक्तोंसे मिलते हैं । संसार बड़ा संशयी है । तुकारामजीके इस आपत्कालमें भी यदि भगवान् प्रकट होकर तुकारामजीको न सम्हाल लेते तो भी तुकारामजीकी निष्ठा विचलित न होती पर लोगोंको भगवान्‌को तो कोई प्रमाण न मिलता । देहूमें तुकोबाराय तेरह दिन शिलापर पड़े रहे, उन्हें दर्शन देकर भगवान्‌ने उनका सङ्कट हरण किया । तुकारामजी अपनी भक्तिके प्रतापसे त्रिलोकीनाथको खींच लाये और उस निराकारसे उन्होंने आकार धारण कराया । 'भगवान्‌से रूप और आकार धारण कराऊँगा निराकार न होने दूँगा' यह जो उनकी असीम भक्तिकी सामर्थ्य का उद्गार है इसकी प्रतीति संसारको कराने का जब समय उपस्थित हुआ तब श्रीहरिने बालवेष धारणकर उन्हें दर्शन दिये और आलिङ्गन देकर उनका पूर्ण समाधान किया । तुकारामजीको भगवान्‌के साक्षात् दर्शन प्राप्त हुए, सगुण-साक्षात्कार हुआ । उस समय भगवान्‌ने उनसे कहा

प्रह्लादकी जैसे मैंने बार-बार रक्षा की वैसे नित्य ही तुम्हारी पीठके पीछे खड़ा हूँ और जलमें भी तुम्हारे अभगोंकी बहियोंको मैंने बचाया है। भगवानके श्रीमुखसे निकली यह वाणी सुनकर तुकारामजी सन्तुष्ट हुए और भगवान् भी भक्तके हृदयमें अन्तर्धान हो गये। इस समय बाहरसे देखते हुए तुकारामजीका शरीर मृतप्राय हो गया था, श्वासोच्छ्वासकी गति मन्द हो गयी थी, हिलना-डोलना बंद हो गया था। कुटिल-खल-कामियोंने समझा कि सब खतम हो गया, पर भक्तोंको उनके चेहरेपर अपूर्व तेज दिखायी दे रहा था और मध्यमा वाणीसे नामस्मरण होते रहनेकी मन्द ध्वनि भी सुनायी दे रही थी। इस प्रकार तेरह दिन बीतने-पर गङ्गाराम मवाळ प्रभृति भक्तोंको चौदहवें दिन प्रातःकाल भगवान्ने स्वप्न दिया कि, 'अभगोंकी बहियाँ जलपर लहरा रही हैं उन्हें तुम जाकर ले आओ।' सब भक्तोंको बड़ा कुतूहल हुआ, वे दहकी ओर दौड़े गये और उन्होंने बहियोंको लौकीकी तरह जलपर तैरते हुए देखा! उनके आश्चर्य और आनन्दका ठिकाना न रहा। वे जोर-जोरसे 'राम कृष्ण हरि' नाम सङ्कीर्तन करते हुए दसों दिशाएँ गुँजाने लगे। दो-चार जने पानीमें कूदकर उन बहियोंको निकाल ले आये, इधर तुकारामजीने नेत्र खोले तो देखा कि भक्तजन दल बाँधे आनन्दमें बेसुध हुए श्रीहरि-विट्ठल नाम-सकीर्तन करते हुए चले आ रहे हैं। सर्वत्र आनन्द-ही-आनन्द छा गया। भक्तोंके आनन्दका वारापार नहीं रहा, कुटिल-खल-कामियोंके चेहरे काले पड़ गये। हवाके झोंकेके साथ कभी इधर, कभी उधर झोंका खानेवाले अधकचरोंकी चित्त वृत्तियाँ स्थिर और प्रसन्न हुईं। पाण्डुरङ्गका कौतुकी-पन यादकर तुकारामजीके हृदयमें वह प्रेमावेग न समा सका और उनके नेत्रोंसे प्रेमाश्रुधारा बहने लगी।

८ उस समयके सात अभंग

इस अवसरपर तुकारामजीके श्रीमुखसे अत्यन्त मधुर सात अभग

करनेका यह परिणाम है। रामेश्वर भट्टका सारा शरीर जैसे दग्ध होने लगा। ताप शमनके अनेक उपचार शिष्योंने किये, पर सब व्यर्थ। उनका शरीर उस असह्य तापसे जलने लगा। दुर्वासाने अम्बरीषको छला तब सुदर्शन चक्र उस मुनिके पीछे लगा और उनके होश उड़ गये। (भागवत ९।४।५) वही गति तुकारामजीको छलनेवाले रामेश्वर भट्ट-की हुई। 'साधुषु प्रहितं तेजो प्रहर्तुं कुरुतेऽशिवम्' साधु पुरुषको हतप्रभ करके उसपर अपना रंग जमाने, रोब गाँठनेवालेका अकल्याण ही होता है। यही न्याय अम्बरीषके आख्यानमें भगवान्‌ने अपने श्रीमुखसे कथन किया है। भगवान्‌ने फिर यह भी कहा है कि—

तपो विद्या च विप्राणां निःश्रेयसकरे उभे।
ते एव दुर्विनीतस्य कल्पेते कर्तुरन्यथा ॥ ७० ॥

तप और विद्या दोनों साधन ब्राह्मणोंके लिये श्रेयस्कर हैं, पर ब्राह्मण यदि दुर्विनीत हो तो ये उलटा ही फल देते हैं। अर्थात् अधोगतिको प्राप्त कराते हैं। दुर्विनीत ब्राह्मण तपस्वी होकर भी कैसे सङ्कटमें पड़ जाता है यह दुर्वासाके दृष्टान्तसे मालूम हो जाता है और दुर्विनीत ब्राह्मण विद्वान् होकर कैसी आफतमें पड़ता है यह रामेश्वर भट्टके उदाहरणसे स्पष्ट हो जाता है। सब उपचार करके भी जब दाह शान्त नहीं हुआ तब रामेश्वर भट्ट आलन्दीमें जाकर ज्ञानेश्वर महाराजका जप करने लगे।

७ सगुण-साक्षात्कार, बहियोंका उद्धार

रामेश्वर भट्टकी दुष्टताके कारण तुकारामजीपर देशनिकालेकी नौबत आ गयी, अपने श्रीविट्ठल-मन्दिर और श्रीविट्ठल-मूर्तिसे बिछुड़नेका समय आ गया! प्रपञ्च और परमार्थ दोनोंसे ही रहे! इस कारण लोगोंकी बातें सुनने और आजतक किये हुए कीर्तनों और रचे हुए अभंगोंपर पानी फिरनेका अवसर आ गया! तब उनके वैराग्य और भगवत्प्रेमका

पारा पूर्ण अधपर भवा। वह तेरह दिन लगातार अन्न-जल त्याग और प्राणोंकी कोई परवा न कर भगवन्मिलनकी परम उत्कण्ठासे प्रतीक्षा करते हुए उस शिलापर आँखें बंद किये पड़े रहे। अब भगवान्‌के लिये प्रकट होनेके सिवा और उपाय नहीं था। भक्तिकी सच्चाईकी परीक्षा हानेकी थी; तुकारामजीकी भक्ति कसौटीपर कसी जानेको थी। भगवान्‌की यह प्रतिज्ञा कि 'जब मैं अपनोंका पक्ष लेकर साकार होकर उतर आता हूँ' (ज्ञानेश्वरी ४–५१) संसारको सत्य करके दिखायी जानेको थी; और तो क्या स्वयं भगवान्‌के ही भगवान्‌पनेकी परीक्षा होनेको थी। वेद शास्त्र, पुराण सत्-वचन और भक्तचरित्रकी लाज रखना भगवान्‌के लिये अनिवार्य होनेसे भगवान् सगुण-साकार होकर इस समय तुकारामजीके सामने प्रकट हुए। तुकारामजीको उन्होंने दर्शन दिये और हाथमें पोथी हुई बहियोंको उबारा। फिर एक बार, बार-बार सिद्ध हुई यह बात प्रत्यक्ष हुई कि भक्त-कार्यके लिये भगवान् अपने भक्तको हटाकर गुण और आकारको लाकर भक्तोंसे मिलते हैं। संसार बड़ा स्वार्थी है। तुकारामजीके इस आत्मत्यागमें भी यदि भगवान् प्रकट होकर तुकारामजीको न सम्हाल लेते तो भी तुकारामजीकी निष्ठा विचलित न होती पर लोगोंको समझानेका कोई प्रमाण न मिलता। देहूमें तुकारामके तेरह दिन शिलापर पड़े रहे उन्हें दर्शन देकर भगवान्‌ने उनका संकट हरण किया। तुकारामजी अपनी भक्तिके प्रतापसे निराकारनाथको खींच लाये और उस निराकारसे उन्होंने आकार धारण कराया। 'भगवान्‌से रूप और आकार धारण करवाऊँगा निराकार न होने दूँगा' यह जो उनकी असीम भक्तिकी सामर्थ्य का उद्गार है इसकी प्रतीति संसारको करानेका अब समय उपस्थित हुआ तब श्रीहरिने बालरूप धारणकर उन्हें दर्शन दिये और आलिङ्गन देकर उनका पूर्ण समाधान किया। तुकारामजीको भगवान्‌के साक्षात् दर्शन प्राप्त हुए, साधन-सफलताका लाभ हुआ। उस समय भगवान्‌ने उनसे कहा

प्रह्लादकी जैसे मैंने बार-बार रक्षा की वैसे नित्य ही तुम्हारी पीठके पीछे खड़ा हूँ और जलमें भी तुम्हारे अभगोंकी बहियोंको मैंने बचाया है। भगवानके श्रीमुखसे निकली यह वाणी सुनकर तुकारामजी सन्तुष्ट हुए और भगवान् भी भक्तके हृदयमें अन्तर्द्धान हो गये। इस समय बाहरसे देखते हुए तुकारामजीका शरीर मृतप्राय हो गया था, श्वासोच्छ्वासकी गति मन्द हो गयी थी, हिलना-डोलना बद हो गया था। कुटिल-खल-कामियोंने समझा कि सब खतम हो गया, पर भक्तोंको उनके चेहरेपर अपूर्व तेज दिखायी दे रहा था और मध्यमा वाणीसे नामस्मरण होते रहनेकी मन्द ध्वनि भी सुनायी दे रही थी। इस प्रकार तेरह दिन बीतनेपर गङ्गाराम मवाळ प्रभृति भक्तोंको चौदहवें दिन प्रातःकाल भगवान्ने स्वप्न दिया कि, 'अभगोंकी बहियाँ जलपर लहरा रही हैं उन्हें तुम जाकर ले आओ।' सब भक्तोंको बड़ा कुतूहल हुआ, वे दहकी ओर दौड़े गये और उन्होंने बहियोंको लौकीकी तरह जलपर तैरते हुए देखा। उनके आश्चर्य और आनन्दका ठिकाना न रहा। वे जोर-जोरसे 'राम कृष्ण हरि' नाम-सङ्कीर्तन करते हुए दसों दिशाएँ गुँजाने लगे। दो-चार जने पानीमें कूदकर उन बहियोंको निकाल ले आये, इधर तुकारामजीने नेत्र खोले तो देखा कि भक्तजन दल बाँधे आनन्दमें बेसुध हुए श्रीहरि-विट्ठल-नाम-सकीर्तन करते हुए चले आ रहे हैं। सर्वत्र आनन्द-ही-आनन्द छा गया। भक्तोंके आनन्दका वारापार नहीं रहा, कुटिल-खल-कामियोंके चेहरे काले पड़ गये। हवाके झोंकेके साथ कभी इधर, कभी उधर झोंका खानेवाले अधकचरोंकी चित्त-वृत्तियाँ स्थिर और प्रसन्न हुईं। पाण्डुरङ्गका कौतुकीपन यादकर तुकारामजीके हृदयमें वह प्रेमावेग न समा सका और उनके नेत्रोंसे प्रेमाश्रुधारा बहने लगी।

८ उस समयके सात अभंग

इस अवसरपर तुकारामजीके श्रीमुखसे अत्यन्त मधुर सात अभग

भार रखना कैसा होता है, मैं क्या जानूँ। यह जो कुछ हुआ अनुचित ही हुआ, पर तुका कहता है, अब आगेकी सुध लो।

(४)

मैं पापी तुम्हारा पार क्या जानूँ ? धीरज रखूँ तो तुम क्या न करोगे, मैं मतिमन्द हीनबुद्धि अधीर हो उठा, पर हे कृपानिधे! तुमने फटकार बताकर मुझे अलग नहीं कर दिया। तुम देवाधिदेव हो, सारे ब्रह्माण्डके जीवन हो, हम दासोंको दयाकी भिक्षा क्यों माँगनी पड़े ? तुका कहता है, हे विश्वम्भर। मैं सचमुच पतित ही हूँ जो यह दूसरा अन्याय किया कि तुम्हारे द्वारपर धरना देकर बैठ गया

(५)

मुझे कुछ ग्राहने नहीं पकड़ रखा था, न व्याघ्र ही पीठपर चढ बैठा था जो मैंने तुम्हारी पुकार मचाकर आकाश-पाताल एक कर डाला, दोनों जगह तुम्हें बँट जाना पड़ा, मेरे पास और देहमें भी, कहींसे अपने ऊपर चोट मैंने नहीं आने दी। माँ बाप भी इतना नहीं सहते, जरा से अन्यायपर ही मारे क्रोधके प्राणोंके ग्राहक बन जाते हैं। सहना सहज नहीं है। सहना तो तुम्हीं जानते हो। तुका कहता है, हे दयालो! तुम्हारे-जैसा दाता कोई नहीं। मैं क्या बखानूँ, मेरी वाणी आगे चलती नहीं।

(६)

तुम मातासे भी अधिक ममता रखनेवाले हो, चन्द्रमासे भी अधिक शीतल हो, जलसे भी अधिक तरल हो, प्रेमके आनन्दमय कल्लोल हो। हे पुरुषोत्तम! तुम्हारी उपमा तुम्हारे सिवा किस चीजसे दूँ ? मैं अपने आपेको तुम्हारे नामपर न्योछावर करता हूँ। तुमने अमृतको मीठा किया पर तुम उसके भी परे हो, पाँचों तत्त्वोंके उत्पन्न करनेवाले सबकी सत्ताके नायक हो। अब और कुछ न कहकर तुम्हारे चरणोंमें अपना मस्तक रखता हूँ। तुका कहता है, पण्ढरिनाथ! मेरे अपराध क्षमा करो।

(७)

मैं अपना क्रोध और अन्याय कहाँतक कहूँ ! विठ्ठल माई ! मुझे अपने चरणोंमें ले ले । यह संसार अब बस हुआ, कम बड़ा ही दुस्तर है—एक स्थानमें स्थिर नहीं रहने देता । बुद्धिकी अनेकों तरहें हैं, वे क्षण-क्षण अपना रंग बदलती हैं उनका नाश करते हैं तो वे बाधक बनती हैं । तुका कहता है अब मेरा चिन्ता-जाल काट डालो और हे पण्ढरिनाथ ! मेरे हृदयमें आकर अपना आसन जमाओ ।

प्रथम अभङ्गमें यह साफ ही कहा है कि श्रीकृष्णने बालरूपमें आकर प्रत्यक्ष दर्शन देकर आलिङ्गन किया ।

९ कथाका महत्त्व

इन सात अभंगामृत-कुम्भोंमें भरा हुआ प्रेमरस' महीपतिबाबा कहते हैं कि अनन्त मधुर है और भक्त उसे अखंड पान करते हैं ।' महीपतिबाबा आगे फिर यह भी बतलाते हैं कि भगवान्‌ने तुकारामजीके अभंगोंकी बहियोंको जलमें बचा लिया, यह बात देश-विदेशमें फैल गयी और इससे भूमण्डलमें तुकारामजी प्रख्यात हुए । महीपतिबाबाका यह कथन मार्मिक और विचारने योग्य है । यह बात यथार्थ ही इतनी बड़ी है कि उससे

तुकारामजी भगवद्भक्तके नाते दिग्दिगन्तमें विख्यात हुए । प्रत्येक महात्माके चरित्रमें एक-न-एक ऐसा महान् प्रसङ्ग होता है जिससे उस महात्माके सब सद्गुण उसमें आकर समुज्ज्वल होकर प्रकट होते हैं और वह अनन्य सम्मान-भाजन और भगवान्‌के निज-प्रेमका अधिकारी होता है । श्रीमच्छङ्कराचार्यने काशीमें रहकर सैकड़ों विद्वान् शिष्योंको अपने अद्वैत-सिद्धान्तका ज्ञान प्रदान किया परन्तु उनका जगद्गुरुत्व लोकमें तभी प्रसिद्ध हुआ और उनकी सत्कीर्ति-पताका दिङ्मण्डलमें तभी फहरायी जब मण्डन मिश्र-जैसे दिग्गजको बुद्धि कौशलसे शास्त्रार्थमें पराजयकर वह अपने

चरणोंमें ले आये । ज्ञानेश्वर महाराजने भैंसेसे वेद-मन्त्र कहलवाकर पैठणके विद्वानोंको चकित किया और जड़ भीतको चलाकर चाङ्गदेव-जैसे दीर्घायु तपःसिद्ध पुरुषको अपने चरणों लेटाया तभी सतमण्डलमें वह धर्मसस्थापकके नाते पूज्य हुए । शिवाजी महाराजने अनेक दुर्ग और रण जीते पर बाजी बदकर आये हुए महाप्रतापी अफजलखाँसे उन्होंने प्रतापगढपर नाकों चने चबवाये तभी स्वजनों और परजनोंपर भी उनकी धाक जमी और लोग उन्हें महापराक्रमी स्वराज्य-सस्थापक मानने लगे । इसी प्रकार तुकाराम महाराजकी भी बात है । रामेश्वर भट्टसे उनकी जो भिड़न्त हो गयी उससे रामेश्वर भट्ट-जैसा वेद-वेदान्त-वेत्ता, षट्शास्त्री और कर्मठ ब्राह्मण तुकाराम महाराजकी अलौकिक भक्ति सामर्थ्यको देखकर अन्तको उनकी शरणमें आ ही गया, और जिस सगुण-भक्तिका डका बजाते हुए उन्होंने सैकड़ों कीर्तन सुनाकर और सहस्रों अभग रचकर लोगोंको भक्ति-मार्गपर चलानेका कङ्कन हाथमें बाँधा था । उस सगुण-भक्तिके उत्कर्षके लिये भगवान्‌ने स्वय सगुणरूप धारणकर उनकी बहियाँ जलसे बचायीं और उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन देकर उनकी बाँह पकड़ ली । तभी उनकी और भागवतधर्मकी विजय हुई और भक्तोत्तम-मालिकामें तुकाराम महाराजका नाम सदाके लिये अमर हो गया ।

१० रामेश्वर भट्ट शरणागत

ज्ञानेश्वर महाराजकी चरण-सेवामे लगे हुए रामेश्वर भट्टको एक दिन रातको स्वप्न आया कि, 'महावैष्णव तुकारामसे तुमने द्वेष किया, इस कारण तुम्हारा सब पुण्य नष्ट हो गया है । सत-छलनके पापसे ही तुम्हारी देह जल रही है । इसलिये अन्त करणको निर्मल करके सद्भावसे तुकाराम-की ही शरणमें जाओ, इससे इस रोगसे ही नहीं, भवरोगसे भी मुक्त हो जाओगे ।' इसे ज्ञानेश्वर महाराजका ही आदेश जानकर रामेश्वर भट्ट अपने कियेपर बहुत पछताये । इसी बीच उन्हें यह वार्ता सुन पड़ी कि दहमें

फेंकी हुई अभंगकी बहियाँ जलसे भगवान्ने उबार लीं। तब तो उनके पश्चात्तापका कुछ ठिकाना ही न रहा। वह फूट-फूटकर रोने लगा। उनकी आँखें खुल गयीं और उनका सौभाग्य उदय हुआ। उनके चित्तमें यह बात जम गयी कि भक्तिके सामने वेदाध्ययन और पाण्डित्य कोई चीज नहीं है—नर-देहकी सार्थकता सत्संग करते हुए भगवान्का प्यार पानेमें ही है। उन्होंने यह जाना कि तुकाराम भगवान्के अत्यन्त प्रिय महान् विभूति हैं और यह जानकर उनका अहंकार चूर-चूर हो गया। भक्तका कार्य बनानेके लिये स्वयं भगवान् साकार होते हैं और हमारे पाण्डित्यमें इतनी भी सामर्थ्य नहीं कि भक्तके द्वारा होनेवाले दाहका शमन कर सकें। यह जानकर उनका अभिमान पानी-पानी हो गया। चित्तसे दुरभिमान जब चला गया तब रामेश्वर भट्ट जो पहले शुद्ध ही थे, और भी शुद्ध हो गये। तुकोबारायके प्रति उनके चित्तमें बड़ा आदरभाव जगा। तुकाराम महाराजकी शरणमें वह गये। एक पत्र लिखकर अपना सारा कच्चा चिट्ठा उन्होंने तुकाराम महाराजको निवेदन किया और गद्गद अन्तःकरणसे उनकी बड़ी स्तुति की। तुकारामजीने उसके उत्तरमें यह अभंग लिख भेजा—

चित्त शुद्ध तरी शत्रु मित्र होती । व्याघ्र हे न खाती सर्प तया ॥ १ ॥
विष तें अमृत आघात तें हित । अकर्तव्य नीत होय त्यासी ॥ ध्रु ॥
दुःख तें देईल सर्वसुखफळ । होती होती शीतळ अग्निज्वाळा ॥ २ ॥
आवडेल जीवां जीवाचिये परी । सकळां अंतरीं एक भाव ॥ ३ ॥
तुका म्हणे कृपा केली नारायणें । जाणिजेतें येणें अनुभवें ॥ ४ ॥

अपना चित्त शुद्ध हो तो शत्रु भी मित्र हो जाते हैं सिंह और साँप भी अपना हिंसा-भाव भूल जाते हैं। विष अमृत होता है आघात हित होता है दूसरोंके दुर्व्यवहार अपने लिये नीतिका बोध करानेवाले होते हैं। दुःख सर्वसुखस्वरूप फल देनेवाला बनता है आगकी लपट

ठण्डी ठण्डी हवा हो जाती है। जिसका चित्त शुद्ध है उसको सब जीव अपने जीवनके समान प्यार करते हैं, कारण, सबके अन्तरमें एक ही भाव है। तुका कहता है, मेरे अनुभवसे आप यह जानें कि नारायणने ऐसी ही आपदाओंमें मुझपर कृपा की।'

इस अभङ्गको रामेश्वर भट्टने पढा और फिर पढा, और खूब मनन किया। बात उन्हें जँच गयी। अनुतापसे दग्ध हुए उनके चित्तमें बोधका यह बीज जमा। उनके शरीर और मनका ताप भी उससे शमन हुआ। रामेश्वर भट्ट अब वह रामेश्वर भट्ट न रहे। वह तुकाराम महाराजके चरणोंमें लीन हो गये। अब रामेश्वर भट्ट तुकारामजीके साथ ही निरन्तर रहना चाहते हैं और उस अजातशत्रु महात्माको यह मजूर है। इस प्रकार तुकारामजीका विरोध करने चले हुए रामेश्वर भट्ट उनके शिष्य बन गये। तुकारामजी पारस थे। लोहा पारसपर आघात ही करे तो इससे पारसको क्या? आघात करनेवाला लोहा भी पारसके स्पर्शमात्रसे सोना हो जाता है। तुकारामजीके स्पर्शसे रामेश्वर भट्टकी कायापलट हो गयी।

११ रामेश्वर भट्टके चार अभङ्ग

रामेश्वर भट्टके चार अभङ्ग प्रसिद्ध हैं जो उन्होंने तुकाराम महाराजके सम्बन्धमें कहे हैं। कहते हैं, 'मुझे तो इसका खूब अनुभव हुआ कि मैंने जो उनका द्वेष किया उससे शरीरमें व्याधि उत्पन्न हुई, बड़ा कष्ट पाया और जगमें हँसी भी हुई।' यह कहकर आगे बतलाते हैं कि किस प्रकार ज्ञानेश्वर महाराजने स्वप्न दिया और उसके अनुसार मैं उनकी शरणमें आ गया हूँ। और तबसे मैं नित्य उनका कीर्तन सुनता हूँ। 'उनकी कृपासे मेरा शरीर नीरोग हो गया।' अपने दूसरे अभङ्गमें रामेश्वर भट्ट यह बतलाते हैं कि भक्तकी जाति पाँति कोई न पूछे, भक्त किसी भी वर्णका हो, उसके पैर छूनेमें कोई दोष नहीं। गुरु परब्रह्म हैं, उन्हें

मनुष्य मानना ही न चाहिये—कारण, जो श्रीरङ्गके नामरंगमें रँग गये वे श्रीरंग ही हैं।

> उंचनीच कोण म्हणावा कोणी। जे का नारायणी प्रिय झाले ॥ १ ॥
> चहूं वर्णासी हा असे अधिकार। करितां नमस्कार दोष नाहीं ॥ २ ॥

'जो कोई नारायणके प्रिय हो गये उनका उत्तम या कनिष्ठ वर्ण क्या! चारों वर्णोंका यह अधिकार है, उन्हें नमस्कार करनेमें कोई दोष नहीं।'

यह स्तोत्रोक्ति थी है वेदवेदान्तपारग श्रीरामेश्वर भट्टने, जिन्होंने अपने अनुभवसे श्रीतुकाराम महाराजकी अन्तरंग झाँकी देखी। दूसरे अभङ्गमें उन्होंने तुकाराम महाराजकी महत्ता बखानी है। यह तुकाराम कौन हैं? 'ब्रह्मानन्द-कन्दसे ब्रह्म पुरुष बने हुए तुकाराम हैं, विश्व-सखा हैं; वह विश्व-सखा ही विश्वमें यह क्रीडा कर रहे हैं।' 'विश्व-सखा' कहकर रामेश्वर भट्टने उनकी लोकप्रियता भी सूचित की है। फिर यह कहा है कि धर्मको क्षयरोग लगा था, उसे इस धन्वन्तरिने दूर किया। तुकारामजीका आचरण देखकर रामेश्वर भट्ट कहते हैं, 'हे महाराज! शास्त्र और शिष्टाचारका इसमें कहीं भी विरोध नहीं है।

तुकाराम महाराजने रामेश्वर भट्टके कथनानुसार, अद्वैतस्वभावसे भक्तिका विस्तार किया अर्थात् अद्वैत-सिद्धान्तको पक्के रखकर भक्तिका स्रोत बहाया। देव-द्विजोंकी सर्वभावसे पूजा की'—देवताओं और ब्राह्मणों की भक्ति-भावसे सेवा की ... उसीसे उन्होंने निवाह रखा, भगवान्की मूर्ति अपनी देहमें ही खड़ी की उसकी प्राणप्रतिष्ठा की। संसारका अज्ञानतिमिर नष्ट करनेके लिये संतरूप भट्ट-मण्डलमें तुकाराम सूर्य ही उदीयमान हुए। इत्यादि प्रकारसे रामेश्वर भट्टने इस अभङ्गमें तुकाराम महाराजकी स्तुति की है और यह पश्चात्ताप किया है कि देहबुद्धिके कारण

तथा वर्णाभिमानसे' मैंने आपको नहीं जाना और बड़ा कष्ट पहुँचाया, पर आप दयाघन हैं, मुझे शरण दीजिये, अब मेरी उपेक्षा मत कीजिये। पश्चात्तापपूर्वक ऐसी विनय करते हुए अभङ्गके अन्तिम चरणमें अपने आराध्यदेव श्रीरामचन्द्रसे यह प्रार्थना की है कि, 'इन चरणोंमें मेरी ओरसे बुद्धिका कोई व्यभिचार न हो' अर्थात् महाराजके चरणोंके प्रति मेरे अन्तःकरणमें जो यह निर्मल भाव उत्पन्न हुआ है वह कभी मलिन न हो।

रामेश्वर भट्ट इस प्रकार रूपान्तरित हो गये। रामेश्वर भट्ट विद्वान् कर्मनिष्ठ ब्राह्मण थे। पर तुकाराम महाराजके सामने उनके ज्ञान, कर्म हाथ जोड़कर खड़े हो गये और चित्त श्रीतुकारामजीके चरणोंमें लीन हो गया। रामेश्वर भट्ट हाथमें करताल लिये तुकारामजीके पीछे खड़े होकर नाम-सकीर्तनमें उनका साथ देनेमें ही अपना अहोभाग्य समझने लगे। रामेश्वर भट्ट स्वभावसे तो शुद्ध ही थे, बीचमें अहङ्कारसे उनकी बुद्धि मलिन हो गयी थी। गुरुके दर्शनोंसे उनकी मैल कट गयी और उनके नेत्र खुले।

रामेश्वर भट्टका चौथा अभङ्ग तुकाराम महाराजके सदेह वैकुण्ठ-गमनके बादका है। रामेश्वर भट्टने श्रीतुकाराम महाराजके चरण जो एक बार पकड़ लिये, फिर उन्होंने उन्हें कभी न छोड़ा। दस-पद्रह वर्ष तुकारामजीके सङ्ग रहे। इतने दीर्घकालतक ऐसा अपूर्व सत्सङ्ग-लाभ करनेके पश्चात् ही उनका चौथा अभङ्ग बना है। तुकारामजीकी वाणीको उन्होंने मुँह भरकर 'अमृत' कहा है। और इस अमृतकी नित्य 'वर्षा' का अनुभवानन्द व्यक्त किया है। अन्तमें कहा है, 'भक्ति, ज्ञान और वैराग्यका ऐसा परम शुभ सयोग इन आँखोंने अन्यत्र नहीं देखा।' रामेश्वर भट्टकी यह सम्मति जगन्मान्य हुई। श्रीकृष्ण-दर्शनानन्दमें नित्य रमण करनेवाले अन्तराराम श्रीतुकाराम और उनके चरण-चञ्चरीक बनकर उनके स्वरूपमें समरस हुए पण्डित श्रीरामेश्वर भट्ट, दोनोंको अनन्यभावसे वन्दन कर इस प्रसङ्गको यहीं समाप्त करते हैं।

१२ समाधान

इस प्रकारके पश्चात् तुकारामजी स्वानुभवके आनन्दके साथ यह कहनेमें समर्थ हुए कि 'मैंने भगवान्को देखा है।' एक बार श्रीकृष्णने उन्हें अपने बालरूपकी झाँकी दिखायी, तबसे उन्हें भगवान्के चाहे जब, चाहे जहाँ दर्शन होने लगे यह कहनेकी आवश्यकता नहीं। भगवान् भक्तके कैसे दास बन जाते हैं कि 'निर्गुणमें सदा छिपे रहनेवाले भगवान् देखते ही सामने आकर खड़े हो गये। तुकारामजी कहते हैं कि 'भगवान्की जब कृपा हुई तब देह-भाव रह ही नहीं गया। जिस ध्यानका हो रंग बदलता गया। भगवान्के पहले दर्शन हुए, पीछे भगवान् मुझसे मिले, मेरे प्राणधन मुझे मिले। तुम लोग भी भगवान्के चरणोंको पकड़ रखो तो तुम्हें भी भगवान् मिलेंगे। तुकाराम महाराजके कीर्तनोंमें जब ऐसी स्वानुभव रसभरी बातें सुनकर श्रोताओंको अभूतपूर्व आनन्दोत्साह अनुभूत होने लगा। जनाबाई नामदेवराय एकनाथ आदि संतोंको जो भगवान मिले वह मुझे भी मिले, अब मेरी धकधक दूर हो गयी, अब संतोंके सामने अपना मुँह दिखा सकता हूँ तुकारामजीने अपने मनमें कभी ऐसा कहा भी होगा। भगवान्के मिलनेके बाद उस मिलनका आनन्द उनके कई अभंगोंमें व्यक्त हुआ है।

कोठें धाव घाले मन । तुझे चरण देखिलिया ॥ १ ॥
भाग गेला शीण गेला । अवघा झाला आनंद ॥ ध्रु ॥

तुम्हारे चरण देखे, अब मन कहाँ दौड़कर जायगा ? थकावट-हरारत सब निकल गया। अब केवल आनन्द-ही-आनन्द है।'

* * *

न सरे ते सुख दरिसें पार । मना निर्धार झाले देवा ॥ १ ॥
बहु दिस होतों धरीत हे आस । तें आजे सफळ फळ आलें ॥ २ ॥

जो कभी न होनेकी बात सो ही हुई—भगवान्‌के चरण (इन आँखोंसे) देख लिये । अब क्या भगवन् ! पीछे फिरकर जाना है ! बहुत दिनोंसे यह आस लगी हुई थी सो आज पूरी हुई—सब परिश्रम सफल हो गये ।

* * *

श्रीकृष्ण-दर्शनसे 'नेत्र खुलकर कृष्णाञ्जनसे समुज्ज्वल हो गये ।' भगवान्‌का जो बालरूप देखा वही नेत्रोंमें स्थिर हो गया । 'वह छवि आँखोंमें ऐसी समा गयी कि बार-बार उसीकी स्मृति होती है ।' उस दिव्य दर्शनके स्मरण और निदिध्यासका आनन्द बढता ही गया, ऐसी तन्मयता हो गयी कि--

तुका म्हणे वेध झाला । अंगा आला श्रीरंग ॥

'तुका कहता है, लौ लग गयी और अङ्ग-अङ्गमें श्रीरङ्ग समा गये ।' चौसरके एक अभङ्गमें तुकारामजी कहते हैं कि, 'चित्तकी उलटी चालमें मैं भी फँस गया था, मृगजलने मुझे भी धोखा दिया था, पर भगवान्‌ने बड़ी कृपा की जो मेरी आँखें खोल दीं ।' फिर 'तुमने मेरी गुहार सुनी, इससे मैं निर्भय हो गया हूँ ।

सर्वसाधारण जीवोंको भक्तिकी शिक्षा देते हुए तुकारामजीने कहीं-कहीं स्वानुभवका भी हवाला दिया है—

धीर तो कारण । साह्य होतो नारायण ।
होऊ नेदी शीण । वाहू चिंता दासासी ॥ १ ॥
सुखें करावें कीर्तन । हर्षे गावे हरिचे गुण ।
वारी सुदर्शन । आपणचि कळिकाळा ॥ ध्रु० ॥
जीव वेंची माता । बाळा जड भारी होता ।
हा तो नव्हे दाता । प्राक्ता मा सारिखा ॥ २ ॥

वेदपुरुष नारायण । योगियांचें ब्रह्म शून्य ।
मुक्ता आत्मा परिपूर्ण । तुका म्हणे सगुण भोळ्या आम्हां ॥ ५ ॥

मुख्य उपासना सगुण-भक्ति है। इससे सभी अवस्थाएँ सध जाती हैं। इससे, शुद्ध भाव जानकर, हृदयकी मूर्ति प्रकट हो जाती है। हरिका नाम ही बीज है और हरिका नाम ही फल है। यही सारा पुण्य और सारा धर्म है। सब कलाओंका यही सार मर्म है। इससे सब श्रम दूर होते हैं। जहाँ हरिके दास लोकलाज छोड़कर हरि-कीर्तन और हरि-नाम-संकीर्तन किया करते हैं वहाँ सब रस आकर भर जाते हैं और संसारके बाँध लाँघकर बहने लगते हैं। जब भगवान् अंदर आकर आसन जमाकर बैठ जाते हैं तब उनके कारण उनके सभी लक्षण भी आप ही आकर बस जाते हैं। फिर इस मृत्युलोकका मरना-जीना, आना-जाना कुछ नहीं रह जाता। इसके लिये अपने आश्रमको या जिस कुलमें पैदा हुए उस कुलके धर्मको छोड़नेकी कोई आवश्यकता नहीं; और कुछ भी नहीं करना पड़ता, केवल एक विठ्ठल (बाल श्रीकृष्ण) का नाम काफी है। वेद जिसे पुरुष या नारायण कहते हैं, योगियोंका जो शून्य ब्रह्म है, मुक्त जीवोंका जो परिपूर्ण आत्मा है, तुका कहता है, वह हम भोलेभाले जीवोंके लिये सगुण (साकार श्रीविट्ठल—श्रीबाल-कृष्ण) हैं।'

श्रीहरिके इस सगुण रूपकी भक्ति ही भगवत्-भक्तोंकी मुख्य उपासना है। नाम-स्मरण सम्पूर्ण पुण्य-धर्म, फल और बीज है। निर्लज्ज नाम-संकीर्तनमें सब रसोंका आनन्द एक साथ आता है। जिसके हृदयमें भगवान् आकर बैठ गये उसमें ज्ञानीके सभी लक्षण आप ही आकर टिकते हैं। अपना आश्रम या कुल-धर्म आदि छोड़नेका कुछ काम नहीं, केवल हरि-नाम ही उद्धारका साधन है। चित्तके शुद्ध होते ही, हृदयसे हम जिस मूर्तिका ध्यान करते हों वह मूर्ति सामने आकर खड़ी हो जाती है।

रामेश्वर भट्ट तुकाराम महाराजके अनुगामी बन गये पर उनके प्रति तुकारामजीकी विनयशीलतामें कोई फर्क न पड़ा। तुकारामजी उनके पैरोंपर गिरते थे। 'भक्तलीलामृत' कार अध्याय १७ में कहते हैं—

'रामेश्वर-सा ब्राह्मण तुकारामजीका सम्प्रदायी बना। पर इस विदेही महात्माको देखिये कि वह रामेश्वरके चरणोंपर गिर-गिर पड़ते हैं, महत्त्वपना तो इन्हें छू नहीं गया। यह जानकर भी कि यह मेरा शिष्य है, वह रामेश्वरको देवताके समान ही मानते थे। इसीको कहना चाहिये अद्वैत भजनसे परम शान्तिको प्राप्त जगद्गुरु पूर्ण ज्ञानी।'

१३ मध्यम खण्डका उपसंहार

श्रीतुकाराम महाराजके चरित्रका यह मध्यम खण्ड यहीं समाप्त होता है। इसलिये अब किञ्चित् सिंहावलोकन कर लें और फिर उत्तर खण्डको आरम्भ करें। पूर्वखण्डमें मंगलाचरणके अनन्तर काल-निर्णय, पूर्ववृत्त और संसारका अनुभव—ये तीन अध्याय हैं और इनमें महाराजके इकीसवें वर्षतकका चरित्र कथन किया गया है। तुकारामजी संसारके कटु अनुभवोंसे इस संसारसे उपराम होने लगे यहाँतकका विवरण इस खण्डमें आ चुका है। उनके परमार्थ-साधनका इतिहास मध्यमखण्डमें आ गया। महाराज जिस साधन-सोपानसे सगुण-साक्षात्कारतक चढ़ गये वह साधन-क्रम पाठकोंकी समझमें अच्छी तरहसे आ जाय और इससे उन्हें भी यह मार्ग दिखायी देने लगे इसलिये इस खण्डमें उसका विस्तार किया है और यह विस्तार भी महाराजके वचनोंके सहारे किया है जिसमें मुमुक्षु साधकोंके लिये यह खण्ड पर्याप्तरूपसे बोधप्रद हो। इस खण्डके चौथे अध्यायमें 'वाणी शूद्र वैश्य केला वेवसाय' (वाणिका शूद्र हूँ और वैश्यकी वृत्ति थी) इस अभंगको ही आधार बनाकर और इसीको बीजाध्याय मानकर उसपर (१) वारकरी सम्प्रदायका साधन-मार्ग, (२) ग्रन्थाध्ययन, (३) गुरु-कृपा और कवित्व स्फूर्ति, (४) चित्त-

शुद्धिके उपाय, (५) सगुण-भक्ति और दर्शनोत्कण्ठा, (६) श्रीविठ्ठल-स्वरूप तथा (७) सगुण-साक्षात्कार—इन सात अध्यायोंकी सप्तपदी खड़ी की है। पाँचवें अध्यायमें पाठकोंने वारकरी सम्प्रदायका स्वरूप देखा और एकादशी-व्रत, पण्ढरीकी वारी, हरि-कीर्तनका आनन्द, निष्कपट भक्तिभावका मर्म तथा परोपकारका अभ्यास—इन विषयोंकी आलोचना की। छठे अध्यायमें अन्तःप्रमाणके साथ यह देखा कि तुकारामजीने किन-किन ग्रन्थोंका अध्ययन किया था और अध्ययनके महत्त्वकी ओर पूरा ध्यान देते हुए यह भी देखा कि तुकारामजीने कैसी अवस्थाके साथ मूलमें ही गीता, भागवत, कुछ पुराण, विष्णुसहस्रनामादि स्तोत्र तथा ज्ञानेश्वरी, एकनाथी भागवत आदि ग्रन्थोंका कितनी बारीकीके साथ अध्ययन किया था और नित्य पाठ भी वह कितनी लगनके साथ करते थे और फिर अन्तमें यह भी देखा कि तुकारामजीको ज्ञानेश्वर और एकनाथसे अलगानेका कुछ आधुनिक विद्वानोंका प्रयत्न कितना बेकार और निःसार है। ७ वें अध्यायमें गुरु-कृपा और कवित्व-स्फूर्तिका विवेचन हुआ है। पहले सद्गुरु-कृपाका महत्त्व, तुकारामजीकी गुरु-दर्शन-लालसा, बाबाजी चैतन्यद्वारा स्वप्नमें उपदेश, फिर तुकारामजीकी त्रयी परम्पराकी दो शाखाएँ, केशव और बाबाजीका एक ही व्यक्ति न होना, बंगालके श्रीकृष्णचैतन्यसे तुकारामजीकी भक्तिके आविर्भावकी कल्पनाका अप्रामाणिकत्व—इन बातोंकी चर्चा की है। ८ वें अध्यायमें 'चित्त-शुद्धिके उपाय' मुख्यतः साधकोंके लिये विस्तारपूर्वक लिखे गये हैं। तुकारामजीकी विरागता और सावधानता, उनकी साधन-स्थितिका मर्म और उनकी लोकप्रियताका रहस्य इत्यादि बातोंको देखते हुए यह देखा कि तुकारामजीने किस प्रकार अपने मनको जीता, जन-सङ्ग और दुष्टजनोंकी उपाधिसे उकताकर उन्होंने कैसे एकान्तवास किया और एकान्तका आनन्द लूटा, अपने दोषोंको भगवान्‌से निवेदन करके उन्हें

कैसे कैसे पुकारा और सत्सङ्ग तथा नाम संकीर्तनके द्वारा कैसे साधनोंकी सब सीढ़ियाँ चढ़ गये। यह सम्पूर्ण अध्याय साधकोंके लिये अत्यन्त बोधप्रद होगा। नवें दसवें और ग्यारहवें अध्यायमें भगवान्‌के सगुण साकार साक्षात्कारके अत्यन्त मधुर और मनोहर प्रसङ्गका वर्णन किया है। नवें अध्यायमें भक्तिमार्ग ही सबसे श्रेष्ठ क्यों है तथा सगुण और निर्गुण किस प्रकार एक ही है—यह बतलाकर तुकारामजीकी सगुणनिष्ठा कैसी दृढ़ थी यह दिखाया है। तुकारामजीके उपास्यदेव श्रीविट्ठल हैं। इसलिये 'विट्ठल' शब्द कैसे बना इसे देख लिया है और यह दिखलाया है कि ज्ञानेश्वरीमें 'विट्ठल' नामका उल्लेख न होनेसे कुछ आधुनिक विद्वान् जो यह कहने लगते हैं कि ज्ञानेश्वरीसे वारकरी सम्प्रदायका कोई सम्बन्ध नहीं है यह कितना अप्रामाणिक और निराधार है फिर तुकारामजी मूर्तिपूजक थे और मूर्ति-पूजामें कितना बड़ा रहस्य छिपा हुआ है, इन बातोंका विचार करके तुकारामजीको साक्षात्‌दर्शन देकर भगवान्‌ने उनकी प्रेमकामना और मिलनकी निमग्नता और निरन्तर प्रतीक्षाके मधुर प्रसङ्गोंका वर्णन किया है। १० वें अध्यायमें श्रीविट्ठल भगवान्‌का स्वरूप देखा पण्ढरपुरकी श्रीविट्ठल-मूर्तिको निहारा, संतोंके वचनोंका अवलोकन किया और यह जाना कि श्रीविट्ठल गोप-वेष धारी श्रीबाल कृष्ण ही हैं। ११ वें अध्यायमें रामेश्वर भट्टका प्रसङ्ग लिखा जिसके निमित्तसे भगवान्‌ने स्वप्नमें तुकारामजीको दर्शन दिये। रामेश्वर भट्टकी योग्यता तथा उनके विरोधमें प्रवृत्त होनेके कारणोंका विश्लेषण करते हुए इस बातका विवेचन किया कि कर्मठोंके विरोधसे इसी प्रकार भागवतधर्मका सदा जय-जयकार होता चला आया है। फिर तुकाराम महाराजके वचनोंके ही आधारपर यह देखा गया कि तुकारामजीने अपने अभङ्गोंकी पोथियाँ इन्द्रायणीके दहमें डुबा दी थीं और स्वयं भगवान्‌ने उनकी रक्षा की। तुकारामजीकी अर्थात् भागवतधर्मकी विजय हुई और रामेश्वर भट्ट

उनकी शरणमें आ गये। इन सात अध्यायोंमें सत्सङ्ग, सत्-शास्त्र, गुरु-कृपा और सगुण-साक्षात्कार—इन चार मंजिलोंको पार करके तुकारामजी कृतकृत्य हुए, यहाँतक हमलोग आ गये। अब पाठक इस मध्यखण्डमें जो 'आत्म चरित्र' अध्याय है उसे फिर एक बार देख लें विशेषकर 'याती शूद्र वैश्य केला वेवसाय' (जातिसे शूद्र हूँ और वृत्ति वैश्यकी की) इस अभंगका विवरण तो अवश्य ही पढ लें, इससे पाठकोंके ध्यानमें यह बात आ जायगी कि यही अध्याय इस मध्य खण्डका बीजाध्याय है। रामेश्वर भट्टने जो उपाधि की उसी प्रसङ्गसे तुकारामजीको भगवान्‌के सगुण-साक्षात्कारका परमलाभ हुआ।

'आत्म-चरित्र' अध्यायमें तुकारामजीने जो यह कहा है कि 'निषेधका कुछ आघात लगा, उससे जी दुखी हुआ, बहियाँ डुबा दीं और धरना देकर बैठ गया, तब नारायणने समाधान किया।' (१६) इसका मर्म अब पाठकोंकी समझमें आ गया होगा। इसके बाद तुकारामजी कहते हैं—

'भक्तकी उपेक्षा नारायण कदापि नहीं करते। वह ऐसे दयालु हैं, यह बात अब मेरी समझमें आ गयी। (१७) अब जो कुछ है वह सामने ही है, आगेकी भगवान् जानें।' (१८)—

—उसे हमलोग आगेके खण्डमें देखें।

बारहवाँ अध्याय

मेघ-वृष्टि

शैलेयेषु शिलातलेषु च गिरेः शृङ्गेषु गर्तेषु च
श्रीखण्डेषु विभीतकेषु च तथा पूर्णेषु रिक्तेषु च ।
स्निग्धेन ध्वनिनाखिलेऽपि जगतीचक्रे समं वर्षतो
वन्दे वारिदसार्वभौम ! भवतो विश्वोपकारिव्रतम् ॥ १ ॥

१ लोकगुरुत्वका अधिकार

सगुण-साक्षात्कारका अलौकिक आलोक सारे शरीरपर जगमगा रहा है, इन्द्रियोंसे शान्तिकी दिव्य शीतल छटा छिटक रही है, प्रखरतर वैराग्यके सब लक्षण देहपर देदीप्यमान हो रहे हैं, प्राप्तव्यकी प्राप्तिका प्रेममय समाधान नेत्रोंमें चमक रहा है—ऐसी वह तुकारामजीकी श्याम सुन्दर-छवि जिन नेत्रोंने निहारी होगी वे नेत्र सचमुच ही धन्य हैं । श्रीतुकोबारायके मुखसे, इसके अनन्तर सतत पन्द्रह वर्षतक जो सुधा धारा प्रवाहित होती रही उसमें डूबकर उस परम रसका आस्वादन करनेका सौभाग्य जिन प्रेमी रसिक श्रोताओंको प्राप्त हुआ होगा उनके सौभाग्यकी क्या प्रशंसा की जाय ! भगवान्‌की सुनी हुई बातें सुननेवाले बहुत मिलते हैं, पर जिसने भगवान्‌को देखा हो, भगवान्‌का वरद हस्त अपने मस्तकपर रखाया हो, भगवान्‌से जिसने एकान्त किया हो, ऐसे स्वानुभवसम्पन्न परम सिद्ध भगवद्भक्तको जिन्होंने देखा हो, उसके श्रीमुखसे श्रीहरि-कीर्तन और हरि-लीला सुनी हो, सदाचार, ज्ञान और वैराग्यका उपदेश श्रवण किया हो वे सचमुच ही बड़े भाग्यवान् हैं । देहू और पूना और पूर्ण महाराष्ट्रका परम भाग्योदय हुआ जो तुकाराम महाराज अपने श्रीविट्ठल-मन्दिरसे भक्ति-

उत्तर खण्ड

ज्ञान-काण्ड

भावके उत्तमोत्तम वस्त्राभरण निर्माणकर पण्ढरपुरके हाटमें भेजने लगे । तुकारामजीकी वाणी अब विरहिणी न रही, रसानुभव भावसे सनाथ होकर प्रेम-मिलनके आनन्दमें नृत्य करनेवाली हुई । अब उनकी वाणीसे प्रिय *मिलनके प्रेमानन्द-सागरकी लहरें निकल-निकलकर श्रोताओंके हृदयोंपर* गिरने लगीं और लोग यह मानने लगे कि जीवोंके उद्धारका उपदेश करनेका अधिकार इन्हींको है । इनकी साधना बताये हुए लोगोंकी भाँति अपनी समुज्ज्वलतासे लोगोंके चित्तको अपनी ओर खींच चुकी थी और इस कारण धार्मिक दुर्जनोंपर इनका जो वाग्प्रहार उन्हींके उद्धारके निमित्त हुआ करता था उससे लोग सावधान और शुद्ध होने लगे और शुद्ध आचार उमड़ने लगा, सर्वत्र तुकारामजीका साम्राज्य हुआ— उन्हींके बोल बोले जाने लगे ।

आपण जेऊन जेवी लोकां । स्वतर्पक करी तुका ॥

'स्वयं जीमकर लोगोंको जिमाता है, ऐसा स्वतर्पक तुका करता है ।'

इस विलक्षण उक्तिका प्रत्यक्ष अनुभव अब लोगोंने देख लिया ।

देहूमें परमार्थका मानो एक नवीन विद्यापीठ स्थापित हुआ । तुकारामजी स्वयं उसके अध्यापक और सूत्रधार बने । आस-पासके गाँवोंमें तथा दूर-दूरसे भी भगवान्‌के प्रेमी आ-आकर इस विद्यापीठमें शिक्षा लाभ करने लगे । देहू, लोहगाँव, [illegible], पूना, पण्ढरपुर तथा पण्ढरपुरके रास्तेके सब स्थानोंमें तुकारामजीके कीर्तनोंकी झड़ी लग गयी । सहज ही लोग उन्हें गुरु कहकर पूजने लगे । ऐसे इन्द्रियविजयी वैराग्य-शमके पुञ्ज पूर्णकाम विश्वप्रेमी लोकालोकस्वरूप लोकगुरु इस स्वार्थी संसारमें कहाँ मिलें ! जिनका बड़ा भाग्य होता है उन्हींको ऐसे जग दुर्लभ गुरु प्राप्त होते हैं । तृप्त पुरुषका यह सहज धर्म होता है कि वह अपनी तृप्तिका आनन्द सबको दिखाना चाहता है । तृप्ति नाम इसीका है । जो अपने पूर्ण आत्म-सुखानुभवको प्राप्त होता है वह लोक-कल्याणमें प्रवृत्त होता है । लोककल्याण भी

कामना तृप्त-आप्तकाम पुरुषोंके स्वभावमें ही होती है। यही तुकाराम-जीने कहा है कि 'अब तो मैं उपकार जितना हो उतनेके लिये ही हूँ।'

२ मेघ-वृष्टिवत् उपदेश

गुरु होनेकी पूर्ण पात्रता होनेपर भी तुकारामजीने गुरुपनेको अपने पास फटकने नहीं दिया और किसीको अपना शिष्य भी नहीं कहा। इसी प्रकार उन्होंने जो उपदेश दिये हैं उन्हें उपदेश न कहकर उन्होंने 'मेघ-वृष्टि' कहा है। हम भी इसे मेघ-वृष्टि ही कहें।

तुका 'किसीके कानमें मन्त्र नहीं फूँकता, न एकान्तका कोई गुह्य ज्ञान रखता है।' अर्थात् तुकारामजी एकान्तमें उपदेश या मन्त्र नहीं दिया करते। हरि-चिन्तनका आनन्द लेते हैं और उसमें सबको सम्मिलित कर लेते हैं। गुरुपनेसे तो दूर ही रहते हैं। एक जगह उन्होंने कहा है कि 'लोगोंको भरमानेकी कोई कपटविद्या मैं नहीं जानता। भगवन्! तुम्हारा ही कीर्तन करता हूँ, तुम्हारे ही उत्तम गुणोंको गाता फिरता हूँ।' यह कहकर उन्होंने सामान्य लौकिक गुरु-नाम-धारियोंका निषेध-सा किया है। आगे फिर उन्होंने यह भी कहा कि मेरे पास कोई जड़ी-बूटी नहीं, कोई ऐन्द्रजालिक चमत्कार नहीं, मैं जमीन-जायदाद जोड़नेवाला कोई महन्त-मण्डलेश्वर नहीं, ठाकुरजीकी पूजा जहाँ बिकती हो ऐसी मेरी कोई दूकान नहीं, मैं कथावाचक नहीं जो कहे कुछ और करे कुछ और। मैं पण्डित भी नहीं जो घट-पटकी खटपटका शास्त्रार्थ कर सकूँ, ऐसा भवानी-भक्त भी नहीं जो मस्तकपर जलती हुई आगका घट लेकर चलूँ, गोमुखीमें हाथ डालकर माला जपनेवाला जपी मैं नहीं, जारण-मारण-उच्चाटन करने-वाला कोई ओझा भी मैं नहीं हूँ। भगवन्! तुम्हारे कीर्तनके सिवा मैं और कुछ नहीं जानता। मेरे भगवान् मैदानमें हैं, मेरा 'राम-कृष्ण-हरि' मन्त्र प्रकट है, मेरा उपदेश भी सीधी-सादी बात है। मुझे जो कुछ कहना होता है, सब हरि-कीर्तनमें कहता हूँ—कोई छिपाव नहीं, कोई दुराव

नहीं। तुकारामजीका सब काम ही ऐसा निष्काम, निर्मल और सरल है। तुकारामजी कहते हैं—

> गुरुशिष्यपण । हें तों अधमलक्षण ॥ १ ॥
> मुळीं नारायण सारा । आप तैसाचि दुसरा ॥ ध्रु० ॥

'गुरु बनना और चेला बनाना, यह तो अधमपना है। मूलमात्रमें नारायण हैं, जब यह बात सच है तब जैसे हम हैं वैसे ही दूसरे भी हैं' नारायण हमारे अंदर हैं वैसे ही दूसरोंके अंदर भी हैं। तुकारामजी गुरु बनकर—गुरु-शिष्यका नाता जोड़कर—एकत्वके भावको भेदकर तोड़कर—गुरुके नाते नहीं बोलते। नारायण प्रेरणा करके जैसे बुलवाते हैं वैसे बोलते हैं—वाक्य क्या हैं मेघकी तरह बरसते हैं।

> मेघवृष्टीनें करावा उपदेश । परि गुरुनें न करावा शिष्य ॥
> वांटा लाभे त्यास । केल्या अर्ध कर्मांचा ॥२॥

'उपदेश ऐसे करे जैसे मेघ बरसे। पर गुरु बनकर किसीको शिष्य न बनावे। जो कर्म करे उसका आधा भाग उसको मिलता है।'

इसलिये अच्छा तो यही है कि—

> एकमेकां साह्य करूं । अवघे धरूं सुपंथ ॥

'आपसमें हमलोग एक-दूसरेकी सहायता करें और सभी एक साथ सन्मार्गपर चलें।

हम-आप प्रेमसे एक साथ होकर भगवान्‌का मधुर गुणगान करें और भवसागर पार करें। अधिकारके न होते भी बलात्कारसे उपदेश' करनेवाले और सुननेवाले गुरु और शिष्य अन्तमें पश्चात्तापके भागी होते हैं।

> म्हणे तुका । मेघवृष्टीनें आभाळा ॥
> संकल्पासी बोला । सहज तें उत्तम ॥ ४ ॥

'सुनो, तुका मेघ-वृष्टिसे उपदेश करता है। सङ्कल्पमें धोखा है, सहज जो है वही उत्तम है।'

मेघ-वृष्टि-सा उपदेश करना प्रेम-रसके मेघोंका बरसना है—प्रेमसे जो निकल पड़े, उसमें सहजपना होता है—असली रंग होता है। और फिर जैसे मेघ-वृष्टि जहाँ कहीं भी हो—पथरीले चट्टानों पर हो या जोत-जातकर तैयार किये हुए खेतोंमें हो, उससे खेत लहलहा उठें या चट्टान धुलकर स्वच्छ हो जायँ, अथवा जल जम जाय या बह जाय, मेघोंको इसकी कुछ भी परवा नहीं होती। वे बरसते हैं, जिसको जो लाभ होना होता है हो जाता है। नहीं होना होता उसे नहीं होता। मेघ अपना कार्य करते हैं। परमार्थका साधन तो साधकको स्वयं ही करना पड़ता है। जो कमर कस-कर लड़ेगा वह अवश्य विजयी होगा, जो कायर होगा वह रण छोड़कर भाग जायगा। यह सबके अपने करतबपर निर्भर करता है। मेघ-वृष्टि सदृश उपदेशके द्वारा तुकारामजी सबको ही एक सा अमृत-पान कराते हैं। पान करना न करना सबकी अपनी इच्छापर निर्भर है। स्वहितका साधन तो स्वयं किये बिना नहीं होता।

'चोरके हृदयमें उसीका लाञ्छन खटका करता है। इसको हम क्या करें, हम तो वर्षा-सा बरसते हैं।'

जिसके जो दोष होते हैं उन्हें वह जानता रहता है। हम गुणोंकी स्तुति करते हैं और दोषोंका त्याग करानेके लिये दोषोंकी निन्दा करते हैं। किसीके मर्मपर चोट करनेके लिये कोई बात नहीं कहते, किसी व्यक्तिको लक्ष्य करके कोई बात नहीं कहते। यह तो हरि-गुण-गानकी अमृतधारा है।

परम अमृताची धार। वाहे देवाही समोर ॥ १ ॥
ऊर्ध्ववाहिनी हरिकथा। मुकुटमणी सकळां तीर्थां ॥ २ ॥

'सब तीर्थोंकी मुकुटमणि यह हरिकथा है—यह ऊर्ध्ववाहिनी परमामृतकी धारा भगवान्‌के सामने बहती रहती है।'

भगवान्‌पर इस सुधाधाराका अभिषेक होता रहता है। और लोगोंको उपदेशके तौरपर जब तुकारामजी कुछ कहते हैं तब भी 'प्रेम यह नहीं पूछते कि कौन-सा रस देता है।'

जल बरसकर खेतोंमें खेतीके काम आता है या मोरियोंमेंसे बह जाता है इसका विचार मेघ नहीं किया करते। उनकी सबपर समान वृष्टि होती है। पतितपावनी गङ्गा पतित और पावन दोनोंको ही समान भावसे नहलाती है। अग्निके द्वारा देवताओंको हविष्यान्न मिलता है और खाण्डव वन भी भस्म होता है। पर किसीका स्पर्श-दोष अग्निको नहीं लगता। उसी प्रकार तुकारामजीकी मेघ-वृष्टि-सदृश उपदेश-वृष्टि सज्जन-दुर्जन दोनोंपर समानरूपसे ही पड़ती है। सज्जन सुखी होकर स्तुति करने लगे और दुर्जन सिरपर चोट लगनेसे तिलमिलाकर निन्दा करने लगे। पर—'मेरे लिये यह भी कुछ नहीं, वह भी कुछ नहीं। मैं तो दोनोंसे अलग हूँ।'

'मेघ बरसते हैं अपने स्वभावसे। भूमि जो फसल उठती है वह अपने दैवसे।'

२ तुकारामजीकी उपदेशपद्धति

सबको समान उपदेश करनेका अभिप्राय सबको एक ही उपदेश करनेसे नहीं है। हरि-कीर्तनके द्वारा होनेवाला उपदेश तो सबके लिये एक ही है। अन्यथा अधिकार देख करें उपदेश जैसा जिसका अधिकार वैसा ही उसको उपदेश किया जाता है—जिससे जितना बोझ उठाया बनेगा उतना ही उसपर लादा जायगा। चींटीकी पीठपर हाथीका हौदा नहीं रखा जाता। बढ़ईके पास कुल्हाड़ी, रन्दा और बसूला सभी होते हैं, पर इन सबका उपयोग मौके-मौकेपर किया जाता है। कुटिल खल,

कृपण, संसारी, विरक्त, विलासी, शूर, पापी, पुण्यात्मा सभीको और सभी जातियोंको उनके संस्कार और अधिकारके अनुसार उपदेश करना होता है। अच्छी जातिका अच्छा घोड़ा हो तो वह केवल इशारेसे चलता है। और अड़ियल टट्टू हो तो बिना चाबुकके वह एक कदम भी नहीं चलता। धर्म-नीति व्यवहारका कुछ उपदेश सबके लिये समान होता है। सभीके सभी समय ग्रहण करनेयोग्य होता है और कुछ उपदेश ऐसा भी होता है जो एकके लिये आवश्यक तो दूसरेके लिये अनावश्यक भी होता है। किसे किस उपदेशका प्रयोजन होता है यह तो सबके अपने ही निर्णय करनेकी बात है। तुकारामजीने किस प्रसङ्गसे किसके लिये कौन-सा अभंग कहा यह जाननेका तो अब कोई उपाय नहीं रहा है। तथापि तुकारामजीके श्रोताओंमें सामान्यतः जिस प्रकारके लोग थे उसी प्रकारके लोग आज भी मौजूद हैं। जितने प्रकार उस समय रहे होंगे उतने आज भी हैं और सदा ही रहेंगे। इसलिये हर कोई तुकारामजीके अभंगोंसे अपना-अपना अधिकार जानकर बोध प्राप्त कर सकता है। संत सद्वैद्योंके समान होते हैं, उनके पास सभी रोगोंकी ओषधियाँ और भस्मादि होते हैं। अपने रोग और प्रकृतिके अनुसार हर कोई ओषधि लेकर अनुपानके साथ सेवनकर नीरोग हो सकता है। संत भवरोगको दूर करते हैं। वैद्य तो खैर दाम और पुरस्कार भी चाहते हैं, पर संत परोपकाररत और निष्काम भक्त होते हैं, उन्हें और कोई मतलब गाँठना नहीं होता, वे चतुर्विध पुरुषार्थका दान करनेमें ही सुख मानते हैं। तुकारामजीके उपदेशोंमें नितान्त सौम्य उपायसे लेकर 'पकड़ने, बाँधने और दागने' तकके उपाय शामिल हैं। उनके 'अभंग'-दर्पणमें अपना मुँह देखकर अपनी बीमारीको पहचाने, औषध सेवन करे, पथ्यसे रहे और आरोग्य लाभ करे। वैदिक ब्राह्मणोंको तथा स्वराज्य-संस्थापनके महत्कार्यमें लगे हुए शिवाजी महाराजको, सिद्धोंको और पापात्माओंको, सच्चे भक्तोंको और दाम्भिकोंको, भलोंको और खलोंको,

वीरोंको और कायरोंको सबको तुकारामजीके अभंगोंमें उपदेश मिलेगा । निवृत्तिमार्गियों और प्रवृत्तिमार्गियों, दोनोंको तुकारामजीने उपदेश दिया है, अर्थात् विवेकके मुख्य-मुख्य सिद्धान्त बता दिये हैं । संत और तत्त्वदर्शी मुख्य सिद्धान्त ही बतलाया करते हैं उनका ब्योरा नहीं; ब्योरेकी बातें व्यवहारसे तथा दूसरोंका आचरण देखकर मालूम होती हैं । सिद्धान्तभर वे बतला देते हैं । संतोंका मुख्य कार्य जीवोंको माया-मोहकी निद्रासे जगा देना होता है । स्वयं जगे रहते हैं, दूसरोंको जगा देते हैं । और धर्मका रहस्य बतलाकर उद्धारका मार्ग दिखा देते हैं । भक्ति, ज्ञान, वैराग्यका बोध कराकर उनकी देहबुद्धि नष्ट कर देते हैं उनकी जीवदशा-का दारिद्र दूर करके उन्हें स्वात्मसुखके सुखासनपर बिठा देते हैं जीवोंको अभयदान देते हैं और अपने पुण्यचरित तथा समुज्ज्वल प्रबोध-शक्तिसे जीवोंका दैन्य नष्ट कर उन्हें स्वानन्द-साम्राज्य-पदपर आरूढ़ करते हैं । संतोंके उपकार माता-पिताके उपकारोंसे भी अधिक हैं । सब छोटी-बड़ी नदियाँ जिस प्रकार अपने नाम-रूपोंके साथ जाकर ऐसी मिल जाती हैं जैसे उनका कोई अस्तित्व ही न हो, उसी प्रकार त्रिभुवनके सब सुख-दुःख संतोंके बोधमहार्णवमें विलीन हो जाते हैं । तुकाराम महाराज ऐसे विश्वोद्धारक महामहिम महात्माओंकी प्रथम श्रेणीमें हैं । आइये, पाठक ! हम-आप उनके अमोघ उपदेशकी मेघ-वृष्टिके नीचे विनम्र भावसे अपना मस्तक नवाकर इस अमृतवर्षाकी बौछारका आनन्द लें ।

४ हरि-भक्तिका सामान्य उपदेश

हरि-भक्तिका उपदेश सबके लिये एक ही है—

[illegible] लोग, माँगो मोक्ष । जीव अमोलक क्या आँख नहीं खुली ! अरे अपनी माताकी कोखमें तू क्या पत्थर पैदा हुआ ! तूने [illegible] जो नर-तन पाया है यह बड़ी भारी निधि है जिस निधिसे कर सके

इसे सार्थक कर। सत तुझे जगाकर पार उतर जायँगे। (तू भी पार उतरना चाहे तो कुछ कर।)'

* * *

'अनेक योनियोंमें भटकनेके बाद यह (नर-नारायणकी) जोड़ी मिली है। नर-तनु-जैसा ठाँव मिला है, नारायणमें अपने चित्तका भाव लगा।'

* * *

'सुन रे सज्जन! अपने स्वहितके लक्षण सुन। मनसे पण्ढरिनाथका सुमिरन कर। नारायणका गुणगान कर, फिर बन्धन कैसा? भव-सिन्धुको तो यह जान ले कि इसी किनारेमें समा जायगा, फिर पार करना क्या! सब शास्त्रोंका सार और श्रुतियोंका मर्म और पुराणोंका आशय तो यही है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र तथा चाण्डालको भी इसका अधिकार है; बच्चोंको, स्त्रियोंको, पुरुषोंको और वेश्यादिकोंको भी इसका अधिकार है। तुका कहता है कि—अनुभवसे हमने यह जाना है। इस आनन्दको लेनेवाले और भी भक्त हैं (जो यही कहेंगे जो मैं कह रहा हूँ)।'

जो मन करोगे वही पाओगे। अभ्याससे क्या नहीं होता?

'उद्योग करनेसे असाध्य भी साध्य हो जाता है अभ्यास ही फल देनेवाला है।'

श्रीहरिकी शरणमें जाओ, उन्हींके होकर रहो, उनके गुणगानमें मग्न हो जाओ, ससार जो हौआ बनकर सामने आया है उसे भगा दो, और 'इसी देहसे, इन्हीं आँखोंसे मुक्तिका आनन्द लूटो।' हरि-नाम-सकीर्तनसे भव-सिन्धु यहीं सिमट जाता है, यह तो तुकाराम महाराज अपने 'अनुभव' से कहते हैं। हरि-भजनमें क्या आनन्द है सो तुकारामजीमें ही देख लीजिये—

'दिन-रातका पता नहीं, यहाँ तो अखण्ड ज्योति जगमगा

जीवोंको और साधकोंको सबको तुकारामजीके अभंगोंमें उपदेश मिलेगा। निवृत्तिमार्गियों और प्रवृत्तिमार्गियों, दोनोंको तुकारामजीने उपदेश दिया है अर्थात् विवेकके मुख्य-मुख्य सिद्धान्त बता दिये हैं। संत और तत्त्वदर्शी मुख्य सिद्धान्त ही बतलाया करते हैं उनका ब्योरा नहीं; ब्योरेकी बातें व्यवहारसे तथा दूसरोंका आचरण देखकर मालूम होती हैं। सिद्धान्तभर वे बतला देते हैं। संतोंका मुख्य कार्य जीवोंको माया-मोहकी निद्रासे जगा देना होता है। स्वयं जगे रहते हैं दूसरोंको जगा देते हैं। और धर्मका रहस्य बतलाकर उद्धारका मार्ग दिखा देते हैं। भक्ति ज्ञान, वैराग्यका बोध कराकर उनकी देहबुद्धि नष्ट कर देते हैं उनकी जीवदशा-का दारिद्र्य दूर करके उन्हें स्वात्मसुखके सुखासनपर बिठा देते हैं, जीवोंको अभयदान देते हैं और अपने पुण्यचरित्र तथा अनुभवयुक्त प्रबोध-शक्तिसे जीवोंका दैन्य नष्ट कर उन्हें स्वानन्द-साम्राज्य-पदपर आरूढ़ करते हैं। संतोंके उपकार माता-पिताके उपकारोंसे भी अधिक हैं। सब छोटी-बड़ी नदियाँ जिस प्रकार अपने नाम-रूपोंके साथ जाकर ऐसी मिल जाती हैं जैसे उनका कोई अस्तित्व ही न हो उसी प्रकार त्रिभुवनके सब युक्त-मुक्त संतोंके बोधमहार्णवमें विलीन हो जाते हैं। तुकाराम महाराज ऐसे विश्वोद्धारक महामहिम महात्माओंकी प्रथम श्रेणीमें हैं। आइये, पाठक! हम-आप उनके अमोघ उपदेशकी मेघ-वृष्टिके नीचे विनम्र भावसे अपना मस्तक नवाकर इस अमृतवर्षाकी सीकरका आनन्द लें।

४ हरि-भक्तिका सामान्य उपदेश

हरि-भक्तिका उपदेश सबके लिये एक ही है—

'चेतो, चेतो, आँखें खोलो। चेत अभीतक क्या आँख नहीं खुली! अरे, अपनी माताकी कोखमें तू क्या पत्थर पैदा हुआ! तूने जो नर-तनु पाया है यह बड़ी भारी निधि है जिस विधिसे बन सके

इसे सार्थक कर। सत तुझे जगाकर पार उतर जायँगे। (तू भी पार उतरना चाहे तो कुछ कर।)'

* * *

'अनेक योनियोंमें भटकनेके बाद यह (नर-नारायणकी) जोड़ी मिली है। नर-तनु-जैसा ठाँव मिला है, नारायणमें अपने चित्तका भाव लगा।'

* * *

'सुन रे सज्जन। अपने स्वहितके लक्षण सुन। मनसे पण्ढरिनाथका सुमिरन कर। नारायणका गुणगान कर, फिर बन्धन कैसा? भव-सिन्धुको तो यह जान ले कि इसी किनारेमें समा जायगा, फिर पार करना क्या! सब शास्त्रोंका सार और श्रुतियोंका मर्म और पुराणोंका आशय तो यही है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र तथा चाण्डालको भी इसका अधिकार है; बच्चोंको, स्त्रियोंको, पुरुषोंको और वेश्यादिकोंको भी इसका अधिकार है। तुका कहता है कि—अनुभवसे हमने यह जाना है। इस आनन्दको लेनेवाले और भी भक्त हैं (जो यही कहेंगे जो मैं कह रहा हूँ)।'

जो मन करोगे वही पाओगे। अभ्याससे क्या नहीं होता!

'उद्योग करनेसे असाध्य भी साध्य हो जाता है अभ्यास ही फल देनेवाला है।'

श्रीहरिकी शरणमें जाओ, उन्हींके होकर रहो, उनके गुणगानमें मग्न हो जाओ, ससार जो हौआ बनकर सामने आया है उसे भगा दो, और 'इसी देहसे, इन्हीं आँखोंसे मुक्तिका आनन्द लूटो।' हरि-नाम-सकीर्तनसे भव-सिन्धु यहीं सिमट जाता है, यह तो तुकाराम महाराज अपने 'अनुभव' से कहते हैं। हरि-भजनमें क्या आनन्द है सो तुकारामजीमें ही देख लीजिये—

'दिन-रातका पता नहीं, यहाँ तो अखण्ड ज्योति जगमगा

रही है । इसका आनन्द जैसे हिलोरें मारता है उसके सुखका वर्णन कहाँतक करूँ ?'

श्रीहरिके प्रसादसे सब दुःख नष्ट हो जाते हैं—

'यही भवरोगकी ओषधि है । जन्म, जरा और सब व्याधि इससे दूर हो जाती हैं । हानि तो कुछ भी नहीं होती षड्रिपुओंका हनन अवश्य हो जाता है । छहों शास्त्र, चारों वेद और अठारहों पुराणोंके जो सार सर्वस्व हैं उन श्यामसुन्दरकी छविको अपनी आँखों देख लो, कुटिल खल-कामियोंका स्पर्श अपनेको न होने दो, मुखसे निरन्तर विष्णुसहस्रनाम-माला फेरते रहो ।

'अपने (निज स्वरूपके) घरसे बाहर न निकलो, बाहरकी (देह-बुद्धिकी) हवा न लगने दो बहुत बोलना छोड़ दो और दूसरे (अनात्म) वस्तुसे सावधान होकर बचते रहो ।'

अनुताप-तीर्थमें नहा लो और दिग्-वस्त्रको ओढ़ लो जिससे आत्माका पसीना निकल जाय । तब तुम वैसे ही हो जाओगे जैसे पहले थे (अर्थात् मूल सच्चिदानन्दस्वरूप) । इसलिये तुका कहता है, वैराग्य-दीप जलाओ ।'

अनुताप करते हुए भगवान्‌से यह कहो—मैं तो अज्ञान हूँ, अपराधी हूँ कर्महीन हूँ, मन्दमति और जड़बुद्धि हूँ । हे कृपानिधे ! हे मेरे माता पिता ! अपनी कामीसे मैंने कभी तुम्हें नहीं याद किया । तुम्हारा गुण-नाम भी न सुना और न गाया । अपना हित छोड़ लोक-लाजके पीछे मग्न किया । हरि-कीर्तनमें संतोंका संग मुझे कभी अच्छा नहीं लगा । पर-निन्दामें बड़ी रुचि थी, दूसरोंकी खूब निन्दा की । परोपकार न मैंने किया न दूसरोंसे कभी कराया दूसरोंको पीड़ा पहुँचानेमें कभी दया न आयी । ऐसा व्यवसाय किया जो न करना चाहिये और उससे बनाया गया तो अपने कुटुम्बका भार ढोता फिरा । तीर्थोंकी कभी यात्रा नहीं की,

केवल इस पिण्डके पालन करनेमें हाथ पैर हिलाता रहा। मुझसे न सत सेवा बनी, न दान पुण्य बना, न भगवान्‌की मूर्तिका दर्शन और पूजन-अर्चन ही बना। कुसङ्गमें पड़कर अनेक अन्याय और अधर्म किये। स्वहित क्या है, उसमें क्या करना होता है, कुछ समझ नहीं पड़ता, क्या बोलूँ, क्या याद करूँ यह कुछ भी नहीं जान पड़ता। मैंने अपना आप ही सत्यानाश किया, मैं अपना आप ही बदला लेनेवाला वैरी बना। तुका कहता है, भगवन्! तुम दयाके निधान हो, मुझे इस भवसागरके पार उतारो।'

भगवानसे इस प्रकार पश्चात्तापके साथ गद्गद-कण्ठसे अपने सब कृत कर्मों और अपराधोंको कह जाना चाहिये, उनसे करुणाकी भिक्षा और सहायता माँगनी चाहिये, उनकी शरण हो जाना चाहिये, जो दोष पहले हो चुके उन्हें फिरसे न करनेके सम्बन्धमें सावधान रहना चाहिये और सदा ही भगवान्‌का स्मरण, भगवान्‌का गुण-गान और भगवान्‌का ध्यान करते रहना चाहिये। इससे वह दीनवत्सल अवश्य दया करेंगे और ऊपर उठा लेंगे। शुद्ध-चित्तसे भगवान्‌के गुण गावे, सतोंके चरण पकड़े, दूसरोंके गुण-दोषोंकी व्यर्थ चर्चा करनेमें समय नष्ट न करे, शरीरको सफल करे और इस प्रकार भगवान्‌का प्रसाद लाभ करे।

* * *

'भवसागरको तैरकर पार करते हुए, चिन्ता किस बातकी करते हो? उस पार तो वह कटिपर कर धरे खड़े हैं। जो कुछ चाहते हो उसके वही तो दाता हैं। उनके चरणोंमें जाकर लिपट जाओ। वह जगस्वामी तुमसे कोई मोल नहीं लेंगे, केवल तुम्हारी भक्तिसे ही तुम्हें अपने कन्धेपर उठा ले जायँगे। तुका कहता है, पाण्डुरङ्ग जहाँ प्रसन्न हुए तहाँ भक्ति और मुक्तिकी चिन्ता क्या?—वहाँ दैन्य और दारिद्रय कहाँ?'

५ संसारमें रहते हुए सावधान

'हम संसारी लोग भला संसारको कैसे छोड़ सकते हैं ?' ठीक है, संसारमें ही बने रहो पर हरिको न भूलो। हरिनाम लेते हुए सब काम न्याय-नीतिसे किये चलो। इससे संसार भी सुखद होता है। नहीं तो स्वार्थ न परमार्थ, कमर टूटी मुफ्तमें वाली मसल ही चरितार्थ हुई तो क्या संसार बना ? यह बना कुछ तो पशुओंका-सा संसार बना, मनुष्योंका तो नहीं। इस संसारमें सुख है ही नहीं। कारण सुख जौभर है तो दुःख पहाड़भर। संसारके विषयमें सबका यही अनुभव है। माँ-बाप, स्त्री-पुत्र, संगी-साथी धन-दौलत राजा-महाराजा कोई भी क्या हमें मृत्युसे बचा सकते हैं ? यह शरीर तो कालका कलेवा है।'

(१) कौड़ी-कौड़ी जोड़कर करोड़ रुपये इकट्ठे करो पर साथ तो एक लँगोटी भी न जायगी।

(२) संगी-साथी एक-एक करके चले। अब तुम्हारी भी बारी आयेगी क्या गाफिल होकर बैठे हो ? अब आगेसे क्या करोगे ? काल सिरपर सवार है। अब भी सावधान हो जाओ इससे निस्तार पानेका कुछ उपाय करो।

(३) तुम्हारी देह तो नहीं रहेगी, इसे काल खा जायगा। अब भी जागो, नहीं तो, दुःख भरना है, धोखा खाओगे (नरकके बीच मारे जाओगे)।

इस बातको ध्यानमें रखो और अंदर सावधान रहते हुए प्रपञ्च करो।

भलाईको बिना छोड़े सच्चे व्यवहारसे धन जोड़ो और उसमें मनको बिना अटकाये निःसङ्ग होकर उसका उपभोग करो। पर उपकार करो, पर-निन्दा मत करो और पर-स्त्रियोंको माँ-बहिन समझो। प्राणिमात्रमें

दया-भाव रखो, गाय-बैल आदिका पालन करो। जंगलमें जहाँ कोई जलाशय न हो, वहाँ प्यासेको पानी पिलाओ।'

इस प्रकार अपना आचरण बना लोगे तो गृहस्थाश्रम ही परमार्थका साधन हो जायगा। और इस आचरणमें कुछ कठिनाई भी नहीं है।

'पर-स्त्रीको माता माननेमें हमारा क्या खर्च हुआ जाता है?'

पर-द्रव्यकी इच्छा या पर-निन्दा हम नहीं करेंगे ऐसा निश्चय यदि कोई कर ले तो 'इसमें उसके पल्लेका क्या जायगा? बैठे-बैठे राम-राम रटा करें, सत-वचनोंपर विश्वास रखें, सत्य-भाषणका व्रत ले लें तो इससे क्या हानि होगी?'

'तुका कहता है, इनसे तो भगवान् मिल जायँगे, और कुछ करनेका काम ही नहीं।'

पर घर-गृहस्थीके प्रपञ्चमें लगे रहते हुए एक बात न भूलना। क्या?—

'यह क्षणकालीन द्रव्य, दारा और परिवार तुम्हारा नहीं है। अन्तकालमें जो तुम्हारा होगा वह तो एक विठ्ठल ही है, तुका कहता है, उसीको जाकर पकड़ो।'

तुकाराम महाराजका यही मुख्य उपदेश है। 'मुख्य उपासना सगुण भक्ति' के विषयमें विस्तारपूर्वक विवेचन इससे पहले किया जा चुका है। यथार्थमें तुकारामजीके सभी अभंग इसी प्रकारकी मेघ-वर्षा हैं। हमारे ऊपर इस अमृत-वर्षाकी झड़ी लगे और हमलोगोंमेंसे हर कोई कृतार्थ होनेका अपना रास्ता ढूँढ ले। 'भगवान्, भक्त और भगवन्नाम' के विषयमें तुकारामजीके उपदेश इससे पहले अनेक बार उल्लिखित हो चुके हैं, इसलिये यहाँ उनकी पुनरावृत्ति न करके अब यह देखें कि सर्व-सामान्य व्यवहार-नीतिके सम्बन्धमें विविध प्रकारके लोगोंको उन्होंने किस किस प्रकारके उपदेश दिये हैं।

६ संसारियोंका उपदेश

निष्काम भक्तिका डंका बजानेके लिये ही तुकारामजीका जन्म हुआ था। जो लोग और जो मत भक्तिके विरोधी थे उनकी खबर लेना तुकारामजीके लिये इस प्रसङ्गसे आवश्यक हुआ, यही नहीं प्रत्युत भक्ति-मार्गके भी कई स्वाँग और ढोंग उन्हें जड़-मूलसे उखाड़कर फेंकने पड़े। भक्तिके नामपर समाजमें प्रतिष्ठा पाये हुए अनेक अभिमानी, विषयचारी, अनाचारी, पेटके पुजारी और दाम्भिक लोग अपना-अपना उल्लू सीधा कर रहे थे। यह आवश्यक था कि उन्हें सच्चा भक्ति-मार्ग दिखाया जाता और इसके लिये यह भी आवश्यक हुआ कि उनके दोष उन्हें दिखाये जाते।

'भगवान्के कहलाकर भगवान्का ही अनादर करते हैं। यह देखकर बड़ा ही आश्चर्य होता है। अब उन साधारण लोगोंको क्या ही क्या सकते हैं जिन बेचारोंपर गृहस्थीका बोझ लदा हुआ है?'

भगवान्का आदर-सत्कार कैसे किया जाता है हाथ जोड़कर प्रेमी भक्तोंके साथ उनके सामने खड़ा रहना पड़ता है भगवान्के सामने कोई व्यवहार न चले इसका प्रबन्ध करके देवी शान्ति शुद्धता और लीनताके साथ उनका पूजन करना चाहिये उत्तमोत्तम पदार्थ भगवान्के लिये कैसे जुटाये जाते हैं कम-से-कम भगवान्के सामने तो मनके सारे मलिन विचार दूर करके देवी अन्तर्बाह्य शुचिताके साथ जाना चाहिये, ये सीधी सादी बातें अपनेको भगवान्के भक्त बतानेवाले लोग न जानें यह तो बड़े ही दुःख और आश्चर्यकी बात है। कथा-कीर्तनमें कथा-कीर्तनको एक तमाशा-सा या एक बहुत मामूली रस्म-सी समझते हुए अपने-अपने धन-मानकी बड़ाईमें फूले रहकर गप-शपमें वह समय किसी प्रकार बिता देना जोर-जोरसे बोलना, संतोंका सत्कार करनेसे मुकरना पान चबाते हुए या अशुचि-अवस्थामें भगवान्के सामने जाना, भगवान्की पूजाके

लिये सड़ी सुपारियाँ रखना, मोटे चावल और सस्ते-से-सस्ता घी हवनके लिये लाना, ऐसी असख्य बातें हैं जो लोग जाने बे-जाने किया करते हैं ? भगवान्‌को चाहते हो तो चित्तको मलिन क्यों रखते हो ? अभिमान, अकड़, आलस्य, लोक लाज, चञ्चलता, असद्व्यवहार, मनोमालिन्य इत्यादि कूड़ा-करकट किसलिये जमा किये हो ? कम-से-कम भगवान्‌के भक्त कहानेवालोंको तो ऐसा नहीं चाहिये। केवल बाहरी भेस बना लेनेसे थोड़े ही कोई भक्त होता है ?

'आग लगे उस बनावटी स्वाँगमें जिसके भीतर कालिमा भरी हुई है।'

वस्त्रोंको लपेटकर पेट बड़ा कर लेनेसे, गर्भवती होनेकी बात उड़ानेसे, दोहदका स्वाँग भरनेसे 'बच्चा थोड़े ही पैदा होता है, केवल हँसी होती है ?'

'इन्द्रियोंका नियमन नहीं, मुखमें नाम नहीं, ऐसा जीवन तो भोजनके साथ मक्खी निगल जाना है, ऐसा भोजन क्या कभी सुख दे सकता है ?'

* * *

'विषय-विलासमें पड़े मिष्टान्नका भोजन करके इस पिण्ड पोसनेकी ही जिसे सूझती है उसका ज्ञान तो बड़ा ही अधम है। एक-एक कौर बड़े स्वादसे मुँहमें डालता है और यह नहीं जानता कि यह पिण्ड तो क्षणभर ही साथ रहनेवाला है, इसे पोसनेसे क्या हाथ आनेवाला है।

'इतना भी सोच-विचार जिसमें नहीं उसे क्या कहा जाय ? शुक, जनक-जैसे महायोगी, अपने वैराग्य-बलसे ही परमपदके अधिकारी हुए। ससारकी सारी आशाओं और अभिलाषाओंका त्याग किये बिना भगवान् नहीं मिलते।

'मायाको जड़-मूलसे उखाड़कर फेंक दो तब गोसाईं कहलाओ, नहीं तो संसारी बने रहो अपनी फजीहत क्यों कराते हो !'

'श्रीहरिसे मिलना चाहते हो तो माया-तृष्णासे बिल्कुल खाली हो जाओ। जो नाम हरिका लेते हैं पर—'हाथ लोभमें फैलाये रहते और असत् अन्याय और अनीतिको किये जाते हैं वे अपने पुरखोंको नरकमें गिराते हैं और नरकके कीड़े बनाते हैं।'

• • •

'अभिमानका मुँह काला! उसका काम अँधेरा ही फैलाना है। सब काम मटियामेट करनेके लिये पीछे लोक-लाज लगी हुई है।

दम्भ, माया, तृष्णा, अभिमान, भजन करते लोकलाज—इन सब दोषोंसे कम-से-कम वे लोग तो बचें जो अपनेको भगवान्‌के प्यारे बतलाते हैं। जो जी-जानसे भगवान्‌को चाहते हैं वे अपने प्रेमको सावधानीसे बचाये रहें प्रतिष्ठाको सूअरकी विष्ठा समझें, पूजा वादमें न उलझें, अहंकारी तार्किकोंके सङ्गसे दूर रहें और कोई ढोंग-पाखण्ड न रचें।

'ढोंग बनानेसे भगवान् नहीं मिलते। निर्मल चित्तकी प्रेमभरी चाह नहीं तो जो कुछ भी करो अन्त केवल धूल ! है। दुःख भरता है, जानते हैं पर जानकर भी अन्धे बनते हैं।

• • •

'लोगोंके अलग-अलग राग हैं, उनके पीछे अपने मनको मत बाँटते फिरो। अपने विश्वासको जतनसे रखो दूसरोंके रंगमें न आओ।

• • •

'आचार-विचार जहाँ देखा हो वहाँ लाखें पर्देमें भी उस फंदेमें फँसोगे। जिनसे उन्हींमें जो सर्वलोकमानसे सम-रसमें मिले हों। वे ही तुम्हारे कुल-परिवार हैं।

भक्तोंके मेलेका जो आनन्द है उसका कुछ भी आस्वाद अविश्वासी-को नहीं मिलता और वह सिद्धान्तमें ककड़ीकी तरह अलग ही रहता है।

'भगवान्की पूजा करो तो उत्तम मनसे करो। उसमें बाहरी दिखावेका क्या काम? जिसको जनाना चाहते हो वह अन्तरकी बात जानता है। कारण, सच्चोंमें वही सच है।'

परन्तु—

'भक्तिकी जाति ऐसी है कि सर्वस्वसे हाथ धोना पड़ता है।'

✿ ✿ ✿

'नेत्रोंमें अश्रुबिन्दु नहीं, हृदयमें छटपटाहट नहीं तो भक्ति काहे-की? वह तो भक्तिकी विडम्बना है, व्यर्थका जन-मन-रञ्जन है। स्वामीकी सेवामें जो सादर प्रस्तुत नहीं हुआ उसे मिल ही क्या सकता है? तुका कहता है जबतक दृष्टि से-दृष्टि नहीं मिली तबतक मिलन नहीं होता।'

'यह तो क्रियायुक्त अनुभवका काम है।'

अहंता नष्ट हो। भगवान्के स्तुति-पाठमें सच्ची भक्ति हो, हृदयकी सच्ची लगन हो। हरि-चरणोंमें पूर्ण निष्ठा हो तब काम बने।

'सेवकके तनमें जबतक प्राण हैं तबतक स्वामीकी आज्ञा ही उसके लिये प्रमाण है।'

देव-धर्मगुरुओंकी आज्ञाका इस प्रकार निष्ठापूर्वक पालन करके भगवान्के होकर रहो। ज्ञान-लव-दुर्विदग्ध तार्किकोंकी अपेक्षा अपढ़, अनजान भोले भाले लोग ही अच्छे होते हैं। तुकारामजी कहते हैं कि, 'मूर्ख बल्कि अच्छे है, ये विद्वान् तार्किक तो किसी कामके नहीं।'

तुकारामजीका कीर्तन सुनने या दर्शन करने जो लोग आया करते थे उनमें संसारी लोग ही प्रायः हुआ करते थे। तुकारामजीने अपनी गृहस्थीकी होली जला दी, एकनाथ महाराजकी गृहस्थी अनुकूल गृहिणीके होनेसे सुखसे निभ गयी और समर्थ रामदास गृहस्थीके बन्धनमें पड़े ही

नहीं । ये तीनों ही महात्मा विरक्त थे, तीनों ही अंदरसे पूर्ण त्यागी थे, बाहरी भेषकी बात तो किसी भी हालतमें गौण ही होती है । पर सर्वसाधारण मनुष्य ऐसे कैसे बन सकते हैं ? सब तो बाल-बच्चे, घर-द्वार, काम-धंधेमें ही उलझे रहते हैं, उनका नहीं रहता एकाग्र ही कोई ! इसलिये इन महात्माओंने संसारको संसारके अनुरूप ही उपदेश दिया है । घर गिरस्तीका सब काम करो, पर भगवान्‌को मत भूलो, मुखसे 'हरि, हरि' उचारो और सदाचारसे रहो श्रुति-स्मृति-पुराणोक्त धर्मका पालन करो, इससे अधिक सामान्य जनोंको और क्या उपदेश दिया जा सकता है ? भगवान्‌के लिये सर्वस्वसे हाथ धोनेको तैयार हो जाना पूर्व-पुण्यके बिना नसीब नहीं होता । इसलिये अब सामान्य जनोंको तुकारामजीने तरह-तरहसे कैसे समझाया है, कभी मनाकर और कभी डाँट-डपटकर कैसे सावधान किया है, पटरीपरसे नीचे उतर आयी हुई समाजकी गाड़ीको धर्मनीति-न्यायकी पटरीपर फिरसे कैसे लाकर खड़ा किया लोगोंके दोष दूर करनेके लिये उन दोषोंको कैसे निधड़क चौड़े ले आये और कैसी उन्होंने उनमें भगवान्, भक्त और धर्मके प्रति सच्चा प्रेम जगानेके भरसककी हद कर दी, इसको अब क्रमशः देखें ।

मूढ़ संसारमें आये हो तो अब उठो जल्दी करो और उन उदार पाण्डुरङ्गकी शरणमें जाओ । यह घर तो देवताओंका है, धन सारा कुबेरका है इसमें मनुष्यका क्या है ? देने-दिलानेवाला वे जाने बिना ले जानेवाला तो कोई और ही है, इसका यहाँ क्या-क्या है ? निमित्तका धनी बनाया है इस प्राणीको और यह 'मेरा-मेरा' कहकर व्यर्थ ही दुःख उठाता है । तुका कहता है, रे मूर्ख ! क्यों नारायणके पीछे भवग्रामकी ओर पीठ फेरता है ?'

बुद्धिमानोंके लिये यह एक ही वचन बस है । जबतक चित्तका मैल न कटे तब तक प्रेमसे गाते रहो । नामके समान और कोई

सुलभ साधन नहीं है । यह निश्चयका मेरु है । सबसे हाथ जोड़कर तुकारामजी यह विनती करते हैं कि, 'अपने चित्तको शुद्ध करो ।'

'भगवान्‌का चिन्तन करनेमें ही हित है । भक्तिसे मनको शुद्ध कर लो । तब, तुका कहता है, दयानिधि, इस नामके कारण, पार उतारेंगे ।'

कथा-कीर्तन सुनते नींद आ जाती है और पलङ्गपर पड़-पड़ा यह संसारकी उधेड़-बुनमें छटपटाता जागकर रात बिताता है । 'कर्म-गति ऐसी गहन है, कोई कहाँतक रोये ।' यही जागरण और यही छटपटाहट भगवान्‌के चिन्तनमें क्यों नहीं लगा देते ? भगवान्‌ने जो इन्द्रियाँ दी हैं उन्हें भगवान्‌के काममें क्यों नहीं लगा देते ?

'मुखसे उनका कीर्तन करो, कानोंसे उनकी कीर्ति सुनो, नेत्रोंसे उन्हींका रूप देखो । इसीके लिये तो ये इन्द्रियाँ हैं । तुका कहता है, अपना कुछ तो स्व-हित साध लेनेमें अब सावधान हो जाओ ।'

❀ ❀ ❀

'संसारका बोझ सिरपर लादे हुए दौड़नेमें बड़े खुश हैं । टट्टी जानेके लिये पत्थर इकट्ठे करते हैं, मनमें भी उसीके सङ्कल्प रखते हैं । लोक-लाज केवल नारायणके काममें है, यहाँ कुछ बोलते हुए जीभ भी लड़खड़ाने लगती है । तुका कहता है, अरे निर्लज्ज ! अपने संसारीपन-पर—बैलकी तरह इस बोझके ढोनेपर इतना क्यों इतराता है ?'

ऐसे अत्यन्त आसक्त संसारियोंके लिये तुकारामजीका उपदेश है—

'श्रीहरिके जागरणमें तेरा मन क्यों नहीं रमता ? इसमें क्या घाटा है ? क्यों अपना जीवन व्यर्थमें खो रहा है ? जिनमें अपना मन अटकाये बैठा है वे तो तुझे अन्तमें छोड़ ही देंगे । तुका कहता है, सोच ले, तेरा लाभ किसमें है ?'

* ❀ ❀

'पर-द्रव्य और पर-नारीका अभिलाष जहाँ हुआ वहींसे भाग्यका ह्रास आरम्भ हुआ।'

'स्त्री और धन बड़े खोटे हैं। बड़े-बड़े इनके चक्करमें मटियामेट हो गये। इसलिये इन दोनोंको छोड़ दे इसीसे अन्तमें सुख पावेगा।'

यह उपदेश तुकारामजीने बार-बार किया है। अपनी स्त्रीके प्यारेपर नाचकर स्त्रैण न बने और पर-स्त्रीको तृण माने। इससे गृहस्थीका सारा प्रपञ्च उदासीन भावसे करते हुए सारा मन परमार्थमें लगाते बनता है। अपनी स्त्रीसे भी केवल शुद्ध सम्बन्ध ही रखे, तभी कुछ पुरुषार्थ बन सकता है। इसी अभिप्रायसे एक स्थानमें तुकारामजीने कहा है कि 'स्त्रीको दासीकी तरह रखे।' श्रीमद्भागवतमें भी स्त्री और स्त्रैणका सङ्ग बड़ा ही हानिकर बताया है।

'विधिपूर्वक सेवन विषय-त्यागके ही समान है।' विषयासक्ति स्त्री और पुरुष दोनोंकी हानि करनेवाली है।

* * *

अहिंसा तो भागवतधर्मकी एक खास चीज है। वारकरियोंमें कोई भी मांसाहारी नहीं होता, यदि कोई हो तो उसे कुत्ता-कसाई समझना चाहिये। सबमें भगवान्को देखो यही तो संतोंकी मुख्य शिक्षा है। प्राणिमात्रमें हरिके सिवा और कोई दूसरा न देखे। इस स्थितिको जो प्राप्त होना चाहे उसके लिये हिंसा तो त्याज्य ही है। धिक्कार है उस दुर्जनको जिसमें भूत-दया नहीं। सब जीवोंको जो अपने समान जीव नहीं समझता उस पापात्माको क्या कहा जाय!

'तुका कहता है, दूसरोंके गलेपर छुरी फेरते तो इसे मजा आता है, पर जब अपनी बारी आती है तब रोता है।'

कालीमाईके सामने अपनी मनौती पूरी करने या पेट भरनेके लिये—
भूतोंके सिर काटते हैं, इस निर्दयताकी कोई हद नहीं! बकरी

दूसरोंके सिर क्या काटते हैं, उधार लेकर खाते हैं और यमपुरीमें जाकर उसे चुकाते हैं। दूसरोंकी गर्दनपर, जो छुरी चलाता है, यह नहीं जानता कि इन जीवोंमें भी जान है, उसके-जैसा पापी वही है। आत्मा नारायण घट-घटमें है, पशुओंमें भी है, इतनी-सी बात क्या वह नहीं समझ सकता। जीवको बिलखता-चिल्लाता देखकर भी इस निर्दयीका हाथ उसपर जाने कैसे चलता है!'

ऐसे चाण्डालको यह भी नहीं सूझता कि इस कामसे हम दूसरे जन्मके लिये अपने वैरी निर्माण कर रहे हैं!

'बड़े शौकसे उसका मांस खाते हैं, यह नहीं जानते कि इस तरह वैरी जोड़ते हैं!'

* * *

कन्या, गौ और हरि-कथाका विक्रय करके नरकका रास्ता नापनेवालोंको तुकारामजीने बहुत-बहुत धिक्कारा है। 'गायत्री बेचकर जो पेट पापीको पालते हैं, कन्याका विक्रय करते हैं और नाम-गानकर जो द्रव्य माँगते हैं, वे घोर नरकमें जा गिरते हैं, उनका सङ्ग हमें पसन्द नहीं! ये मनुष्य-योनिमें 'कुत्ते और चाण्डाल हैं।' 'शास्त्रोंमें सालङ्कृत कन्यादान, पृथ्वीदान समान' कहा है। पर जो कन्याका विक्रय करते हैं, गो-रक्षण और गो-पालन अपना स्व-धर्म होते हुए भी जो गौओंको बेचनेका व्यवसाय करते हैं, जो हरि-कथा-माता और नामामृतको बेचते फिरते हैं वे अधर्मोंसे भी अधम हैं।'

* * *

स्त्री-जातिको तुकारामजीका सामान्य उपदेश इतना ही हुआ करता था कि स्त्री पतिव्रता बनी रहे, शीलकी रक्षा करे, धर्मकार्यमें पतिके अनुकूल आचरण करे, घर-आँगन झाड़-बुहार, लीप-पोतकर स्वच्छ रखे, तुलसी और गौकी पूजा करे, अतिथियोंका आतिथ्य और ब्राह्मणोंका सत्कार करे, कथा-कीर्तन श्रवण करे, घरमें सबको सुखी और शान्त रखने-

का यत्न करे और बाल-बच्चोंमें भी हरि-भजनका प्रेम उत्पन्न किया करे। एक स्थानमें उन्होंने कहा है कि कुलवती स्त्री अपनी शुद्धता और सतीत्वकी रक्षाके लिये अपने प्राणतक न्योछावर कर देती है, कभी अनाचारमें नहीं प्रवृत्त होती।

स्त्रीका चित्त शान्त और सन्तोषी होना चाहिये यह बतलाते हुए क्रोधी स्त्रीका वर्णन करते हैं—

उसकी भौंहें सदा चढ़ी ही रहती हैं, और हृदय सदा जला ही करता है। मुँह ऐसा लगता है जैसे दो टूक हुई ठपरी हो। कुत्ता भकता है, उसका चित्त तो कभी शान्त रहता ही नहीं।'

तुकारामजीने स्त्रीका मुख्य धर्म पातिव्रत्य ही कहा है। पति ही उनके लिये 'प्रमाण' है। तुकारामजीने अपनी स्त्रीको जो उपदेश किया उसका प्रसङ्ग आगे आवेगा। पर यहाँ—

'झाड़-बुहार, तुलसी, अतिथि और ब्राह्मणोंका पूजन, सर्वलोकमान्य भगवद्भक्तोंका सत्सङ्ग, मुखमें सदा श्रीविठ्ठलका नाम—इन दस नियम-रत्नोंका यह रत्नहार तुकारामजीके प्रसाद रूपसे सब स्त्रियोंको अपने गलेमें पहन लेना चाहिये और इस तरह वे—

अपना गला इस संसारसे छुड़ा लें, गर्भपातके महान् कष्टसे बचें, इस सुख दुःखपर थूक दें और परमानन्दको प्राप्त करें।

• • •

स्त्रैण-पति, कुलटा-स्त्री और गुरुकी अवज्ञा करनेवाले कुपुत्रोंको तुकारामजीने बड़ी फटकार बतायी है। जो स्त्री ऐसी अनर्थिन हो कि पतिसे अपनी ही सेवा कराती हो, अपनी ही भगवान्-की पूजा करवाती हो' और पतिको 'कुत्ता बनाकर रखे हुए हो' और वह भी पापी बनकर' कामान्ध हो उसीको घेरे रहता हो, उसके पीछे अपने ही सज्जनोंको दूर करता हो वह अपने जीवनको व्यर्थ ही नष्ट कर रहा है।

'स्त्रीके अधीन जिसका जीवन हो जाता है, उसके दर्शनसे बड़ा अपशकुन होता है। मदारीके बदर-से ये जीव जाने क्यों जीते हैं।'

स्त्रीके मिष्ट-भाषणपर लट्टू होकर किस प्रकार कामी पुरुष अपने हित-नातको छोड़ देता है, इसका बड़ा ही मजेदार वर्णन उन्होंने तीन-चार अभगोंमें किया है।

एक लाडली स्त्री अपने पतिसे कहती है, 'क्या करूँ! मुझसे अब खाया भी नहीं जाता। दिनमें तीन बार मिलाकर एक मन गेहूँ ही बस होते हैं! परसों ही आप चीनी ले आये सो सात दिनमें दस सेर ही खपी! पेटमें पीड़ा रहती है, इसलिये और तो कुछ नहीं, केवल दूधके साथ चावल खाती हूँ और अनुपानके लिये घी और चीनी चाट जाती हूँ। किसी तरह दिन काटती हूँ। नींद आती नहीं इसलिये बिस्तरके नीचे फूल बिछा लेती हूँ, बच्चोंको पास सुलाऊँ तो सहन नहीं होता इतनी तो दुर्बल हो गयी हूँ, इसलिये आपहीसे कहती हूँ कि बच्चोंको सँभाल लिया करो। मस्तकमें सदा ही पीड़ा रहती है इसलिये चन्दनका लेप लगाना पड़ता है। मेरी तो यह हालत है। मरी जाती हूँ, पर आपको क्या! मेरे तो हाड़ गल गये और यह मास फूल आता है। कहाँतक रोऊँ और किसके पास रोऊँ!'

'तुका कहता है, जीते-जी ही गधा बना और मरकर सीधे नरक पहुँचा।'

पतिकी यह गति करनेवाली ऐसी सिर-चढ़ी जबरजग स्त्री पतिके कान फूँका करती है और फलते फूलते घरमें फूट डाल देती है। 'पतिसे घुल-घुलकर बातें करती है, कहती है, मेरी-जैसी दुखिया और कोई नहीं। मुझे सतानेमें तुम्हारी माँ, मेरी देवरानी, जेठानी, देवर, जेठ, ननद—सबने जैसे एका कर लिया हो। अब किसकी छायामें रहूँ, बताओ!'

'प्राणोंको मुट्ठीमें लिये वन-ठनके चलती हूँ जिसमें कोई कुछ, जाने

नहीं, पर आपको अमीतक कुछ क्याक नहीं, कुछ हया नहीं। मत अपना पर अलग करो तो मैं रह सकती हूँ, नहीं तो मत प्राण ही दे दूँगी।'

भार्याकी ऐसा निश्चय जब सुना तब वह कमसमझ स्पर पति अपनी स्त्रीसे कहता है, 'तुम ऐसा दुःख मत करो, देखो मैं कल ही माँ-बाप, भाई-बहिन सबको अलग करता हूँ और तब—

तुम्हें सिकड़ी बाजूबन्द और और बैंदी सब बनवा दूँगा। फिर मेरी-तुम्हारी जोड़ी खूब बनेगी।

तुका कहता है, स्त्रीने उसे गधा बनाया और वह भी उसके हौसलोंका बोझ लादे उसके पीछे-पीछे चला।'

ऐसे स्त्रैण पुरुषोंका जीवन बिल्कुल बेकार है। उससे न परलोक बनता है न इहलोक ही। न वह प्रपञ्च अच्छी तरह कर सकता है न परमार्थ ही साध सकता है। हिन्दू-समाज सदासे ही अविभक्त कुटुम्ब पद्धतिका माननेवाला है। माँ-बाप, भाई-बहिन देवर-जेठ देवरानी-जेठानी सास-ननद अतिथि-अभ्यागत—इन सबसे भरा हुआ गोकुल-सा बना हुआ घर बड़ा भाग्यवान् ही समझा जाता है। पर ऐसे घरमें यदि एक भी पुरुष स्त्रैण बना तो फिर उस घरकी मान-प्रतिष्ठा धूलमें मिलते देर नहीं लगती परम्परा टूट जाती है, और कुल-धर्म नष्ट हो जाता है। इसीलिये तुकारामजीने ऐसे स्त्रैण पुरुषोंको धिक्कारा है। 'मियाँ-बीवी' बनकर रहनेवाले दुर्बुद्धियोंके संसार धर्म-कर्मका लोप ही होता है। फिर यही होता है कि—

पत्नी ही माँ बन जाती है और बाप ही बाप बन जाता है। कर्म तो नष्ट होता है पर सब चेष्टाएँ अपनमन बन जाती हैं।

स्त्रीके वश होकर इस भवमें वह देवधर्म और पितृकर्म सबको काट देता है। श्राद्ध-पक्षमें स्त्री ही माताके स्थानमें और स्वयं पिताके स्थानमें बैठकर यथेष्ट भोजन करते हैं और हाथ-पैर फैलाकर सो जाते हैं।

खर्चे खूब बढ़कर करते हैं। यों तो अपसव्य करनेका काम श्राद्ध या पक्षमें ही पड़ता है पर इनकी सब चेष्टाएँ अपसव्य याने वाम, धर्महीन होती हैं। ईश्वर, धर्म, पितर, संत इन सबकी ओर पीठ ही फेरे रहते हैं। तुकाराम-जीने ऐसोंको बहुत धिक्कारा है।

पर्वकालमें कोई ब्राह्मण आ गया तो उसे खाली हाथ लौटाना, एकादशीके दिन यथेष्ट भोजन करना, ब्राह्मणके लिये खाँड़ भी न जुटे और राजदरबारमें या राजद्वारपर बन-ठनकर जाना, कीर्तनसे भागकर चौसर खेलना या नटोंके नाच तमाशे देखना, संतोंकी निन्दा करना और रास्तेमें कोई संत मिल जायँ तो उनसे जॉगड़चोरका-सा बर्ताव करना, गौकी सेवा न करके घोड़ेकी चाकरी करना, द्वारपर तुलसीका बिरवा न लगाना, देव-पूजन और अतिथि-सत्कार न करके भरपेट भोजन करना, द्वारपर भिखारी चिल्लाये तो चिल्लाता रहे उसे मुट्ठीभर अन्न भी न देना, कन्या-विक्रय करना, स्त्रीको कथा-कीर्तन सुनने जाने न देना इत्यादि अनेक अनाचारोंका बड़े कठोर शब्दोंमें तुकारामजीने निषेध किया है। पतित, दुराचारी, दाम्भिक कहीं भी मिल जाता तो तुकारामजी बिना उसकी खबर लिये नहीं छोड़ते थे। ब्राह्मणोंमें जो अनीति, अन्याय, ढोंग और दुराचार उन्होंने देखे उनपर भी खूब कोड़े लगाये हैं परन्तु इनसे किसी भी सद्ब्राह्मणको कोई चोट नहीं लगती और चोट लगे तो वह ब्राह्मण ही क्या! दोष किसीमें भी हों वे हैं तो निन्द्य ही। व्याज खानेकी वृत्ति करनेवाले, अन्त्यजोंके घर जाकर उनसे खिचड़ी माँगकर खानेवाले और उनसे लेन देन करते हुए उनका थूक अपने चेहरेपर गिरा लेनेवाले, गन्दी गालियाँ देनेवाले, आचारभ्रष्ट ब्राह्मणोंकी उन्होंने खूब खबर ली है। तुकारामजीके ये प्रहार किसी जातिपर नहीं, जिनके जो दोष हैं उनपर हैं, यह बात ध्यानमें रहे। ऐसे तो ब्राह्मणोंको तुकारामजी पूजनीय मानते थे। ब्राह्मणोंके प्रति उनका पूज्यता-भाव उनके सैकड़ों उद्गारोंद्वारा

प्रकट हुआ है। धर्म-कर्ममें ब्राह्मणोंको ही अग्रपूजाका मान वह दिया करते थे और सब वर्णोंको उनका यही उपदेश होता था कि ब्राह्मणोंको धर्मगुरु मानो। सब वर्ण भगवान्‌ने निर्माण किये हैं और सब वर्ण नारायणके ही हैं, यही उन्होंने कहा है। ब्राह्मण-विरोधी और ब्रह्म-द्वेषियोंको यह कहकर उन्होंने बड़ी फटकार बतायी है कि ये लोग ऐसे हैं कि ब्राह्मणोंको नमस्कार करते इनके चित्तमें भक्ति नहीं होती और गुरुके सामने जाते हुए उसकी बाँहोंके बेटे बनकर जाते हैं।' तुकारामजी यह चाहते थे कि समाजमें ब्राह्मणोंका जो गुरुपद है उसकी प्रतिष्ठा बनी रहे और उनमें जो दोष आ गये हैं वे नष्ट हो जायँ।

७ भण्डाफोड़

संसारी जीवोंको भगवद्भजन और सदाचार' का उपदेश करते हुए दुराचार फैलानेवाले दाम्भिकोंका भण्डाफोड़ भी बड़ी निर्भयतासे किया है। सीधा रास्ता दिखाते चलते हुए रास्तेमें बिछे काँटोंको भी साफ करते चलना पड़ता है और ऐसे काँटे संसारी जीवोंकी अपेक्षा परमार्थका ढोंग बनानेवाले उपदेशक और गुरु बनकर पुजवानेवालोंमें ही अधिक होते हैं। वेषधारी भगत जोगी, मौनी मानभाव शाक्त नाथपन्थी वैरागी लोचारे अतिस्पर्शी साधक मिथ्याज्ञानधारी सिद्धवादी आदि नाना वेषधारी बहुरूपी बहुरूपियोंको उन्होंने कोसा है। इन नानाविध पन्थोंमें जो अनीति और अनाचार, दम्भ और दुराचार, कल्पना और वासना आदि प्रकार दिन-दिन बढ़ते ही जा रहे थे, उन सबको तुकारामजीने उघेड़ डाला है। 'ढोंग बनानेसे भगवान् मिलते हों ऐसा नहीं है' यह कहकर तुकारामजी बतलाते हैं कि 'ऐसे जो भाव-भाव हैं उनमें तत्त्वज्ञान नहीं है।' इसलिये इन 'पेट-पुजारी संतों' के फेरमें कोई न पड़े यही उन्होंने बतलाकर बार बार बताया है। इनके सिवा फिर कीर्तन-कथा-वाचक व्यास गुरु बनी

विद्वान्, भक्त, संत आदि कहानेवालोंमें भी जो-जो खोटाई उनके नजर पड़ी उसको वह चौड़े ले आये हैं।

इन सब उपदेशकोंसे समाजका बहुत बड़ा काम निकलता है, समाजको इनकी आवश्यकता है, इससे लोग इन्हें मानते भी हैं इसलिये तो इन्हें अपने आपको अत्यन्त निर्दोष और निर्मल बना लेना चाहिये। पर ऐसी बुद्धि, ऐसा हृदय, ऐसी सत्यनिष्ठा बहुत ही कम लोगोंमें होती है। प्रायः बाजारू आदमी ही अधिक होते हैं। तुकारामजी उन्हें उपदेश देते हैं कि ऐसा ढोंगीपना छोड़ दो, हरि-प्रेममें लौ लगाओ और सदाचार-पालन करो। इस उपदेशके कुछ उदाहरण हमलोग भी देख लें। हरि-कीर्तनसे तुकारामजीकी अत्यन्त प्रीति होनेसे उनकी ऐसी लालसा थी कि कीर्तन करनेवालोंमें कोई भी दाम्भिक और ढोंगी कीर्तनकार न हो। पेटके लिये कोई कीर्तन न करे, कीर्तनको धन्धा न बना ले। कीर्तनके नामपर 'जो द्रव्य लेते-देते हैं, तुका कहता है, ये दोनों नरकमें गिरते हैं।' कीर्तनकार और व्यास समाजके गुरु हैं। उन्हें निर्लोभ, निःस्पृह और दम्भरहित होकर हरि-भक्ति और सदाचारका समाजमें प्रचार करना चाहिये, जैसा कहें वैसा स्वय रहना चाहिये। हरि-कीर्तन करनेवाले हरिदास, पौराणिक कथावाचक व्यास, शास्त्री, पण्डित, गुरु सजनेवाले, सत बने फिरनेवाले, वैदिक, कर्मठ, जपी, तपी, सन्यासी सबसे डङ्केकी चोट, तुकारामजीका यही कहना है कि 'ढोंग रचकर लोगोंको मत फँसाओ, इन्द्रियोंको जीतकर पहले अपने वशमें कर लो, स्वय न्याय-नीतिसे बरतो, कहनी-सी अपनी करनी बना लो, अर्थकरी उदरम्भरी विद्या और परमार्थकी खिचड़ी मत पकाओ, स्वय धोखा न खाओ और दूसरोंको धोखा न दो, निष्काम भजनसे भगवान्को प्रसन्न करो और निष्काम बुद्धिसे मनमें और जनमें उसीका गुण-गान करो, ज्ञानको महत्त्व मत बघारो, दम्भसे सर्वथा बचे रहो, भक्ति और उपासनामें रमो, भक्तिके बिना अद्वैतज्ञानकी लबी-चौड़ी बातें करके लोगोंको ठगा मत करो,

स्वयं तरो और फिर दूसरोंको तारो। यह उपदेश तुकारामजीने कहीं मीठे शब्दोंमें और कहीं कड़वे शब्दोंमें पर सर्वत्र सच्ची हार्दिक सद्भावनासे विज्ञप्त किया है।

'आचारके बिना क्या कहे जाते हो? पण्ढरिनाथका ही पता नहीं चला तबतक कोरी बातोंमें क्या रक्खा है? तुम्हारे इस शुष्क ब्रह्मज्ञानको मानता ही कौन है?'

• • •

'अद्वैतमें तो बोलनेका ही कुछ काम नहीं है, इसलिये क्यों अपना सिरमगजन कर रहे हो? गाना चाहते हो तो श्रीहरि (विठ्ठल) नाम गाओ, नहीं तो चुपचाप बैठे रहो।

अद्वैत कहनेकी बात नहीं है स्वयं होनेकी है। क्योंकि आचारपर पाण्डित्य बघारकर यदि अद्वैतका प्रतिपादन किया तो उससे श्रोताओंका कुछ भी लाभ होनेका नहीं। हरिका नाम-स्मरण करो भगवान्‌को भजो, इससे तुम रास्तेपर आ जाओगे, व्यर्थमें बड़ी ऊँची-ऊँची बातें कहनेमें वाणीको थका डालना ठीक नहीं।

'राम और कृष्ण-नाम सीधे-सीधे लो और उस श्यामरूपको मनमें स्मरण करो।

शान्ति, क्षमा, दया इन आभूषणोंसे अपने शरीर और मनको भूषित करो नारायणका भजन करो कामादि षड्रिपुओंको जीतो तब स्वयं ही ब्रह्म हो जाओगे। ब्रह्मज्ञानकी बातें कहनेसे कोई ब्रह्म नहीं होता चने चबाने पड़ते हैं लोहेके तब ब्रह्मपदपर वास करते बनता है। ठल्लेकी लोमी छाती जैसे बिना जाने ही नाचत है डलकता है वैसी ही बिना जाने ही ब्रह्मका निरूपण करनेवालोंकी स्थिति है। ऐसे ब्रह्मज्ञानको कौन सच्चा माने?

दूसरोंको जो ब्रह्मज्ञान बताता है पर स्वयं कुछ नहीं करता उसके मुँहपर थू है वह वैखरीको व्यर्थ ही कष्ट देता है। ब्रह्मादिके किञ्चित्

मिलनेकी आशासे वह ग्रन्थोंको देखता है और ब्रह्मकी ओर बुद्धिको दौड़ाता है यह सब पेटके लिये ढोंग बनाता है। वहाँ श्रीपाण्डुरङ्ग श्रीरङ्ग कहाँ ?'

* * *

अपनी बुद्धिके अनुसार मत-वाणीके प्रसादको मींजने-मसलनेवाले और 'सोनेके साथ लाखका जतन' के न्यायसे प्रासादिक कविवचनोंके दुशालेमें अपनी अकलके चीथड़े जोड़नेवाले 'कवीश्वर' क्या करते हैं ?—

'जूठे पत्तल इकट्ठे करके अपने कवित्वका चमत्कार दिखाते हैं !'

ऐसे कवियों और काव्योंके पाठकोंको 'इस भूसकी दवाईसे क्या हाथ आनेवाला है !' बड़ी विकलताके साथ फिर आप कहते हैं—

'जबतक सेव्य क्या और सेवकता क्या इसका पता नहीं चला तबतक ये लोग भटकते ही रहते हैं।'

उपासनाका रंग जबतक इनपर नहीं चढा, उसका रसास्वादन इन्हें नहीं हुआ तबतक ये शब्दजालमें ही फँसे रहते हैं। हरिका प्रसाद पाने और सिद्ध-स्वानुभव सम्पन्न पुरुषोंके ग्रन्थोंमें रमते हुए हृदयग्रन्थि खुलवानेके सीधे सरल मार्गको छोड़ ये लोग 'कवि' बनकर न जाने क्यों संसारके सामने आते हैं ?

'घर-घर ऐसे कवि हो गये हैं जिन्हें प्रसादका कुछ स्वाद ही कभी न मिला। दूसरोंकी बनी-बनायी कविता ले ली, उसीमें कुछ अपनी बात मिला दी, बस, बन गयी इनकी कविता।'

तुकारामजीके समयमें सालोमाल नामके एक कविता-चोर थ। वह तुकारामजीकी कविता उड़ा लेते और उसमें 'तुका' की जगह अपना उपनाम बैठा देते और उसे अपनी कविता कहकर लोगोंमें प्रसिद्ध करते। तुकारामजीने इस कविता-चोरको अपनी वाणीमें गिरफ्तार कर नौ अभंगोंके नौ बेंत लगाये हैं।

'संतोंके वचनोंको तोड़-मरोड़कर ऐसे कवि अपने आमूल्य मन्त्र बेचते हैं और संसारमें एक बुरी चाल चला देते हैं।'

• • •

विद्वानोंको देखिये तो क्या युवा और क्या प्रौढ़, प्रायः सभी अपनी ही शानमें मरे जाते हैं और साधु-संतोंका परिहास करनेमें ही अपनी विद्याको सफल समझते हैं।

ज़रा-सी विद्यापर इतना इतराते हैं कि जिसकी कोई हद नहीं, गर्वके सिरपर सोहनेवाली मणि बन जाते हैं। यह समझते हैं कि मुझसे बड़ा ज्ञानी और कोई नहीं। इतने अकड़ते हैं कि किसीको मानते ही नहीं और साधु-संतोंको तंग करते हैं। तुका कहता है ऐसे जो माया-जालमें हैं उनके पास नम्रताका कहाँ!

परन्तु ये मानकी मानके भूखे होते हैं और हमेशा इनकी यह होती है कि चाहते हैं मान और होता है अपमान। अपनी विद्याके मदके नशेमें चूर होकर संतोंकी निन्दा करके ये अपमानित ही होते हैं। गुरु बननेका धन्धा करनेवाले पेट पुजारियोंका भ्रष्ट आचार तुकारामजीको बहुत ही अखरता था। इनके बारेमें उन्होंने कहा है—

'गुरुपनके मदसे ये सब समय अशुचि रहते हैं। कहते हैं, हममें कोई जाति-पाँति नहीं। कोई शौचाचारका पालनेवाला पवित्र पुरुष हुआ तो उसे ये पापी समझकर उखाड़ फेंकना चाहते हैं। अनात्मिक आसक्तिको ये मानते हैं। न जाने कैसा होम-हवन करते हैं और सब लोग एक जगह बैठकर खाते हैं। कहते हैं इसमें कोई पाप नहीं यह तो मोक्षका द्वार है। तुका कहता है ऐसे पूरे गुरु और पूरे शिष्य, श्रीविठ्ठलकी शपथ करके मैं कहता हूँ कि नरकगामी होते हैं।

गद्य पढ़कर सिखलाते हैं क्योंकि ज्ञान उपदेश करते हैं, स्त्रियों और बच्चोंसे रंग जमाते हैं ऐसा कुछ उपाय रचते हैं जिससे कुछ पैसे

आमदनी होती रहे, ब्रह्मनिरूपण करते हैं पर जैसा कहते हैं वैसा करते कुछ भी नहीं, ऐसे बने हुए गुरुओं और संत बने फिरनेवाले दाम्भिकोंके कान, तुकारामजीने अच्छी तरह ऐंठे हैं।

'ऐसे पेट-पुजारी संतोंके पास भगवन्त कहाँ?' पर-स्त्री, मद्य-पान, असत्य, दम्भ, मान इत्यादिके पीछे पड़कर परमार्थकी दूकान लगानेवालोंको तुकारामजीने कहा है कि 'ये पुरुष नहीं, चार पैरवाले हैं, मनुष्य होकर भी कुत्ते हैं।' वेदज्ञ, वेदान्तविद्, गुरु और संत कहानेवाले लोगोंमें बहुतेरे 'बकरे' होते हैं और अद्वैतका दुरुपयोग करके विषयवनमें चरा करते हैं।

'विषयमें जो अद्वय हैं उनसे हमलोग दूर रहें—उन्हें स्पर्श भी न करें। भगवान् वहाँ अद्वय नहीं, उससे अलग हैं, सबसे अलग, निष्काम हैं। जहाँ वासना लिपटी हुई है वहाँ ब्रह्मस्थिति कैसी?'

❀ ❀ ❀

संसारमें नाम हो, इसके लिये तो तू गोसाईं बना। इसीके लिये तैंने ग्रन्थोंको पढा। इसीसे असली मर्म तुझसे दूर ही रहा। चित्तमें तेरे अनुताप नहीं हुआ तो झूठ-मूठ ही यह भगवा-वस्त्र पहन लिया और झूठी ही बकवाद करके अपनी जिह्वाको कष्ट दिया!'

विद्वानोंमें मत, तर्क और पन्थ तो बहुत होते हैं पर अनुतापसे शुद्ध होकर भगवान्‌के चरण पकड़नेवाला कोई विरला ही होता है।

'सीखे हुए बोल ये लोग बोल सकते हैं, पर अनुभव तो किसीको भी नहीं होता। पण्डित हैं, कथाओंका अर्थ बता देंगे, पर जिस अर्थसे इनका सुख बढे उससे ये कोरे ही रहते हैं!'

❀ ❀ ❀

'तार्किकोंके बड़े चतुर होनेमें सन्देह ही क्या है? पर इनकी चतुराई-को श्रीविठ्ठलजीका कोई पता नहीं है। अक्षरोंकी बड़ाईमें ये चढा-ऊपरी

कर सकते हैं पर श्रीविठ्ठलकी बड़ाईको नहीं जान सकते।

* * *

मत-मतान्तरोंके ये भेद हैं, शब्दोंकी व्युत्पत्तिके भण्डार हैं, पाख-ण्डोंके अभ्यासी हैं और इनकी वाचालताकी तो बात ही क्या है! पर मेरे श्रीविठ्ठलका भेद ये नहीं जानते, वह तो इतनी दूर हैं कि वहाँतक वेदमार्ग पहुँच ही नहीं सकता। कर्म-योग, जप, तप, अनुष्ठान, ध्येय, ध्यान सब इसी ओर रह जाता है। तुका कहता है, चित्त जब उपराम हो तब प्रेमरस उत्पन्न हो।

केवल शाब्दिक ज्ञान, अहंकारी ज्ञान, वेदबुद्धिको मन्द रखनेवाला ज्ञान मुर्देको पहनाये हुए आभूषणोंके समान व्यर्थ है। वेदवाणी सुनो, सार ग्रहण करो, बड़ोंकी आज्ञाका पालन करो, शास्त्रोंके मर्मोंको देखो, उनका तात्पर्य समझो, चित्तको उपराम होने दो, अनात्म-भावनाकी जड़को उखाड़ फेंको और प्रेमसे मेरे पाण्डुरङ्गका भजन करो—यही पण्डितोंसे तुकारामजीने कहा है। पेटमें अन्न न हो तो शृंगारकी क्या शोभा! उसी प्रकार श्रीहरिके प्रेमके बिना कोई ज्ञान किसी कामका नहीं। जिसके लिये वेद, शास्त्र और पुराण बने—उस नारायणको उपभोग लगाओगे तो तुम्हारा ज्ञान सफल होगा, नहीं तो समाजमें अहङ्कारी विद्वान्‌की किसी लोभी मनुष्यकी-सी गति होती है। पवित्र शब्द पेटके लिये नरस्तुति करना या वाग्जालमें ही वाणी व्यय करना तो अच्छा नहीं है यही तुकारामजीने बड़ी नम्रतासे उन्हें समझाया है।

सुनो हे पण्डितजन! आपलोगोंकी मैं चरणवन्दना करता हूँ। आपसे मेरी इतनी विनती मान लीजिये कि कभी मनुष्योंकी स्तुति मत कीजिये। अन्न वस्त्र मिलना प्रारब्धके अधीन है, जब जो मिल जाय। इसलिये तुका कहता है, अपनी वाणी नारायणके गुणगानमें लगाइये।

तुकाराम-जैसे श्रीहरि-प्रेमी प्रेममय संतके मुखसे दुर्जनों और

दाम्भिकोंके प्रति तिरस्कारभरे ऐसे ऐसे कठोर शब्द निकलते थे कि सुनने वालोंको कभी-कभी बड़ा आश्चर्य होता था कि हरि-प्रेमका यह कौन-सा लक्षण है। तुकारामजीने इसका उत्तर यों दिया है कि 'प्राणिमात्रमें मेरे हरि ही विराज रहे हैं यह तो मैं जानता हूँ' पर रास्ता भूलकर टेढ़े रास्ते चलने वालोंको सीधा रास्ता दिखानेके लिये ही मैं उनके दोष बताकर उनकी आँखें खोलता हूँ 'दुनियाकी निन्दा करनी पड़ती है' यह सही है, पर करूँ तो क्या करूँ? 'दूसरोंके मतमें मेरे चित्तका मेल जो नहीं बैठता!' मिठाईसे जब नहीं मानते, 'मुँहमें कौर डालते हैं तो मुँह जब फेर लेते हैं' तब हाथ पकड़कर और कभी कान पकड़कर भी सीधा करना ही पड़ता है। रोगीके मनकी करनेसे तो काम नहीं चलेगा, कठोर हुए बिना—कड़वी दवा पिलाये बिना उसका रोग कैसे दूर होगा? इन लोगोंपर दया आती है, इनकी दशा देखकर हृदय रोता है, जब नहीं रहा जाता तब 'जिसे मैं स्वयं अनुभव करता हूँ वही जगत्को देता हूँ।' भावुक लोग मेरे गलेमें माला पहनाते हैं, पैरोंपर गिर पड़ते हैं, मिष्टान्न भोजन कराते हैं, पर उससे मुझे सन्तोष नहीं होता। इसलिये अधीर होकर कहता हूँ, 'अरे! भगवान्के चरणोंका चित्तमें चिन्तन करो।' जब नहीं मानते तब कड़वी दवा पिलानी पड़ती है। जो कुछ कहता हूँ इसीलिये कहता हूँ कि—

'इस भवसागरमें लोगोंको डूबते हुए इन आँखोंसे नहीं देखा जाता, हृदय तड़प उठता है।'

मान या दम्भसे मैं किसीकी छलना तो नहीं करता, यह श्रीविठ्ठलकी शपथ करके कहता हूँ।

'संसारमें सर्वत्र ही भगवान् हैं, फिर भी जो मैं निन्दा करता हूँ यह मेरा स्वभाव है। ये लोग कालके गालमें गिरे जा रहे हैं यह देखकर दयासे रहा नहीं जाता!'

फिर भी यदि मेरा इस प्रकार दम्भका भण्डाफोड़ करना किसीको

अप्रिय लगता हो, इससे किसीको कुछ कष्ट होता हो तो मैं ही दुष्ट और चाण्डाल हूँ और इसलिये सबसे क्षमा माँगता हूँ।

८ धरना दिये ब्राह्मणको बोध

एक ब्राह्मण आळन्दीमें धरना दिये बैठा था। ज्ञानेश्वर महाराजने उसे तुकारामजीके पास भेजा। तुकारामजी बड़ाई चाहनेवाले नहीं थे, पर ज्ञानेश्वर महाराजकी आज्ञा जानकर उन्होंने इस ब्राह्मणको उपदेश किया। पर वह उस उपदेश और महाराजको वहीं छोड़कर चला गया। उस प्रसङ्गपर तुकारामजीने ग्यारह अभङ्ग कहे हैं। कुछका आशय नीचे देते हैं—

'ग्रन्थोंके भरोसे मत पड़े रहो, बस इसी बातको पक्की करो कि मन-को देह-भावसे खाली करके भगवान्के प्रेमसे भगवान्को मनाओ और साधन कालके मुँहमें राख देंगे, धर्मनाशके कर्मोंसे कोई भी मुक्त न करेगा।

'भगवान्के पास मोक्षका कोई बोझ थोड़े ही रक्खा है जो उसमेंसे थोड़ा-सा निकालकर वह तुम्हें भी दे देंगे। इन्द्रिय-विजयसे मनको साधो, निर्विषय बन जाओ। बस मोक्षका यही मूल है। 'तुका कहता है फल तो मूलके ही पास है, उस मूलको पकड़ो। शीघ्र श्रीहरिकी शरण लो।'

'उन कृपालुसे करुणा माँगो अपने मनको साक्षी रखकर उन्हें पुकारो। कहीं दूर आना-जाना नहीं पड़ता। वह तो अन्तरमें साक्षिस्वरूप विराजमान हैं। तुका कहता है वह कृपाके सिन्धु हैं भव-बन्धनको तोड़ते उन्हें कितनी देर लगती है।

सन्तोंको देखकर फिर कीर्तन करो तब उसमें (कानमें) रस लगेगा। नहीं तो व्यर्थ ही गाल बजाना और वासना तो हृदयमें रह ही गयी। तप-तीर्थाटन आदि कर्मोंकी सिद्धि तभी होगी जब बुद्धि हरिभजनमें स्थिर होगी। तुका कहता है अन्य उपायोंमें मत पड़ो। बस यही एक सार-सार हरि-नाम धारण कर लो।

'श्रीहरि-गोविन्द नामकी धुनि जब लग जायगी तब यह काया भी गोविन्द बन जायगी, भगवान्से कोई दुराव—कोई भेद-भाव नहीं रह जायगा। मन आनन्दसे उछलने लगेगा, नेत्रोंसे प्रेम बहने लगेगा। कीट भृङ्ग बनकर जैसे कीटरूपमें फिर अलग नहीं रहता वैसे तुम भी भगवान्से अलग नहीं रहोगे।'

'जो जिसका ध्यान करता है उसका मन वही हो जाता है। इसलिये और सब बातोंको अलग करो, पाण्डुरङ्गकी ध्यान-धारणा करो।'

❀ ❀ ❀

'सकुचकर ऐसे छोटे क्यों बन गये हो ? ब्रह्माण्डका आचमन कर लो। पारण करके संसारसे हाथ धो लो। बहुत देर हुई, अब देर मत करो। बच्चोंके खेलका घर बनाकर उसमें छिपे बैठ रहनेसे अँधेरा छाया हुआ था, कुछ न सूझनेसे घबड़ाहट थी! खेलके इस जंजालको सिरपरसे उतार दिया और बगलमें दबा लिया। बस, इतना ही तो काम है।'

'अविश्वासीका शरीर अशौचमें रहता है, इसी पापीके भेदभाव होता और छूत लगता है। उसकी हृदय-वल्लीका लता-मण्डप नहीं बन सकता। जैसा विश्वास होता है, वही सामने आता है। अविश्वासी वैसा ही खोटा होता है जैसे सिद्धान्नमें कोई ककड़ी।'

वह ब्राह्मण ज्ञानेश्वर महाराजको प्रसन्न करनेके लिये आलन्दीमें ४२ दिन-तक अन्न-जल त्याग धरना दिये बैठा था। ज्ञानेश्वर महाराजने उसे स्वप्न दिया कि तुकारामजीके पास जाओ, उनसे तुम्हारा अभीष्ट सिद्ध होगा। तुकारामजी लौकिक उपाधियोंसे उकता गये थे। कहा करते थे, 'लोगोंमें व्यर्थ ही मेरा इतना नाम हो गया, सच्चा दासत्व तो मैंने अभी जाना ही नहीं।' फिर भी ज्ञानेश्वर महाराजकी आज्ञाको कैसे टाल सकते थे ? इसलिये उस ब्राह्मणको उपदेश देनेके लिये उन्होंने ग्यारह अभंग कहे। ब्राह्मण विक्षिप्त-सा था, उस उपदेशको वहीं छोड़कर चला गया। परमार्थ कोई सोनेकी चिड़िया

नहीं, घर बैठे छप्पर फाड़कर मिलनेवाला धन नहीं, बिना कुछ किये-कराये सब कुछ आप ही हो जाय ऐसा कोई चमत्कार नहीं। जो लोग इसे ऐसा समझते हैं वे उस आलसपनकी तरह उपर्युक्त उपदेशको पढ़कर निराश हो जाया करेंगे। पर जो परमार्थ-पथके पथिक हैं, उनके लिये इसमें बड़ा ही पुष्टिकर पाथेय है। इसको विस्तारसे समझानेकी आवश्यकता नहीं, पाठक स्वयं ही अपनी बुद्धिसे इसे ग्रहण करेंगे।

९ तुकाजी और शिवाजी

छत्रपति श्रीशिवाजी महाराजका जन्म* संवत् १६८६ (शाके १५५१) के फाल्गुन-मासमें अर्थात् तुकारामजीकी आयुके २१ वें वर्ष जो भयङ्कर दुर्भिक्ष पड़ा था उसी दुर्भिक्षके साथ हुआ। शिवाजी महाराजने अपनी आयुके १० वें वर्ष तोरणकिलेपर अपना अधिकार जमाकर स्वराज्य संस्थापनके उद्योगका श्रीगणेश किया। इसके तीन वर्ष बाद संवत् १७ ६ (शाके १५७१) में तुकारामजी वैकुण्ठ सिधारे। समर्थ रामदास स्वामीका जन्म-संवत् १६६५ (शाके १५३) है। पुरश्चरण और तीर्थ-यात्रा करके संवत् १७ २ में समर्थ स्वामी कृष्णा-तटपर आये। तब संवत् १७ १ और १७ ६ के बीच किसी समय समर्थ शिवाजी और तुकारामजी दोनोंका समागम हुआ होगा। तुकारामजीके कीर्तन भी शिवाजीने इन्हीं तीन वर्षोंमें सुने होंगे। शिवाजीकी माता जिजाबाई और गुरु तथा कार्यकार दादाजी कोंडदेवके तत्त्वावधानमें और उनके प्रोत्साहनसे स्वराज्य-संस्थापनका उद्योग आरम्भ हुआ। तुकारामजी जैसे भगवदीय पुरुष ये देखे ही

---

* पहले यह मालूम थी कि संवत् १६८४ (शाके १५४९) में शिवाजी महाराज उत्पन्न हुए। अब पीछे जो नवीन इतिहास-संशोधन हुआ है उससे यह निर्विवादरूपसे प्रमाणित हो गया है कि महाराजका जन्म-संवत् १६८६ (शाके १५५१) ही है।—अनुवादक

शिवाजी भी अवतारी पुरुष थे। दोनोंका ही मुख्य कर्मक्षेत्र पूना-प्रान्त था। तुकारामजीने धर्मको जगाकर लोगोंके उद्धारका पथ प्रशस्त किया। जिस समय तुकारामजीका कार्य खूब जोरोंके साथ हो रहा था उसी समय स्वराज्य-सस्थापनका कार्य आरम्भ हुआ। भारतवर्षके सभी अवतारी पुरुषोंका प्रधान ध्येय स्वधर्मरक्षण ही रहा है। 'धर्मके सरक्षणके लिये ही हमें यह सारा प्रपञ्च करना पड़ता है।' तुकारामजीकी इस उक्तिके अनुसार तुकारामजीका यह कार्य था, और 'हिन्दवी स्वराज्य श्रीने हमें दिया है,' 'हिन्दूधर्म-सरक्षणके लिये हमने फकीरी बाना कसा है' कहनेवाले शिवाजीका कार्य भी यही धर्म सरक्षण ही था। दोनोंका ध्येय और ध्यान एक ही था। राष्ट्रके अभ्युदय और नि श्रेयस दोनों ही धर्म-सरक्षणसे ही बनते हैं। धर्म-सरक्षणका प्रधान अङ्ग वर्णाश्रमधर्म-रक्षण है। कारण, वर्णाश्रम-धर्म ही सनातन-धर्मकी नींव है। तुकाराम, शिवाजी और रामदास—तीनों ही वर्णाश्रम-धर्मकी बिगड़ी हुई हालतको सुधारनेके लिये ही अवतीर्ण हुए थे। 'कलि प्रभाव'के अभगोंमें तुकारामजीने उस समयका यथार्थ वर्णन करके बताया है कि किस प्रकार सब वर्ण भ्रष्ट हो चले थे। 'कोई वर्ण धर्म नहीं मानता, छूत-छात नहीं मानता, सब एकाकार होकर उच्छृङ्खलता कर रहे हैं' यह देखकर उन्हें बड़ा दुःख हुआ और ऐसे वर्ण-कर्म-वृत्ति सकरका उन्होंने निषेध किया। 'जप, तप, व्रत, अनुष्ठानादि करना लोगोंको बड़ा बोझ मालूम होता है पर इस मासपिण्डको पोसना बड़ा अच्छा लगता है।'

ईश्वर और धर्मको लोग भूल-से गये हैं—देहको ही देव और भोजनको ही 'भक्ति' समझ बैठे हैं, कर्तव्य-बोध कुछ रह ही नहीं गया, 'चारों वर्ण अठारहों जातियाँ एक पक्तिमें बैठकर भोजन करनेवाले' सहभोज-प्रेमी बने हैं!

'कलिका प्रभाव है कि पुण्य दरिद्र हो गया और पाप बलवान् बन बैठा। द्विजोंने अपने आचार छोड़ दिये, निन्दक और चोर बन गये।

तिलक लगाना छोड़ पायजामेके शौकीन बने और धर्मद्वेषका आदर करने लगे। हाकिम बने फिरते हैं और लोगोंको बिना अपराध ही सताते हैं। नीचकी चाकरी करते हैं और चूक-चूक होनेपर मार खाते हैं। राजा प्रजाको पीड़न करता है ~ । वैश्य, शूद्रादि तो जन्मसे ही कनिष्ठ हैं। बड़ोंका जब यह हाल है तब उनकी क्या कहा जाय। सारा मामला रद्दी ऊपरी स्वाँग है। तुका कहता है भगवन्! आप ऐसे कैसे सो गये, अब वेगसे 'दौड़े आइये।

धर्मभ्रष्ट होनेसे ही लोगोंका ऐसा बुरा हाल हुआ देखकर तुकारामजी-का हृदय व्याकुल हो उठता था। कहते हैं—

'अब और क्या होना बाकी है? राष्ट्रको पीड़ित देखकर अब धीरज नहीं रखते बनता।

परन्तु धर्मके संरक्षण और पुनः स्थापनके लिये राष्ट्रमें क्षात्रतेजके उदय होनेकी आवश्यकता होती है। स्वधर्मके आचरणके लिये स्वराज्यका भी लाभ होना चाहिये, यह बात तुकारामजी जानते थे।

'दया नाम सबके पालन और कण्टकोंके निर्दलनका है।'

'दया' का यह लक्षण उन्होंने किया है—'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्'—की ही यह प्रतिध्वनि है। गीतामें भगवान्‌ने कहा है, 'मामनुस्मर युध्य च।' समर्थ रामदासने कहा है, 'पहले हरि भजन और दूसरे राजकारण'। सबका तात्पर्य एक ही है। ब्रह्मतेज और क्षात्र तेजके प्रकट और एकीभूत हुए बिना राष्ट्रका अभ्युदय-निःश्रेयसरूप धर्म उदय नहीं होता। 'धाराधरि धराधरि ऐसी उभयविध सामर्थ्य जब राष्ट्रमें उत्पन्न होती है तभी राष्ट्र-धर्म विजयी होता है। इन दो कार्योंमेंसे एक कार्य तुकारामजीने अपने ऊपर उठा लिया और उसे उत्तम रीतिसे पूरा

किया। अब इसे स्वधर्मीय राजसत्ताके सहारेकी आवश्यकता थी। लोग अपने आचार-धर्मसे विमुख हो गये थे, उन्हें रास्तेपर ले आनेके लिये दण्डशक्ति आवश्यक थी।

क्या करूँ भगवन्! मुझमें वह बल नहीं कि इन्हें दण्ड देकर आगेके लोगोंको रास्तेपर ले आऊँ।'

यह उनके हृदयका उद्गार है। इसके लिये वह भगवान्से प्रार्थना करते थे। उनकी यह इच्छा उनके जीवित कालमें ही पूरी हुई। कम-से-कम अन्तिम तीन-चार वर्ष तो शिवाजी उनके सामने ही थे। शिवाजी महाराज धर्म और धर्मप्रचारक साधु-सन्तोंसे हार्दिक स्नेह रखते थे। माता जिजाबाई और गुरु दादाजी कोंडदेव दोनोंकी ही उन्हें यही शिक्षा थी कि साधु सन्तोंके कृपाशीर्वादका बल भरोसा पाये बिना तेरा राजकाज सफल नहीं होगा। रामायण और महाभारतकी वीर-गाथाओंके सुननेका उन्हें बड़ा प्रेम था। साधु-सन्तोंसे मिलना, उनका सत्कार और सत्सङ्ग करना, यह तो उनका स्वभाव ही बन गया था। अन्तको उन्होंने समर्थ रामदास-स्वामीका बड़ा समागम किया और उनसे उपदेश भी लिया, यह बात तो प्रसिद्ध ही है। पर इससे भी पहले चिंचवडके चिन्तामणि देव और पूनेके अनगडशाहके दर्शनोंके लिये महाराज गये थे। मौनी बाबा और बाबा याकूबकी शिवाजीपर बड़ी कृपा थी, यह ब्रह्मेन्द्रस्वामीने कहा है। (महाराष्ट्र-इतिहास-साधन खण्ड ३) कृष्णदयार्णव 'हरिवरदा' ग्रन्थमें कहते हैं कि एकनाथ महाराजके शिष्य चिदानन्दस्वामी और उनके शिष्य स्वानन्दको 'शिव-भूपति अपनी कल्याणकामनासे प्रार्थना करके राय-दुर्गमें ले आये और वहाँ सब प्रकारसे उनकी सेवाका प्रबन्ध रखा। इससे दोनोंको बड़ा सन्तोष हुआ।' श्रीशिव छत्रपति ऐसे सत-समागम-प्रेमी थे। तुकाराम महाराजसे वह न मिलते, ऐसा कब हो सकता था?

१० शिवाजीके नाम पत्र

पहले-पहल तुकारामजी जब लोहगाँवमें थे तब शिवाजीने अपने आदमियोंके साथ उनके पास मशालें घोड़े और बहुत-से जवाहिरात भेजकर उनसे पूनेमें पधारनेकी बिनती की। पर तुकारामजी ठहरे महाविरक्त उन्होंने जवाहिरातको देखातक नहीं और वैसे ही शिवाजीके पास लौटा दिया, साथ ९ अभंगोंका एक पत्र भी भेजा।

*　　*　　*

'मशाल, छत्र और घोड़ोंको लेकर मैं क्या करूँ ? यह सब तो मेरे लिये अच्छा नहीं है। इसमें हे पण्ढरिनाथ! अब मुझे क्यों डालते हो? मान और दम्भका कोई काम मेरे लिये शूकरी विष्ठा ही है। तुका कहता है, दौड़े आओ और मुझे इससे छुड़ा लो।'

'मेरा चित्त जो नहीं चाहता वही तुम दिया करते हो, इतना तंग क्यों कर रहे हो ?'

'संसारसे तो मैं अलग रहा चाहता हूँ इसका सङ्ग चाहता ही नहीं। चाहता हूँ एकान्तमें रहूँ किसीसे कुछ न बोलूँ। जन धन तनको वमन जैसा माननेको जी चाहता है। तुका कहता है चाहनेको तो मैं चाहता हूँ पर करने-करानेवाले तो तुम्हीं हो।'

'मैं क्या चाहता हूँ यह तुम जानते हो। पर अन्तर जानकर भी छल देते हो! यह तो तुम्हें आदत ही पड़ गयी है कि जो भी तुम्हें चाहता है उसके सामने ऐसी-ऐसी चीजें लाकर रख देते हो कि वह उन्हींमें फँसकर तुम्हें भूल जाय। पर तुकाने जो तुम्हारे पैर पकड़ रखे हैं देखें तो सही इन्हें कैसे छुड़ा लेते हो।'

अपने निश्चयके आसनको स्थिर रखते हुए तुकारामजी शिवाजी महाराजको उस पत्रमें लिखते हैं—'चींटी और नरपति दोनों ही मेरे लिये

एक-से ही जीव हैं। मोह और आस जो कलिकालका फाँस है, अब कुछ भी नहीं रहा है। सोना और मिट्टी दोनों ही मेरे लिये बराबर हैं। तुका कहता है, सम्पूर्ण वैकुण्ठ ही घर बैठे आ गया है। मुझे कमी किस बातकी है?'

'तीनों भुवनोंके सम्पूर्ण वैभवका धनी बन बैठा हूँ। भगवान् मेरे माता-पिता मुझे मिल गये, अब मुझे और क्या चाहिये? त्रिभुवनका सम्पूर्ण बल तो मेरे अदर आ गया! तुका कहता है, सारी सत्ता तो अब मेरी ही है।'

'आप हमें दे ही क्या सकते हो? हम तो विठ्ठलको चाहते हैं। हाँ, आप उदार हो, चकमक पत्थर देकर पारसमणि चाहते हो; प्राण भी दो तो भी भगवान्की कहलायी एक बातकी भी बराबरी न हो सकेगी। धन क्या देते हो जो तुकाके लिये गोमासके समान है!'

हाँ, कुछ देना ही चाहते हो तो एक ही दान दो—

'उससे हम सुखी होंगे—मुखसे 'विठ्ठल, 'विठ्ठल' कहो। आपका और सारा धन मेरे लिये मिट्टीके समान है। कण्ठमें तुलसीकी कण्ठी पहन लो, एकादशीका व्रत करो, हरिके दास कहलाओ। बस, यही एक तुकाकी आस है।

इन सात अभगोंके सिवा दो अभग और हैं। इनमें वह कहते हैं, 'बड़े-बड़े पर्वत सोनेके बनाये जा सकते हैं, वन-वनके वृक्षोंको कल्पतरु बनाया जा सकता है, नदियों और समुद्रोंको अमृतकी नदियाँ और समुद्र बनाया जा सकता है, मृत्युको रोक रखा जा सकता है, भूत, भविष्य, वर्तमान बताया जा सकता है, ऋद्धि-सिद्धियोंको प्रसन्न किया जा सकता है, योगमुद्राएँ सिद्ध की जा सकती हैं, प्राणको ब्रह्माण्डमें चढाया जा सकता है, यह सब कुछ किया जा सकता है पर प्रभुके चरणोंमें प्रीतिलाभ करना परम दुर्लभ है! इन सब सिद्धियोंसे उन चरणोंका लाभ नहीं होता। ऐसे

श्रीविठ्ठलके जन्म-दुर्लभ परम पावन परमानन्दकर चरण महात्माओंसे मुझे मिले हैं, इनके सामने इन दीपदान छत्र और घोड़ोंको अपने हृदयमें मैं क्यों जगह दूँ ?

मेघवृष्टि और गङ्गाप्रवाहका दृष्टान्त देते हुए दूसरे अभंगमें तुकाराम महाराज कहते हैं कि परती जमीन और खेत दोनोंपर मेघ-वृष्टि समान ही होती है और गङ्गाके प्रवाहमें पुण्यवान् और पापी समान ही स्नान कर पुनीत होते हैं, वैसे ही हमारा हरिकीर्तन अधिकारी और अनधिकारी, राजा और रङ्क सभीके लिये समानरूपसे होता है ।*

एक अभंग और है जो शिवाजी महाराजके लिये लिखा गया होगा । उसका भाव यों है—

'तुमने बड़े-बड़े पहलवानोंको अपने मित्र बनाये हैं, पर अन्त-समयमें वे काम न आवेंगे । पहले रामनाम लो। इस उत्तम 'राम' को अपने भीतर भर लो । यह परिवार, यह लोक, यह सैन्य किसी काम न आवेगा । जबतक काल सिरपर नहीं सवार हुआ तभीतक भागनेका यह वक्त है । तुका कहता है प्यारे ! कालचौरासीके चक्करसे बचो ।'

११ सिपाहीपानेके अभंग

इसके पश्चात् श्रीशिवाजी महाराज स्वयं ही श्रीतुकाराम महाराजके दर्शनोंके लिये लोहगाँव गये । महाराजका कीर्तन सुनकर शिवाजी राजा

* तुकारामजीके इस वन-अभंगी पढ़नेसे प्रकट होनेवाले प्रखर वैराग्य और अलौकिक आत्मविश्वास पूर्वोक्त दानप्रकरणपर तथा पत्रोंपर बड़ा प्रकाश पड़ा होगा इसमें सन्देह ही क्या है ! तुकारामके अभंगोंके कुछ संग्रहोंमें इन ९ अभंगोंके सिवा ५ दो-दो अभंग और हैं । इनमें छत्रपति श्रीशिवाजी महाराज इनके आत्मभाव और समर्थ श्रीरामदासस्वामीके भी नाम आते हैं । परन्तु वारकरियोंमें ये प्रक्षिप्त माने जाते हैं और मुझे भी प्रक्षिप्त ही जान पड़ते हैं । पर ये जो अभंग तुकाराम महाराजके ही हैं इसमें सन्देह नहीं ।

बहुत ही प्रसन्न हुए। उनका कीर्तन सुननेका अब उन्हें चसका ही लग गया। कई दिनोंतक शिवाजी महाराजका यही नित्यक्रम रहा कि रातको ब्यालू करनेके बाद घोड़ेपर सवार होते और तुकारामजी देहू या लोहगाँव जहाँ भी होते वहाँ पहुँचकर उनका कीर्तन सुनते और प्रातःकाल आरती होनेके बाद पूनेमें लौट आते। करते-करते एक दिन शिवाजीके चित्तमें पूर्ण वैराग्य भर गया और नित्यकर्मके अनुसार वह पूना नहीं लौटे, देहूमें तुकारामजीके पास ही रह गये। जिजाबाईको यह भय हुआ कि शिवाजी राजकाज छोड़कर कहीं वैराग्य योग न ले लें। वह स्वय देहू पहुँचीं। तुकारामजीने हरि-कीर्तन करते हुए वर्णाश्रमधर्म बताया और क्षात्रधर्म—राजधर्मका रहस्य प्रकट करके शिवाजीको स्वकर्तव्यपर आरूढ किया। एक दिनकी बात है कि तुकाराम महाराज कीर्तन कर रहे थे, श्रोताओंमें शिवाजी बैठे सुन रहे थे, ऐसे अवसरपर एक हजार पठान चढ आये और उन्होंने मन्दिरको घेर लिया। शिवाजीको पकड़नेका इससे अच्छा अवसर और कौन सा हो सकता था ! परन्तु तुकाराम महाराजके पुण्यप्रतापको देखिये या शिवाजी महाराजकी सावधानता सराहिये, शिवाजी को पकड़नेके लिये आये हुए उन एक हजार पठानोंके सामने होकर एक हजार पुरुष ऐसे निकल गये जो देखनेमें शिवाजी-जैसे ही प्रतीत होते थे और इन सहस्र सख्यक शिवाओंको देखकर पठानोंके होश ही गुम हो गये, वे यह तमीज ही न कर सके कि इसमें कौन शिवाजी हैं और कौन नहीं है। शिवाजी ऐसे निकल भागे और मुगलसेनाके सिपाही हक्के बक्के-से रह गये। ये बातें सबको विदित ही हैं। महीपतिबाबाने इन बातोंका विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। यहाँ उतना विस्तार न करके एक प्रसङ्गकी बात और लिख देते हैं।

एक बार तुकारामजी कीर्तन कर रहे थे और 'श्रीविट्ठलके रणबाँकुरे वीर' श्रवण कर रहे थे। इन्हींमें श्रीशिवाजी और उनके धीर अमात्य तथा

और सैनिक भी बैठे सुन रहे थे। श्रोताओंकी नजरोंसे-नजर मिलते ही तुकारामजीके चित्तने यह चाहा कि इन द्विविध श्रोताओंको अर्थात् विरक्त भक्त वारकरियोंको और स्वराज्य-संस्थापनके उद्योगियोंको एक साथ ही बोध कराया जाय। उस अवसरपर उन्होंने उसी समय रचते हुए शिपाही-पनेके ११ अभंग कहे। राजकाजमें हो या परमार्थके साधनमें हो, वीरत्व तो बड़ी दुर्लभ वस्तु है। पर गिरस्तीके प्रपञ्चमें, देशके राज-काजमें और परमात्माके परमार्थ-साधनमें कहीं भी देखिये, सामान्य लोगोंकी ही भरमार होती है। सामान्य जीव ही सर्वत्र दिखायी देते हैं और इसीलिये वे सामान्य कहलाते भी हैं। वीरत्व-गुण सम्पन्न पुरुष दुर्लभ होते हैं। वीरत्व कहीं भी हो उसकी जाति एक ही है। भीरु और वीर पामर और संत एक जातिके नहीं हैं। पशुओंमें वीर एक ही होता है—सिंह। मनुष्योंमें वीरत्व गुणकी जाति होनेपर भी उसके प्रकार भिन्न-भिन्न हैं। एकान्तविध्वंसी अर्थात् कभी-न-कभी नाश होनेवाले इस शरीर और इस शरीर-सम्बन्धी सब विकारोंसे जो अलग हो जाता है वह वीर है। शरीर और शरीर-सम्बन्धी क्षुद्र वासनाओंमें बँधा हुआ जो रहता है वह भीरु और जो इस दूषित-वायु मण्डलसे मनसा ऊपर उठ जाता हो वह वीर है। बुद्धिमत्ता उद्योगशीलता उदारचेतस्ता पराक्रम साहस लोककल्याणकर्मनिरतता इत्यादि अनेकों वीरके सहज गुण हैं। अँगरेज ग्रन्थकार कार्लाइल और अमेरिकन तत्त्ववेत्ता इमर्सनने वीर पुरुषोंकी अलग अलग कथाएँ सौंपी हैं। उन्हीं कथाओंमें हम अपने यहाँके वीरोंको बैठाना चाहें तो यों कह सकते हैं कि श्रीशङ्कराचार्य और ज्ञानेश्वरादि तत्त्ववेत्ता और धर्मसंस्थापक एक ही कक्षा या जातिके वीर हैं। वाल्मीकि व्यास सूर और तुलसीदास दूसरी जातिके वीर हैं। विक्रमादित्य शिवाजी आदि रामराज्य संस्थापक तीसरी जातिके वीर हैं; केशव बिहारी और हरिश्चन्द्र आदि पण्डित और ग्रन्थकार चौथी जातिके वीर हैं। नानक कबीर आदि साधु-संत पाँचवीं जातिके वीर हैं। ये सब

वीर ही हैं। तुकाराम, रामदास और शिवाजी वीर ही थे। ये सब योद्धा थे, सिरको दोनों हाथोंमें छिपाकर रोनेवाले, नहीं, नहीं असाध्यको साधकर दिखानेवाले थे। शिवाजीने स्वराज्य सस्थापित करके दिखा दिया, तुकारामजीने भगवान्को प्रत्यक्ष किया। तुकारामजीने शूरवीर बननेका उपदेश करते हुए सिपाहीवानेके अभग कहे। तुकारामजीने शिष्य और शिवाजीके सैनिक, धर्मवीर और रणवीर दोनोंको उपदेश किया है। उस उपदेशका महत्त्वपूर्ण अश नीचे देते हैं। मर्मज्ञ इसका मर्म जानेंगे।

सिपाहीवानेके साथ सिद्धान्तपर आरूढ हो वीर बनो। वीरोंकी गाथा चित्तमें धारो। सिपाही बने बिना प्रजा पीड़नका अन्त नहीं होगा और प्रजाको सुख नहीं होगा। प्राण-दानमें उदार सिपाही बनो, सिपाहियोंकी कुशल-क्षेमका सब भार स्वामीपर है। सिपाहीपनके सुखसे जो कोरा ही रहा उसका जीवन व्यर्थ है, उसके जीवनको धिक्कार है! तुका कहता है, एक क्षणमें सब बात हो जाती है, फिर सिपाहीके सुखका कोई अन्त नहीं।'

* * *

'दनादन गोलियाँ लग रही हैं, बाणों-पर-बाण आकर गिर रहे हैं, यह सब वह सह लेता है और ऐसी मूसलाधार वृष्टि करता है कि जिसका कोई परिमाण ही नहीं। स्वामी और उनका कार्य ही सामने दिखायी दे रहा है। उस युद्धकी शोभा ही कुछ और है! जो शूर और वीर सिपाही हैं वे ऐसे युद्धमें अदर और बाहर बड़ा सुख लूटते हैं।'

* * *

'सिपाहियोंको चाहिये कि आत्मरक्षा करें, परकीयोंको लूटें, उनका सर्वस्व छीन लें। अपने ऊपर चोट न आने दें, शत्रुको अपना पता भी न लगने दें। ऐसा जो सिपाही होता है, दुनिया उसे अपना नाथ मानती है। तुका कहता है, ऐसे जिसके सिपाही हैं वही तीनों लोकोंका अमित पराक्रमी सेनानायक है।

* * *

सिपाहियोंने ही परमार्थका पथ तोड़कर पथ चलने योग्य बना दिया। परमार्थकी छावनियाँ अपने हाथमें कर ली और वहाँ अपने आदमी तैनात किये। जो लोग रास्ता छोड़कर चलते हैं उन्हें ये सिपाही मार देते हैं जिससे दूसरोंको शिक्षा मिले। तुका कहता है, ये सिपाही विख्यात किये विश्वको सुख दिये चलते हैं।

• • •

जो सिपाही तनको तृण और सुवर्णको पाषाणके बराबर समझता है उससे उसके स्वामी भिन्न नहीं हैं। विश्वासके बिना सिपाहीका कोई मूल्य नहीं।

प्राणोंपर खेलनेकी उदारता जिन सिपाहियोंमें है वे ही सिपाही होते हैं और उनके बीचमें उनके नायक मुकुटमणिसे शोभा पाते हैं। भीरुओंकी तो कुछ बात ही नहीं है जहाँ-तहाँ मरे पड़े हैं। उनके खाने-पानेका तोता बना ही हुआ है। कहींसे भी वह नहीं टूटता है।

• • •

एक ही स्वामी हैं उन्हींके सब सिपाही हैं। जो जितना बड़ा वीर हो उतना ही अधिक उसका मूल्य है। तुका कहता है मरनेवाले तो सभी हैं पर मरनेसे डरना बेपानी होना है। मूल्य जो कुछ है वह निर्भयताके पानीका है।

• • •

असल सिपाही ही सिपाहीको पहचानता है उसमें एक ही स्वामीके लिये आदर और निष्ठा होती है। पेटके लिये जो हथियार बाँधते हैं वे तो जैसे कपड़ोंको ढोनेवाले गधे हैं। जिनका जो मतलब है वह मारना और बचाना जानता है। पर क्या परमार्थीको अपना अस्तित्व सौंप देगा? तुका कहता है हम उन्हें देवता मानकर वन्दन करेंगे जो वैसे हुए हों, उनके लक्षण हम जानते हैं।

• • •

ऐसी ओजभरी वाणीसे तुकारामजीने भगवद्भक्तोंको और स्वराज्य-भक्तोंको, कण्ठीधारी वारकरियोंको और तलवारधारी रणरङ्गियोंको एक साथ ही उपदेश किया है। सच्चा वीर कौन है—सच्चा भगवद्भक्त कौन है और सच्चा राष्ट्रभक्त कौन है? इन्हींकी पहचान, इन्हींके लक्षण इन अभगों-में बड़ी खूबीके साथ बताये गये हैं।

इस प्रसङ्गके अतिरिक्त अन्यत्र भी तुकारामजीके अभगोंमें वीरश्रीके अनेक उद्गार हैं—

'जो शूर-वीर है वही हाथका कौशल—मारना और बचाना जानता है। दूसरोंको यह क्या बताया जाय? तुका कहता है, शूरवीर बनो या मजूरी करके पेट भरो और आरामसे सो जाओ।'

समर्थ रामदास स्वामीने भी कहा है कि, 'जिसे प्राणका भय हो वह क्षात्रकर्म न करे, किसी उपायसे अपना पेट भरा करे।' यदि कभी लड़ना-झगड़ना हो तो सरदारका ही सामना करे, भगोड़ोंके पीछे न पड़े—

'यदि लड़ना ही हुआ तो पहले यह समझो कि, जीव कर ही क्या सकता है? भयको तो सामने आने ही मत दो। प्राणपणसे लड़ो, और कोई बात चित्तमें छिपाये न रहो। भीरु बनकर मत जीयो—ऐसे जीनेसे तो मरना अच्छा। तुका कहता है, शूर बनो, कालसे काल बनकर लड़ो।'

कुछ अतिरिक्त बुद्धिवालोंने तुकाराम महाराजको 'अकर्मण्य और भीरु' कहकर अपने ही ऊपर अपना थूक गिरानेका-सा उपहासास्पद दुस्साहस किया है।

१२ संतोंको भीरु आदि कहनेवालोंकी मूर्खता

ऊपर तुकारामजीके सिपाहीबानेके जो अभग दिये हैं उनसे अधिक स्पष्ट और निर्भीक और उज्ज्वल तेज दूसरे किसके उपदेशमें प्रकट हुआ है? ऐसी मेघगर्जना-सी गम्भीर, आकाश-सी निर्मल, सूर्य-सी तेजस्विनी

वाणीसे उन्होंने जो उपदेश किया है वह अत्यन्त स्पष्ट, निर्भय और प्रमा बोत्पादक है। भगवान्‌की पुकार करनेमें, संतोंके गुण गानेमें, नामकी महिमा बतानेमें, दाम्भिकोंका भण्डाफोड़ करनेमें और विविध प्रकारके लोगोंको उपदेश करनेमें उनकी वाणीसे जो तेज निकलता है वही तेज इस राजकारणविषयक उपदेशमें भी है। और यह उपदेश उन्होंने किसी एकान्त स्थानमें बैठकर चुपकेसे नहीं किया है बल्कि हरि-कीर्तनकी भरी सभामें किया है और उन उदीयमान वीर युवक वीर शिवाजी और उनके साथियोंको किया है *जिन्होंने अभी-अभी महाराष्ट्र-संस्थापनके महान् उद्योगपर्वका* आरम्भमात्र किया था। जिन तुकाराम महाराजका सारा जीवन प्रात-दिन अन्तर्बाह्य जगत् और मनसे युद्ध करते और उनपर अपना स्वामित्व स्थापित करते बीता, पराक्रमात्मका जिन्होंने माया माता और मत्सरण करने आयी हुई अप्सराको 'माता रखुमाई' कहकर विदा किया, जिन्होंने राजाकी ओरसे भेंटमें आये हुए बहुमूल्य रत्नोंको 'गोमांससमान' इन्कार कर लौटा दिया, रामेश्वर भट्ट-जैसे दिग्गज विद्वान्‌को जिनके आध्यात्मिक तेजके सामने चारह ही दिनमें नतमस्तक होकर अपना मारा मदाके लिये मुख देखा पड़ा शिवाजी महाराज-से जन लोगोंको जिन्होंने एक क्षणमें कीर्तनरंगमें ऐसा रँग डाला कि उसने सारा वैभव परित्याग कर वैराग्य ले लिया। शिवाजी महाराज-जैसे परम तेजस्वी, परम पराक्रमी महापुरुषको जिन्होंने अपनी अन्तर्बाह्य एकता और विशुद्ध सिद्ध प्रबोध वाणीसे भक्ति-भावनसुखपत्र आनन्द दिखाकर उसपर उनसे नृत्य कराया। जिन्होंने स्वयं परमात्माको निर्गुणसे सगुण साकार बननेको विवश किया और तीन सौ वर्षसे अबतो लाखोंके हृदयोंपर जिनका प्रभाव अखण्डरूपसे प्रवाहित होता और उन हृदयोंको परम प्रसाद देता चला आ रहा है उन तुकारामजीकी वाणी वीर्यवती न होगी तो और किसकी होगी! यह वाणी वीर्यवती तेजस्विनी अमगतनम्यापिनी है। पर इसमें आश्चर्यकी कोई बात

नहीं। जैसे वीरशिरोमणि तुकाराम, वैसी ही वीर्यशालिनी उनकी अभंग-वाणी। आश्चर्य तो इस बातका है कि, ऐसे तेज:पुञ्ज परम पुरुषार्थी महापुरुषको तथा तत्तुल्य और तद्गुरुस्थानीय श्रीज्ञानेश्वर, एकनाथादि सिद्ध महापुरुषों और महात्माओं तथा सारे वारकरी सम्प्रदायको कुछ आधुनिक ढंगके 'देशभक्तों'ने 'अकर्मण्य, भीरु, राष्ट्रके किसी कामके लायक नहीं, राष्ट्रकी हानि करनेवाले' आदि दुष्ट विशेषणोंसे विद्रूप करके अपनी बुद्धिकी बड़ी सराहना की है, और दुःख इस बातका है कि इनके इस उच्छृङ्खल बुद्धिचाञ्चल्यसे अनेक नवयुवकोंका बुद्धिभेद हो जाता है! संतोंकी निन्दा भगवान्‌को प्रिय नहीं होती और समाजके लिये पथ्यकर नहीं होती। श्रीज्ञानेश्वर, एकनाथ, तुकारामादि भक्तोंने या वारकरी सम्प्रदायने इन नयी रोशनीवालोंका जाने क्या बिगाड़ा है। देशभक्तोंके सम्प्रदायको इस प्रकार संतोंकी निन्दा, संतोंका विरोध और धर्मका उच्छेद सूझे, यह बहुत ही बुरा है। भारत-वासियोंके हृदयोंपर संतोंका इतना गहरा प्रभाव पड़ा हुआ है कि उसके सामने कोई निन्दा, विरोध और उच्छेदका दुस्साहस ठहर ही नहीं सकता। यदि भारतीय साहित्यमेंसे संतोंकी वाणी अलग कर दी जाय, यदि महाराष्ट्रके साहित्यसे ज्ञानेश्वर, एकनाथ, तुकाराम या हिन्दी-साहित्यसे सूर, तुलसी, कबीर आदिकी वाणी अलग कर दी जाय तो इन साहित्योंमें रह ही क्या जायगा? श्रीज्ञानेश्वर, एकनाथ, तुकाराम आदि संतोंने महाराष्ट्रमें धर्मको जगानेका प्रचण्ड कार्य किया, राष्ट्रकी मनोभूमि शुद्ध कर दी, लोगोंको धर्म, नीति और सदाचारके पाठ पढ़ाये, विधर्मी राजसत्तासे पददलित अचेत जनताको धर्मकी सञ्जीवनीसे चैतन्य किया, वैदिक धर्मकी रक्षा की, बड़ी ही कठिन परिस्थितिमें हिन्दू-धर्म और हिन्दू-समाजको सँभाला और पालन किया, मराठी भाषाका वैभव वृद्धिंगत किया, अपने उज्ज्वल चरित्र और दिव्य प्रबोध-शक्तिसे महाराष्ट्रमें नवजीवनका सञ्चार

किया और इसीसे श्रीशिवाजी महाराज स्वराज्य-संस्थापनमें समर्थ हुए। सूर्यप्रकाशके समान देदीप्यमान इस परम्परासम्बन्धको देखते हुए भी जो लोग पाश्चात्योंकी देशप्रेमसम्बन्धी कल्पनासे गुमराह होकर इन लोककल्याण-कारी संतोंकी अवहेलना करते हैं उन्हें क्या कहा जाय! मनोजयके मूर्तिमान् आकार, नियमके मेरु, ज्ञान और वैराग्यके सागर, लोककल्याणके अवतार, भाविक महाराष्ट्रके लिये माता पितासे भी अधिक पूज्य, लोक-कल्याणकी इच्छा करनेवाले जिनके चरणोंके पास बैठकर आशीर्वाद पाकर बलवान् बनें ऐसे महामहिम ईश्वरतुल्य सिद्ध महात्माओंको 'अकर्मण्य और भीरु और राष्ट्रका मनोबल नष्ट करनेवाले' कहकर उनकी निन्दा करनेवाले आत्मघाती जीव कम-से-कम इतना तो करें कि पहले उनके सब ग्रन्थ पढ़ जायँ। इन लोगोंका यह ध्यान है कि राष्ट्रको इन संतोंने नष्ट ही कर डाला था, पर रामदासने आकर राष्ट्रका उद्धार किया। समर्थ रामदास स्वामीकी स्तुति किसको प्रिय न होगी! जितनी करो थोड़ी है। पर इसके लिये यह आवश्यक नहीं कि अन्य संतोंकी निन्दा की जाय। शिवाजीको समर्थ रामदास वरद और सहाय हुए, यह तो सत्य ही है। पर समझनेकी बात यह है कि स्वराज्य-शासनके काममें शिवाजी महाराजको जो पराक्रमी न्यायवान्, सदाचारसम्पन्न, दृढनिश्चयी और धीमान् साथी और सेवक मिले जिन्होंने राष्ट्रकार्य साधनेके लिये अपना सर्वस्व शिवाजीके इशारेपर न्योछावर कर दिया वे सब्वरित्र और एकनाथ, तुकारामादि संतोंकी संजीवनी वाणीसे नवजीवन पाये हुए महाराष्ट्रमेंसे ही मिले या वे सब आसमानसे टपक पड़े? संतोंने महाराष्ट्रको यदि भीरु बनाया था तो तुकारामजीकी भैरवगर्जनासे निनादित महाराष्ट्रकी गिरिकन्दराओंमेंसे ही शिवाजीको अपने प्यारे मावळे सैनिक मिले थे या उन्हें उन्होंने कहींसे पारसकसे मँगवाया था? इतिहास तो मुक्तकण्ठसे यह स्वीकार करता है कि इन पहाड़ोंमें रहनेवाले कट्टर, इमानदार और दृढवीर मावळोंसे

एकनिष्ठ सहायता और सेवा पाकर ही शिवाजी स्वराज्य स्थापित कर सके। मावले प्रायः किसान होते हैं और सब देशोंके किसानोंके समान इन्हें भी लावनियाँ और 'पोवाडे' गानेका शौक होता है। आज भी जाकर कोई मावलोंके प्रदेशमें घूम आवे तो उसे यह मालूम होगा कि तुकाराम महाराजके अभंग परम्परासे गाते हुए अबतक वे चले आये हैं। मावलोंका जो कुछ धर्म-सम्बन्धी ज्ञान है वह तुकारामके नाम और अभंगोंका स्मरणमात्र है। उनका सम्पूर्ण साहित्य इतना ही है। शिवाजीके मावलोंके बारह जिले एक-दूसरेमें मिले हुए हैं और एकसे ही बने हुए हैं। तानाजी मालुसरेके इतिहासप्रसिद्ध शेलार मामा देहूसे डेढ कोसपर शेलारवाड़ीमें ही रहा करते थे। पीछे शिवाजीके सफेदपोश सिपाहियोंपर समर्थ रामदासकी धाक जमी, इसमें कोई सन्देह नहीं। पर इसके पूर्व मावलोंको धर्म, नीति, व्यवहारकी अमोघ शिक्षा तुकारामजीके हरि-कीर्तनोंसे प्राप्त हुई थी, इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। मनुष्यसमाज विराट् पुरुष है और विराट् बने हुए महात्माके सिवा उसे और कोई हिला-डुला नहीं सकता। यह ऐरे-गैरे नत्थू-खैरोंका काम नहीं है। कलिकालके प्रभावसे राष्ट्रपर धर्मग्लानिकी घटा बीच-बीचमें घिर आया करती है और ऐसे समय लोग शक्तिहीन, दुर्बल, कापुरुष-से बन जाते हैं, पर धर्मरक्षाके निमित्त जब महापुरुष अवतीर्ण होते हैं तब यह घटा छिन्न-भिन्न होकर नष्ट हो जाती है। महापुरुषोंके प्रभावसे राष्ट्रमें सब प्रकारके पुरुषार्थी पुरुष उत्पन्न होते हैं और राष्ट्रकी सर्वांगीण उन्नति होती है। समाजके लिये, इह-परलोकमें संतोंके सिवा और कोई तारनेवाला नहीं। संतोंके नेतृत्व और कृपाशीर्वादके बिना राजकीय उद्योग ताशके पत्तोंका-सा खेल हो जाता है। उसका कोई मूल्य या महत्त्व नहीं। समर्थ रामदास स्वामीने भी तो यही कहा है कि 'पहिलें तें हरिकथा-निरूपण। दुसरें तें राजकारण' (पहले हरिभजन और तब राजशक्तिसाधन)।

साधु संतोंपर यह आक्षेप किया जाता है कि इन लोगोंने संसारको 'मिथ्या और नाशवान्' कहा, इससे लोग अकर्मण्य बन गये। पर ऐसा आक्षेप करने वालोंसे यह पूछना चाहिये कि क्या समर्थ रामदास स्वामीने संसारको 'सत्य और अविनाशी' कहा है? यदि नहीं तो तुकाराम या अन्य संतोंने कौन-सी मिथ्या और विनाशकी बात कही? भगवान् श्रीकृष्णने भी तो यही कहा है कि, 'अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥' वेद और शास्त्र क्या बतलाते हैं और अपना अनुभव भी आखिर क्या है यह भी तो देख लो। सच्चे देशभक्त श्रीशिवाजी महाराज संतोंके तेज और बलको समझते थे और उनके चरणोंमें लीन रहते थे! राजशक्तिसाधन यदि धर्म विवेकको छोड़कर चलेगा तो दर-दर भटककर अन्तमें सिर पटककर रह जायगा। राजप आन्दोलनोंके पचेड़े राजकर हताश होनेके बाद जब पूर्ण निराशा राष्ट्रको घेर लेती है तब राष्ट्र ईश्वर, धर्म और साधु-संतोंकी ओर झुकता है, तब उसे ठीक रास्ता मिलता है सच्चा सात्त्विक प्रेम बन्धु-भाव सबोंका ऐक्य और आत्मशक्तिका तेज तथा धर्मका बल प्राप्त होता है और राष्ट्र अपने उद्योगमें यशस्वी होता है। जब समाज धर्म कर्म-रहित विवेकहीन और मूढ़ बन जाता है तब उसमें सब गन्दगी ही फैल जाती है सामान्य झाड़ू-बाहारीसे वह नहीं धुल जाती उसके लिये मूसलधार वर्षाकी ही आवश्यकता होती है। ज्ञानेश्वर एकनाथ तुकाराम और रामदास अपने मेघगर्जनसे सारे समाजको हिला डालते हैं। उनकी मेघवृष्टिसे समाजकी सारी गंदगी बह जाती है और कूएँ नदी, नाले पानीसे भर जाते हैं। पथरीली जमीनको छोड़कर शेष भूमि भीगती है और ऐसी उपजाऊ भूमिमें शिवाजी-जैसे कुशल और समर्थ कृषक चाहे जो अन्न उपजा लेते हैं और सम्पूर्ण राष्ट्र सुखी और समृद्ध 'आनन्द वनभुवन' में परिणत हो जाता है। महाराष्ट्रको ऐसी समृद्धि तुकारामजीके प्रयाणके पश्चात् बीस बाईस वर्षके भीतर ही प्राप्त हुई। उस सुख-समृद्धिको

देखकर भूमिकी और उसे कमानेवालोंकी, खेतोंकी हरियालीकी, उस अन्नप्रचुरताकी तथा उसे भोगनेवालोंके सौभाग्यकी चाहे जितनी प्रशंसा कीजिये, वह उचित ही है और उसमें सभी सहमत हैं। पर प्रेमसे इतनी ही विनय और है कि उस आनन्दमें मेघके उपकारको न भूलें। हताश, परवश, धर्मशून्य बने हुए महाराष्ट्रमें उस मेघवृष्टिके होते ही दीन, दरिद्र दुखिया महाराष्ट्र 'आनन्दवनभुवन' हो गया। उस आनन्दवनभुवनका माहात्म्य हम श्रीसमर्थ रामदास स्वामीके ही मेघगर्जनसे सुनकर इस मेघसंघातको विनम्रभावसे वन्दन करें। श्रीशिवाजी महाराजके राज्याभिषेक-का परम मङ्गलमय शुभ कार्य सुसम्पन्न होनेके पश्चात् समर्थ रामदास स्वामीने बड़े आनन्दके साथ कहा—

'यह देश अब आनन्दवनभुवन बन गया। स्नान-सन्ध्या, जप-तप, अनुष्ठानके लिये पवित्र उदककी अब कोई कमी न रही। जो लिखा सो ही हुआ, बड़ा आनन्द हो गया, अब प्रेम इस आनन्दवनभुवनमें दिन दूना, रात चौगुना बढ़ता जायगा। पाखण्ड और विद्रोहका अन्त हो गया, शुद्ध अध्यात्म बढ़ा, राम ही कर्ता और राम ही भोक्ता इस आनन्दवनभुवनमें हो गये। भगवान् और भक्त एक हो गये, सब जीवोंका मिलन हुआ और सब जीव इस आनन्दवनभुवनको पाकर सन्तुष्ट हुए। स्वर्गकी रामगङ्गा जहाँ आकर बहने लगीं, ऐसे इस आनन्दवनभुवन तीर्थ-की उपमा किस तीर्थसे दी जाय ? स्वधर्मके मार्गमें जो विघ्न थे वे सब दूर हो गये। भगवान्ने स्वयं कितने ही कुटिल खल-कामियोंको उठाकर पटक दिया, कितनोंको मसल डाला और कितनोंको काट भी डाला। सभी पापी खतम हुए, हिन्दुस्थान दनदनाकर आगे बढ़ा, अब आनन्द-वनभुवनमें भक्तोंकी जय और अभक्तोंकी क्षय हुई। भगवान्के द्रोही गल गये, भाग गये, मर गये, निकाल बाहर किये गये। पृथ्वी पावन हो गयी और जो आनन्दवनभुवन था वह आनन्दवनभुवन हो गया।'

तेरहवाँ अध्याय

चातक-मण्डल

पिपासाक्षामकण्ठेन याचितं चाम्बु पक्षिणा ।
नवमेघोज्झिता चास्य धारा निपतिता मुखे ॥

तुकारामजीके मुख्य शिष्य

तुकाराम महाराजने स्वयं गुरु बननेकी कभी इच्छा नहीं की। मेघवृष्टि-से उपदेश किया करते थे। तथापि मेघकी ओर अनन्यगतिक होकर देखनेवाले चातक नारायणकी सृष्टिमें उत्पन्न हुआ ही करते हैं। इसमें मेघकी इच्छा-अनिच्छाकी कोई बात नहीं। तुकारामजीका कीर्तन सहस्रों श्रोता सुना करते थे, सुनकर सुखी होते थे और फिर तुरंत अपने पुराने धन्धोंकी ओर भी जाते थे। परन्तु इनमें अनेक ऐसे भी थे जिन्होंने मन वचन कर्मसे तुकारामजीका अनुसरण भी किया। ऐसे बड़भागी जीवोंके पावन नामों और उनके पुण्य चरित्रोंका इस अध्यायमें दर्शन करें।

देहू ग्राममें एक पुराने ग्रंथमें तुकारामजीके प्रधान-प्रधान शिष्योंके नाम एक साथ लिखे हुए मिले हैं—१-निळोबाराय पिंपळनेरकर २-रामेश्वर भट्ट वाघोलीकर, ३-गङ्गाराम महाराज कडूसकर, ४-महादजी

पन्त कुळकर्णी देहूकर, ५–कोंडो पन्त लोहोकरे, ६–मालजी गाडे येलेवाडीकर, ७–गवर शेटवाणी सुदुम्बेकर, ८–मल्हार पन्त कुलकर्णी चिखलीकर, ९–आबाजी पन्त लोहगाँवकर, १०–कान्होबा बन्धु देहूकर, ११–सन्ताजी जगनाडे तळेगाँवकर, १२–कोंड पाटील लोहगाँवकर, १३–नावजी माळी लोहगाँवकर और १४–शिवबा कासार लोहगाँवकर।

ये चौदह नाम हैं। इनमें सबसे पहला नाम निळोबाराय (या निलाजी राय) का है। यह नामोल्लेख इसलिये नहीं हुआ है कि तुकारामजीके साथ करताल बजानेवालोंमें यह रहे हों बल्कि इसलिये हुआ है कि तुकारामजीके शिष्योंमें यही सबसे बढकर हुए। इन १४ शिष्योंमें ७ ब्राह्मण थे और ७ अन्य वर्णोंके। यह जो कभी-कभी सुननेमें आता है कि 'ब्राह्मणोंने तुकारामजीको सताया' सो ब्राह्मणशिष्योंके इन नामोंसे व्यर्थ-सा ही जान पड़ता है। यह भेद-भाव वारकरी-सम्प्रदायमें तो कभी था ही नहीं। तुकारामजीकी छत्रछायामें सभी शिष्य भगवत्कथामृत-पानमें ही मस्त रहते थे और उनका परस्पर प्रेम भी अवर्णनीय था। निळाजीको छोड़ शेष तेरह शिष्य पूना प्रान्तके ही अधिवासी और देहूकी पञ्चक्रोशीके ही भीतरके थे। कान्होबा बन्धु और मालजी गाडे जँवाई तो घरके ही आदमी थे। इन चौदह शिष्योंके अतिरिक्त कचेश्वर ब्रह्मे तथा बहिणाबाईका हाल इधर दस वर्षोंके अंदर ही मालूम हुआ है, इसलिये इस अध्यायमें इनका भी समावेश होना चाहिये। पहले तेरह शिष्योंकी वार्ता सुनें। तेरहमें चार लोहगाँवके हैं। लोहगाँवमें तुकारामजीका ननिहाल था और वहाँके लोग तुकारामजीको बहुत प्यार भी करते थे इसलिये पहले तेरह शिष्योंका परिचय प्राप्तकर पीछे लोहगाँवको चलेंगे। और इसके बाद कचेश्वर और बहिणाबाईके दर्शन करेंगे और अन्तमें निलाजी रायका चरित्र देखेंगे। इन सोलह शिष्योंमेंसे निलाजी राय, कान्हजी और बहिणाबाईके अभंग मौजूद हैं, रामेश्वर भट्टके भी चार अभंग और दो आरतियाँ हैं।

१ महादजी पन्त

यह देहूके ज्योतिषी कुलकर्णी थे, तुकारामजीके आरम्भसे ही परम भक्त थे। तुकारामजीके घरानेके साथ इनके घरानेका स्नेह पहलेहीसे चला आता था। तुकाराम महाराजके गृहप्रबन्धकी चिन्ता इन्हींको अधिक रहती थी। जिजाबाईको समय-समयपर अन्नादि और द्रव्यादि देकर यह उनकी मदद करते थे, उनकी खबर रखते थे और आपत्ति-कालमें सहाय होते थे। महादजी पन्तका यह सारा व्यवहार घरके बड़े-बूढ़ोंका-सा था। इन्द्रायणीके तटपर जहाँ देवोंकी अनेक मूर्तियाँ एक साथ हैं वहाँ तुकारामजी भजन करते थे और भजनमें तल्लीन हो जाते थे। एक बार पड़ोसका एक किसान तुकारामजीको अपने खेतकी रखवालीके लिये बैठाकर किसी कामसे एक दूसरे गाँवमें गया। तुकारामजीको अपने तनकी सुधि तो रहती ही नहीं थी, भजनमें ही रमे रहते थे। चिड़ियाँ आकर दाना चुगने लगतीं तो इन्हें तो उनमें नारायणकी मूर्तियाँ दिखायी देती थीं। इससे पक्षी भी निश्चिन्त प्रसन्नताके साथ खेत चुग जाते थे, हाथ जोड़े ही बैठे रहते। वह किसान इस रखवालीके बदले आधा मन अनाज देनेकी बात तुकारामजीसे कह गया था पर वह जब लौटकर आया तो सब खेत खाली, एकमें भी दाना नहीं। मारे क्रोधके हाथ-पैर पटकता हुआ वह पञ्चोंके पास गया। पर पञ्च जब देखनेके लिये खेतपर आये तब सारा दृश्य ही उलट गया। जहाँ एक भी दाना नहीं था वहाँ दो सौ मन अनाज निकला। पञ्चोंने सौ मन अनाज तुकारामजीको दिलाया। पर तुकारामजीने आधे मनसे अधिक लेना अस्वीकार किया। तब लोगोंके कहनेसे महादजी पन्तने उस अन्नराशिको अपने घरमें रखवा लिया और गोविन्द-मन्दिरके जीर्णोद्धारके काममें उसे सचाईके साथ खर्च किया।

२ गङ्गाराम मवाल

यह तुकारामजीके कीर्तनमें ध्रुवपद अलापते थे। तुकारामजीके यही

पहले ध्रुवपदी थे। यही तुकारामजीके एक मुख्य लेखक भी थे। प्रधान लेखक दो थे, एक यह और दूसरे सन्ताजी तेली चाकणकर। गङ्गाराम मवाल वत्सगोत्री यजुर्वेदी ब्राह्मण थे और दाभाडेतले गाँवमें रहते थे। इनके पिताका नाम नाभाजी था। यह सराफीका काम करते थे, और सम्पन्न थे। स्वभावसे बड़े सात्त्विक, शान्त, सहिष्णु और प्रेमी थे। इनका कुल नाम महाजन था। इनके मृदु सौम्य स्वभावके कारण तुकारामजी इन्हें विनोदसे 'मवाल' (नरम) कहा करते थे। गोपालबुवाने इनके अन्तः-करणको 'मोमसे भी मुलायम' कहकर इनका वर्णन किया है, गङ्गारामजीकी तरह ही सन्ताजी तेलीका भी स्वभाव था। स्वभाव दोनोंका मिलता था, इससे दोनों एक दूसरेके बड़े प्रेमी भी थे। ऐसे प्रेमी, ऐसे नैष्ठिक और ऐसे दुराशारहित ध्रुवपदिये—प्रेममें मस्त होकर नाचनेवाले मञ्जुल स्वरसे स्वर-में-स्वर मिलानेवाले और तन-मनसे तुकारामजीका अनुगमन करनेवाले, तुकारामजीके पीछे खड़े रहकर उनके भजनकी टेक या स्थायी पद गानेवाले ध्रुवपदिये—थे, इससे तुकारामजीके कीर्तनमें रगदेवता नाच उठते थे और श्रोताओंपर बड़ा अद्भुत प्रभाव पड़ता था, इन गङ्गाराम नरमके वंशज आज भी पूना और कडूसमें मौजूद हैं। पहले-पहल तुकारामजीसे इनका साक्षात् भामनाथ पर्वतपर हुआ। गङ्गाराम नरम अपनी खोयी हुई भैंसको ढूँढते-ढूँढते वहाँ पहुँचे थे। तुकारामजी उस समय भजनके आनन्दमें थे। इन्हें देखकर उनके मुँहसे एक बात निकल गयी। उन्होंने कहा, 'जाओ, घर लौट जाओ, भैंस तो तुम्हारे घरमें ही बँधी है।' यह लौटे, घर पहुँच-कर देखते हैं कि सचमुच ही भैंस बँधी खड़ी है। चार दिनसे उसका पता नहीं था, ढूँढते-ढूँढते गङ्गाराम हैरान हो गये, आज वह भैंस आप ही लौट आयी। गङ्गारामने इसे उस साधुके वचनका ही प्रभाव जाना। उनका यह ज्ञान अन्यथा भी नहीं था। कारण, साधुओंके सहज वचनोंमें ऐसी ही क्रियासिद्धि होती है। गङ्गारामने दूसरे ही दिन उत्तम भोजन तैयार कराया

१ महादजी पन्त

यह देहूके ज्योतिषी कुलकर्णी थे, तुकारामजीके आरम्भसे ही परम भक्त थे। तुकारामजीके घरानेके साथ इनके घरानेका स्नेह पहलेहीसे चला आता था। तुकाराम महाराजके घरगृहस्थीकी चिन्ता इन्हींको अधिक रहती थी, जिजाबाईको समय-समयपर अन्नादि और द्रव्यादि देकर यह उनकी मदद करते थे उनकी खबर रखते थे और आपत्ति-कालमें सहाय होते थे। महादजी पन्तका यह सारा व्यवहार घरके बड़े-बूढ़ोंका-सा था। इन्द्रायणीके तटपर जहाँ देवोंकी अनेक मूर्तियाँ एक साथ हैं, वहाँ तुकारामजी भजन करते थे और भजनमें तल्लीन हो जाते थे। एक बार पड़ोसका एक किसान तुकारामजीको अपने खेतकी रखवालीके लिये बैठाकर किसी कामसे एक दूसरे गाँवमें गया। तुकारामजीको अपने तनकी सुधि तो रहती ही नहीं थी, भजनमें ही रमे रहते थे, चिड़ियाँ आकर दाना चुगने लगतीं तो इन्हें तो उनमें नारायणकी मूर्तियाँ दिखायी देती थीं इससे पक्षी भी निश्चिन्त प्रसन्नताके साथ खेत चुग जाते थे हाथ जोड़े ही बैठे रहते। वह किसान इस रखवालीके बदले आधा मन अनाज देनेकी बात तुकारामजीसे कह गया था, पर वह जब लौटकर आया तो उस खेतमें एक कण भी दाना नहीं। मारे क्रोधके हाथ-पैर पटकता हुआ वह पञ्चोंके पास गया। पर पञ्च जब देखनेके लिये खेतपर आये तब सारा हाल ही उलट गया। जहाँ एक भी दाना नहीं था वहाँ दो सौ मन अनाज निकला। पञ्चोंने सौ मन अनाज तुकारामजीको दिलाया। पर तुकारामजीने आधे मनसे अधिक लेना अस्वीकार किया। तब लोगोंके कहनेसे महादजी पन्तने उस अन्न राशिको अपने घरमें रखवा लिया और श्रीविट्ठल-मन्दिरके जीर्णोद्धारके काममें उसे सचाईके साथ खर्च किया।

२ गङ्गाराम मवाल

यह तुकारामजीके कीर्तनमें ध्रुवपद अलापते थे। तुकारामजीके यहाँ

पहले ध्रुवपदी थे। यही तुकारामजीके एक मुख्य लेखक भी थे। प्रधान लेखक दो थे, एक यह और दूसरे सन्ताजी तेली जाकणकर। गङ्गाराम मवाल वत्सगोत्री यजुर्वेदी ब्राह्मण थे और दाभाडेतले गाँवमें रहते थे। इनके पिताका नाम नाभाजी था। यह सराफीका काम करते थे, और सम्पन्न थे। स्वभावसे बड़े सात्त्विक, शान्त, सहिष्णु और प्रेमी थे। इनका कुल नाम महाजन था। इनके मृदु सौम्य स्वभावके कारण तुकारामजी इन्हें विनोदसे 'मवाल' (नरम) कहा करते थे। गोपालबुवाने इनके अन्तःकरणको 'मोमसे भी मुलायम' कहकर इनका वर्णन किया है, गङ्गारामजीकी तरह ही सन्ताजी तेलीका भी स्वभाव था। स्वभाव दोनोंका मिलता था, इससे दोनों एक दूसरेके बड़े प्रेमी भी थे। ऐसे प्रेमी, ऐसे नैष्ठिक और ऐसे दुराशारहित ध्रुवपदिये—प्रेममें मस्त होकर नाचनेवाले मञ्जुल स्वरसे स्वर-में-स्वर मिलानेवाले और तन-मनसे तुकारामजीका अनुगमन करनेवाले, तुकारामजीके पीछे खड़े रहकर उनके भजनकी टेक या स्थायी पद गानेवाले ध्रुवपदिये—थे, इससे तुकारामजीके कीर्तनमें रंगदेवता नाच उठते थे और श्रोताओंपर बड़ा अद्भुत प्रभाव पड़ता था, इन गङ्गाराम नरमके वंशज आज भी पूना और कहूसमें मौजूद हैं। पहले-पहल तुकारामजीसे इनका साक्षात् भामनाथ पर्वतपर हुआ। गङ्गाराम नरम अपनी खोयी हुई भैंसको ढूँढते-ढूँढते वहाँ पहुँचे थे। तुकारामजी उस समय भजनके आनन्दमें थे। इन्हें देखकर उनके मुँहसे एक बात निकल गयी। उन्होंने कहा, 'जाओ, घर लौट जाओ, भैंस तो तुम्हारे घरमें ही बँधी है।' यह लौटे, घर पहुँचकर देखते हैं कि सचमुच ही भैंस बँधी खड़ी है। चार दिनसे उसका पता नहीं था, ढूँढते-ढूँढते गङ्गाराम हैरान हो गये, आज वह भैंस आप ही लौट आयी। गङ्गारामने इसे उस साधुके वचनका ही प्रभाव जाना। उनका यह ज्ञान अन्यथा भी नहीं था। कारण, साधुओंके सहज वचनोंमें ऐसी ही क्रियासिद्धि होती है। गङ्गारामने दूसरे ही दिन उत्तम भोजन तैयार कराया

और एक पात्रमें पूरन-पूरी आदि सब पदार्थ सजाकर रखे और उस पात्रको सिरपर रखकर वह भामनाथ पर्वतपर तुकारामजीके समीप ले गये। तुकारामजीके सामने पात्र रखकर उनकी चरण-वन्दना की और भोजन पानेकी बड़ी दीनतासे विनती की। तुकारामजीने इनके निष्कपट स्नेहको जानकर भोजन किया। पर ऐसी उपाधि बढ़नेकी आशङ्कासे वह कुछ ही दिन बाद उस स्थानको छोड़कर भण्डारा पर्वतपर चले गये। गङ्गारामजीके चित्तपर तो तुकारामजीकी मूर्ति खिंच गयी। और वह भण्डारा पर्वतपर भी तुकारामजीके पास आने जाने लगे। यह समागम अब इतना बढ़ा कि तुकारामजीके समीप दो आदमी सदा ही छाया-से रहने लगे—एक गङ्गाराम और दूसरे सन्ताजी। तुकारामजीकी अवाकी यह युगल-जोड़ी ही थी। तुकारामजीको माघ शुद्ध दशमीके दिन गुरूपदेश हुआ था। इस निमित्त तुकारामजीसे अनुमति लेकर गङ्गारामजी कडूसमें इस दिन आनन्दोत्सव मनाने लगे। यह उत्सव गङ्गारामजीके वंशज अभीतक बड़े ठाटके साथ पंद्रह दिनतक लगातार किया करते हैं। इन उत्सवके दिनोंमें उनके यहाँ अशौच या वृद्धि नहीं होती और किसी बच्चेसे माता भी नहीं निकलती। अभीतक यही मान्यता चली आयी है और मवाळवंशज इसे तुकारामजीका प्रसाद मानते हैं। गङ्गारामके पुत्रका नाम विठ्ठल था। इनके कुलमें रामकृष्ण नामके कोई महात्मा भी हुए, जो परमहंस-वृत्तिसे पण्ढरपुरमें रहा करते थे।

२ सन्ताजी तेली

इनका कुछ हाल तो ऊपर आ ही चुका है। यह चाकणके रहनेवाले कुल-नाम इनका जगनाडे। इनके पुत्रका नाम बाळाजी। इनके वंशज तळेगाववमें मौजूद हैं। सन्ताजीके हाथकी लिखी हुई तुकारामजीके अभंगोंकी बहियाँ तळेगाँवमें हैं। कहते हैं तुकारामजी और सन्ताजीके बीच यह परस्पर-प्रतिज्ञा थी कि हम दोनोंमेंसे जिसकी मृत्यु पहले हो उसे जो जीवित

रहे वह मिट्टी दे। तुकारामजी तो मरे नहीं, अदृश्य हुए। उनके अदृश्य होनेके कई वर्ष बाद सन्ताजीका चोला छूटा। उनके घरके लोग उन्हें मिट्टी देने लगे पर कितनी भी मिट्टी दी तो भी सन्ताजीका मुँह मिट्टीसे नहीं तोपा जा सका, वह मिट्टीके ऊपर खुला ही रहा। किसी तरह मुँह नहीं तोपा गया, तब मध्यरात्रिके समय उस स्थानमें तुकारामजी स्वयं प्रकट हुए और उन्होंने अपने हाथसे मिट्टी दी, तब मिट्टी देनेका काम पूरा हुआ। उस अवसरपर सन्ताजीके पुत्र बालाजीको तुकारामजीने तेरह अभंग दिये। उसमेंसे एकका भाव इस प्रकार है—

'गौओंको चराते हुए मैंने जो वचन दिया था उससे मुझे एक तेलीके लिये आना पड़ा। तीन मुट्ठी मिट्टी देनेसे उसका मुँह तुपा। (यह तो बाहरी बात है, असलमें) तुका कहता है, मैं इसे विष्णुलोकमें लिवा जानेके लिये आया हूँ।'

सन्ताजीकी समाधि भण्डारा पर्वतके नीचे सुदुम्बर नामक ग्राममें है।

४ गवर सेठ बनिया

यह कर्णाटकके लिङ्गायत बनिया सुदुम्बरमें रहते थे। बड़े सात्त्विक थे। तुकारामजीके महाप्रयाणके पश्चात् इनकी देह छूटी। मृत्युके पूर्व इन्होंने रामेश्वर भट्ट और कान्हजीको अपने समीप बुला लिया था और उनके मुखसे तुकारामजीके अभंग सुनते हुए इन्होंने देहत्याग किया। उस समय तुकारामजीके रूपकी ओर इनकी ऐसी लौ लग गयी थी कि अन्त समयमें तुकारामजी प्रकट हुए। इन्होंने अपने हाथसे तुकारामजीके ललाटमें चन्दन लेपन किया और गलेमें फूलोंका हार डाला। तुकारामजीको और किसीने नहीं देखा पर सबने अधरमें हार लटका हुआ देखा और तुकारामजीके नामकी जयध्वनि की, उसी ध्वनिमें मिलकर गवर सेठके प्राण चले गये।

५ मालजी

यह तुकारामजीके जँवाई यानी उनकी कन्या भागीरथीके पति थे। पति-पत्नी दोनोंकी ही तुकारामजीपर बड़ी भक्ति थी। तुकारामजीने मालजी-को नित्य पाठके लिये गीताकी पोथी दी थी।

६ तुकामाई कान्हजी

तुकारामजीके भाई कान्हजी पहले तुकारामजीसे बँट-बखरा कराके अलग हो गये थे पर पीछे इनके हृदयपर तुकारामजीका प्रभाव पड़ा और यह तुकारामजीकी शरणमें आकर शिष्य बने। यह तुकामाई कहलाने लगे। तुकारामके अभंगोंकी भाषामें इनके भी अनेक उत्तम अभंग हैं। तुकारामजीके महाप्रयाणपर इन्होंने जो विलाप किया है और भगवान्‌को जो खरी खोटी सुनायी है उस विषयके अभंग तो बड़े ही करुणारसपूर्ण हैं।

७ मल्हार पन्त चिखलीकर

यह भी तुकारामजीके बड़े नियमनिष्ठ भक्त थे और कीर्तनमें करताल बजाते थे।

८ कौंडो पन्त लोहोकरे

यह भी सुस्वर गाया करते थे। एक बार इन्होंने तुकारामजीपर अपनी यह इच्छा प्रकट की कि मैं काशीयात्राको जाना चाहता हूँ, आपके अनेक धनी-मानी भक्त हैं उनसे कुछ कह दीजियेगा तो मैं आरामसे पहुँच जाऊँगा। तुकारामजीने बात सुनी और अपने आसनके नीचेसे एक अशर्फी निकालकर उनके हाथपर रखी और कहा कि ध्यान करो इसे भैयाकर जरूरी सामान लिया करो पर जो भी खर्च करो एक पैसा रोकड़ जमा रखो इससे उसी पैसेकी दूसरे दिन अशर्फी बन जाया करेगी। कौंडो पन्तने बड़े कुतूहलके साथ यह अशर्फी अपनी टेंटमें खोंसी और वहाँसे विदा

लेकर उसी दिन उसका चमत्कार आजमाया। पैसेकी अशर्फी बन जाती है, यह प्रत्यक्ष देखकर उनके कुतूहलका ठिकाना न रहा। तुकारामजीने उनसे यह कह रखा था कि यह बात और किसीसे न कहना। अस्तु। तुकारामजीने उनके साथ काशीमें तीन अभंग भेजे थे। पहले अभंगमें गङ्गाजीको माता कहकर पुकारा है और यह प्रार्थना की है—

(१)

'भगवति मातः! मेरी विनती सुनो। आपके चरणोंमें मैं अपना मस्तक रखता हूँ। आप महादोषनिवारिणी भागीरथी सब तीर्थोंकी स्वामिनी हैं। जीवन्मुक्ति देनेवाली हैं, आपके तीरपर मरना मोक्षलाभ करना है, इहलोक और परलोक दोनोंके लिये आप सुख देनेवाली हैं। सतोंने जिसे पाला-पोसा वह श्रीविष्णुका दास तुका यह वचन-सुमन आपकी भेंट भेजता है।'

(२)

दूसरे अभंगमें श्रीकाशीविश्वनाथसे प्रार्थना करते हैं—

'आप विश्वनाथ हैं, मैं दीन, रङ्क, अनाथ हूँ। मैं आपके पैरों गिरता हूँ, आप कृपा कीजिये, जितनी कृपा करेंगे वह थोड़ी ही होगी, क्योंकि मैं (आपकी कृपाका) बड़ा भुक्खड़ हूँ। आपके पास सब कुछ है और मेरा सन्तोष अल्पसे ही हो जाता है। तुका कहता है भगवन्! मेरे लिये कुछ खानेको भेजिये।'

(३)

'विष्णु-पदमें अपने करोंसे पिण्डदान कर चुका हूँ। गयावर्णन मेरा हो चुका है। पितरोंके ऋणसे मैं मुक्त हो चुका हूँ। अब मैंने कर्मान्तर कर लिया है। हरिहरके नामसे बम-बम बजा चुका हूँ। तुका कहता है, मेरा सब बोझ अब उतर गया है।'

इन तीन अभंगोंमें भागीरथी, काशीविश्वेश्वर और विष्णुपदकी प्रार्थना की है। कोंडोबाने तुकारामजीसे मिली हुई सुवर्णमुद्रासे सम्पूर्ण यात्रा पूरी की। चातुर्मास्य उन्होंने काशीमें किया और तब लोहगाँवमें लौट आये। तुकारामजीके चरणवन्दन किये और यात्राका सब हाल निवेदन किया। पर एक बात झूठ कह दी। उन्हें यह डर हुआ कि तुकारामजी अपनी सुवर्ण-मुद्रा कहीं वापस न माँग बैठें। इसलिये उन्होंने बड़ी समयसूचकताके साथ पहले ही कह दिया कि यात्रासे लौटते हुए सुवर्ण-मुद्रा जाने कहाँ खो गयी। तुकारामजीने कहा तथास्तु। घर लौटकर कोंडो पन्तने देखा कि दुपट्टेके कोनेमें बाँधकर रखी हुई मुद्रा न जाने कहाँ गायब हो गयी। तुकारामजी-जैसे सर्वसमर्थ पुरुषसे ऐसा कपट किया, इस बातपर उन्होंने बड़ा पश्चात्ताप किया और तुकारामजीके चरणोंमें गिर उनसे अपना अपराध क्षमा कराया।

९ रामेश्वर भट्ट

रामेश्वर भट्ट तुकारामजीके विरोधी थे पीछे उनके परम भक्त हुए, यह कथा पहले कही जा चुकी है। वाघोलीमें रामेश्वर भट्टके भाईके वंशज हैं और बहुल नामक स्थानमें स्वयं रामेश्वर भट्टके वंशज हैं। रामेश्वर भट्टके परदादा आनन्द भट्ट कर्नाटक प्रदेशमें बादामी नामक स्थानमें रहते थे। वहाँसे वह पूनेमें आये और वहीं बस गये। इनके पूर्वज कर्नाटकी ही थे इसीसे समझते यह घराना महाराष्ट्रीय हुआ है। आनन्द भट्टके पुत्र चाण्ड या चाण्ड भट्ट, चाण्ड भट्टके पुत्र आनन्द भट्ट और आनन्द भट्टके पुत्र रामेश्वर भट्ट हुए। रामेश्वर भट्टके पुत्र विठ्ठल भट्ट हुए। विठ्ठल भट्टका वंश बहुल ग्राममें विद्यमान है। रामेश्वर भट्टके कुलमें वेदाध्ययन पूर्वपरम्परा से ही चला आया था। इन्होंने सम्पूर्ण वेद अपने पितासे ही पढ़े। यह रामके उपासक थे। जिस मूर्तिकी यह पूजा करते थे, वह मूर्ति बहुल ग्राममें इनके वंशजोंके पास है। वाघोलीमें व्याघ्रेश्वर महादेवका स्थान

प्रसिद्ध है। रामेश्वर भट्टने यहाँ बड़ा अनुष्ठान किया था। घरकी श्रीराम-मूर्तिकी पूजा-अर्चा करके यह नित्य ही व्याघ्रेश्वरके मन्दिरमें आकर एकादण्णी (एकादश रुद्रपाठ) करते थे। इनके वशज 'बहुलकर' कहलाते हैं और इनकी पैतृक ज्योतिषी वृत्तिके वाघोली, भावडी, बहुल, चिंचोली और शिंदेगहाण—ये पाँच गॉव अभीतक इनके अधिकारमें हैं। रामेश्वर भट्ट जब तुकारामजीके शिष्य हुए तबसे वारकरी मण्डलमें उनकी बड़ी प्रतिष्ठा हुई। तुकारामजीके पीछे कीर्तनमें यह झॉझ लेकर खड़े होते थे। दस-बारह वर्ष यह तुकारामजीके सत्सङ्गमें रहे, तुकारामजीने महाप्रस्थान किया तब यह देहूमें ही थे और कुछ झगड़ा पड़नेपर वहाँ इन्होंने ही शास्त्रीय व्यवस्था दी थी। इनकी समाधि वाघोलीमें है। बहुलकरोंके यहाँ मार्गशीर्ष शुक्ल १४ को इनकी तिथि मनायी जाती है।

१० शिवबा कासार

लोहगॉवमें तुकारामजीका ननिहाल था और लोहगाँवके लोग भी इन्हें बहुत चाहते थे, इससे लोहगाँवमें तुकारामजीका आना-जाना बराबर लगा रहता था। वहाँ तुकारामजीके कीर्तनका रग और भी गाढा रहता था। सारा लोहगाँव उनके कीर्तनपर टूट पड़ता था और आसपासके भी सैकड़ों लोग आ जाते थे। पर नहीं आता था शिवबा कासार, और केवल आता ही नहीं था सो नहीं, घर बैठे तुकारामजीकी खूब निन्दा भी किया करता था। वह जैसा दुष्ट, भ्रष्ट और कुटिल था, सब जानते थे। पर तुकारामजीका दयार्द्र अन्त करण तो यही चाहता था कि कोई कैसा भी दुष्ट प्रकृतिका मनुष्य हो, वह कीर्तन-श्रवण करे, भक्तिगङ्गामें नहा ले और शुद्ध होकर तर जाय। लोगोंके बहुत कहने-सुननेपर वह एक दिन लोगोंकी बात रखनेके ही विचारसे कीर्तन सुनने आ ही तो गया। दूसरे दिन उसका मन कहने लगा कि चलो, जरा कीर्तन ही सुन आओ, फिर वही मन यह भी

कहे कि अरे, कहाँ जाते हो बताओ चलो वहाँ; पर उसके पैर उसे यहीं ही लाये। तीसरे दिन कोई विघ्न नहीं पड़ा, अपनी ही इच्छासे आप ही बड़ी प्रसन्नताके साथ कीर्तन सुनने आया। इसके बाद तीन दिनतक उसकी उत्कण्ठा बढ़ती ही गयी। सातवें दिन तो वह तुकारामजीका भक्त ही बन गया। तुकारामजीके निर्मल हृदयकी अमोघ-वाणीका यह प्रताप था जिसने सात दिनमें एक बड़े दुर्जनको सुधारकर भगवान्‌का प्रेमी बना दिया। तुकारामजीने कहा है कि सन्त दुर्जनको निर्मल सुजन बना देंगे। गधेको घोड़ा बनाकर दिखा देंगे। शिवबा कासारको सचमुच ही उन्होंने कुछ-का-कुछ बनाकर दिखाया—यह पत्थरको ही पिघलानेका-सा काम था। तुकारामजीके सङ्गसे शिवबाका रूपान्तर हो गया। उसकी स्त्री अपने पतिका नया रूप, रंग और ढंग देखकर बहुत घबड़ायी। उसके जो पतिदेवता नित्य दाम पैदा करते। दाम पैदा करते हुए पैसेके लिये जाने क्या-क्या धन्धा कर लाते थे वे अब विट्ठल! विट्ठल! कहने और आँख मूँदकर बैठ रहने लगे। भजन यह कोई संसारियोंका काम है। संसारमें आसक्त उस स्त्रीको तुकारामजीपर बड़ा क्रोध आया। उसने तुकारामजीसे इसका बदला चुकानेका निश्चय किया और वह समयकी प्रतीक्षा करने लगी। एक दिन शिवबा तुकारामजीको बड़े प्रेम और सम्मानके साथ अपने घर लिवा गये। तुकारामजी जब स्नान करने बैठे तब इस कर्कशा ने जान-बूझकर उनके बदनपर अदहनका उबलता हुआ पानी डाल दिया। उससे शरीरकी क्या हालत हुई यह तुकारामजीके ही शब्दोंमें सुनिये—

सारा शरीर जलने लगा है शरीरमें जैसे दावानल धधक रहा हो। अरे राम! हरे नारायण! शरीर-कान्ति जल उठी रोम-रोम जलने लगे ऐसा होलिकादहन सहन नहीं होता बुझाये नहीं बुझता। शरीर फटकर जैसे दो टुकड़े हुआ जाता हो मेरे माता पिता केशव! दौड़े आओ मेरे हृदयकी क्या देखते हो! जल लेकर जल्दी दौड़े आओ। यहाँ और

किसीकी कुछ नहीं चलेगी । तुका कहता है, तुम मेरी जननी हो, ऐसा सङ्कट पड़नेपर तुम्हारे सिवा और कौन बचा सकता है ?'

फूलसे भी कोमल जिनका चित्त होता है, उन परोपकाररत महात्माओं-के साथ नीच लोग जब ऐसी नीचता करते हैं, तब थोड़ी देरके लिये तो इस ससारसे अत्यन्त घृणा हो जाती है और जी यह चाहता है कि यहाँसे उठ चलो । उस चुड़ैलने उन करुणानिधिके कोमल अङ्गोंपर उबलता हुआ पानी छोड़ा, इन शब्दोंको सुनते ही बदन जल उठता है । तुकारामजी शिवबाकी स्त्रीपर जरा भी क्रुद्ध नहीं हुए पर भगवान्‌का उसपर कोप हुआ । उसके शरीरपर कोढ फूट निकला । उसकी व्यथासे वह छटपटाने लगी । रामेश्वर भट्टके कहनेसे तुकारामजीको स्नान कराना सोचा गया था । दैवी लीला कुछ विचित्र ही होती है । तुकारामजीके इस स्नानसे जो मिट्टी भींगी वही मिट्टी शिवबाने अपनी स्त्रीके सारे शरीरमें मल दी । इससे वह महारोग दूर हो गया । उसके भी भाग्योदयका समय आया । उसने बड़ा पश्चात्ताप किया, बिलख बिलखकर खूब रोयी, तुकारामजीके चरणोंपर गिरी, तुकारामजीने उसे आश्वासन देकर शान्त किया । शेष जीवन उसका अपने पतिके साथ 'श्रीराम कृष्ण हरि विठ्ठल' भजनमें बड़े सुखसे बीता ।

११ नावजी माली

यह भी लोहगाँवके रहनेवाले थे । तुकारामजीके बड़े भक्त थे, सुगन्धित पुष्पोंकी मालाएँ बड़े प्रेमसे गूँथ-गूँथकर यह तुकारामजीको पहनाते थे । इस प्रकार उन्होंने अपनी कला ही तुकारामजीको अर्पण की थी । माला गूँथकर बेचना तो उनकी जीविका ही थी, पर वह अपनी जीविकाका बहुत-सा समय भगवत्प्रेममें लगाते थे—बड़े प्रेमसे श्रीविठ्ठलनाथ, श्रीतुकाराम और श्रीहरिकीर्तनके श्रोताओंके लिये

बड़े सुन्दर हार और गजरे तैयार कर ले आते थे और बारी-बारीसे सबको पहनाते थे। उन्होंने अपने बागमें बड़ी भक्तिसे तुलसीके बिरवे लगा रखे थे। नाना प्रकारके सुन्दर सुगन्धित फूलोंके पेड़ और पौधे तो लगा ही रखे थे। उनकी क्यारियोंमें घास निराते हुए, जल सींचते हुए, फूल उतारते हुए, माला गूँथते हुए यह श्रीविट्ठलका ध्यान करते हुए निरन्तर नाम-स्मरण करते रहते थे। बड़े प्रेमसे भजन करते थे। इनके प्रेम-मधुर भजन और नृत्यको देखकर तुकारामजी इनसे बहुत ही प्रसन्न रहते थे। नावजी जब कीर्तनमें आ बैठते तब तुकाराम यही कहकर उनका स्वागत करते कि 'हमारे प्राण-विश्राम आ गये।'

१२ अम्बाजी पन्त

यह लोहगाँवके जोशी कुलकर्णी थे। इन्होंने तुकारामजीकी चरण-सेवासे कृतार्थता लाभ की। यह एकाग्रचित्त होकर कथा सुनते थे। श्रोताओंमें ऐसी एकाग्रता और किसीकी नहीं होती थी। एक समयकी बात है कि लोहगाँवमें मध्यरात्रिमें यह तुकारामजीका कीर्तन सुनते हुए तल्लीन हो गये थे और उसी समय उनके घरपर उनके बच्चेका प्राणान्त हुआ। बच्चेकी माँ इस दुःखसे पागल-सी हो गयी। और बच्चेके प्रेतको उठाकर कीर्तन-स्थानमें ले आयी। वहाँ प्रेतको नीचे रखकर अपने पति और तुकारामको खूब खोटी-खरी सुनाने और प्रलाप करने लगी। उसके प्रलाप और विलापको देखते हुए तुकारामजीके मुखसे एक अभङ्ग निकला। इस अभङ्गमें तुकारामजीने भगवान्से प्रार्थना की—

हे नारायण! आपके लिये निष्प्राणको चैतन्य कर देना कौन-सी बड़ी बात है! हे स्वामिन्! पहलेके गीत हम क्या जानें। अब यहीं उन बातोंको प्रत्यक्ष करके क्यों न दिखा दें! हमारा महाभाग्य है जो आपकी शरणमें हैं, आपके दास कहलाते हैं। तुका कहता है, अपनी सामर्थ्य दिखाकर अब इन नेत्रोंको कृतार्थ कीजिये।

इसी प्रकार भगवान्से विनय करते और भगवान्का भजन करते एक प्रहर बीत गया, तब तुकारामजीके हृदयकी गुहार भगवान्को सुननी पड़ी और उस मृत बालकको प्राण-दान कर उठाना पड़ा। भक्तोंके चरित्रोंसे ऐसी-ऐसी अद्भुत घटनाएँ हो जाया करती हैं, पर इस विषयमें ध्यानमें रखनेकी बात यही है कि भक्तके चित्तमें यह भाव नहीं होता कि यह काम मैंने किया या मेरे कारण बना। ऐसा अभिमान उनके चित्तको दूरसे भी स्पर्श नहीं कर पाता। भक्त जब पूर्ण निरभिमान होता है और इसी ज्ञानमें लीन रहता है कि करने करानेवाले भगवान् हैं, तभी उनकी वाणी भी भगवान्की ही हो जाती है—जो कुछ भक्तके मुँहसे निकल जाता है, भगवान् उसे क्रियाफलपरिपूर्ण करते हैं।

१३ कोंड पाटील

तुकारामजी जब लोहगाँव जाते तब इन्हींके यहाँ ठहरते थे। यह ताल देनेमें बड़े प्रवीण थे। तुकारामजीके बड़े प्रिय थे।

लोहगाँव

शिवबा कासार, नावजी माली, अम्बाजी पन्त और कोंड पाटील—ये चारों शिष्य लोहगाँवके अधिवासी थे। तुकारामजी देहू और लोहगाँव, इन्हीं दो गाँवोंमें सबसे अधिक रहते थे, इन्हीं दो गाँवोंमें उनके स्वजन और प्रियजन अधिक थे। देहूमें तो उनका अपना घर ही था, और लोहगाँवमें उनका ननिहाल था। देहूसे भी अधिक लोहगाँवके लोग इन्हें चाहते थे। महीपति बाबा अपने भक्तलीलामृतमें कहते हैं—

'श्रीकृष्णका जन्म तो मथुरामें हुआ पर उनका असीम आनन्द गोकुलको ही मिला, वैसे ही श्रीतुकारामका सारा प्रेम लोहगाँववालोंने ही लूटा।'

यह लोहगाँव* पूनेसे ईशान-दिशामें बरसदाके उस ओर नौ मीलपर है। वारकरीमण्डलमें यह प्रसिद्ध भी है। तुकारामजीका ननिहाल इसी गाँवमें था और उनकी माताके मायकेका कुलनाम 'मोले' था। गाँवकी रचना तथा गाँववालोंके पास जो कागज-पत्र हैं उन्हें देखनेसे इस विषयमें कोई शङ्का नहीं रह जाती। तुकारामजीके ननिहालवालोंके घरमें एक शिला थी। इसीपर बैठकर तुकारामजी भजन किया करते थे। तुकारामजीके पश्चात् यह शिला उठाकर एक 'वृन्दावन'† पर रखी है। यहाँ वारकरियोंके भजन अब भी होते हैं। पण्ढरीके वारकरी आळन्दी जाते हुए मार्गशीर्ष कृष्ण ९ के दिन यहाँ ठहरते हैं। अभी उन ननिहालके मोलेघरानेके लोग यहाँ जमींदार थे अब इस घरानेका कृष्ण मोले नामक व्यक्ति बम्बईमें एक मैथ्यफ्रोथके यहाँ नौकर है। शिवबा कासारका मकान अब खँडहरके रूपमें मौजूद है। उसकी टूटी-फूटी दीवारोंसे यह पता चलता है कि यह कोई बड़ी भारी हवेली रही होगी। इस हवेलीका दरवाजा पश्चिमकी ओर था। हवेलीके सामने महादेवजीका एक संगमरमरका मन्दिर है। लोग बतलाते हैं कि इसी मन्दिरमें तुकारामजी और शिवबा महाराज बैठकर बातें किया करते थे। लोहगाँवके शिवबाके पास पाँच सौ बैल थे इनके द्वारा वह राँगा सीसा और बर्तनका बड़ा कारबार करता था। तुकाराम-जीके समयमें पुनवाडी (पूना) छोटी-सी बस्ती थी और लोहगाँवके इलाकेमें समझी जाती थी। लोहगाँवके बड़े बड़े गिरे हुए मकान,

---

* प्रसिद्ध इतिहासकार स्व० राजवाड़ेने लोहगाँवको पूनेकी वायव्य दिशाके किवरेस पर गाम बताया था। पर कई वर्ष पूर्व इस लेखके लेखकने स्वयं उपस्थित जाकर असली लोहगाँवका पता लगा लिया है। भारत-इतिहाससंशोधक मण्डलके तृतीय सम्मेलन-वृत्तमें श्रीपांगारकर महोदयका यह लेख छपा है। लोहगाँवका उपर्युक्त वर्णन लेखकने वहीं देखके यहाँ लिखा है।

† तुलसीका चौकोर ऊँची सी चबूतरी या थलेको महाराष्ट्रमें 'वृन्दावन' कहते हैं।

वहाँका बड़ा भारी महारवाड़ा, वहाँके मालियों और कासारोंके पुराने मकान तथा गाँवका ढाँचा देखकर ऐसा जान पड़ता है कि तुकारामजीके समयमें यह कोई बहुत बड़ा कसबा रहा होगा। लोहगाँवसे पैदल रास्तेसे आलन्दी अढ़ाई कोस, देहू सात कोस और सासवड नौ कोस है। लोहगाँवमें कासार, मोझे, खादवे और माली पुराने अधिवासी हैं। कोंड पाटील खादवे, नावजी माली और शिवबा कासार (तुकारामजीके शिष्य) इसी लोहगाँवके थे। मालियोंमें भालेकर, घोरपडे, गरुड और नूकण—ये चार घर वेतनवाले हैं अर्थात् परम्परासे जीविकाके लिये जागीर पाये हुए हैं। गाँवमें तुकारामजीका मन्दिर है। इस मन्दिरको छोड़ तुकारामजीका स्वतन्त्र मन्दिर और कहीं नहीं है। यह मन्दिर गुण्डोजी बाबाके शिष्य हरिबाबाका बनवाया बताया जाता है। पुनवाडीकी ओरसे गाँवमें घुसते ही 'कासारविहीर' (बावली) आती है। यह बावली बहुत बड़ी और रमणीक है। बावलीकी पूर्व, पश्चिम और दक्षिण तीन दिशाओंमें बड़े-बड़े आले हैं और बावलीके भीतर ही चारों घाटोंमें इतनी बड़ी जगह है कि पचास पचास ब्राह्मण एक साथ बैठकर सन्ध्या-वन्दन कर सकते हैं। बावलीमें दक्षिण ओर एक शिलालेख खुदा हुआ है। यह शाके १५३४का है। शिलालेखपर तुलसीका चिह्न बना है। मध्यका मुख्य लेख अच्छी तरह पढ़ा जाता है। अगल-बगलके अक्षर शिलाके कोन-किनारे घिस जानेसे नहीं पढ़े जाते। इस शिला लेखसे यह जान पड़ता है कि संवत् १६६९में यह गाँव 'कसबा लोहगाँव' था।

यहाँके एक पट्टेमें यह लिखा हुआ मिला कि अमुक 'कान्होजी रायगढमें महाराजकी चाकरीमें था, वह मरनेके लिये गाँवमें आया।' इससे भी इस बातकी पुष्टि होती है कि तुकारामजीके हरिकीर्तनसे निनादित मावल प्रान्तसे ही शिवाजीकी शूरवीर सेना तैयार हुई।

१४ कचेश्वर ब्रह्मे

भारत इतिहास मण्डलके सन् १८३५ के वार्षिक विवरणमें श्री-पाण्डुरङ्ग पटवर्धनने कचेश्वर कविकी आत्मचरित्रात्मक १११ ओवियाँ कुछ कागज-पत्र और दो आरतियाँ प्रकाशित की हैं। आरतियाँ तो इससे पहले ही हमें मिल चुकी थीं। आत्मचरित्र नहीं मिला था यह आत्मचरित्र बड़े महत्त्वका है। चाकणमें ब्रह्मे नामका वेदपाठी ब्राह्मणकुल प्रसिद्ध है। कचेश्वर इसी कुलमें उत्पन्न हुए। बचपनमें यह बड़े नटखट और ऊधमी थे। औरंगपुरा (वर्तमान सुपर) से बीजापुरतक आप गाते जाया करते थे। पीछे, कचेश्वर कहते हैं, 'मुझे कुछ चमत्कार दिखायी दिया जिससे मुझे गीतासे प्रेम हो गया। इसके बाद यह विष्णुसहस्रनामका भी पाठ करने लगे। एक बार किसीने उन्हें भोजनमें मिला विष खिला दिया उससे उन्हें दमा हो गया। किसीने सलाह दी कि 'भण्डारा पर्वतके पर तुकारामजीके मर्मस्थानक समय है, वहाँ जाओ और तुकारामजीके अभङ्ग पढ़ो इससे तुम्हारी बीमारी दूर हो जायगी।' कचेश्वरको यह सलाह जँची और यह देहूमें आये। वहाँ—

भगवान्‌के दर्शन करके मन प्रसन्न हुआ। सतोंके मुखसे हरिकीर्तन सुना ऐसा जान पड़ा जैसे तुकारामजी स्वयं ही कीर्तन कर रहे हों और आनन्दसे झूम रहे हों। ओंकारसे जैसे करदली हिलती है हरि-प्रेमसे तुकाराम वैसे ही डोल रहे थे। कचेश्वरको ऐसा प्रतीत हुआ कि तुकारामजी नृत्य करते-करते अब कहीं नीचे न गिर पड़ें इसलिये उन्होंने तुकारामजीको कन्धेका सहारा देकर उन्हें सँभाल-सा लिया। दूसरे दिन तुकारामजीकी आज्ञासे कचेश्वर स्वयं ही कीर्तन करने लगे। उनकी व्याधि दूर हो गयी। इनके पिताको यह बात पसन्द नहीं थी कि कचेश्वर इस तरह घरोंके मेलेमें नाचा-गाया करें। कचेश्वर अपने आपमें नहीं थे भगवद्भजन और हरि नामसंकीर्तनके आगे यह किसीकी कुछ सुनते ही नहीं थे। पिताने आखिर

उन्हें घरसे निकाल दिया। यह निकल आये। कुछ समय बाद इन्हें अपनी जमीन-जायदाद मिली, योगक्षेमकी कुछ चिन्ता न रही, कथा कीर्तनमें समय व्यतीत करने लगे, चित्त परमार्थके परम रसका अधिकाधिक आस्वादन करने लगा। कचेश्वरकी कुछ कविताएँ भी प्रसिद्ध हैं। इन्होंने एक बार एक चमत्कार भी दिखाया था। शाके १६०७ में चाकणचौगसी गाँवोंमें अवर्षणके कारण बड़ा भयकर दुर्भिक्ष पड़ा, यज्ञादि अनेक अनुष्ठान किये गये पर इन्द्र भगवान् प्रसन्न नहीं हुए। तब सब लोगोंके कहनेसे कचेश्वरने वर्षाके लिये हरिकीर्तन किया। कचेश्वरके हरिकीर्तनके प्रतापसे मेघ घिर आये और जोरोंसे बरसने लगे, यह कथा प्रसिद्ध है, इस सम्बन्धके कागजपत्र भी अब प्रकाशित हो गये हैं। पर्जन्यके लिये कीर्तन करना स्वीकार करते हुए उन्होंने यह कहा था कि 'श्रीहनुमान्‌जीके मन्दिरमें आनन्दगिरि मठमें हरिकथाके लिये मण्डप खड़ा करो। श्रीहरिकी कथा-कीर्तन करेंगे, भगवान्‌को पुकारेंगे, उससे पर्जन्यवृष्टि अवश्य होगी।' कथा सकीर्तन आरम्भ हुआ, नाम सकीर्तन होने लगा और उसी क्षण वृष्टि आरम्भ हुई और दिन और रात २४ घटे इतने जोरोंकी मूसलाधार वृष्टि हुई कि लोग तृप्त हो गये और कहने लगे कि अब वृष्टि थम जाय तो अच्छा! इस प्रकार सब लोग बड़े सुखी हुए। इस कथाका समर्थक ऐतिहासिक प्रमाण भी मौजूद है। कचेश्वरके वशज पूना और सतारामें जागीरदार हैं।

१५ बहिणाबाई

तुकारामजीके शिष्यमण्डलमें बहिणाबाईका स्थान बहुत ऊँचा है। यह कई वर्ष देहूमें तुकारामजीके सत्सङ्गमें रहीं, उनके कीर्तन सुनती रहीं और उनकी कृपासे स्वानुभवसम्पन्न भी हुईं। उन्होंने कुछ अभग आत्म-चरित्रात्मक और कुछ उपदेशात्मक रचे हैं। निलोबा राय तथा महीपति-बाबाके वचनोंकी बड़ी मान्यता है, पर एक तरहसे इनसे भी अधिक महत्त्व

बहिणाबाईके वचनोंका है । कारण बहिणाबाईने तुकारामजीके सम्बन्धमें जो कुछ लिखा है वह तुकारामजीको प्रत्यक्ष देखकर तथा उनके सत्सङ्गसे लाभ उठाकर अधिकारयुक्त वाणीसे लिखा है । बहिणाबाईके अभंगोंका संग्रह संवत् १९७ में वाम गाँवके श्रीउमरखानेने प्रकाशित किया था । पर मुझे इन अभंगोंकी असली हस्तलिखित प्रति बहिणाबाईके शिऊर (शिवपुर) ग्राममें बहिणाबाईके वंशज श्रीरामजीसे प्राप्त हो गयी है । इसी शिऊर गाँवमें बहिणाबाईकी तथा निळोबा रायके शिष्य शंकरस्वामीकी समाधि है । इनके वंशज भी इसी स्थानमें रहते हैं । बहिणाबाईका नाम तुकारामजीके शिष्योंके नामोंमें है और रामदास स्वामीके शिष्योंकी नामावलीमें भी है । इसलिये यथार्थ बहिणाबाई वारकरी थीं या रामदासी या बहिणाबाई एक नहीं दो थीं यह एक विवाद ही था । पर शिऊरमें तीन दिन रहकर सब पोथियों और कागज-पत्रोंको देख लेनेपर यह निश्चय हुआ कि बहिणाबाई दो नहीं एक ही हैं । इन्होंने तुकारामजीसे दीक्षा ली थी और पीछे उत्तर अवस्थामें यह रामदासके सत्सङ्गमें रहीं । समर्थ रामदासने हनुमान्‌जीकी एक प्रादेशमात्र (बित्ताभर) मूर्ति दी थी । वह मूर्ति बहिणाबाईके राम-मन्दिरमें अभीतक है । बहिणाबाईपर कब कैसे तुकारामजीने अनुग्रह किया इसका वर्णन स्वयं बहिणाबाईने अपने अभंगोंमें किया है । बहिणाबाईके अभंगोंकी मूल हस्तलिखित प्रतिमें भी कई जगह 'सद्गुरु तुकाराम समर्थ' 'श्रीतुकाराम रामतुका' कहकर गुरुरूपमें श्रीतुकाराम महाराज तथा श्रीरामदास स्वामी दोनोंकी ही वन्दना की है ।

बहिणाबाईका जन्म संवत् १९९ में हुआ । वह बारह वर्षकी थी तब स्वप्नमें तुकारामजीने उनपर अनुग्रह किया । इनके अभंग-संग्रहमें आत्मचरित्रके ७१ निर्याणके १४ तथा भक्ति वैराग्य, ब्रह्म और माया पिण्ड पञ्चीकरण त्रिगुण अनुताप संत सद्गुरु ज्ञान मनोबोध प्रकरणमें

पतिव्रताधर्म प्रभृति इत्यादि विषयोंपर अनेक अभग हैं। निलोबा रायकी-सी ही इनकी वाणी प्रासादिक है। यह पूर्वजन्मकी योगभ्रष्टा थीं, पूर्व पुण्यके प्रतापसे उत्तम कुलमें जन्म ग्रहणकर इन्होंने तुकारामजीका अनुग्रह प्राप्त किया, रामदास स्वामीका भी सत्सङ्ग-लाभ किया और परम पदको प्राप्त हुईं। तुकारामजीका उनपर जो अनुग्रह हुआ उसी प्रसङ्गको यहाँ देखना है। कोल्हापुरमें जयराम स्वामीके कीर्तन हुआ करते थे। बहिणाबाई उस समय बालिका थीं। वह इन कीर्तनोंको सुना करती थीं। इन्हीं कीर्तनोंमें तुकारामजीके अभग उन्होंने सुने और चित्तपर ये अभग जम-से गये। उनके पुण्यसस्कार-पटित मनपर उसी बालवयसमें तुकारामजीकी वाणी नृत्य करने लगी और तुकारामजीके दर्शनोंके लिये वह तरसने लगीं। बहिणाबाई स्वय ही बतलाती हैं—

'तुकारामजीके प्रसिद्ध अद्वैत पदोंके पीछे चित्त उनके दर्शनोंके लिये छटपटाने लगा है। जिनके ऐसे दिव्य पद हैं वह यदि मुझे दर्शन देते तो हृदयको बड़ा सन्तोष होता। कथामें उनके पद सुनते-सुनते उन्हींकी ओर आँखें लग गयी हैं। हृदयमें तुकारामजीका ध्यान करती हूँ और उस ध्यानका घर बनाकर उसके भीतर रहती हूँ। बहिन कहती है, मेरे सहोदर सद्गुरु तुकाराम जब मुझे मिलेंगे तो अपार सुख होगा।'

* * *

'मछली जैसे जलके बिना छटपटाती है वैसे मैं तुकारामके बिना छटपटा रही हूँ। जो कोई अन्त साक्षी होगा वही अनुभवसे इस बातको समझेगा। सञ्चितको दग्ध कर डाले, ऐसा सद्गुरुके बिना और कौन हो सकता है? बहिन कहती है, मेरा जी निकला जाता है, तुकाराम! तुझे क्यों दया नहीं आती?'

आर्त चातककी दशापर करुणाघनको भला दया कैसे न आवेगी? सात दिन और सात रात तुकारामजीका ही निरन्तर ध्यान था, और किसी

उसकी पूर्ण नहीं थी । तब कार्तिक कृष्ण ५ रविवार (संवत् १६६७) के दिन तुकारामजीने स्वप्नमें उन्हें दर्शन दिये, मन्त्र दिया और इनमें भक्ति जमा दी । तब बहिणाबाई कहती हैं—

मन आनन्दित हुआ, चित्तमें समाधान अनुभव करने लग गया और यह क्या चमत्कार हुआ, जागती हुई मैं उठ बैठी । तुकारामजीका वह स्वरूप सामने आता है, उस स्वप्नमें जो मन्त्र उन्होंने बताये थे याद आते हैं । भाव ही स्वप्नमें उन्होंने सुन्दर पूर्ण कृपा की । मेरे मस्तककी ओर उन्होंने हाथ रखा अमृत पिला दिया । इसका साक्षी वह जिनके पाग मनहीमें है । बहिन कहती है, सद्गुरु तुकारामने स्वप्न ही पूर्ण कृपा की । उन्हींके पाँवोंमें विश्रान्ति मिलती है । मेरी इच्छोंमें ही उनकी मूर्ति है । सचमुच ही तुकारामजीके सब शिष्योंके पालक श्रीपाण्डुरङ्ग ही तो हैं ।

बहिणाबाईको दूसरी बार फिर तुकारामजीका स्वप्नदर्शन हुआ । पीछे वह अपने पतिके साथ देहूमें आयी । यहाँ तुकारामजीके प्रत्यक्ष दर्शन हुए ।

माता पिता भाई और पतिके साथ मैं यहाँ आयी जहाँ इन्द्रायणी बहती हुई चली आयी है । यहाँ आकर इन्द्रायणीमें स्नान किया, श्रीपाण्डुरङ्गके दर्शन किये, अन्तरंगमें वृत्ति आनन्दमय होने लगी । उस समय तुकारामजी भगवान्की आरती कर रहे थे, उन्हें प्रणाम करके चित्तको प्रदक्षिण किया । स्वप्नमें उनका जो रूप देखा था वही यहाँ प्रत्यक्षमें देखा, उस रूपको आँखें भरकर देख लिया ।

देहूमें तो आये पर ठहरें कहाँ ? इस विचारसे रास्ता चल रहे थे इतनेमें मम्बाजीका ज्यादा-सा मकान दिखायी दिया । इसी घरमें ये लोग घुसे । इन्हें घुसे चले आते देखकर वह महात्मा मम्बाजी अग्निशर्मा हो उठा और मारनेके लिये दौड़ा । ये बेचारे वहीं दालानमें अपना सब सामान रखकर बाहर निकल आये । बाहर निकलते ही कोंडाजी पन्त

लोहोकरेसे भेंट हुई। कोंडाजीने इन सबको बड़े आग्रहके साथ अपने यहाँ भोजनके लिये बुलाया। इनसे उन्होंने कहा—

'यहाँ श्रीविट्ठल-मन्दिरमें नित्य हरि-कथा होती है। कथा स्वय तुकारामजी करते हैं जो हम वैष्णवोंकी साक्षात् माता हैं। आपलोग यहीं रहिये, खाने-पीनेकी कुछ चिन्ता मत कीजिये, उसका प्रबन्ध हमलोग कर लेंगे। यह पुण्य भी हमें लाभ होगा। बहिन कहती है तब हमलोग तुकारामके लिये देहूमें रह गये।'

तुकारामजीके दर्शन, कीर्तन और सत्सङ्गका परम सुख लूटनेवाली महाभाग्यवती बहिणाबाई कहती हैं--

'मन्दिरमें सदा ही हरि कथा होती रहती है और मैं भी दिन-रात श्रवण करती हूँ। तुकारामजीकी कथा क्या होती है, वेदोंका अर्थ प्रकट होता है। उससे मेरा चित्त समाहित होता है। तुकारामजीका जो ध्यान पहले कोल्हापुरमें स्वप्नमें देखा था, वही ज्ञानमूर्ति यहाँ प्रत्यक्ष देखी। उससे नेत्रोंमें जैसे आनन्द नृत्य करने लगा हो। दिनमें या रातमें निद्रा तो एक क्षणके लिये भी नहीं आती कैसे आवे? अब तो तुकाराम ही अदर आकर बैठ गये हैं। बहिन कहती है कि आनन्द ऐसी हिलोरें मारता है कि मैं क्या कहूँ, जो कोई इसे जानता है, अनुभवसे ही जानता है।'

मम्बाजीकी कथा

बहिणाबाई तो इस प्रकार अन्य भक्तोंके साथ जिस समय तुकारामजीके दर्शन और उपदेशका आनन्द ले रही थीं उस समय गोस्वामी मम्बाजी बाबा क्या कर रहे हैं यह देखना अब जरूरी है। इस अध्यायमें हमलोगोंने तुकारामजीके भक्तोंको ही देखा कि वे तुकारामजीको कितना मानते और कैसे पूजते थे तथा उनसे कितना गाढा स्नेह रखते थे। पर इस मिष्टान्न-

भोजनके साथ कुछ खटाई भी तो होनी चाहिये, सुन्दर सुशोभित प्यारे मुखड़ेको नजर न लगने देनेके लिये एक काली बिन्दी भी तो होनी चाहिये। यदि ऐसा न हो तो यह संसार संसार ही न रह जायगा। इसलिये खटाईके रूप इन गोसाईंको, मम्बाजीरूप इस काली बिन्दीको भी जरा निहार लें। मम्बाजी गोसाईं, तुकारामजीको मानो पीड़ा पहुँचानेके लिये ही पैदा हुए थे। तुकारामजी तो निष्काम भजन करते थे और मम्बाजीने खोल रखी थी परमार्थकी दूकान! तुकाराम भगवान्की भक्तिसे लोगोंके हृदय भरा करते थे और मम्बाजी लोगोंसे पैसा वसूलकर अपना घर भरते थे। पर इनके इस व्यवसायमें तुकारामजीके कारण बड़ी बाधा पड़ती थी। लोग तुकारामजी-की ओर ही झुकते उन्हींके जाकर पैर पकड़ते थे, यह देख मम्बाजी उनसे मन-ही-मन बहुत जलते थे, उनके नामसे चिढ़ते थे उनसे बड़ा द्वेष करते थे। तुकारामजीको इन बातोंका कुछ ख्याल ही नहीं था। वासुदेवः सर्वमिति' का प्रत्यक्ष करनेवाले, भूतमात्रमें भूतभावन भगवान्को देखनेवाले सर्वभूतहितरत भगवद्भक्त महात्माके हृदयमें भगवान्के सिवा और किसी वस्तुके लिये अवकाश ही कहाँ? पर भगवान्का कौतुक देखिये कि अपने प्रियतम भक्तकी शान्तिका अलौकिक तेज दिखानेके लिये कहिये या भक्त-की शान्तिकी परीक्षाके लिये कहिये उन्होंने एक कसौटी पैदा की जो तुकारामजीके घरके बिल्कुल बगलमें मम्बाजीको लाकर रखा। दुर्जनके बिना सज्जनका सौजन्य छिपा ही रह जाता है संसारपर उसका प्रकाश फैलने नहीं पाता।

'बुरे भलेको दिखा देते हैं' हीन उत्तमको बता देते हैं। तुका कहता है नीचोंसे ऊँचोंका पता लगता है।'

मम्बाजीने तुकारामजीसे वैर ठाना। पर तुकारामजीकी भक्ति इतनी ऊपर उठी हुई थी कि वह निरन्तर क्षमाशान्तिरूप परम सुखासनपर ही विराजमान रहते थे। मम्बाजी तुकारामजीका कीर्तन सुनने आया करते थे

अवश्य ही द्वेषबुद्धिसे आया करते थे पर तुकारामजीको इससे क्या ? वह तो मम्बाजीपर प्रेमकी ही दृष्टि रखते थे। यदि किसी दिन मम्बाजी कीर्तनमें न आते तो तुकारामजी उनके लिये कीर्तन रोक रखते, उनकी प्रतीक्षा करते, उन्हें बुलानेके लिये किसीको भेज देते और उनके आनेपर उनका बड़ा स्वागत करते। पर 'औंधे घड़ेका पानी' किस कामका ? मम्बाजीपर कुछ भी असर न होता। वह अपने द्वेषको ही सुलगाते रहते। आखीर एक दिन मम्बाजीके द्वेषको भभक उठनेके लिये अच्छा अवसर मिला।

तुकारामजीके श्रीविट्ठल-मन्दिरसे सटा हुआ-सा ही मम्बाजीका मकान था। उनके मकान और तुकारामजीके मन्दिरकी परिक्रमाके बीच रास्तेमें ही मम्बाजीने फूलोंके कुछ बिरवे लगा रखे थे और एक छोटा-सा बगीचा-सा ही तैयार किया था। उस बगीचेके चारों ओर काँटोंकी बाड़ लगा दी थी। एक दिनकी बात है कि तुकारामजीको उनके ससुर अप्पाजीसे मिली हुई भैंस बाड़को रौंदती हुई मम्बाजीके बागीचेके अदर घुस गयी। बस फिर क्या था! मम्बाजी तुकारामजीपर लगे गालियोंकी बौछार करने। परिक्रमाके रास्तेमें काँटे छितरा गये थे। हरिदिनी एकादशीका दिन था, यात्रियोंकी उस दिन बड़ी भीड़ होती, परिक्रमा करते हुए उनके पैरोंमें कहीं काँटे न गड़ें, इसलिये तुकारामजीने स्वय ही अपने हाथों उन काँटोंको वहाँसे हटाया और रास्ता साफ किया। पर उधर मम्बाजीके द्वेषको भभक उठनेका भी अच्छा रास्ता मिला। साँपपर भूलसे भी यदि पैर पड़ जाय तो वह जैसे काल-सा बनकर काट खानेको दौड़ता है वैसे ही मम्बाजी भी मारे क्रोधके दाँत पीसते हुए तुकारामजीपर टूट पड़े और उन्हीं काँटोंकी बाड़ोंसे उन्हें मारने लगे। मुँहसे गालियाँ बकते जाते थे और हाथसे बाड़ें मारते जाते थे। मारते-मारते तुकारामजीको अधमरा-सा कर डाला। तुकारामजीकी शान्तिकी परीक्षाका यही समय था और तुकारामजी इस परीक्षामें पूर्णरूपसे उत्तीर्ण हुए। तुकारामजीने मम्बाजीकी बेदम मार चुपचाप सह ली, मुँहसे

एक भी शब्द उन्होंने नहीं निकाला और कोई प्रतीकार भी नहीं किया। महीपतिबाबा कहते हैं कि मम्बाजीने तुकारामजीकी पीठपर दस-बीस बाड़ें तोड़ीं। तुकारामजी शान्त रहे। शान्तिसे इसकी फरियाद मन्दिरमें भगवान्‌के पास ले गये। उस अवसरपर उन्होंने जो अभंग कहे, उनमेंसे एकका भाव इस प्रकार है—

बड़ा अच्छा किया भगवन्! आपने बड़ा अच्छा किया जो हमारा मन देखनेके लिये काँटोंकी बाड़ोंसे पिटवाया, गालियोंकी वर्षा करायी, अनीतिसे ऐसी विडम्बना करायी और अन्तमें कोपसे पूजा भी किया।

काँटोंका रास्ता साफ करने चला तो, काँटोंसे ही पटवाया। इससे तुकारामजीका चित्त कुछ दुःखित तो हुआ पर भगवान्‌ने कोपसे जो पूजा किया' इसीका उन्हें बड़ा सन्तोष था। जिजाईने बड़ी सावधानीके साथ एक-एक करके उनके बदनसे सब काँटे निकाले और उन्हें आरामसे सुला दिया। फिर जब कीर्तनका समय उपस्थित हुआ और मन्दिरमें कीर्तनकी तैयारी हो चुकी और तुकारामजीने देखा कि मम्बाजी अभीतक नहीं आये तब वह स्वयं उनके घर गये उन्हें साष्टाङ्ग प्रणाम किया और उनके पैर दबाते हुए पैरोंके पास बैठ गये। मम्बाजीके चित्तमें चुभे ऐसी कोई बात उन्होंने नहीं कही। सरल और विनम्र भावसे यही कहने लगे कि दोष तो मेरा ही है। मैंने पेड़ोंको पीड़ा न पहुँचायी होती तो आपको भी क्षोभ न होता। मुझे बड़ा दुःख है कि आपके हाथ और बदन मेरे कारण दर्द कर रहे होंगे। यह कहकर आँखोंमें जल भरकर सिर नीचा करके वह उनके पैर दबाने लगे। तुकारामजीका यह विलक्षण सौजन्य देखकर मम्बाजीका कठोर हृदय भी थोड़ी देरके लिये पसीज उठा। मन-ही-मन वह बहुत ही लज्जित हुए और तुकारामजीके साथ कीर्तनमें चले। तुकारामजीकी शान्ति क्षमा और दयाने सदाके लिये लोगोंके हृदयोंमें अपना घर कर लिया।

मम्बाजीकी यह कथा बहुत प्रसिद्ध है। पर इतनेसे इनके क्रोधी और ईर्ष्यालु स्वभावका पूरा इलाज नहीं हो पाया। उनके ईर्ष्या-द्वेषकी आगकी लपटें बहिणाबाईके भी जा लगीं। बहिणाबाई अपने सब सामानके साथ इन्हींके यहाँ ठहरी थीं। मम्बाजीकी यह इच्छा थी कि ऐसी श्रद्धालु स्त्रियों को तो हमारे जैसे आचारवान गुरुओंसे ही दीक्षा लेनी चाहिये। बहिणाबाई-की समझ तो इतनी बड़ी नहीं थी, इसलिये यही उनके पीछे पड़े और कहने लगे कि, 'तुका शूद्र है, उसका कीर्तन सुनने मत जाया करो। शूद्रके भी कहीं ज्ञान होता है! हाँ, उपदेश तुम्हें लेना है, तो हमसे लो।' रोज-रोज यही बात सुनते-सुनते बहिणाबाई थक गयीं और एक रोज उन्होंने मम्बाजीको कोरा जवाब सुना ही तो दिया कि, 'मैं उपदेश ले चुकी हूँ। अब मुझे उपदेशकी आवश्यकता नहीं है।' यह सुनते ही मम्बाजीके क्रोधकी आग भभक उठी। बहिणाबाईकी एक गौ थी, उसे इन्होंने पकड़कर बाँधा और बड़ी क्रूरतासे उसपर डंडे चलाये। गौकी पीठपर जो डंडे पड़े उनके चिह्न, लोगोंने तुकाराम महाराजकी पीठपर बने देखे। बहिणाबाई ऐसे-ऐसे अत्याचारोंसे बहुत ही तंग आ गयीं। तब महादजी पन्तने उन्हें अपने घरमें टिकाया। यह सारा हाल बताकर बहिणाबाई आगे कहती हैं—

'तुकारामजीकी स्तुतिका पार कौन पा सकता है? तुकारामको इस कलियुगके प्रह्लाद समझो। अपने अन्तःकरणका साक्षी करके जो भी इनकी स्तुति करते हैं वे निजानन्दमें रमते हैं। बहिन कहती है, लोग उनकी तरह तरहसे स्तुति करते हैं। पर एक शब्दमें उनकी यथार्थ स्तुति यही है कि तुकाराम केवल पाण्डुरङ्ग थे।'

१६ निलाजी राय

पिंपल्नेरके निळोबा या निलाजी राय तुकारामजीके शिष्योंमें शिरोमणि हुए। प्राय सभी शिष्य भोले भाले, श्रद्धालु, प्रेमी और निष्ठावान् थे और

तुकारामजी सबसे अधिक प्रेम करते थे। रामेश्वर भट्ट विद्वान् थे और शास्त्रार्थका अधिकार बड़ा था पर तुकारामजीके उपदेशोंकी परम्परा जारी करनेवाले और त्रिभुवनमें उनका सच्चा यश फैलानेवाले जो एक शिष्य हुए वह थे निळोबा राय ही। तुकारामजीके तीन पुत्र थे, उनमें परमार्थके नाते नारायण बाबा अच्छे थे पर निळोबाके अधिकारको पानेवाला कोई भी न हुआ। इनका अधिकार तुकारामजीकी ही कृपाका फल था, इसमें सन्देह नहीं पर था यह अधिकार तुकारामजीके अधिकारकी बराबरीका ही। निळोबा रायका चरित्र यह समझिये कि तुकाराम महाराजके ही चरित्रका नया संस्करण था। वारकरी सम्प्रदायके देवपञ्चायतनमें ये ही तो पाँच देवता हैं- ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ, तुकाराम और निळोबा। यह पञ्चायतन सर्वमान्य और सर्वप्रिय है। उत्कट भगवत् प्रेम, प्रखर वैराग्य, अलौकिक ज्ञानभाग्य इत्यादि गुण निळोबामें अपने गुरु तुकारामके समान ही थे। लोकदृष्टिमें उनका आदर भी ऐसा ही था कि तुकोबा और निळोबा एक ही माने जाते थे और यह मान्यता समुचित भी थी। निळोबाकी गुरुपरम्पराका विवरण पहले आ ही चुका है। गुरु-कृपाके सम्बन्धमें निळोबा कहते हैं—

परम कृपालु श्रीसद्गुरुनाथ तुकाराम स्वामी आये। उन्होंने अपना हाथ मेरे मस्तकपर रखा और प्रसाद देकर आनन्दित किया। मेरी बुद्धिको जगा दिया और गुणगान करनेकी स्फूर्ति प्रदान की। निळा कहता है, बोलता हुआ मैं दीखता हूँ पर यह सत्ता उनकी है।’

अबतक निळोबाजीका कोई स्वतन्त्र चरित्र नहीं था। महीपतिबाबाने अपने भक्तविजय ग्रन्थ (अध्याय ५१) में इनकी दो-एक बातें कहकर अपने इन गुरु भाईको गौरवान्वित किया है। पर अब मुझे निळोबाके सम्पूर्ण ओवीबद्ध चरित्रकी हस्तलिखित पोथी उन्हींके वंशजोंसे मिल गयी है। इस नवलचरित्र में ९ अध्याय हैं जिनमें सब मिलाकर १४ ओवियाँ

हैं। इस चरित्र ग्रन्थसे यह पता चलता है कि निलाजी तुकारामजीके समकालीन नहीं थे, तुकारामजीको उन्होंने देखातक नहीं था। तुकारामजीके वैकुण्ठधाम सिधारनेके २५-३० वर्ष बाद संवत् १७३५ (शाके १६००) के लगभग तुकारामजीने उन्हें स्वप्नमें दर्शन दिये और उनपर अनुग्रह किया। पिंपल्नेर स्थान नगर जिलेके अंदर पर पूना जिलेकी सरहदपर है। निलाजी पीछे यहीं आकर रहे, पर उनका जन्मस्थान वहाँसे कुछ दूर नैर्ऋत्य कोनेमें शिऊर नामसे प्रसिद्ध है। यह शिऊरके जोसी कुलकर्णी थे। इनके दादा गणेश पन्त और पिता मुकुन्द पन्त सुखी और सम्पन्न थे। ये ऋग्वेदी देशस्थ ब्राह्मण थे। धन-धान्यसे समृद्ध थे, गोठ गाय-बैलोंसे भरा था, अच्छी वृत्ति थी, सभी बातें अनुकूल थीं।

निलाजी जब १८ वर्षके हुए तभी प्रपञ्चका सारा भार उनपर आ पड़ा। इनकी स्त्री मैनाबाई बड़ी साध्वी, शीलवती और धर्माचरणमें पतिके सर्वथा अनुकूल थी। उनके साथ बड़े सुखसे इनका समय व्यतीत होता था। इन्हें जैसे वैराग्य प्राप्त हुआ, उसकी कथा बड़ी मनोरञ्जक है। इनका यह नित्यक्रम था कि प्रातःकाल स्नानादि करके यह श्रीरामलिङ्गका बड़ी भक्तिसे पूजन करते और उसके बाद कुलकर्णका काम देखते थे। एक बार ऐसा संयोग हुआ कि यह पूजामें बैठे थे और कचहरीमें इनकी बुलाहट हुई। इन्होंने कहला दिया कि 'अच्छा, आता हूँ।' पर पूजामेंसे बीचमें ही कैसे उठते ? इस बीच चार बार चपरासी आ गया पर इनकी पूजा समाप्त नहीं हुई। तब आखिरको यह पकड़वा मँगाये गये। कचहरी पहुँचनेपर इन्होंने अपना हिसाब दिया और वहाँसे जो लौटे सो यही निश्चय करके बैठ गये कि अब इस चाकरीको अन्तिम नमस्कार है।

ज्ञानकी ओर दृष्टि करके विवेकसे अपने अंदर देखा और कहने लगे, ऐसे संसारमें आग लगे, ऐसा प्रपञ्च जलकर भस्म हो जाय जो परमार्थमें बाधक होता है। यदि मैं स्वाधीन होता तो क्या देवतार्चनको ऐसे बीचमें

ही छोड़ देता ! धिक्कार है पराधीन होकर जीनेको! खोटे श्रम करो, किसानोंको लूटो नीच बनकर दूसरोंका धन हरण करो और अपना और अपने कुटुम्ब-परिवारका पेट भरो, इससे अधिक लज्जास्पद जीवन और कौन सा है ? धिक्कार है ऐसे जीवन का !!!

निळबाने उसी दिन उस वृत्तिका त्याग किया और यह निश्चय कर लिया कि संसार दारिद्र्यको नष्ट करनेके लिये अब साधु-संतोंका संग करेंगे और परमार्थरूपी धन जोड़ेंगे। उन्हें अपने जीवनपर बड़ा अनुताप हुआ। 'अनुतापसे देह जलने लगी, कण्ठ भर आया और नेत्रोंसे अश्रुधारा बह चली। अपनी सहधर्मिणीपर अपना निश्चय प्रकट करते हुए उन्होंने कहा, 'मैं तो अब भगवान्‌को ढूँढनेके लिये घर-बार छोड़कर चला ही जाऊँगा। पर मैं चला जाऊँ और तुम इसी मायामें कष्टपाती हुई पड़ी रहो यह मुझे कब पसन्द होने लगा ? इसलिये यदि तुम अखण्ड परमार्थ-सुख चाहती हो तो मेरे साथ चलो।' मैनावती लज्जासे मुँह नीचा करके बोली, मैं मन, वचन कर्मसे आपके चरणोंकी दासी हूँ। आप आज्ञा करें और मैं उसका पालन करूँ यही तो मेरा धर्म है। माया-मोहके समुद्रमें मैं डूबी जा रही हूँ और आप अपने हाथका सहारा देकर मुझे उबार रहे हैं इससे बढ़कर सौभाग्य और मेरे लिये क्या होगा ? नाथ! आपके बिना मैं यहाँ नहीं रह सकती ऐसे रहनेसे तो मर जाना अच्छा है। आप जहाँ भी जायँ, मैं बड़ी प्रसन्नतासे आपके पीछे-पीछे चलूँगी। ठाकुरजीके बिना मन्दिर, जलके बिना कमल बनकर मैं नहीं रहूँगी। दीप-ज्योतिके समान मेरा-आपका अटूट सम्बन्ध है।

यह सुनकर निळबा बहुत प्रसन्न हुए और अपना घर-बार गाय-बैल सब दान करके सहधर्मिणीको संग लिये उन्होंने प्रस्थान किया। घूमते-फिरते पण्ढरीमें आये वहाँके अपार प्रेमानन्दमें दोनों ही तल्लीन-से हो गये। उस समय तुकारामजीकी कीर्ति सर्वत्र फैली हुई थी। तुकारामजीकी

महिमा जानकर ये पति-पत्नी आलन्दी होकर देहूमें आये। देहूमें उस समय तुकारामजीके पुत्र नारायणबाबा थे। उनके साथ निलाजीकी बड़ी घनिष्ठता हुई। नारायणबाबासे उन्होंने तुकारामजीका सम्पूर्ण चरित्र सुना। इससे तुकारामजीके चरणोंमें उनका चित्त स्थिर हो गया। कुछ काल वहाँ रहनेके बाद निलाजी पन्त और मैनावती तीर्थयात्रा करने आगे बढ़े। अनेक तीर्थोंमें भ्रमण किया। ज्ञानेश्वरी, नाथभागवत, तुकारामजीके अभंग आदिका श्रवण-मनन बराबर होता रहा। अन्तको उन्हें तुकाराम-जीका ऐसा ध्यान लगा कि—

तुका ध्यानमें और तुका ही मनमें
दीखे जनमें तुका, तुका ही वनमें।
ज्यों चातककी लगी रहे लौ घनमें
नीळा रटता तुका! तुका! त्यों मनमें॥

तुकारामजीके दर्शनोंके लिये मन अत्यन्त व्याकुल हो उठा। बस, यही एक धुन लग गयी कि 'तुका! अपने चरण दिखाओ।' अन्तको उन्होंने अन्न-जल भी छोड़ दिया, धरना देकर बैठ गये, तब तुकारामने स्वप्नमें दर्शन दिये और उपदेश किया।

'तुकारामजीने उनके मस्तकपर हाथ रखा और उठाकर बैठाया। कहा, 'नीला! सावधान हो जा, भ्रान्तिसे बंद हुआ नेत्र अब खोल।' तुकारामजीने फिर मन्त्र दिया, उसके भालमें कस्तूरी-तिलक लगाया, अपने गलेकी तुलसीमाला उतारकर निलाके गलेमें डाली।'

तुकारामजीने निळाजीके गलेमें यह अपने सम्प्रदायकी ही माला डाल दी और यह आज्ञा की कि 'आबालवृद्ध नर-नारी सबको भक्तिपन्थमें लगाओ।'

ही छोड़ देता ! धिक्कार है पराधीन होकर जीनेको ! खोटे श्रम करो, किसानोंको लूटो, नीच बनकर दूसरोंका धन हरण करो और अपना और अपने कुटुम्ब-परिवारका पेट भरो इससे अधिक लज्जाजनक जीवन और कौन सा है ! धिक्कार है ऐसे जीवन का !!!

निळोबाने उसी दिन उस वृत्तिका त्याग किया और यह निश्चय कर लिया कि संसार दारिद्र्यको नष्ट करनेके लिये अब साधु-संतोंका संग करेंगे और परमार्थरूपी धन जोड़ेंगे। उन्हें अपने जीवनपर बड़ा अनुताप हुआ। अनुतापसे देह जलने लगी कण्ठ भर आया और नेत्रोंसे अश्रुधारा बह चली। अपनी सहधर्मिणीपर अपना निश्चय प्रकट करते हुए उन्होंने कहा, 'मैं तो अब भगवान्‌को ढूँढ़नेके लिये घर-बार छोड़कर चला ही जाऊँगा। पर मैं चला जाऊँ और तुम इसी मायामें छटपटाती हुई पड़ी रहो यह मुझे कम पसन्द होने लगा ! इसलिये यदि तुम अखण्ड परमार्थ-सुख चाहती हो तो मेरे साथ चलो।' मैनावती लज्जासे मुँह नीचा करके बोली, 'मैं मन, वचन कर्मसे आपके चरणोंकी दासी हूँ। आप आज्ञा करें और मैं उसका पालन करूँ यही तो मेरा धर्म है। माया-मोहके समुद्रमें मैं डूबी जा रही हूँ और आप अपने हाथका सहारा देकर मुझे उबार रहे हैं इससे बढ़कर सौभाग्य और मेरे लिये क्या होगा ! नाथ ! आपके बिना मैं यहाँ नहीं रह सकती ऐसे रहनेसे तो मर जाना अच्छा है। आप जहाँ भी जायँ, मैं बड़ी प्रसन्नतासे आपके पीछे-पीछे चलूँगी। ठाकुरजीके बिना मन्दिर, जलके बिना कमल बनकर मैं नहीं रहूँगी। दीप-ज्योतिके समान मेरा-आपका अटूट सम्बन्ध है।

यह सुनकर निळोबा बहुत प्रसन्न हुए और अपना घर बार, गाय-बैल सब दान करके सहधर्मिणीको साथ लिये उन्होंने प्रस्थान किया। घूमते-फिरते पण्ढरीमें आये वहाँके अपार प्रेमानन्दमें दोनों ही तल्लीन-से हो गये। उस समय तुकारामजीकी कीर्ति सर्वत्र फैली हुई थी। तुकारामजीकी

महिमा जानकर ये पति-पत्नी आलन्दी होकर देहूमें आये। देहूमें उस समय तुकारामजीके पुत्र नारायणबाबा थे। उनके साथ निलाजीकी बड़ी घनिष्ठता हुई। नारायणबाबासे उन्होंने तुकारामजीका सम्पूर्ण चरित्र सुना। इससे तुकारामजीके चरणोंमें उनका चित्त स्थिर हो गया। कुछ काल वहाँ रहनेके बाद निलाजी पन्त और मैनावती तीर्थयात्रा करने आगे बढ़े। अनेक तीर्थोंमें भ्रमण किया। ज्ञानेश्वरी, नाथभागवत, तुकारामजीके अभंग आदिका श्रवण-मनन बराबर होता रहा। अन्तको उन्हें तुकाराम-जीका ऐसा ध्यान लगा कि—

तुका ध्यानमें और तुका ही मनमें
दीखे जनमें तुका, तुका ही वनमें।
ज्यों चातककी लगी रहे लौ घनमें
नीला रटता तुका! तुका! त्यों मनमें॥

तुकारामजीके दर्शनोंके लिये मन अत्यन्त व्याकुल हो उठा। बस, यही एक धुन लग गयी कि 'तुका! अपने चरण दिखाओ।' अन्तको उन्होंने अन्न-जल भी छोड़ दिया, धरना देकर बैठ गये, तब तुकारामने स्वप्नमें दर्शन दिये और उपदेश किया।

'तुकारामजीने उनके मस्तकपर हाथ रखा और उठाकर बैठाया। कहा, 'नीला! सावधान हो जा, भ्रान्तिसे बंद हुआ नेत्र अब खोल।' तुकारामजीने फिर मन्त्र दिया, उसके भालमें कस्तूरी-तिलक लगाया, अपने गलेकी तुलसीमाला उतारकर निलाके गलेमें डाली।'

तुकारामजीने निलाजीके गलेमें यह अपने सम्प्रदायकी ही माला डाल दी और यह आज्ञा की कि 'आबालवृद्ध नर-नारी सबको भक्तिपन्थमें लगाओ।'

अपना संचित किया हुआ सब धन जैसे पिता अपने पुत्रको दे जाता है वैसे ही सद्गुरु (तुकाराम) ने अपना सम्पूर्ण आत्मज्ञान इन्हें दे डाला।

निळाजीपर तुकाराम पूर्ण प्रसन्न हुए। तुकाराम पण्ढरीकी जो वारी किया करते थे उसे निळाजीने जारी रखा। निळाजी हरिकीर्तन करने लगे, श्रोताओंपर उनका बड़ा प्रभाव पड़ा। उनकी प्रासादिक स्फूर्तिदायिनी वाणी श्रोताओंके हृदयोंको अपनी ओर खींच लेती थी। उनके मुँहसे धाराप्रवाह अभङ्ग निकलने लगे। पाण्डुरङ्ग भगवान् पूर्ण प्रसन्न हुए। पिंपळनेरका पाटील उनके आशीर्वादसे रोगमुक्त हुआ तब बड़े सत्कारके साथ वह निळाजीको पिंपळनेर लिवा लाया और उनकी बड़ी सेवा करने लगा। निळाजी वहाँ रहने लगे, उनका संकीर्तन-समारम्भ खूब बढ़ा। उनका यश बढ़ानेवाले अनेक दैवी चमत्कार हुए। निळाजीकी कन्याका जब विवाह हुआ तब उसकी सब सामग्री भगवान्ने स्वयं ही प्रस्तुत की। ऐसी ऐसी अनेक अद्भुत घटनाएँ हुईं। नगरमें सतत दो मास कीर्तन होते रहे। नगरका यह कानून था कि दो पहर रात बीतनेपर कीर्तन समाप्त हो जाया करे। तदनुसार इनके कीर्तनके लिये भी नगरके कोतवालने यही हुक्म जारी करना चाहा। पर भगवान्का दरबार ठहरा। वहाँ मनुष्योंकी सुनवायी कब होने लगी! निळाजी कीर्तन कर रहे हैं दो पहरके बदले तीन पहर रात बीत जाती है तो भी कीर्तन बंद नहीं होता। तब कोतवाल सिपाहियोंके एक दलके साथ कीर्तन बंद करने खुद चला आया। आकर बैठा बैठते ही हरिका नाम और भक्तकी वाणी उसके कानोंमें पड़ी। संकीर्तनके प्रेमानन्दने उसके हृदयपर ऐसा अधिकार जमाया कि कोतवाल कीर्तन बंद करनेकी बात भूलकर वहीं जम गया और निळाजीके चरणोंमें गिरकर उनका शिष्य बना। निळाजी भी—

'मूर्ति ठिगनी सी थी वर्ण गोरा था नाक सरल थी, नेत्र बड़े-बड़े

थे । हृदय विशाल और कमर पतली थी । डील डौल सब तरहसे सुहावना था ।'

गलेमे तुलसीकी माला पड़ी रहती, हाथमें फूलोंके गजरे होते । कीर्तनके लिये खड़े होते तब बड़े ही सुहावने लगते और कीर्तनरगमें ब्रह्मस्वरूप ही प्रतीत होते थे । कीर्तनकी शैली ऐसी सरल और सुबोध होती थी कि आबाल वृद्ध-वनिता तथा तेली-तमोलीतक सब अनायास ही समझ लेते और उससे लाभ उटाते थे । निलाजीका कीर्तन सुनने एक बनजारा आया था । यह बड़े ही क्रूर स्वभावका आदमी था पर निलाजीका कीर्तन सुनते सुनते इसे पश्चात्ताप हुआ और यह निलाजीकी शरणमें आया और वारकरी बन गया । निलाजी एक बार इसके अनुरोधसे इसके घरपर भी गये । इसने उनकी बड़ी सेवा की । पर इनकी स्त्रीने निलाजीको बहुत बुरा भला कहा, 'तुमलोग बड़े खोटे, कपटी और ढोंगी हो । मेरे पतिको फुसलाकर तो तुमलोगोंने मेरा सत्यानाश कर डाला । बड़े कुटिल, लोभी और पापी हो इत्यादि ।' यह सुनकर निलाजी स्वामी उसके समीप दौड़े गये और उसके पैर पकड़ लिये और बोले, 'माता ! तुम सच कहती हो, मैं ऐसा ही पतित हूँ, मन्दबुद्धि हूँ, तुमने बड़ा अच्छा उपदेश किया । अब मेरी समझमें आया । अब जननीके इन वचनोंको मैं हृदयमें धारण करूँगा ।'

निलाजीका अधिकार महान् था, यह उनकी अभगवाणीसे भी स्पष्ट प्रतीत होता है । उनके वैराग्य, क्षमा, शान्ति और उपदेशपद्धतिने लोगोंके हृदयोंमें घर कर लिया । तुकारामजीके पश्चात् वारकरी भक्ति-पन्थका प्रचार जितना निलाजीने किया, उतना और कोई भी न कर सका । उन्होंने सचमुच ही सम्पूर्ण महाराष्ट्रपर भागवत-धर्मका झडा फहरा दिया ।

१७ श्रीतुकाराम महाराजके पश्चात्

निळोबाके प्रधान शिष्य शिऊरके गर्गगोत्री यजुर्वेदी ब्राह्मण शंकर स्वामी थे, इनके परपोतेके पास इस समय मौजूद हैं। इनका कुल-नाम ध्यान था पुराने सम्पन्नी थे, सराफीका काम करते थे। शंकर स्वामी जब पूनेमें थे तब निळोबाके साथ आळन्दी और पण्ढरीकी यात्रा करते थे। इनपर जब निळोबाका पूर्ण प्रसाद हुआ तब यह शिऊरमें आकर रहने लगे। शंकर स्वामीके शिष्य मल्लप्पा वासकर नामक एक लिङ्गायत वणिक् थे जो निजाम-राज्यमें आपची नामक ग्राममें रहते थे। मल्लप्पा वासकरने ही पहले पहल वारकरी मण्डलकी एक नवीन शाखा निर्माण की और आषाढ़ी एकादशीके दिन ज्ञानेश्वर महाराजकी पालकी आळन्दीसे भजनसमारम्भके साथ पण्ढरपुर ले जानेकी प्रथा चलायी। तुकारामजीके पुत्र नारायणबाबाने छत्रपति शाहू महाराजसे पुरस्काररूप तीन गाँव प्राप्त किये। इनके पुत्र जागीरदारोंके ढंगसे रहने लगे। एक बार पण्ढरपुरमें मल्लप्पा कीर्तन कर रहे थे और वहाँ तुकारामजीके पोते गोपालबाबा पधारे। मल्लप्पाने उनकी चरण-वन्दना की और यह निवेदन किया कि श्रीहरिका कीर्तन करनेका अधिकार यथार्थमें आपका है। आपकी अनुपस्थितिमें मुझसे जैसा बन पड़ा मैंने कीर्तन किया, अब आप ही कीर्तन सुनाकर इन कानोंको पवित्र करें। कहते हैं कि उस समय गोपालबाबाके मुखसे दो अभंग भी शुद्धरूपमें नहीं निकले। इससे उनकी बड़ी नामर्दैमाची हुई और मल्लप्पाने खूब खरी-खरी सुनायी। गोपालबाबाके चित्तपर इसका बड़ा प्रभाव पड़ा। वह भण्डारा पर्वतपर जा बैठे और वहाँ उन्होंने तुकारामजीके अभंग ज्ञानेश्वरी आदिका अध्ययन किया और फिर कीर्तन भी करने लगे। उन्होंने वारकरी सम्प्रदायकी एक और शाखा निकाली। यह देहूकी शाखा हुई। तबसे वारकरी सम्प्रदायकी दो शाखाएँ चली आती हैं। सीधी गुरुपरम्परासे चली आती हुई शाखा

गसकरोंकी है, इसलिये यही विशेष मान्य है। विगत सौ-दो सौ वर्षके भीतर वारकरी सम्प्रदायमें अनेक महात्मा उत्पन्न हुए और सभी जातियोंमें हुए। संतोंके चरित्रलेखक और तुकारामजीके अनुगृहीत महीपतिबाबाका (संवत् १७७२—१८४७) विस्मरण भला कैसे हो सकता है? सखाराम बाबा अम्मलनेरकर, बाबा अझरेकर, नारायण अप्पा, प्रह्लादबुवा बडवे, चातुर्मासे बोवा, त्र्यम्बक बुवा भिडे, हेमन्त राव बाबा, गङ्गु काका, गोदाजी पाटील, ठाकुर बोवा, भानुदास बोवा, भाऊ काटकर, साखरे बोवाके मूलगुरु केमकर बोवा, बाबा पाध्ये, ज्योतिपन्त महाभागवत, पूनेके खण्डोजी बोवा इत्यादि अनेक भक्त हुए जिनके नाम सस्मरणीय हैं। साखरे बोवा, विष्णु बोवा जोग, व्यङ्कट स्वामी प्रभृति लोगोंने भी वारकरी सम्प्रदायकी बड़ी सेवा की है। विगत छः सौ वर्षमें भागवतधर्म महाराष्ट्रमें अच्छी तरहसे व्याप्त हो गया है। कोल्हापुर, सतारा, सोलापुर नगर, पूना, नासिक, खानदेश, बरार, नागपुर और निजामराज्यके मराठा भाषा-भाषी सब स्थानोंमें ज्ञानेश्वर महाराज, नामदेव राय, एकनाथ-जनार्दन, तुकाराम महाराज और निलोबाराय तथा अनेक सत्पुरुष भागवतधर्मका प्रचार कर गये हैं। ज्ञानेश्वर महाराजने जिसकी नींव डाली, नामदेवने जिसका विस्तार किया, एकनाथने जिसपर भागवतका झंडा फहराया और अन्तमें तुकाराम महाराज जिसके शिखर बने, उस भागवतधर्मका अखण्ड और अभंग दिव्य भवन त्रिभुवनसुन्दर श्रीकृष्ण विट्ठलकी कृपा-छत्रछायामें आज भी अपने अति मनोहररूपमें खड़ा है। ऐसे इस भागवतधर्मकी निरन्तर जय हो!

चौदहवाँ अध्याय

तुकाराम महाराज और जिजामाई

स्त्री, पुत्र, घर-द्वार सब कुछ रहे, पर इनमें आसक्ति न हो। परमार्थ-युक्त साधनके द्वारा चित्तवृत्ति सदा सावधान बनी रहे।

—श्रीमद्भगवद्गीता अ० १०

१ जिजामाईकी गिरस्ती

तुकारामजीकी प्रथम पत्नी रुक्मिणीबाई अकालमें ही कालकवलित हुईं और तबसे तुकारामजीकी घर-गिरस्ती क्या थी, यथार्थमें उनकी द्वितीया पत्नी जिजाबाईकी ही गृहस्थिति थी। तुकारामजीकी आयुके १७ वर्ष भी पूरे नहीं हो पाये थे जब जिजाईके साथ उनका विवाह हुआ और महाराज जब वैकुण्ठ सिधारे तब जिजाईके पाँच महीनेका गर्भ था। इस तरह दोनोंका समागम २९ वर्ष रहा। इस बीच इनके अनेक सन्तान हुए और बड़ी तंग हालतमें जिजाईको दिन काटने पड़े। तुकारामजी अपने वयस्‌के २२ वें वर्ष संसारसे विरक्त हुए और संसारसे जो उन्होंने मुँह मोड़ा सो फिर कभी संसारसे उन्हें आसक्ति नहीं हुई।

लोकाचारके लिये वह ससारी बने थे पर कहते यही थे कि मेरा चित्त इस प्रपञ्चमें नहीं है, मेरे शरीरतककी मुझे सुध नहीं रहती। लोगोंसे आओ, विराजो कहकर लोकाचारका पालन करना भी, ऐसी अवस्थामें, उनसे कैसे बन सकता था? एक अभगमे उन्होंने कहा है, 'मुझे अपने कपड़ोंकी सुध नहीं, मैं दूसरोंकी इच्छाका क्या ख्याल करूँ।'

उन्होंने अपना सब बहीखाता इन्द्रायणीके भेंट किया तबसे कभी उन्होंने धनको स्पर्शतक नहीं किया। इसलिये लोकदृष्टिसे उनकी अवस्था अच्छी नहीं थी। जिजाईके मात-पिता और भाई पूनेमें रहते थे और वे सम्पन्न भी थे। जिजाई शुरू-शुरूमें उनसे सहायता लेकर जहाँतक बन पड़ता था, तुकारामजीकी गिरस्ती सम्हाले रहती थीं। अपने भाईकी मध्यस्थतासे उन्होंने कई बार व्यापारके लिये तुकारामजीको रुपया दिलाया, कई बार तो स्वय भी तमस्सुक लिखकर महाजनोंसे रुपया लेकर तुकारामजीके हाथोंमें दिया। पर तुकारामजी ठहरे साधु पुरुष और ऐसे साधु पुरुषोंसे उचित-अनुचित लाभ उठानेवालोंकी इस ससारमें कोई कमी नहीं, इस कारण जो भी व्यापार उन्होंने किया उसीमें उन्हें नुकसान ही देना पड़ा और पीछे जब कान्हजी अपने भाईसे अलग हो गये तब तो जिजाईको गिरस्ती चलाना बड़ा ही कठिन हो गया। ऐसी दशामें जिजाईके सन्तान भी होते ही रहे। पतिदेव ऐसे कि कहींसे एक पैसा कमाकर लाना जानते नहीं और घरमें बाल-बच्चोंके लिये अन्नके लाले पड़े हुए थे। ऐसी विचित्र चिन्ताजनक दशा होनेके कारण जिजाईका स्वभाव चिड़चिड़ा और झगड़ालू हो गया हो तो कोई आश्चर्य नहीं। उनका यदि ऐसा स्वभाव न होता तो कदाचित् इस तरह बार-बार घरसे भण्डारा पर्वतकी ओर न उठ दौड़ते। और ससारका सारा भार अकेली जिजाईपर यदि न पड़ता और अन्न-वस्त्रके भी ऐसे लाले न पड़ते तो जिजाई भी कदाचित् ऐसे चिड़चिड़े मिजाजकी न बनतीं, पर 'क्या होता, क्या न होता' का

विचार तो गौण ही है 'कृपा या भा है' यही देखना मुख्य है। प्रारब्ध कहिये या ईश्वरका कौतुक कहिये तुकारामजी और जिजाईको सारा जीवन एक साथ ही रहकर व्यतीत करना पड़ा। पूर्वोक्त सत्संगेच्छा साधु तुकारामकी भी यही अन्तरंग थी। लोग कभी-कभी जिजाईको इसी कोटिकी उपमा देते हैं। परन्तु जिजाईमें अनेक उत्तम गुण भी थे और तुकारामजीका नित्य समागम होनेसे उनकी उत्तरोत्तर उन्नति ही हो चली थी। तुकारामजीके वैराग्य और भक्तिभावके लिये जिजाईका रहना बड़ा उपयुक्त था। इसलिये यही कहना चाहिये कि भगवान्‌ने अच्छी ही जोड़ी मिलायी। इस जोड़ीके मिलानेमें मध्यस्थ बननेवाले भगवान् च्युत हुए या चूक गये ऐसा तो नहीं कह सकते। समुद्रमें कोई काठ कहींसे बहता चला आया और कोई कहींसे और दोनों मिल जाते हैं और फिर अलग भी होकर भिन्न-भिन्न दिशाओंमें चले जाते हैं, ऐसा ही जीवोंका भी संयोग वियोग हुआ करता है। प्रत्येक जीवका प्रारब्धकर्म भिन्न है प्रत्येक अपने कर्मानुसार जीवदशा भोगता है, सुख दुःख और किसीको दिया नहीं करता। यही यदि शास्त्रसिद्धान्त है और जीव स्वकर्मसूत्रमें बँधा हुआ है तो जिजाई और तुकारामजीके परस्पर समागम और सुख दुःखका कारण भी उनका प्राक्कर्म ही है। जिजाईके स्वभावमें कुछ कटुता थी और वह कटुता परिस्थितिसे और भी कटु हो गयी यह बात सच है, पर उनका कोई ऐसा महान् पुण्यबल भी था जिससे उन्हें इस जन्ममें ऐसे महान् भगवद्भक्तका समागम प्राप्त हुआ और भगवान्, धर्म और संतोंके पुण्यप्रद महाफलदायी तत्त्वका लाभ हुआ।

२ 'योगक्षेमं वहाम्यहम्'

भक्तोंका योगक्षेम भगवान् कैसे चलाते हैं, कैसे उनकी पत रखते और उनकी बात ऊपर रखते हैं, इसकी कुछ कथाएँ महीपतिबाबाने बड़े प्रेमसे वर्णन की हैं। एक बार तुकारामजीने क्या किया कि जिजाईकी साड़ी

किसी अनाथा स्त्रीको दे डाली और जिजाईके पास बस यही एक साड़ी थी जिसे वह कहीं आना-जाना हुआ या लोगोंके सामने निकलना हुआ तो पहना करती थीं। अब उनके पास ऐसी कोई साड़ी नहीं रह गयी। तन ढाकनेभरका कोई फटा-पुराना कपड़ा पहने रहने और उसी हालतमें लोगोंके सामने निकलनेकी नौबत आ गयी, तब भक्तवत्सल भगवान् पाण्डुरङ्गने स्वयं ही जरीका काम की हुई ओढनी उन्हें ओढा दी और उनकी लाज रखी।

तुकारामजीके प्रथम पुत्र महादेव पथरीकी बीमारीसे पीड़ित हुए। जिजाईने लाख उपाय किये पर किसीसे कोई लाभ नहीं हुआ। सब उपाय करके जब वे हार गयीं तब उन्हें उन्माद सा चढ आया और उसी अवस्थामें वे अपने बेटेको ले जाकर श्रीविठ्ठलके पैरोंपर पटक देनेके विचारसे मन्दिरमें गयीं। मन्दिरमें प्रवेश करते ही बच्चेको पेशाब हुआ और बच्चा अच्छा हो गया।

एक घटना और बतलाते हैं। गिरस्तीका सारा जञ्जाल सम्हालते-सम्हालते जिजाईके नाकों दम आता था, फिर भी इसी हालतमें तुकाराम जीके लिये भोजन तैयार करके पर्वतपर ले जाना पड़ता था। यह आने-जानेका झञ्झट ऐसा लगा कि इसके मारे कभी-कभी उनके क्षोभका पारावार न रहता। एक दिनकी घटना है कि जिजाई इसी तरह रोटी और जल लिये पर्वतकी चढाई चढ रही थीं, बड़ी तेज धूप पड़ रही थी, पैर जल रहे थे, कंकड़ गड़ रहे थे, सारा शरीर झुलसा जा रहा था, सिरपर तो जैसे अंगारे बरस रहे थे, जिजाईके प्राण व्याकुल हो उठे, इसी हालतमें ऊपर चढते चढते उनके पैरके तलवेमें एक बड़ा-सा काँटा ऐसा भिदा कि भिदकर पैरके ऊपर निकल आया! जिजा तलमला उठी और बेहोश होकर गिर पड़ी। जलपात्र हाथसे छूटा—जल धरतीपर गिरा और पैरसे बड़े वेगके साथ रक्तकी धारा बह निकली। कुछ काल बाद उन्हें होश आया,

अपने ही हाथसे काँटेको निकालना चाहा पर वह किसी तरह नहीं निकला। काँटेको निकालनेकी चेष्टामें लगी हैं। सोच रही हैं जिजाबाई अपनी करतूतको, रो रही हैं अपने ऐसे दुर्भाग्यको, कोस रही हैं अपने पिताको कि कैसे अभागे पति ढूँढ दिये और सबसे अधिक दाँत पीस रही हैं उस कमूरेपर जिसका पता पकड़े तुकाजी रहते हैं और चाहती हैं किसी तरहसे यह काँटा तो निकल जावे। पर काँटा तो ऐसा गिरा है कि किसी तरहसे निकलता ही नहीं। पैरसे रक्त निकल रहा है और जिजाईके मनोमय नेत्रोंके सामनेसे होकर अपने ऐसे पतिके साथ विवाह होनेके समयके दृश्य एक-एक करके गुजरते आ रहे हैं। वह सोच रही है, कैसे ठाट-बाटके साथ पिताने मुझे विवाह दिया मानो किस उत्साह और गाजे-बाजेके साथ बरात्रा कराई और तुम भी की। मायकेमें बीते हुए सुखके वे दिन याद कर-करके तुकाजीके सङ्ग रहनेसे होनेवाले कष्टोंपर वह फूट-फूटकर रोने लगी। आँखोंसे अश्रु बलधारा निकल रही है और पैरसे रक्तधारा! इधर तुकारामजीके पेटमें भूखकी ज्वाला उठी और उधर उसकी लपट श्रीविठ्ठलनाथके हृदय पर जा लगी। जिजाईके कष्टोंने भी वहाँ पहुँचकर दयामयीको जगाया। कारण ये कष्ट एक पतिव्रताके स्वधर्म-निर्वाहके कष्ट थे। स्वधर्माचरण करनेवालोंपर भगवान् दया करते ही हैं। दयाके निधान श्रीपाण्डुरङ्ग भगवान् उस सासकी धूपमें धूपकी जलन और काँटेकी गिरनसे तड़पती हुई जिजाईके सम्मुख प्रकट हुए। जिन्होंने जिजाईके सम्पूर्ण गृहसौख्यको स्वयं ही हर लिया था और इस कारण जिजाई जिन्हें मनसे मुलका हर्ता जानकर ही मनसी थीं वह नारायण भी वैसे भक्तके अधीन हो गये। श्रीविठ्ठलनाथजीकी वह श्याम सगुण अलभ्यमूर्ति सम्मुख खड़ी देखकर क्या जिजाईको कुछ सन्तोष हुआ? नहीं वहां तो क्रोधाग्नि और भी वेगसे भड़क उठी और जिजाई क्रोधके अंगारे बरसाने लगीं। कहने लगीं "यही है वह काला-कलूटा जिसने मेरे पतिको पागल बना दिया। अरे ओ

निर्दयी ! तू अब भी पीछा नहीं छोड़ता ! क्या अब मेरे पीछे पड़ना चाहता है ? मेरे सामने अपना यह काला मुँह लेकर क्यों आया है !' यह कहकर जिजाईने भगवान्‌की ओर पीठ फेर दी और दूसरी ओर मुँह करके बैठ गयी। जिजाईकी उस विलक्षण दृढ़ताको देखकर भगवान्‌के भी जीमें कुछ कौतुक करनेकी इच्छा हुई। वह लीलानटवर जिस ओर जिजाईने मुँह फेरा था उसी ओर सम्मुख होकर खड़े हुए। जिजाईने झुँझलाकर फिर मुँह फेर लिया, भगवान् वहाँ भी सम्मुख हो गये। आठों दिशाएँ जिजाई घूम गयीं, पर जिधर देखो उधर वही काले कृष्णकन्हैया जिजाईके छलैया खड़े हैं, इधर देखो तो वही, उधर देखो तो वही, ऊपर देखो तो वही, नीचे देखो तो वही, कहाँ किधर वह नहीं ? यह हालत जिजाईकी उस समय हो गयी।

रावण, कंस, शिशुपाल इत्यादिको जिन्होंने उनके भगवद्विद्वेषके कारण ही तारा उन लीलानटवर श्रीविठ्ठलने अपने परम भक्तकी सहधर्मिणी-के चारों ओर चक्कर लगाकर उसकी दृष्टि अपनी ओर खींच ली तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? किसी भी निमित्तसे हो भगवान्‌की ओर जहाँ चित्त लगा तहाँ जीवका सब काम बना। जिजाई जिस ओर दृष्टि डालतीं उसी ओर उन्हें श्रीकृष्ण दृष्टि आते। आखिर, उन्होंने अपने दोनों नेत्र दोनों हाथोंसे खूब कसकर बंद कर लिये, तब तो भगवान् अन्तरमें भी दिखायी देने लगे। पिता जिस प्रकार अपनी पुत्रीपर हाथ फेरे उसी प्रकार भगवान्‌ने जिजाईके अङ्गपर अपना करकमल फिराया और जिजाईका पाँव अपनी पालथीपर रखकर ऐसी सुविधासे कि जिजाईको किञ्चित् भी वेदना नहीं प्रतीत हुई, वह काँटा चटसे निकाल लिया। तब जिजाई और उनके साथ-साथ भगवान् तुकारामजीके समीप गये। तुकारामजीने इन दोनोंको एक साथ जो देखा तो उन्हें रात्रि और दिवाकरके साथ ही साथ आनेका भान हुआ। तुकारामजीके साथ-साथ भगवान् और जिजाईने भी भोजन

किया। यहीं बैठे-बैठे भगवान्‌ने एक पत्थर हटाया तो वहाँसे स्वच्छ जलका झरना बहने लगा।

२ दोषका भागी कौन ?

तुकारामजी और जिजाईके झगड़ेमें दोषका भागी कौन है— तुकाराम या जिजाई ? यह प्रश्न उपस्थित करके दूसरोंके झगड़ोंमें पञ्च बनकर पड़नेवाले कई विद्वानोंने इसकी बड़ी चर्चा की है। कितनोंका यह कहना है कि तुकारामजी जब गृहस्थ थे एक स्त्रीका पाणिग्रहण कर उसे घर ले आये थे उससे उनके सन्तान भी थी तब उन्हें उस स्त्री और उन सन्तानोंका अवश्य ही पालन-पोषण करना उचित था। यह उनका कर्तव्य ही था। इस कर्तव्यका पालन उन्होंने नहीं किया इसलिये तुकाराम ही सबसे दोषी हैं। पाठक! हम आज भी यहाँ इस प्रश्नपर इस अवसरपर विचार करें। सारे जगत्‌को उपदेश करनेवाले तुकारामजीको क्या इतना भी ज्ञान नहीं था कि अपने स्त्री और सन्तानके प्रति अपना कर्तव्य वह न समझ सकते ? और ऐसी बात भला कौन कह सकता है ? और ऐसी बात हो भी कैसे सकती है ? इसलिये बात कुछ और है। तुकारामजी और जिजाईकी जो नहीं बनी इसमें यथार्थमें दोष तो किसीका भी नहीं है। तुकारामजीके अभंग संग्रहोंमें तुकारामजीके प्रति उनकी स्त्रीके कठोर वचन द्योतक सात अभंग हैं। इन अभंगोंको कुछ लोग असली मानते हैं और कुछ नहीं मानते। जो हो पर उन अभंगोंसे इतना तो अवश्य ही जाना जा सकता है कि तुकारामजीपर जिजाईके कौन-कौन से आक्षेप हो सकते थे। जिजाईका मानो यही कहना था कि—

(१) यह कोई काम काज नहीं करते, कुछ उपार्जन नहीं करते; विवाह करके मेरे पति तो बन बैठे पर इनके तथा बच्चोंके लिये अन्न-वस्त्र मुझे ही जुटाना पड़ता है। जीकी बात मैं कितना दुःख उठाऊँ और किस-किसके सामने अपना दीन वदन दिखाऊँ।

(२) इन्हे अपने तनकी कोई चिन्ता नहीं, न सही पर इन्हे हमारी कोई चिन्ता हो सो भी नहीं !

(३) स्वय तो कुछ कमाकर लाते नहीं, पर यदि कहींसे कुछ आ जाय तो वह भी लुटा देते हैं । अन्न हो, वस्त्र हो अथवा और कोई वस्तु हो, जो भी जो कुछ मॉगता है, वह अपने बच्चोको पूछतेतक नहीं, और उसे दे डालते हैं । दूसरोंके पेट भरते हैं पर मेरी या बच्चोंकी कोई परवा नहीं करते । कभी एक पैसा कमाना नहीं, हॉ, घरमें यदि कुछ पड़ा हो तो उसे भी गॅवा देना, यही इनका धधा है ।

(४) घरमें तो रहना जानते ही नहीं, जब देखो तब वनको ही दौड़ जाते हैं, इन्हें ढूँढकर पकड़ लाना पड़ता है तब इनका आगमन होता है ।

(५) सब कीर्तनियाँ मिलकर रातको बड़ा कोलाहल मचाते हैं, किसीको सोने नहीं देते । इनके सङ्ग-साथसे इनके साथी भी घरबारत्यागी विरागी बन रहे हैं और उनकी स्त्रियाँ भी घरोंमें बैठी मेरी तरह रो रही हैं ।

जिजाईके ये आक्षेप हैं । इन्हें झूठ तो तुकारामजी भी नहीं बतलाते । जिन सात अभगोंकी ये बातें हैं उनमेंसे प्रत्येक अभगके अन्तिम चरणमें तुकारामजीका उत्तर भी रखा हुआ है । उत्तर एक ही है कि, 'सञ्चितका भाग मिथ्या है, मिथ्याका भार ढोनेमें व्यर्थ ही माथा खपाना है ।'

जिजाबाईका कहना जिजाबाईकी दृष्टिसे ठीक है, सामान्य ससारी जनोंकी दृष्टिसे भी ठीक है, ससारको सत्य माननेकी दृष्टिसे भी बिल्कुल ठीक है । जिजाईको अकेले तुकारामजीकी गिरस्तीका सारा भार अपने सिरपर उठाना पड़ा, इससे उन्हें बहुत कष्ट हुए, कष्टोंसे उनका मिजाज चिड़चिड़ा बन गया, चिड़चिड़ेपनसे जो कुछ उन्होंने कहा वह इस तरहसे बिल्कुल सही है और उनके दु खोंसे ससारी जीवोंको स्वाभाविक ही

सहानुभूति होती है । पर तुकारामजीकी ओर देखिये और तुकारामजीकी दृष्टिसे विचारिये तो उनका भी कोई दोष नहीं दिखायी पड़ता । संसारका मिथ्यात्व जब प्रकट हो गया उससे मन उपराम हो गया और सांसारिक सुख दुःखके विषयमें नित्य उदासीन हो गया तब उस सुख-दुःखसे उत्पन्न होनेवाले कर्तव्य ही कहाँ रह गये ? इसलिये इसमें तो तुकारामजीका कोई दोष नहीं दिखायी पड़ता । सूर्यके सामने जब अन्धकार ही नहीं रहा जाग उठनेपर स्वप्नगत संसार ही जब नहीं रहा, नदीके उस पार पहुँचे हुए पर नदीकी लहरें आकर नहीं गिरीं तो इसमें सूर्य जाग्रत् और उत्तीर्ण पुरुषको कोई भी विवेकी पुरुष दोषी कह सकता है ? जागता हुआ पुरुष और स्वप्नमें बड़बड़ानेवाली स्त्री इन दोनोंका मिलन जैसा है वैसा ही तुकारामजी और जिजाईका जीवन-मिलन है । स्वप्नमें बड़बड़ानेवाली स्त्रीके झगड़ोंका जाग्रत् पुरुषके समीप कोई मूल्य नहीं होता प्रत्युत जागता हुआ पुरुष उसे भी जगानेका ही प्रयत्न करता है । उसी प्रकार तुकारामजीने जिजाईको जगानेके लिये 'पूर्णबोध' के अभंग कहे हैं । तुकारामजी और जिजाईका झगड़ा सत्त्वगुण और रजोगुणका झगड़ा है परमार्थ और प्रपञ्चका या ब्रह्म और मायाका झगड़ा है । [illegible] प्रकृतिके सब धर्मोंको ही ठीक समझते हैं पर प्रकृतिप्रभु पुरुषके सामने प्रकृति आती ही नहीं फिर उसका कार्य क्या और उसका अभिनिवेश ही क्या ? पुरुष तो असङ्ग और उदासीन है निर्गुण और एकान्ती है आकाशमें अति दूरसे भी दूर है । पर अकर्ता, उदासीन और अभोक्ता होनेपर भी पतिव्रता प्रकृति उससे भोग कराती है । वह अविकारी है पर यह (प्रकृति) स्वयं उसमें विकार बन जाती है वही उस निष्कामकी कामना परिपूर्णकी परितृप्ति, अकुलका कुल और शान्त बन जाती है । इस प्रकार प्रकृति पुरुषमें होकर अविकारी पुरुषको विकारवान बना देती है । ज्ञानेश्वरी (अ० १३) पुरुष पति और प्रकृति

ऐसी है ! तुकारामजी पुरुष और जिजाई प्रकृतिका यह विवाद अनादिकाल-से चला आता है। यह तो अध्यात्मदृष्टि हुई, पर लोकदृष्टिसे भी देखें तो भी तुकारामजी दोषी नहीं ठहराये जा सकते । संसारी बने रहो और परमार्थ भी साधो, यह कहना तो बड़ा सरल है, पर 'दो नावोंपर पैर रखनेवाला किसी एक नावपर भी नहीं रहता' इस लोकोक्तिके अनुसार सभी महात्माओंका अनुभव है । समर्थ रामदास स्वामीने भी (पुराना दासबोध समास १८ में) यही कहा है । बचपनमें माता-पिताने ब्याह कर दिया, पीछे वैराग्य हुआ, ऐसी अवस्थामें कोई भी सच्चा साधक ऐसे ही रह सकता है जैसे तुकारामजी रहे । बाल-बच्चोंका पेट भरना और इसके लिये नौकरी-चाकरी या कोई बनिज-व्यापार करना तो सभी करते हैं । तुकारामजी भी यदि वैसा ही करते तो परम अर्थकी जो निधि उनके हाथ लगी वह न लगी होती और जो धन उन्होंने संसारमें वितरण किया वह भी न कर सकते, यह तो स्पष्ट ही है । कुछ त्यागे बिना कुछ हाथ नहीं लगता । प्रपञ्च, लोभ छोड़े बिना परमार्थ-लाभ नहीं हो सकता । तुकाराम-जीके चित्तने संसारको जड़मूलसहित त्याग दिया, इसीसे परमार्थका मूल उनके हाथ लगा । महान् लाभके लिये अल्पका त्याग करना ही पड़ता है । दो कर्तव्योंके बीच जब झगड़ा चले तब श्रेष्ठ कर्तव्यके लिये कनिष्ठ कर्तव्य त्यागना पड़ता है । सर्वस्व-त्यागी बनना पड़ता है तभी फलोंका भी फल, सुखोंका भी सुख, ध्येयोंका भी ध्येय जो परमात्मा है उसकी प्राप्ति होती है । उस प्राप्तिके लिये तुकारामजीने कभी न कभी नष्ट होनेवाले संसारका त्याग किया तो क्या गलती की ? सीप फेंककर पारस लेना बुद्धिमानोंका काम ही है । नारायणके लिये गृह-सुत दारादि संसारकी अहंता-ममताकी मैल काटकर ही उन्होंने संसारको सुवर्ण बना दिया । संसारमें सुवर्णकी माया जोड़नेवाले संसारको सुवर्ण नहीं बनाते, प्रत्युत जो अपने हृदयसम्पुटमें नारायणके चरण जोड़ते हैं उन्हींका संसार सुवर्ण हो

जाता है । उनके अलक्ष्य कर्मोंके संसार-बन्धन टूट जाते हैं और संसार सुखमय हो जाता है । तुकारामजीने एक संसारीके नाते अपनी कोई पद नहीं रखी यह चाहे अब कोई कहा करें पर उनकी अपनी दृष्टिमें और उनके भक्त दर्शनार्थियोंकी दृष्टिमें उनका संसार उनका प्रपञ्च उनका जीवन सुखमय, धन्यमय और परम सौभाग्यमय ही हुआ । इस सुख धन्य और सौभाग्यको अगले अध्यायमें विस्तारसे देखेंगे ।

४ जिजामाईका पूर्णबोध

लोगोंको जगाना गुमराहको राहपर लाना अपना सुख दूसरोंको वितरण करना यही सच्चा परोपकार है । तुकारामजीने संसारको जगाया, उसी संसारमें जिजाई भी आ गयी । परन्तु जिजाईको खास तौरपर अलग भी तुकारामजीने उपदेश करके लोकदृष्टिसे भी अपने कर्तव्यका पालन किया । जिजाईके लिये जो उपदेश उन्होंने किया उस 'पूर्णबोध' के बारह अभंग हैं । जिजाई भजन करनेवाले वारकरियोंके जमघटसे झुँझलाकर जैसे कठोर वचन कहा करती उसपर तुकारामजी उन्हें बड़ी शान्तिसे समझाते— हमारे घर क्यों कोई आने लगा ? सबको अपना-अपना काम काज लगा हुआ है । कौन ऐसा निठल्ला बैठा है जो बिना किसी मतलबके हमारे यहाँ आया करे ? जो कोई भी आता है वह भगवत्के प्रेमसे आता है भगवानके लिये ही अखिल ब्रह्माण्ड अपना हो जाता है । भक्तोंके लिये जो तुम ऐसी कठोर बातें कहती हो सो न कहकर मृदु वचन कहो तो इसमें तुम्हारा क्या खर्च हो जायगा । आदर-मानके साथ बुलानेसे प्रेमवश इतने लोग आते हैं कि जिनका कोई हिसाब नहीं ।

'पूर्णबोध' का पहला अभंग कुछ कूट-सा है—खेतमें जो उपज होती है उसमें हमारे प्यारे चौधरी पाण्डुरङ्ग हमें बाँट देते हैं । अपनेको अभी ७ रुपये देना बाकी है तो वह माँग रहे हैं अबतक १ रुपये दे दिये हैं । घरमें रंगा बर्तन हैं गोठमें गाय बैल हैं यही एकम दिखाते हुए

दालानमें खाटपर बैठे हुए हैं। मैंने कहा, 'भाई! ले लो, एक बारमें ही सब लहना चुका लो, इस तरह जब मैं उनसे उलझ पड़ा तब आप चुप हो गये!'

भाव यह है कि इस शरीररूपी खेतके प्रभु पाण्डुरङ्ग हैं, उन्होंने यह नर-तन हमें वर्तनेके लिये दिया है। वह हमें भूखों नहीं मरने देते। इस खेतका लगान ८० रुपये हैं। इसमेंसे हम अबतक १० दे चुके हैं, ७० बाकी हैं, सो यह माँग रहे हैं। अर्थात् यह शरीर ८० तत्त्वोंका है, ये ही ८० तत्त्व उन्हें गिना देने होंगे। इनमेंसे ५ कर्मेन्द्रिय और ५ ज्ञानेन्द्रिय हैं, उन्हें तो मैंने भजनमें लगा दिया है। इस तरह ८० लगानके १० दे चुके, अब बाकीका तकाजा है। खाटपर बैठे हैं याने हृदयमें विराज रहे हैं।

श्रीमद्भगवद्गीतामें तत्त्वसंख्या (अ० १३ श्लोक ५-६) ३६ दी हुई है। श्रीमद्भागवतमें (स्कन्ध ११ अ० २२) इन तत्त्वोंकी संख्याका कई प्रकारसे हिसाब लगाकर ४ से लेकर २८ तक भिन्न-भिन्न संख्याएँ बतायी गयी हैं। श्रीमद्दासबोधमें (दशक १७ समास ८-९) तत्त्वोंकी संख्या ८२ बतायी है जो कारण और महाकारण देहको अलग रखनेसे ८० ही रह जाती है। अन्तःकरण ५, प्राण ५, ज्ञानेन्द्रिय ५, कर्मेन्द्रिय ५ और विषय ५, इस प्रकार २५ तत्त्व हुए। इन २५ के दो-दो भेद—२५ सूक्ष्म और २५ स्थूल, इस प्रकार ५० हुए। इनमें स्थूल और सूक्ष्म देह मिलानेसे ५२ हुए। इन ५२ में ४ स्थान, ४ अवस्थाएँ, ४ अभिमानी, ४ भोग, ४ मात्राएँ, ४ गुण और ४ शक्ति याने २८ तत्त्व—ये मिलानेसे तत्त्वोंकी कुल संख्या ८० हुई। ८० तत्त्व इस प्रकार गिना देनेसे 'एको विष्णुर्महद्भूतम्' की प्रतीति और वैकुण्ठकी प्राप्ति होती है।

देहूमें तुकारामजीके अभंगोंके एक पुराने संग्रहमें इस अभंगका आशय यों सूचित किया है—'उपजा=स्वरूप, खेत=भक्ति, हमें=चार

जाता है। उनके अखण्ड कर्मोंसे संसार-बन्ध दूर जाते हैं और संसार सुखमय हो जाता है। तुकारामजीने एक संसारीके नाते अपनी ओर पच नहीं रखी यह चाहे अब कोई कहा करें, पर उनकी अपनी दृष्टिमें और उनके सदृश हरिदासोंकी दृष्टिमें उनका संसार उनका प्रपञ्च उनका जीवन सुखमय लाभमय और परम सौभाग्यमय ही हुआ। इस सुख, लाभ और सौभाग्यको अगले अध्यायमें विस्तारसे देखेंगे।

४ जिजामाईको पूर्णबोध

लोगोंको जगाना, गुमराहको राहपर लगाना अपना सुख दूसरोंको वितरण करना यही सच्चा परोपकार है। तुकारामजीने संसारको जगाया, उसी संसारमें जिजाई भी आ गयीं। परन्तु जिजाईको खास तौरपर अलग भी तुकारामजीने उपदेश करके लोकदृष्टिसे भी अपने कर्तव्यका पालन किया। जिजाईके लिये जो उपदेश उन्होंने किया उस 'पूर्णबोध' के बारह अभंग हैं। जिजाई भजन करनेवाले वारकरियोंके लोगोंको डाँटकर ऐसे कठोर वचन कहा करती उसपर तुकारामजी उन्हें बड़ी शान्तिसे समझाते—'हमारे पर क्यों कोई आने लगा! सबको अपना-अपना काम काज लगा हुआ है। कौन ऐसा निठल्ला बैठा है जो बिना किसी मतलबके हमारे यहाँ आया करे! जो कोई भी आता है वह भगवान्के प्रेमसे आता है भगवान्के लिये ही अखिल ब्रह्माण्ड अपना हो जाता है। भक्तोंके लिये जो तुम ऐसी कठोर बातें कहती हो सो न कहकर मृदु वचन कहो तो इसमें तुम्हारा क्या खर्च हो जायगा। आदर-मानके साथ तुमसे प्रेमभाव इतने लोग आते हैं कि जिनका कोई हिसाब नहीं।

'पूर्णबोध' का पहला अभंग कुछ कूट-सा है—'खेतमें जो उपज होती है उसमें हमारे प्यारे चौधरी पाण्डुरङ्ग हमें बाँट देते हैं। ब्याजका अभी ७ रुपये देना बाकी है तो वह माँग रहे हैं अबतक १ रुपये दे दिये हैं। घरमें इतना बर्तन है, गोठमें पास बैल हैं वही एकत्र दिखाते हुए

दालानमें खाटपर बैठे हुए हैं। मैंने कहा, 'भाई! ले लो, एक बारमें ही सब लहना चुका लो, इस तरह जब मैं उनसे उलझ पड़ा तब आप चुप हो गये।'

भाव यह है कि इस शरीररूपी खेतके प्रभु पाण्डुरङ्ग हैं, उन्होंने यह नर-तन हमें बर्तनेके लिये दिया है। वह हमें भूखों नहीं मरने देते। इस खेतका लगान ८० रुपये हैं। इसमेंसे हम अबतक १० दे चुके हैं, ७० बाकी हैं, सो यह माँग रहे हैं। अर्थात् यह शरीर ८० तत्त्वोंका है, ये ही ८० तत्त्व उन्हें गिना देने होंगे। इनमेंसे ५ कर्मेन्द्रिय और ५ ज्ञानेन्द्रिय हैं, उन्हें तो मैंने भजनमें लगा दिया है। इस तरह ८० लगानके १० दे चुके, अब बाकीका तकाजा है। खाटपर बैठे हैं याने हृदयमें विराज रहे हैं।

श्रीमद्भगवद्गीतामें तत्त्वसख्या (अ० १३ श्लोक ५-६) ३६ दी हुई है। श्रीमद्भागवतमें (स्कन्ध ११ अ० २२) इन तत्त्वोंकी सख्याका कई प्रकारसे हिसाब लगाकर ४ से लेकर २८ तक भिन्न-भिन्न सख्याएँ बतायी गयी हैं। श्रीमद्दासबोधमें (दशक १७ समास ८-९) तत्त्वोंकी सख्या ८२ बतायी है जो कारण और महाकारण देहको अलग रखनेसे ८० ही रह जाती है। अन्त.करण ५, प्राण ५, ज्ञानेन्द्रिय ५, कर्मेन्द्रिय ५ और विषय ५, इस प्रकार २५ तत्त्व हुए। इन २५ के दो-दो भेद—२५ सूक्ष्म और २५ स्थूल, इस प्रकार ५० हुए। इनमें स्थूल और सूक्ष्म देह मिलानेसे ५२ हुए। इन ५२ में ४ स्थान, ४ अवस्थाएँ, ४ अभिमानी, ४ भोग, ४ मात्राएँ, ४ गुण और ४ शक्ति याने २८ तत्त्व—ये मिलानेसे तत्त्वोंकी कुल सख्या ८० हुई। ८० तत्त्व इस प्रकार गिना देनेसे 'एको विष्णुर्महद्-भूतम्' की प्रतीति और वैकुण्ठकी प्राप्ति होती है।

देहूमें तुकारामजीके अभगोंके एक पुराने सग्रहमें इस अभंगका आशय यों सूचित किया है—'उपजा=स्वरूप, खेत=भक्ति, हमें=चार

ज्ञान चार वाणीके बीजाको गाँठ=अधिकार, चौवरी=स्थूल, सूक्ष्म, कारण और महाकारण=इन चार देहोंके धारक चतुर्भेद चौधरी प्यारे=पुरुषोत्तम, पाण्डुरङ्ग=सगुण ईश्वर अपना=अक्षर तत्त्व, दस=दस प्राण, दिये=सगुण भक्तिके समर्पित किये। ईंडा=अहङ्कार, बर्तन=पञ्चमहाभूत, गाय-बैल=इन्द्रियाँ, दावन=हृदय, खाट=पर्यङ्क जब मैं उसमें पड़ा तब आप चुप हो गये=दस प्राण समर्पित कर दिये तब जीवभाव नष्ट हुआ, अपने शिवत्वकी प्रतीति हुई तब तुकाराम भगवान्से कह पड़े और कहने लगे कि मेरा सब हिसाब साफ हो गया, अब मेरे जिम्मे कुछ बाकी न रहा इस प्रकार ८ तत्त्व छूट गये।

इस अभंगमें पञ्चीकरण सूचित किया है। सद्गुरु जब शिष्यको उपदेश करते हैं तब पहले एकान्तमें पञ्चीकरण समझा देते हैं। तुकाराम-जीने एकान्तमें जिजाईको पञ्चीकरण समझा दिया होगा। इससे जिजाईका अधिकार भी सूचित होता है। तुकारामजी आगे कहते हैं—

'विवेकसे यह सारा एकछत्र साम्राज्य है। एक ही सिंहासनाधीन सम्राट् हैं। उनके सिवा और कौन मुझे अपनी पीठपर बैठा सकता है?'

भगवान्के सिवा और है ही कौन? इनका खेत मैंने जोता बोया, असामी बनकर रहा और अब यह मेरी जमनको जप्त गये।' इनका पालना इसी देहमें रहकर चुका देनेका मैंने निश्चय कर लिया है। अच्छे मालिक मिले! ऐसे हरि हैं कि सब कुछ हर लेते हैं इसीलिये कोई इनके पास मारे भयके फटकता नहीं। कितनोंको इन्होंने लूट लिया और कितनों-को नंगोंको आसमानपर छोड़ रखा है। इनकी निठुरता देखकर लोग इनके नामपर हँसते हैं। यह सर्वस्व छीन लेते हैं पर यह बात है कि सर्वस्व छीनकर वैकुण्ठपद देते हैं। हम इनके चंगुलमें खूब फँसे। इस प्रकार बोध कराते हुए जिजाईसे तुकारामजी कहते हैं कि मेरे विचारमें तुम अपना विचार मिला दो तो मेरा-तुम्हारा विरोध मिट जाय। भगवान्

से तो मेरा अन्तरङ्ग स्नेह हो चुका है। यह मेरे करनेसे नहीं हुआ, उन्हींके आदेशसे हुआ है। तुम्हारे लिये यही उपदेश है—

'बच्चेके लिये यह हो और वह हो, यह हवस छोड़ दो। जिन्होंने इसे जन्म दिया, उन्हींका यह है। वही इसकी देख-भाल करेंगे। तुम अपना गला छुड़ा लो, गर्भवासकी यातनाओंसे बचो।'

वासना छोड़ दो, माया जोड़नेकी बुद्धि छोड़ दो। वासनासे ही यमदूत गलेमें अपना फंदा डालते हैं। उनकी मार बड़ी भयङ्कर है, स्मरण करनेमात्रसे 'मेरा तो कलेजा काँपने लगता है।' यदि तुम्हें मेरी चाह हो तो अपने चित्तको बड़ा करो। चित्तको ऐसा उदार बनाओ कि—

'सज्जनोंका सङ्ग तुम्हारे अनुकूल पड़े, ससारमे तुम्हारी कीर्ति बढे। यह कहनेके लिये तैयार हो जाओ कि मेरे गाय-बैल मर गये, बासन-छाजन चोर चुरा ले गये और बच्चे तो मेरे पैदा ही नहीं हुए। आस छोड़ हृदयको वज्र सा बना लो। इस क्षुद्र सुखपर थूक दो, अक्षय परमानन्द लाभ करो। तुका कहता है, भव-बन्धनोंके टूटनेसे बड़े भारी कष्टोंसे परित्राण होगा।'

मैं तो जल्द ही वैकुण्ठधामको जानेवाला हूँ, तुम भी मेरे साथ चलो। वहाँ हम-तुम आदर पायेंगे। घर-द्वारपर तुलसीपत्र रखकर ब्राह्मणों-को दान करके इस जजालसे निकल आओ। विचार लो, अच्छी तरह देख लो। 'मैं-मेरा' का सर्वथा त्याग करो, भूख-प्यास, द्रव्यादि लोभ, ममत्व–इन सबसे अपने-आपको छुड़ा लो और ऐसी सुखी बनो जैसा मैं हूँ—

'मेरी भूख प्यास कैसी स्थिर है, अस्थिर मन भी जहाँ-का-तहाँ ही स्थिर होकर बैठा है।'

'गुरु कृपासे भगवान्‌ने मुझसे जो कहलवाया, वही मैं तुमसे कह रहा हूँ।'

'सचमुच ही भगवान्‌ने मुझे अगीकृत कर लिया है, अब और कुछ

विचारनेकी बात ही यहाँ रही। तुम्हारे लिये अब यही उपदेश है कि कटिबद्ध होकर बलवती बनो।

तुकाराम महाराजने जिजाबाईको यही अन्तिम उपदेश किया। यह उपदेश वृथा नहीं हुआ। सिद्धोंकी वाणी भला वृथा कैसे हो सकती है। जिजामाईका आचरण शुद्ध, निष्कलङ्क, पवित्र और पातिव्रत-धर्मानुकूल था। पतिको भोजन कराये बिना उन्होंने कभी भोजन नहीं किया। लौकिक व्यवहारमें पतिसे उनकी नहीं पटती थी तथापि पतिके प्रति उनके प्रेमका स्रोत अत्यन्त शुद्ध और निरन्तर था। तुकारामजीसे वह प्राणोंसे भी अधिक प्यार करती थीं। उनका पतिप्रेम अत्यन्त निष्कपट और निर्मल था। तुकारामजीके उपदेशोंका परिणाम उनके ऊपर बहुत ही अच्छा हुआ। दूसरे ही दिन उन्होंने अपना सब घर द्वार ब्राह्मणोंको दान कर दिया और सांसारिक बन्धनोंसे मुक्त हो गयीं। तुकाराम-ऐसे महात्माका सत्सङ्ग अकारण ही कैसे जाता? तुकाराम भी भगवान्से खूब लड़े-झगड़े, पर उनका भगवत् प्रेम अनन्त था। ऐसी ही बात जिजामाईकी भी समझनी चाहिये। प्रेमके बिना झगड़ा नहीं होता। झगड़ेकी सचाईसे निष्कपट प्रेम, शुद्ध आचरण और सच्ची निष्ठा ही प्रकट होती है।

५ सन्तान

जिजामाईके काशी, भागीरथी और गङ्गा—ये तीन कन्याएँ और महादेव, विठ्ठल और नारायण—ये तीन पुत्र हुए। इनमें काशी सबसे बड़ी थीं और नारायण सबसे छोटे। तुकारामजीके महाप्रस्थानके समय जिजामाई गर्भवती थीं अर्थात् तुकारामजीके प्रयाणके पश्चात् इनका जन्म हुआ। तुकारामजीने अपने इन पुत्रको इन आँखोंसे नहीं देखा और इन्होंने भी अपने पिताको नहीं देखा। सबसे बड़ी काशी उनसे छोटे महादेव इनसे छोटी भागीरथी तब विठ्ठल, विठ्ठलसे छोटी गङ्गा और गङ्गासे छोटे नारायण। नारायणका जन्म हुआ उस समय गङ्गा बहुत छोटी थीं। उन्हें

सम्हालनेके लिये बुधाई नामकी एक दासी रखी गयी थी। तुकारामजी जब भण्डारा या भामनाथ पर्वतपर पहुँचकर भगवान्‌के भजनमें तल्लीन हो जाते तब उन्हें भूख प्यासकी सुध न रहती, पर जिजामाई उन्हें भोजन कराये बिना स्वयं कभी न खाती थीं। कभी तो वह स्वयं भोजन लिये वन-जंगलमें उन्हें ढूँढती फिरतीं और कभी काशीको भेज देतीं। महादेव और विठ्ठलका चित्त प्रायः खेल कूदमें ही लगा रहता, इससे जिजामाईका कहना वे सदा मानते ही हों, ऐसा नहीं था। कन्याओंके विवाह आदि बड़े गरीबी ढंगसे हुए। कन्याओंके लिये तुकारामजीने वर भी ऐसे ढूँढे कि वर ढूँढने घरसे यों ही बाहर निकले, थोड़ी दूर जाकर देखा, रास्तेमें कुछ बालक खेल रहे हैं, वहीं खड़े हो गये। उनमें अपनी जातिके दो बालकोंको उन्होंने देखा, उन्हींको घर लिवा लाये और वधू-वरको हलदीसे रँगकर विवाह कर दिया। जँवाइयोंकी न तो कोई बारात सजी, न दावतें दी गयीं, न कोई नजर भेंट की गयी और न रीसने-रूठनेका ही कोई अभिनय हुआ। 'दूधके साथ भात खिला दिया और पञ्चामृत पान करा दिया।' उन बालकोंके माता-पिता सम्पन्न थे और तुकारामजीकी ओर उनके भक्त लोग भी तैयार थे, इसलिये पीछेसे चार दिन विवाहका मङ्गलोत्सव होता रहा। इससे जिजामाईको कुछ सन्तोष हुआ। तुकारामजीके ये जँवाई मोसे, गाडे और जाम्बुलकर घरानेके थे। तुकारामजीकी मझली कन्या भागीरथी बड़ी पितृभक्त और भगवद्भक्त थी। तुकारामजीने प्रयाणके पश्चात् जिन लोगोंको दर्शन दिये उनमें एक भागीरथी भी हैं। तुकारामजीके तीनों पुत्रोंमें नारायणबोवा अच्छे पुरुषार्थी निकले। देहू आदि गाँव इन्होंने ही अर्जित किये। देहूके पाटील इगलेकी कन्या इन्हें ब्याही थीं। नारायणबोवाके पश्चात् भी तुकारामजीके वंशजोंके साथ देहूके पाटील इगलोंका सम्बन्ध होता रहा। इस समय देहूमें प्रायः तुकाराम महाराजके वंशजोंके ही घर हैं।

पंद्रहवाँ अध्याय

धन्यता और प्रयाण

मनकी स्थिरतासे जो स्थिर हो जाता है भक्तिकी भावनासे जिसका अन्तःकरण भर जाता है और योगशक्तिसे सुसज्जित होकर जो ठिकाने आ जाता है वह केवल परब्रह्म, परम पुरुष कहानेवाला मेरा निजधाम होकर रहता है। (ज्ञानेश्वरी अ० ८ । ९८, ९९)

जिस स्वरूपको प्राप्त होनेसे नीचे गिरना नहीं होता वह श्रीकृष्णस्वरूप है। श्रीकृष्णकी कीर्ति गाते-गाते भक्त स्वयं ही श्रीकृष्णरूप हो जाते हैं। (भागवतमत अ० ११)

१ परमार्थ-सुख

परमार्थसाधन करना होता है परम सुखके लिये। तुकारामजीने प्रपञ्चको तिलाञ्जलि देकर परमार्थसाधन किया अर्थात् स्वल्प-क्षणिक सुखका त्याग करके अबाध अविनाशी सुख लाभ किया। प्रपञ्चका अर्थ है पाँच विषयोंका बहाव। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धसे सुख प्राप्त करनेकी इच्छा करना और उनके पीछे भटकते फिरना। सब जीव प्रपञ्ची हैं और इसीसे दुःखी हैं। नरतन सब रतनोंमें सबसे श्रेष्ठ रतन (रत्न) है। सब सुखोंमें जो सर्वोत्तम सुख है जिसके मिलनेसे अन्य किसी सुखकी इच्छा नहीं रह जाती

जिस सुखका कभी क्षय नहीं होता, जिसकी अन्य किसी सुखसे उपमा नहीं दी जा सकती वह परम सुख इसी नरतनमें ही प्राप्त किया जा सकता है, नरसे नारायण हुआ जा सकता है, सच्चिदानन्दपदवीको प्राप्त किया जा सकता है। इस मनुष्यदेहके द्वारा चारों अर्थ—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष जोड़े जा सकते हैं। इनमें अर्थ और काम अस्थिर और क्षणभङ्गुर हैं, इनसे परे धर्म है और धर्मसे भी परे मोक्ष है। यही परम अर्थ—परम पुरुषार्थ है। चतुर्वर्गका वही परम ध्येय है। यही सकलदुःखविध्वंसकारी महानन्द है। प्रत्येक जीव सुखके लिये छटपटाता रहता है। प्रपञ्ची जीवोंके समान पारमार्थिक जीव भी सुखके ही पीछे दौड़ रहे हैं। अन्तर इतना ही है कि कोई विषयको ही सुखका स्रोत समझकर उसीमें गोते खा रहे हैं और कोई विषयोंसे परे जो निर्विषय आनन्द है उसमें गोते लगा रहे हैं। विषय-सुख पूर्ण सुख नहीं है, इसलिये पारमार्थिक इस सुखको त्याग कर अथवा इससे उदासीन रहकर अखण्ड सुखकी साधनामें लगे रहते हैं। देहेन्द्रियविषय-सन्निकर्षसे होनेवाले सुखसे ऊबकर वे देहातीत, इन्द्रियातीत, विषयातीत सुखके पीछे पड़ जाते हैं। यह परमार्थ-मार्ग ऐसा है कि इसपर पैर रखते ही परम सुखका रसास्वादन आरम्भ हो जाता है। सम्पूर्ण मार्ग सुखानुभवकी वृद्धिका ही मार्ग है, पद पदपर अधिकाधिक आनन्द है। परमार्थके सम्बन्धमें बहुतोंकी बड़ी विचित्र धारणाएँ हो जाती हैं। उनके चित्तमें यह बात बैठ जाती है कि परमार्थ संसारका रोना है, परमार्थसाधन करना रोते हुए चलना और ऐसी जगह पहुँचना है जहाँ मिट जानेके सिवा और कुछ हाथ नहीं आता। पर यह समझ सूर्यके प्रकाशको आँखें बंद करके घोर अन्धकार मान लेनेकी-सी बात है। यथार्थमें परमार्थ रोना नहीं, रोनेको हँसाना है, मरना—मिट जाना नहीं, अजर-अमर पद लाभ करना है, दुःखके आँसू नहीं, आपूर्यमाण आनन्द-समुद्र है। जीवका वास्तविक हित, वास्तविक लाभ, वास्तविक शान्ति और समाधान इसीमें है। इसीलिये तो

इसे परमार्थ, परम सुख, परम पुरुषार्थ कहते हैं। पारमार्थिक लोग पागल, नादान, दीवाने, हाथ पर-हाथ धरके बैठ रहनेवाले, आलसी, अपुरुष, दुनियासे बेखबर और अन्धे नहीं होते। जिस संसारमें हम रहते हैं उसे वे ही अच्छी तरहसे देखते और समझते हैं, सदा सावधान रहते, अज्ञान और मोहका वीरतासे सामना करते, एक क्षण भी अप्रयोगसे खाली नहीं जाने देते, लाभ हानिका हिसाब ठीक-ठीक रखते हैं, हानिसे बचते और लाभ उठाते हैं। परमार्थके साधन भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। ध्येयसम्बन्धी मत और विचार अथवा कल्पनाके प्रकार भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, पर सबका संयोग उसी एक सकलदुःख-वियोगरूप अखण्ड सुखके महायोगमें ही होता है। तुकारामजीने इस परमार्थ मार्गपर जबसे पैर रखा तबसे उनका वैकुण्ठ-पदप्रयाणपर्यन्त सम्पूर्ण चरित्र इसी परम सुखकी बढ़ती हुई बाढ़का ही इतिहास है। जहाँ इस बाढ़की हद हो जाती है, यह बढ़की भाषा ही जहाँ नहीं रह जाती आत्मकी परिपूर्णता और सुखकी ओतप्रोतताका अनुभव होता है वही मोक्ष है, वही वैकुण्ठधाम है। विषयोंका सम्बन्ध जहाँ दृढ़तापूर्वक विच्छिन्न हो गया वहाँ आनन्द-सागर उमड़ने लगता है और ऐसी बाढ़ चली आती है कि आनन्दकी उस बाढ़में अपूर्व आनन्द-तरङ्गोंपर नाचता या बहता हुआ उस पार आ लगता है जहाँ आर है न पार, ओर है न छोर। यही ब्रह्मस्वरूपकी परमानन्द पदवी है। श्रीतुकाराम इस परमानन्द पदवीको प्राप्त हुए और तीनों लोकोंमें धन्य हुए। उनका लौकिक जीवन अनन्त दुःखों और यातनाओंमें बीता उनके प्रपञ्चका रूप सदा ही दुःखद रहा। पर यह बाह्य दृष्टि है, बहिर्मुखीन ज्ञानहीन मोह दृष्टिका अभिप्राय है अन्तर स्थिर दृष्टिका नहीं। इन दुःखद दुःखों और यातनाओंसे घिरे हुए तुकारामजीका रूप क्या था? किस अवसरपर उनकी दृष्टि कभी भी किस ओर थी? इन दुःखों और यातनाओंमेंसे होकर जा रहे थे और कैसे उन्होंने अपना मार्ग परिष्कृत कर लिया, कहाँ पहुँचे और क्या

पाया ? उन्होंने अपना लक्ष्य पा लिया, दु:खों और यातनाओंके भीषण रूपको देखकर वह डर नहीं गये, परिस्थितिके चक्रके पीछे चक्राते, चक्कर काटते, भूलते-भटकते ही नहीं रह गये, दु:खों और यातनाओंके घिरावको तोड़कर, परिस्थितिको भेदकर अपने लक्ष्यपर लगी दृष्टिसे निश्चित इष्टमार्ग-पर चलते गये और लक्ष्यपर पहुँच गये। उनकी यात्रा पूरी हुई, साधना सफल हुई, सम्पूर्ण सुख, सम्पूर्ण आनन्द, सम्पूर्ण ज्ञान, सम्पूर्ण भक्ति सभी तो मिल गया, सर्वेश्वर श्रीपाण्डुरङ्ग स्वय ही निजाङ्ग हो गये, भवाम्बुधिके पार उतर गये, कृतकृत्य हो गये, धन्य हो गये! उस कृतकृत्यता और धन्यताके साधनपथपर चलते हुए तथा क्रमसे साध्यको साधते हुए जो-जो आनन्द उन्होंने लाभ किया उसके उद्गार हमलोग इस ग्रन्थमें सुनते ही रहे हैं। अब उस अनिर्वचनीय रसका भी कुछ आस्वादन कर सकें तो कर लें जो अनिर्वचनीय होनेपर भी तुकारामजीकी दयासे उनके वचनोंसे टपक रहा है। सब साधनोंकी परिसमाप्ति किस प्रकार अखण्ड नामस्मरणमें जाकर हुई यह हमलोग पहले देख चुके हैं। नाम और नामी, गुणी और निर्गुण, शिव और जीव, इनकी एकरूपताके आनन्दमें निमग्न तुकाराम प्रेमसे नाचते हैं, गाते हैं, गाते गाते उसीमें मिल जाते हैं।'

२ आत्मतृप्तिकी डकारें

वहाँ साधन, सम्प्रदाय, भगवान् और भक्त, वर्णधर्म, पाप-पुण्य, धर्माधर्म सब एकमें मिल जाते हैं। इसीके लिये 'सारा अट्टहास था!' सब प्रयत्न सफल हुए। विश्रान्ति मिली। 'तृष्णाकी दौड़ समाप्त हुई।'

'लज्जा, भय, चिन्ता कुछ भी न रहा! सारे सुख आकर पैरोंपर लोटपोट करने लगे।'

* * *

'भक्तिप्रेममाधुरीसे हृदय भर गया, उससे चित्तको आनन्द-ही-आनन्द

मिलने लगा। श्रीविठ्ठलने भवजलका पटल फोड़ डाला, उससे जगत् ही आनन्दसे भर गया।'

● ● ०

'संसारकी स्मृति-विस्मृति होकर पीछे ही रह गयी। चित्त लग गया श्रीहरिकी ओर। उस माधुरीका जितना पान करो उसकी प्यास उतनी ही बनी रहती है। उस प्रेम-मिलनमें जितना मिलो, उस मिलनकी रुचि उतनी ही बढ़ती है, पाण्डुरङ्गमें यह कभी अघाती नहीं और कभी ऊबता नहीं। इन्द्रियोंकी कामना तृप्त हो जाती है पर चिन्तन सदा बना ही रहता है। सुख मिलता है पेट भर जाता है पर उसकी भूख बनी रहती है। यह सुख ऐसा है कि इसकी कोई उपमा नहीं कल्पनाकी वहाँतक पहुँच ही नहीं। यह सुन्दर, मधुर, श्रीमुख यह सब सुषमामाधुरी ही है। उसे देखनेके साथ शोक-मोह-दुःख नष्ट हो जाते हैं।

● ० ●

'सगुण-निर्गुण एकरस है, वह चिदानन्द है, उसीमें चित्त डूबा रहता है। मन अपनी सारी वृत्तियोंके साथ उसीमें डूब जाता है देहमें देहभावकी सुधि नहीं रहती।'

श्रीहरिकी ओर चित्त लगा उनके चिन्तनका सुख ऐसा है कि उससे कभी जी नहीं ऊबता उससे कभी तृप्ति नहीं होती और उसकी इच्छा बनी ही रहती है। अब कोई संसार-चिन्ता नहीं रही, कलिकालका भय भाग गया, मोह-दुःख-शोक सब हवा हो गये, अब तो केवल एक श्रीहरि ही हैं अंदर भी वही हैं बाहर भी वही हैं। (तत्र को मोहः कः शोक एकत्व-मनुपश्यतः ईशावास्य उपनिषद्में इस आनन्दका वर्णन किया गया है।)

तुकारामजीके विरहिन के ९५ अभंग हैं। अध्यात्मका रंग शृङ्गार-की भाषामें कोई देखना चाहे तो इन अभंगोंको अवश्य देखे। इस प्रसादरूप पत्रिको छोड़ दिया, उससे मेरी वासना तृप्त न हो पायी। इसलिये

मैंने 'परपुरुष' से सहवास किया। यह भेद लोगोंपर प्रकट हो गया इससे लोग मुझे सताने लगे, मैं तो परपुरुषमें ही रत हो गयी, उसीमें रँग गयी और अब सबसे यह कहे देती हूँ कि इस व्यभिचारको मैं त्रिकालमें भी न छोड़ूँगी—इस रँगमें तुकाराम स्त्रीत्व स्वीकार कर कुछ वाग्विलास कर गये हैं। ब्रह्मका स्वरूप 'न स्त्री न षण्ढो न पुमान् न जन्तुः' जैसा है और उन्हींसे तुकारामजीका यह सख्य और तादात्म्य है। इसलिये तुकारामजीने यह मनोविनोद किया है। इन अभंगोंमें स्वानुभवका प्रसाद भरा हुआ है।

'लोग मुझे छिनार कहकर विरादरीके बाहर भले ही निकाल दें, पर यह बनवारी तो मुझे एक क्षण भी अपनेसे अलग नहीं करता। लोक-लाज तो उतारकर मैंने खूँटीपर टाँग दी है, उससे उदास होकर बैठी हूँ, मुझे अब अपने जीका ही कोई डर नहीं रहा और न किसीसे कोई आस लगाये बैठी हूँ। मैं तो उसीको रात दिन पास बैठाये रखना चाहती हूँ, उसके बिना एक क्षण भी मुझसे नहीं रहा जाता। लोग अब मेरा नाम छोड़ दें, समझ लें कि मैं मर गयी, तुकिया अब अनन्तके पास पड़ी रहती है। इसीमें उसे सुख मिलता है। यही उसका नेम है। गोविन्दके पास बैठ गयी, अब मैं पीछे फिरनेवाली नहीं। श्यामसलोने परब्रह्मको मैंने वर लिया, अब उनकी पटरानी होकर बैठी हूँ। अब कुछ देखना, सुनना सुनाना नहीं चाहती, चित्तमें अकेले चितचोर आकर बैठ गये हैं। बलीको पाकर हम बलवती बन बैठी हैं, सारे संसारपर अपना अधिकार जमावेंगी। पलभर पीड़ा सह ली, अब अपुरन्त निजानन्द जोड़ लिया है। अब हँसेंगी, रूठेंगी और अपुरन्त अन्तर्मधुरिमाको बढ़ावेंगी। सेवा सुखसे विनोद-वचन कहती हैं कि हम और कोई नहीं, केवल एक नारायण हैं। तुका कहता है कि अब हम द्वन्द्वके ऊपर उठ आयी हैं, स्वच्छन्द ग्वालिनोंके साथ चल रही हैं।'

तब मेरा गर्भवास कैसा ? तुका कहता है, यह सारा योग है, घट-घटमें पाण्डुरङ्ग हैं।'

बीज भूँजकर जब लाई बना ली तब वह बोनेके काम नहीं आ सकती, उसी प्रकार तुकाराम कहते हैं कि हमारा कर्म ज्ञानाग्निसे दग्ध हो चुका है इसलिये हमारा जन्म-मरण अब नहीं हो सकता। ईखसे चीनी बनती है पर चीनी होकर ईखपनेको वह नहीं लौट सकती, उसी प्रकार देहका आश्रय करके हम ब्रह्मस्थितिमें आ गये, अब यह ब्रह्मस्थिति लौट कर देह नहीं बन सकती। घट-घटमें भगवान् हैं और हम भी तद्रूप हैं। हमारी देहतक भगवान् बन गयी है, अब नाशवान् शरीरसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं रहा।

'देहभाव प्रेतभाव हो गया'—सब देहधर्म लय हो गये। काम-क्रोधादि अनाश्रित होकर फूट-फूटकर रो रहे हैं और यमराज आहें भर रहे हैं। शरीर वैराग्यकी चितापर ज्ञानाग्निसे जल रहा है। देह घटको भगवान्के चारों ओर घुमाकर उनके चरणोंके समीप फोड़ डाला और महावाक्य-ध्वनि करके बम-बमका घोष किया। कुल और नामरूपको तिलाञ्जलि दी। तुकाराम कहते हैं, यह शरीर जिनका था उन्हींको (पञ्चमहाभूतोंको) सौंपकर मैं निश्चिन्त हो गया।

'अपने हाथों अपनी देहमें आग लगा दी'—पाञ्चभौतिक देहको ब्रह्मबोधकी आगमें जला डाला। ज्ञानाग्निसे दहकती हुई चितापर अमृत-सञ्जीवनी छिड़ककर भूमिको शान्त किया, घर फोड़ डाला, उसी क्षण सब कर्म समाप्त हो गये। अब केवल श्रीहरिके नामसे ही नाता रह गया है। 'तुका कहता है, अब आनन्द ही-आनन्द है, सर्वत्र गोविन्द हैं, जिधर देखो उधर गोविन्द ही हैं।'

'पिण्डदान इसी पिण्डको देकर कर दिया'—इस देहपिण्डको ही दान कर दिया और पिण्डकी मूलत्रयी और त्रिगुणकी तिलाञ्जलि दी।

देशकालवस्तु भेद सब नाशा।
आत्मा अविनाशी विश्वाकार ॥ २ ॥
कहा था प्रपंच यह है परब्रह्म।
अहं सोऽहं ब्रह्म जाना जाना ॥ ३ ॥
तत्त्वमसि विद्या ब्रह्मानंद सार।
सोहि तो निजार तुका भय ॥ ४ ॥

रक्त (रज), श्वेत (सत्त्व), कृष्ण (तम) और पीत--इन गुण-प्रकाशसे परे जो चिन्मय अञ्जन है वह श्रीगुरुने मेरे नेत्रोंमें लगाया, उससे मेरी दृष्टि दिव्य हो गयी, द्वैत और अद्वैतकी भेदकल्पना जाती रही और निर्विकल्प ब्रह्मस्थिति प्राप्त हुई। देशगत, वस्तुगत, कालगत भेद सब नष्ट हो गये, एक अविनाशी विश्वाकार आत्मा प्रत्यक्ष हुआ। यह समझमें आ गया कि प्रपञ्च तो कहीं था ही नहीं, केवल एक परब्रह्म ही है। जीव-शिव एक हो गये। तुका सशरीर ब्रह्म हो गये!

* * *

उछरत सिंधु सरित हि मिलत।
आप ही खेलत आप ही सों ॥ १ ॥
मध्य परी सारी उपाधि घनेरी।
मेरे तेरे हरी बीच खडी ॥ टेक ॥
घट मठ आये आकासके जाये।
गिरा जो गिराये उत ही तें ॥ २ ॥
तुका कहे बीजै बीज दिखराये।
फूल पात आये अकारथ ॥ ३ ॥

समुद्र भाप बनकर ऊपर जाता और मेघरूपसे वृष्टि करके नदीमें आकर मिलता है और फिर नदी-प्रवाहके साथ समुद्रमें जा मिलता है, इस प्रकार समुद्र आप ही अपनेसे खेलता है, ऐसा ही सम्बन्ध है भगवन्!

'सर्वं विष्णुमयं जगत्' का रहस्य खुल जानेसे सम्पूर्ण सम्पत्तम क
समाप्त हो गया । 'तुका कहता है उसका ऋण उतार दिया, अब एक
बार सबको अन्तिम नमस्कार करता हूँ ।'

'अपनी मृत्यु अपनी आँखों देख ली । उस आनन्दका क्या कहना
है ! तीनों भुवन आनन्दसे भर गये। सर्वात्मभावसे उस आनन्दको लूट
जनन-मरणके अशौचसे अपने आपके छुटकारेसे मैं निवृत्त हो गया ।'

इस प्रकार तुका नारायणस्वरूप हुए । शरीर वैकुण्ठ जानेका निम
होनेसे हो सकता है उन्हें यह खयाल पड़ा हो कि मेरे पीछे जानेके पीछे
मेरा क्रिया-कर्म कोई न कर पावेगा इसलिये जीते-जी ही उन्होंने अपना
सारा क्रिया-कर्म स्वयं ही कर डाला और सम्पूर्ण कर्मबन्धसे मुक्त हो लिये।
विश्वको कँपानेवाले कलिकालको भी उन्होंने मात किया ! 'विषकामुक-
मस्तुते 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति' इत्यादि उपनिषद्वचनोंके अनुसार
तुकोबाराय मृत्युको मारकर स्वयं जीवित रहे ।

'निरञ्जनमें बाँधा हमने अपना घर, —इस निरञ्जन मायाका
(अञ्जन) जहाँ कोई स्पर्शतक नहीं, उस निरञ्जनमें हमने अखण्ड निवास
किया है । अहङ्कारकी धूल छूट गयी और अब शुद्ध-बुद्ध नित्यमात परमात्म-
रसमें समरस होकर रहते हैं ।

'पाण्डुरङ्गने ही कही इस पूर्व —पाण्डुरङ्ग ही यह इनामदार है ।
मेरी निजमाता मैयाने मुझे निजरूपके पालनेमें पौढ़ा दिया है और वह
अपने बच्चेके लिये अनाहत ध्वनिसे गान गा रही है ।'

* * *

एक देखा रूप पीत श्याम मिश्र ।
चिन्मय अंजन दीपन ओंधा ॥ १ ॥
तेरी अंजन आँखें दिया दृष्टि पायी ।
परमा निर्मली देवादेव ॥ २८ ॥

देशकालवस्तु भेद सब नाशा।
आत्मा अविनाशी विश्वाकार ॥ २ ॥
कहा था प्रपंच यह है परब्रह्म।
अहं सोऽहं ब्रह्म जाना जाना ॥ ३ ॥
तत्त्वमसि विद्या ब्रह्मानंद सागर।
सोहि तो निजागर तुका मध्ये ॥ ४ ॥

रक्त (रज), श्वेत (सत्त्व), कृष्ण (तम) और पीत–इन गुण-प्रकाशसे परे जो चिन्मय अञ्जन है वह श्रीगुरुने मेरे नेत्रोंमें लगाया, उससे मेरी दृष्टि दिव्य हो गयी, द्वैत और अद्वैतकी भेदकल्पना जाती रही और निर्विकल्प ब्रह्मस्थिति प्राप्त हुई। देशगत, वस्तुगत, कालगत भेद सब नष्ट हो गये, एक अविनाशी विश्वाकार आत्मा प्रत्यक्ष हुआ। यह समझमें आ गया कि प्रपञ्च तो कहीं था ही नहीं, केवल एक परब्रह्म ही है। जीव-शिव एक हो गये। तुका सशरीर ब्रह्म हो गये।

* * *

उछरत सिंधु सरित हि मिलत।
आप ही खेलत आप ही सों ॥ १ ॥
मध्य परी सारी उपाधि घनेरी।
मेरे तेरे हरी बीच खड़ी ॥ टेक ॥
घट मठ आये आकासके जायें।
गिरा जो गिराये उत ही तें ॥ २ ॥
तुका कहे बीजै बीज दिखराये।
फूल पात आये अकारथ ॥ ३ ॥

समुद्र भाप बनकर ऊपर जाता और मेघरूपसे वृष्टि करके नदीमें आकर मिलता है और फिर नदी-प्रवाहके साथ समुद्रमें जा मिलता है, इस प्रकार समुद्र आप ही अपनेसे खेलता है, ऐसा ही सम्बन्ध है भगवन्!

हमारे आपके बीच है। बीचमें जो नाम-रूपादि उपाधि है वह व्यर्थ है। मुण्डकोपनिषद्में है—

> 'यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे
> अस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।'

यही दृष्टान्त इस अभंगमें स्पष्ट हुआ है। क्योंकि श्रुति वेदोंकी वाणि तुकारामकी गिरा थिरी है, इससे उनकी वाणीको श्रुतित्व प्राप्त हुआ है।

• • •

क्षणिक संसार-सुखको तिलाञ्जलि देकर तुकारामजीने जो अक्षय्य अद्वय परमात्मसुख भोग किया उसका आस्वादन वे ही कर सकते हैं जो उसी भूमिकापर हों। यहाँ केवल दिग्दर्शनमात्र करनेका प्रयत्न किया है इसमें ज्ञान और उपासना एक हो गयी है। यह केवल द्वैत नहीं है, केवल अद्वैत भी नहीं है। यह अद्वैतभक्ति, मुक्तिसे परेकी भक्ति, अभेदभक्ति है। यह अभेदभक्ति ही भागवतधर्मका रहस्य है, इसका पहले विवेचन किया जा चुका है। उसकी प्रतीति उपस्थित प्रकरणसे पाठकोंको हो सकेगी। अखिल आकारको जिसने कवलित किया है पर नामको तुकारामने अविनाशी कहा है। इससे भी यह स्पष्ट है कि ज्ञानके पश्चात् प्रेमाभक्तिका आनन्द बढ़ता ही जाता है। 'ज्ञानी भक्ति वही ज्ञान। एक विठ्ठल ही जान॥ यह ज्ञानोत्तर भक्तिका मर्म है। सगुण निर्गुणरूप जो हरि हैं उन प्रभुके पद (श्रीहरि) के बिना उसके लिये यह सारा जगत् और यह स्वर्ग भी कुछ नहीं है।' ऐसे भक्तकी सहज स्थिति ही ज्ञानभक्ति है। उसे ज्ञानी कहिये भक्त कहिये, कुछ भी कहिये, सब सुहाता है। उसके अध्यात्मरंगमें भक्तिका रस होता है और भक्तिके रंगमें अध्यात्मरस होता है। 'ॐ तत्सदिति सूत्रका सार। कृपाके सागर पाण्डुरङ्ग॥' इस प्रकार श्रीहरिके रास रंगमें तल्लीन हो गये और अखिल अन्तर्बाहिर वही हो गये—हरिरूप हो गये। देहकी सुध तो कभी ही